MANEESHA MUDGH

1985

मानस-मयूख

श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर

पत्रिका के उद्देश्य

१. तुलसी-साहित्य का अध्ययन, अन्वेषण और उसके विविध अंगों का विवेचन।
२. संत-साहित्य का मनन और विश्लेषण।
३. निगम, आगम और पुराण में कथित मानव-धर्म का उद्घाटन।
४. विश्व-वाङ्मय के सर्वनिष्ठ तत्वों का संकलन और मूल्यांकन।

परामर्शदातृ मण्डल

मानस-मयूख

[त्रैमासिक शोध-पत्रिका]

संरक्षक

श्रीरतनलालजी सुरेका

संपादक

रामादास शास्त्री, एम० ए०

मुद्रक एवम् प्रकाशक

सत्यनारायण झुनझुनवाला,
मंत्री, ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड,
१७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड,
सलकिया, हबड़ा।

वर्ष १
तृतीय प्रकाश]

३१ दिसंबर, सन् १९६४ ई०

[मूल्य दो रु०

अनुक्रम

अनुक्रम

अनुक्रम

'वन्दे श्रीतुलसीदासं निवासं जानकीपतेः ।'

—रामू द्विवेदी कृत प्रेमरामायण से ।

(जयपुर संग्रहालय के सौजन्य से प्राप्त)

महाकवि पं० अंबिकादत्त व्यास

रामचरितबर्नना पचीसी

[उन्नीसवीं शताब्दी में बाणभट्ट के समान संस्कृत-गद्य के लेखक पं० अंबिकादत्तजी व्यास हुए। इनके पूर्वज जयपुरांतर्गत 'रावतजी की धूला' ग्राम के निवासी थे। साहित्य, संगीत और कला तीनो क्षेत्रों में इनकी समान गति थी। वे व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदांत, सांख्य, दर्शन और आयुर्वेद में तो निष्णात थे ही साथ ही हिंदी, बंगला, और अंग्रेजी ग्रंथों का भी उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था। हिंदी में उनकी प्रभविष्णुता एवम् पांडित्य का परिचय यहाँ प्रस्तुत कविताओं से भलीभाँति हो जायगा।]

(सवैया)

हरिभक्ति मिलै जिहि के पढ़तें सतसंग करैं मतिहू हुलसी।
पुनि पातकपर्वत तोरन कों छहरी छिति दामिनि के कुलसी।
कवि अंबिकादत्त बिलोकत ही दुरबासना जात सबै भुलसी।
पुलसी भवसागर कों सुलसी यह रामकथा बिरची तुलसी॥ १॥

(कवित्त)

राजन समाजन के काज लख्यो चाहौ जौपै,
चाहहु जो देखन रहनि भाई भाई की।
सभा माँहि बोलनि त्यौं छोटे औ बड़ेनहूँ की,
चाहहु बिलोकन संहार सुघराई की।
जाँचन चहहु जो परख अंबादत्तहू की,
रस की बरष औ निरख सरलाई की।
रीत चाहौ नीत चाहौ प्रीत जौपै चाहौ कछू,
कबिता पढ़हु तौ श्रीतुलसी गोसाईं की॥ २॥

डगर डगर अरु नगर नगर माँहि,
कहनि पसारी रामचरित अवलि की।
कहै कवि अंबादत्त रामही की लीलन सों,
भरि दीनी भीर सबै चहलि पहलि की।
सूद्रन तें ब्राह्मन लों मूरख तें पंडित लों,
रसना डुलाई सबै जै जै बलि बलि की।
जम कों भगाय पापपुंज कों नसाय आजु,
तुलसी गुसाईं नाक काटि लीनी कलि की॥ ३॥

केतेहू मसाले डारि पूरि परिपाक करो,
भाँति भाँति मेल कै बनाओ बड़े जस के।
कबि अंबादत्त बिसतारहु सँवारहु त्यों,
धारहु अचार औ बिचार निज बस के।
काव्य अरु व्यंजन की एकै सी बिलोकी बात,
नेक न सुहात भरे केतेहू अकस के।
मधुहू तें मधुर भले ही होंय क्यों न तोऊ,
फीके से लगत रस बिनु रामरस के॥ ४॥

बेद औ पुरानन के सार सों गढ़े से सुठि,
गुन रीत नीतन की धारे जनु मोहरा।
पढ़त सुनत जिन्हैं पुलकि पसीजत हैं,
कबि अंबादत्त अरु बूढ़े अरु छोहरा।
अति ही कठिन अरु अति ही सहज अहैं,
बरन बरन बीच आनँद के पोहरा।
रसन सों साने बिनै प्रेम सरसाने भक्ति-
धारा बरसाने लसैं तुलसी के दोहरा॥ ५॥

धनिक भिखारिन की नर अरु नारिन की,
कूढ़ कारबारिन की छाती सरसातो कौन।
कहै कबि अंबादत्त बूढ़ेन तें बालन लौं,
रामजय हल्लन सों हीय हरसातो कौन।
नए मतवारे मतवारन के कान काटि,
कलिहू मैं रीत नीत प्रीत दरसातो कौन।
होतो जौ न तुलसी गुसाईं कबिराज आज,
रामायन परम पियूष बरसातो कौन॥ ६॥

सातों सुभकांड के दिए हैं सात खंभा यामैं,
तापै मरजादाहू को गुंमज सो छायो है।
बिबिध प्रकर्न के सु बंगला बनाय बहु,
रसन की रासि को सरोवर खनायो है।
कबि अंबादत्त भाँति भाँति रीति नीतन के,
लताजाल बाँधि मंजु कुंज सो सुहायो है।
भव पारावार के सुपार जाइबे कों यह,
तुलसी गुसाईं ग्रंथ सेतु सो बनायो है॥ ७॥

डगर डगर अरु नगर नगर बीच,
गली गली गाँव गाँव पापपुंज दूरिगो।
कपटी कुपंथी कूर कलुषी कलंकिन को,
कलही कलंचन को आनन बिथूरिगो।

कबि अंबादत्त रामायन के प्रचार भये,
नास्तिकगनन को गरब सबै धूरिगो।
परे खल भल्ला के पखंडिनहू पल्ला धन्यो,
महल महल्ला रामहल्ला भर पूरिगो ॥ ८ ॥

जाको राम राम बर्न दू की परतीत अहै,
ताकों रामजू की भक्ति होत भरी सान की।
सूकी सतकर्म चूकी मतिहू पढ़ेतें याके,
होत है कछू की कछू पूरी बड़े मान की।
अंबादत्त कहै याकी जानै कछू निंदा भूकी,
ताहू की चमू की बूकी छन मैं बिधान की।
होत धुकधुकी जाको राम के चरित्र माँहि,
लागत है ताको दृढ़ मूकी हनुमान की ॥ ९ ॥

मोह ममता मद मत्सर की मंदताहू की,
मूढ़ता की मीचहू की मारनी सो दरसी।
पूतना पिसाची प्रेत पंगत की पाजिन की,
भूत जच्छ राच्छस की जुलुम जहर सी।
कबि अंबादत्त कहै तुलसी गुसाईंजू की,
कविता अपूरब अमी की धार बरसी।
परम उचाटनो पखंडिन के मंडल को,
मुक्ति जुवती कों अहै मंत्र बसीकर सी ॥ १० ॥

लै लै रसरासिन को सत्त तिन्हें घोरि घोरि,
जुगुति मथनियाँ सों मथि मथि डारिये।
काढ़ि कै मधुरता की माखन की गोली तासों,
मंजुलता मिसरी लै सुभग सँवारिये।
कहै कबि अंबादत्त गुन अलंकारन के,
मेवा डारि ताकों पुनि अधिक सुधारिये।
तुलसी गुसाईंजू के मानस रामायन के,
एक एक आखर पै सोऊ बारि डारिये ॥ ११ ॥

इन इन माँहि हीय उमगि उमगि उठै,
छन छन रुकि छन छन पुलकात है।
रोम सगबग होत कंठ गदगद होत,
देह होत कंप नैन भरि भरि जात है।
कबि अंबादत्त प्रेम माँहि सरसात जात,
आपनो परायो बार बार बिसरात है।
तुलसी गुसाईंजू की रामायन पाठ करें,
राम को चरित्र आँखि आगे सो लखात है ॥ १२ ॥

बेद औ पुरान अरु सास्त्र को निचोर अहै,
याही उपदेस भाख्यौ सबै कबिजन है।
करिकै पखंड बहु ऐंठत गुनीनबृंद,
बूड़े वे सकल जासु राम नहिं मन है।
कहै कबि अंबादत्त तुलसी प्रमान करि,
मेरे धनु बान वारो निर्धन को धन है।
कोसला को बारो दसरथ को दुलारो छाँड़ि,
कलि में न दूजो और जीव को सरन है॥ १३॥

अमल कमल से महान के हृदय खिले,
बक्ता पुनि भौंरन से आइ मँडराइ गये।
जड़ता की भारी अँधियारीहू सिधारि तिमि,
ज्ञान के प्रकासन तें देस देस छाइ गये।
खुलि गये बिबिध सुपंथ त्यौं पथिक चले,
कबि अंबादत्त जय दुंदुभी बजाइ गये।
रामायनमारतंड पूरन प्रकास भये,
परम पखंडीहू उलूक ज्यों पराइ गये॥ १४॥

जानिये सो जीभ एक मंजरी जहर की सी,
कहै जौ न राम की कहानी नित नित पै।
कान के कुहर तासु अहैं अंधकूप ऐसे,
रामकथा छाँड़ि जो झुकत जित तित पै।
पूँछ के बिना को पसु प्रगट बखान्यो सोई,
कहै अंबादत्त जासु प्रीति नाहिं चित पै।
बज्र की सँघाति ताकी जानिये कठोर छाती,
पुलकित होत जो न राम के चरित पै॥ १५॥

धन्य सोई बक्ता जो सुनावत है रामकथा,
धन्य सोई स्रोता सुनि होत प्रमुदित है।
लेखक सो धन्य जोई राम की कहानी लिखैं,
धन्य कलावंत गावैं रामगीति नित है।
अंबादत्तहू से कबि धन्य धन्य होइ चले,
रामरस साने से बनाइ कै कबित है।
धन्य देस धन्य भेस धन्य गाँव धन्य ठाँव,
सबै धन्य धन्य जहाँ राम को चरित है॥ १६॥

सोहत सुमेर जौलौं जम औ कुबेर जौलौं,
गंग सो जमुन जौलौं लहकि लगी रहै।
धराधर धराधर धाराधर धारा जौलौं,
जौलौं धाम धाम धीर धूम उमँगि रहै।

अंबादत्त कवि जौलौं काव्य कमला है जौलौं,
जबलौं कपाली संग कालीहू पगी रहै।
सूर अरु चंद जौलौं बारिधि अमंद जौलौं,
तौलौं श्रीगुसाईंजू की कबिता जगी रहै ॥ १७ ॥

डूबि गये पानी में मरंद अरबिंद संग,
फूटिगे अनार दाख देह सिकुराई है।
सूख गये ऊख गरि गये नवनीत भीत,
चीनीहू हठीली गाँव गाँव लात खाई है।
तृन गह्यो मिसरी बतासे भये हलके से,
अंबादत्त कबि मुरझाई त्यों मलाई है।
लखि कै गुसाईंजू के काव्य की मधुरताई,
सुधाहू लजाई सुरलोक को पराई है ॥ १८ ॥

रहु रे कलंकी कलि कपटी कुचाली मूढ़,
भागु भागु ना तो गहि पटकि पछारोंगो।
तुलसी गुसाईंजू के काव्य के किला सों काढ़ि,
दोहरा दुनाली सी बंदूकन सों मारोंगो।
कवि अंबादत्त सोरठा के सैफ साफ,
करि छंदन के छर्रा सों गब्ब गहि गारोंगो।
चारु चउपाइन के चोखे चोखे चाकू लेइ,
आजु तोहि टूक टूक काटि काटि डारोंगो ॥ १९ ॥

होय क्यों न प्रेमी अरु नेमी बहु भाव भर्‍यो,
तोरि के सनेह तासों बोलिये निडर सों।
दाई होय माई होय भाई औ जमाई होय,
हरि के विमुख को झटकि दीजे कर सों।
कहै कवि अंबादत्त राव उमराव होय,
राखिये न नातो कोऊ अबर जबर सों।
राम को चरित जाकों नीको नाहिं लागै ताहि,
नाक कान काटि कै निकारि दीजै घर सों ॥ २० ॥

(सवैया)

श्रीतुलसी की लसी कबिता न पढ़ै तेहि तुल्य अभागहु को है।
पाइ बिना श्रम सेतु भवांबुधि पार न होइ तौ मूरख सो है।
अंबिकादत्त कहालौं कहैं न सुनैं सोउ जानिये पाप भर्‍यो है।
मानसरामचरित्र सुनें न द्रवै चित सो बन्यों पाथर को है ॥२१॥

(कवित्त)

फूलिसी उठत फुलवारी रीति नीतन की,
सुरतरु के से मानों सुमन झरत हैं।

उदधि अनंद को झकोरि सो उठत अरु,
मंजुता की आइ मानो धजा फहरत हैं।
कहै कवि अंबादत्त गुन अरु अलंकार,
रस के समूह निचुरत से ढरत हैं।
पढ़त सुनत श्रीगुसाईंजू की रामायन,
सुधा की घटासी आनि बरसि परत हैं॥ २२॥
गाँव-गाँव गेह-गेह गैल-गैल गली-गली,
गोल-गोल माँहि यहै धुनि सरसाई है।
कहै अंबादत्त दासतुलसी के करें आजु,
ठौर-ठौर रामही की बाजत बधाई है।
याही तान टूटत हैं झाँझ औ मृदंग सबै,
ढोलक सितार बंसी बीना सहनाई है।
रामचंद्रजू की जय रामचंद्रजू की जय,
रामचंद्रजू की जय यहै धूम छाई है॥ २३॥
अंगरेजी फारसी फ़रंसी जरमनीहू मैं,
रामलछुमन की कहानी दरसात है।
सब पाठसालन मैं सालन के बालन मैं,
पोथी के अटालन मैं रामही दिखात है।
राजदरबारन दुकान अलमारन मैं,
बाग की बहारन मैं होत सोई बात है।
मूरख चपाट हू तें राम को लिवायो नाम,
तुलसी गुसाईं यह तेरी करामात है॥ २४॥
कथा माँहि रामायन क़िस्सा माँहि रामायन,
लीला माँहि रामायन जोरत हजूम है।
छज्जन मैं छातन छबीलिन मैं रामायन,
रामायन दानी जहाँ औौर जहाँ सूम है।
कबि अंबादत्तहू की रसना पै रामायन,
बालकहू रामायन पढ़ै झूमं-झूम है।
रामायन रामायन रामायन रामायन,
रामायन ग्रंथ की धमकि रही धूम है॥ २५॥

(चौपाई)

बाबू रामदीन गुनरासी। कीरति जासु जगत परकासी॥
तिनकी सम्मति सों सुखदाई। व्यास अंबिकादत्त बनाई॥
रामचरितबर्नना पचीसी। यह भक्तन सुखदायक दीसी॥
यह पढ़ि रामायन चित दीजै। मेरे धन्यबाद बहु लीजै॥

(दोहा)

मैं हूँ जयपुर नगर को अब कासी मैं धाम।
व्यास अंबिकादत्त पुनि जानि लेहु मो नाम॥

संत श्रीरामकुमारदासजी रामायणी

एक संत की अमृतवाणी

(१)

मनुष्यत्व

[विशिष्ट पुरुषों की दैनंदिनी पुस्तिका की टिप्पणियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती हैं। उपर्युक्त शीर्षक के अंतर्गत आध्यात्मिक १२ टिप्पणियाँ क्रमशः प्रकाशित होंगी। उनमें से दो संप्रति यहाँ उद्धृत की गई हैं, एक का शीर्षक है 'मनुष्यत्व' तथा दूसरे का 'आत्मतत्त्व'। इनके अंतर्गत 'सब तें दुर्लभ कवन सरीरा' तथा 'बड़ दुख कवन कवन सुख भारी' का विमर्श है। प्रथम में मनुष्येतर चौरासी लाख योनियों तथा ईश्वर के अस्तित्व को सोदाहरण सिद्ध करते हुए यह बतलाया गया है कि मानव-शरीर क्यों सर्वश्रेष्ठ है तथा उसका धर्म क्या है? उपसंहार में कहा गया है कि—

> 'जीव का मुख्य धर्म यही है कि अपने रक्षकत्व का भार भी परमात्मा को देकर उसमें पूर्ण विश्वास रखते हुए आत्मा को कर्मबंधन से विमुक्त करने का प्रयत्न करे। मनुष्य-शरीर मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिलता है। अतः मनुष्यत्व यही है कि अपने को कर्मबंधन से छुड़ाने (मोक्ष प्राप्त करने) के सदुपाय में लग जाय।'

द्वितीय में सुख दुःख का विमर्श कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 'बहिर्मुख इंद्रियों को अंतर्मुखी करने पर ही आत्म-सुख मिल सकता है' और आत्मा को मिलनेवाला आनंद ही यथार्थ सुख है।]

वर्षों पूर्व की बात है जब एक प्रसिद्ध धर्मक्षेत्र में अपने समय के एक परम प्रसिद्ध धर्माचार्य ने धर्मोपदेश दिया था। उन उपदेश रत्नों को अनेक तत्त्व-जिज्ञासुओं ने संग्रह किया था, कुछ ने मन में, कुछ ने आचरण में और कुछ ने अपनी-अपनी डायरियों पर। यहाँ एक साधक की डायरी से उक्त उपदेश प्रकट किए जा रहे हैं। उन धर्माचार्य को लोग भूल गए होंगे पर उनका सदुपदेश विस्मरण की वस्तु नहीं है। प्रत्येक अध्यात्मतत्त्व पिपासुओं को उस अमृतवाणी का पान कर अपना मानव-जीवन सार्थक करना चाहिए। कारण कि

> नरतन सम नहि कवनिउ देही।[1]
> बड़ें भाग मानुषतनु पावा।[2]

१—मानस, ७।१२१।९।   २—वही, ७।४३।७।

नरतनु भववारिधि कहुँ बेरो ।[१]
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी । ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी ।।[२]

अर्थात् यह मनुष्य-जीवन अलभ्य लाभ है, इसका मिलना परम दुर्लभ है । इसे साधारण न समझना चाहिए । इस बात को सुनकर अनेक कहते हैं कि इस समय संसार में साढ़े तीन अरब से भी अधिक मनुष्य हैं और नित्य प्रति जनसंख्या बढ़ती ही जाती है तो यह अलभ्य लाभ कैसे कहा जा सकता है ? संभावित शंका-समाधान के लिए विचारणीय है कि इस मर्त्यलोक में चौरासी लक्ष योनियाँ प्रसिद्ध हैं—

आकर चारि लाख चौरासी । जाति जीव जल थल नभ बासी ।।[३]
स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम् । कृमयो रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः ।
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं तु वानराः । ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत् ।।[४]

यह चौरासी लाख तो मनुष्येतर योनियाँ हैं । इन चौरासी लक्ष योनियों के मध्य प्रत्येक योनि में जितने जीव हैं उनकी तुलना में मनुष्य संख्या उसी प्रकार है जिस प्रकार चौरासी अगाध समुद्र की समता में एक बूँद जल । एक छोटे से दृष्टांत से यह बात सुगमतापूर्वक स्पष्ट हो जायगी । किसी गंदे पनाले से एक अंजलि जल निकाल कर खुर्दवीनयंत्र से देखने पर इतने अधिक जीव दिखाई देंगे जिनकी गणना करना असंभव होगा और अंततः गिनती करने की इच्छावालों को असंख्य जीव (कीटाणु) कहना पड़ेगा । चौरासी लाख योनियों की प्रत्येक योनि में अनेक उपजातियाँ हैं और प्रत्येक उपजाति में भी अनेक जीव हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि संसार के अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य संख्या नगण्य है । इसी से गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने नरतन को सबसे दुर्लभ कहा है—

अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय ।।[५]

'मनुष्य शरीर क्यों दुर्लभ है ?' इसका उत्तर इस प्रकार समझिए— जैसे एक ऊँचे मकान पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं, उनके समाप्त होने पर दरवाजा मिलता है और उसे पार करने पर ही मकान में प्रवेश किया जा सकता है । यदि उस मकान में जाना चाहें तो कम से कम चौरासी क्षण समय तो अवश्य लगेगा ही और कहीं चढ़ने के लिए सीढ़ी के स्थान पर खरंजे की तरह फिसलनवाला पत्थर या काँच का उतार चढ़ाव वाला तिरछे ढब का मार्ग बना हो तथा उस पर भी कोई चिकनी वस्तु घी, तेल अथवा काई आदि लगी हो तो चौरासी क्षण कौन कहे जीवानांत तक चढ़ना ही दुष्कर होगा । किसी प्रकार गिरते पड़ते दरवाजे तक पहुँचने पर भी यदि फिसल कर गिर गए तो सर्वथा गए । भगवद्धाम या जीव का आनंदलोक

१—वही, ७।४४।७ । २—वही, ७।१२१।१० । ३—वही, १।८।१ ।
४—धर्मशास्त्र (मानस पीयूष, पृ० १६९, द्वि०सं०) । ५—वि०, ८३।२ ।

ऊपर का मकान है, मनुष्य-शरीर दरवाजा है, मनुष्येतर अन्य चौरासी लाख योनियाँ चौरासी सीढ़ियाँ हैं, विषय-सुख फिसलन है, ईश्वरीय सहायता समर्थ पुरुष की मदद है और नरतन पाकर भी विषयों में ही फँसे रहना दरवाजे से फिसलकर पुनः नीचे गिरना अर्थात् चौरासी लाख योनियों के पुनः चक्कर काटना है। यह तथ्य श्रीरामचरितमानस में यों कथित है—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥[1]
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नरतनु भवबारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आतमहन गति जाइ॥[2]

अन्यत्र भी कहा है—

लख चौरासी भ्रमि कै पौ पर अटके आय।
अबकी पासा न परै तौ फिर चौरासी जाय॥

मनुष्य शरीर से पतित होकर तिर्यग् योनियों में जाने पर पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त करने के लिए बहुत काल (लगभग ढाई अरब वर्ष) की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति स्वीकार करेगा कि मनुष्य शरीर मिलना सुलभ नहीं अपितु परम दुर्लभ है। मनुष्य शरीर के बाद फिर इतर जन्म क्यों होता है? इस संबंध में औपनिषदिक श्रुति ने बहुत ही स्पष्ट करके बतलाया है कि जन्म कर्मानुसार ही होता है। 'य इह रमणीयाचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्। ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा। वैश्ययोनिं वा। य इह कपूयाचरणा कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥

मर्त्यलोक में अन्य योनियों से मनुष्य को कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार की स्वतंत्रता मिली है। वाक् स्वातंत्र्य होने से ही लोग किसी की स्तुति और कटुवाणी से किसी की निंदा करते हैं। जो वाणी द्वारा किसी को दुख देता है उसे परमात्मा दूसरे जन्म में वाणी से रहित करता है जिससे वह अपने हृदय की बात दूसरे से न कह सके। मानसिक स्वतंत्रता होने से मनुष्य दूसरे का अनभल चाहता है, रागद्वेष करता है। इस कारण परमात्मा उसे ऊष्मज आदि बनाता है जिससे पुनः किसी से रागद्वेषादि न कर सके। कायिक स्वतंत्रता होने से मनुष्य शरीर से दूसरों को हानि पहुँचाता है। इसलिए उसे वृक्ष, लता इत्यादि योनि में जाना पड़ता है अर्थात् कायाहीन होना पड़ता है। स्मृति का कथन है कि—

१—१।८।१। २—७।४४।५-७, ९-१०।

वाचिकैः मृगपक्षिणां मानसैरन्त्यजातिनाम् ।
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥

मनुष्य-शरीर से ही कर्म होता है । अतः उसके तीन विभाग बताए गए हैं——

१——पाप के परिणाम स्वरूप पशु, कीट, स्थावरादि मनुष्येतर योनियों में मर्त्यलोक में ही जन्म लेना पड़ता है जिससे दुःख ही भोगना पड़ता है ।

२——पुण्य के परिणाम स्वरूप देवलोक में देवयोनियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे सुख मिलता है ।

३——पुण्य और पाप दोनो से ही मनुष्य जन्म लेता है । इस योनि में सुख दुःख दोनो है । कोई यावज्जीवन सुख-भोग ही करता है, दुःख थोड़ा पाता है और कोई जीवनपर्यंत दुःख ही भोगता है, सुख कभी मिल जाता है ।

पाप और पुण्य दोनो का सम्मिलित परिणाम मनुष्य शरीर है । परंतु मनुष्य-शरीर और मनुष्यत्व भिन्न-भिन्न वस्तु हैं । जो लोग अपने को स्वाभिमानी मनुष्य कहते हैं उनसे पूछा जाय कि वे अपने को पशु से भिन्न क्यों मानते हैं ? यदि आहार विहार आदि वैषयिक सुख ही कारण हो तो पशुओं का भोजन मनुष्यों से अधिक है, पशुओं की निद्रा मनुष्यों से अधिक है, भोग विलास में मनुष्यों की भाँति पशुओं पर धर्म एवम् सामाजिक नियमों का कोई प्रतिबंध नहीं है । पशुओं को न राजा का और न समाज का दंड ही भोगना होता है तथा न उनकी निंदा ही होती है । आज के वैज्ञानिक युग में भी पक्षी सदृश वृक्ष में पतले तार में लटकनेवाले कलापूर्ण गृह-निर्माण का शिल्प नैपुण्य किसी भी इंजीनियर को स्वयमेव अभी तक न आया । अब प्रश्न यह उठता है कि फिर किस बात में मनुष्य पशु पक्षियों से श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर विद्वानों ने दिया कि ज्ञान के कारण मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है——

आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना पशुभिः समानाः ॥[1]
मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय-पी के ॥[2]

सामान्य विशेष भेद से ज्ञान के दो प्रकार हैं । सामान्य ज्ञान तो सभी को है। इसकी परीक्षा के लिए किसी गाय के सामने कुछ सड़ी, खराब और कुछ कच्ची हरी ताजी घास रखें तो वह अच्छी ही खायगी खराब सूँघ कर छोड़ देगी । अतः निश्चित है कि मनुष्येतर जीवों को भी सामान्य ज्ञान रहता है——

ज्ञान अनभले को सबहि भले भलेहू काउ ।
सींग, सूँड़, रद, लूम, नख करत जीव जड़ घाउ ॥[3]
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुषतनु गुन ग्यान निधाना ॥[4]

१—हितोपदेश २—विनय०, १७५।४ । ३—दोहावली, ३४५ ।
४—मा०, २।२६३।४ ।

मनुष्य शरीर में ही जीवन का धर्मभूत ज्ञान अधिक विकसित होता है जिससे वह सोच सकता है कि मैं कौन हूँ, मुझे क्या करना चाहिए। ये बातें पशु में नहीं हैं। पशु, पक्षी और मनुष्य में यही अंतर है। सबसे बड़ा अंतर यह है कि मनुष्य का मस्तक ऊपर को तथा इतर का नीचे को होता है। अर्थात् मनुष्य ही उर्ध्वगमन (मोक्ष लाभ) कर सकता है पश्वादि नहीं। मनुष्यमात्र नाना प्रकार के व्यवहार में संलग्न रहते हैं। यदि उनके व्यस्त रहने का कारण पूछा जाय तो उत्तर होगा सुख के लिए। यदि पूछा जाय कि सुख किसलिए चाहते हैं तो इसका कोई उत्तर नहीं क्योंकि जीव सुखरूप ही है। ब्रह्मांड भर में समस्त सुखदुःख कर्मानुसार ही होते हैं। दुःख और सुख की परिभाषा जानने के लिए जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इच्छा का पूर्ण होना सुख और न पूर्ण होना दुःख कहलाता है। यदि इस दृष्टि से विचार करें तो संसार में कोई भी सुखी नहीं है, केवल भगवद्भक्त ही सुखी हैं—

नानक दुखिया सब संसारा। सो सुखिया जो नाम अधारा।।

संसार के अधिकांश लोग केवल शिश्नोदरपरता को ही परम सुख मानकर उदर-पोषण में ही लगे रहते हैं। वे यह विश्वास नहीं करते कि विश्व का कोई दूसरा प्रबंधक भी है। यदि कोई प्रबंधक है तो उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे हो? इसका समाधान एक दृष्टांत से हो जाता है। किसी भिक्षुक ने लगातार कई दिनों से भिक्षा न मिलने पर उदर पोषणार्थ एक छोटी-सी चोरी की जिसके परिणामस्वरूप पकड़े जाने पर उसे कारावास का दंड मिला। जिस दिन से वह कारागार में बंद हुआ उसी समय से उसके उदर-पोषण का भार दंड देनेवाले पर पड़ गया। वह उदर-पोषण की चिंता से मुक्त हो गया। इसीलिये पूर्वकालीन शासक चोरों को इस प्रकार का दंड देते थे जिससे चोरों के भोजन का भार उन पर न पड़े। इसी प्रकार यह संसार कारावास है जहाँ प्राणियों को प्राक्तन कर्म फलस्वरूप दंड भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है। कितने लोग कह देते हैं कि परमात्मा स्वयम् प्रत्यक्ष होकर हमारी सहायता क्यों नहीं करता है? इसका यही समाधान है कि जिस प्रकार कैदियों को भोजनादि देने के लिए कोई पृथक् नौकर नहीं रहता और न दंड देनेवाला अधिकारी ही उन्हें भोजन देने जेल में जाता है वरन् पुराने बंदी ही जेल में सभी काम करते हैं उसी प्रकार परमात्मा इस संसार के कैदियों के लिए संसारी लोगों के द्वारा ही सारा प्रबंध करता रहता है। कुछ लोग यह भी कहते पाए जाते हैं कि यदि कोई परमात्मा प्रबंधक है ही तो हमें दिखलाई क्यों नहीं देता जिससे हमें दृढ़ प्रतीति हो कि हमारी आवश्यकताओं का पूरक कोई परमात्मा है। उन्हें यह समझ लेना आवश्यक है कि गर्भावासकाल में कौन रक्षक है जहाँ जठराग्नि से गर्भिणी के पेट का अन्न जल सभी जलकर अनेक रूप में परिणत हो जाते हैं पर गर्भ सुरक्षित ही नहीं प्रत्युत प्रतिक्षण पोषित होकर बढ़ता रहता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई गर्भ का रक्षक नहीं है। यह तथ्य डाक्टरों द्वारा पुष्ट है कि गर्भस्थ शिशु की

नाभि से निकली एक नली माता की नाभि से मिली रहती है। यह सब परमात्मा का ही प्रबंध है—

रन बन ब्याधि बिपत्ति में कबहुँ मरिय न रोइ।
जो रच्छक जननीजठर सो हरि गये न सोइ॥[1]

अतएव

मन न भूल माधवचरन करुनाधाम उदार।
जन को हित ही चित धरत नागर नंदकुमार॥
ते निर्भय तिहुँ काल घर में बन गिरि गहन में।
छाँड़ि कपट जंजाल गही सरन जिन राम को॥

यदि कोई कहे कि वह परमात्मा जो माता के खाए हुए पदार्थ के पोषकतत्त्व को नली के द्वारा शिशु को गर्भ में पहुँचाता है वह गर्भ से बाहर आने पर भी स्वयम् क्यों नहीं उसका लालन-पालन करता तो इसका उत्तर स्पष्ट है। गर्भस्थ शिशु के उत्पन्न होते ही उसके दो रक्षक खड़े हो जाते हैं। वे यथाशक्ति यत्नपूर्वक उसकी रक्षा में लग जाते हैं, इसलिये परमात्मा छिप जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि परमात्मा पर से रक्षकत्व का भार हट गया। परमात्मा तो सदैव अप्रत्यक्ष रूप से रक्षा करते ही रहते हैं—

देत सबहि परमात्मा अपनी आँख छिपाय।
लोग कहत हम खात हैं अपने हाथ कमाय॥

अतः जीव का मुख्य धर्म है कि वह अपने रक्षकत्व का भार परमात्मा को सौंपकर उसमें पूर्ण विश्वास रखते हुए आत्मा को कर्म-बंधन से विमुक्त करने का प्रयत्न करे। मनुष्य शरीर मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिलता है, इसलिए उसकी प्राप्ति के सदुपाय में लग जाना चाहिये—

साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिरु धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥[2]

यहाँ आत्मा के मनुष्य शरीर में आ जाने पर मनुष्यत्व का विचार किया गया, अब आत्मतत्त्व पर विचार किया जाता है।

(२)

आत्मतत्त्व

जड़ और चेतन ये ही दो पदार्थ हैं। चेतनों को जड़ में लिप्त करा देनेवाली अविद्या है। अहंकार और ममकार ये ही अविद्या के उज्जीवक हैं। अविद्या के कारण

१—रहीम २—मानस, ७।४३।८-१०।

जड़ में अहंकार और ममकार का आरोप करके चेतन बँध गया है। शरीर जड़ है यह मान लेना अनुचित है अपितु जिसने शरीर को चेतन बनाया है वह मैं (चेतन जीव) हूँ—

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥[1]

जहाँ ममकार है—जो पदार्थ मेरा है वह मैं नहीं हूँ। शरीर के समस्त अवयवों में ममकार है इसी से—

नाहं देहो न वै प्राणः न मनोऽहं न चेन्द्रियः।

आत्मातिरिक्त शरीरादि सभी पदार्थ जड़ हैं। जड़ स्वयम् कुछ काम नहीं कर सकता, दूसरे के सहारे से ही उसका समस्त व्यापार चलता है और चेतन स्वयम् अपनी इच्छा से समस्त कार्य करता है। सारांश यह है कि जड़ इच्छाशक्ति रहित और चेतन इच्छाशक्ति युक्त है। शरीर का स्वाभाविक गुण चेतनत्व नहीं है क्योंकि अंत तक चेतनत्व उसमें नहीं रह जाता। इस जड़ शरीर को संचालित करनेवाला मैं हूँ। मैं इस शरीर से भिन्न पदार्थ हूँ। मैं शरीर का नहीं हूँ, प्रत्युत शरीर मेरा है। मैं शरीर में हूँ और उसमें कहाँ हूँ? इसका उत्तर यही है कि किसी बात पर मैं निकलते ही हाथ हृदय-छाती पर जाता है अन्य शिर पदादि अवयवों पर नहीं, अतएव मैं छाती-हृदय के भीतर हूँ। यदि आप यह न जानते कि मैं कहाँ हूँ तो आपका हाथ हृदय-छाती पर न जाता। यदि मैं भीतर न होता तो मेरी इच्छा से काम न होता। हृदय एवम् छाती जड़ वस्तु है।

आत्मा के पास ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीन शक्तियाँ हैं। इन्हीं शक्तियों के द्वारा आत्मा शरीर के अंदर रहकर उसके समस्त अवयवों को अपने अधीन रखती है। मनुष्य अपने आपको स्वयम् पहचानता है। जो जिस वस्तु को नहीं जानता उसको उसमें संदेह उत्पन्न होता है। मैं नहीं हूँ ऐसा संदेह किसी को नहीं उत्पन्न होता। प्रत्येक शरीर में आत्मा पृथक्-पृथक् है। एक शरीर का भोग करनेवाली एक ही आत्मा होती है। वहीं आत्मा शरीर की प्रत्येक शक्तियों को अपने वश में किए रहती है। वह आत्मा एक ज्ञानरूपी पदार्थ है। ज्ञान आत्मा से अलग रहनेवाला पदार्थ नहीं है। आत्मा भीतर और बाहर ज्ञानमय है।

अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको प्रत्यक्ष (चर्मचक्षु से) न देखने पर भी उनकी सत्ता को हम मानते हैं। ऐसे ही आत्मा को न देखते हुए भी हमें बोध है कि शरीर से वह पृथक् वस्तु है। यदि चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पदार्थों को ही माना जाय, आत्मा को नहीं तब अनर्थ हो जायगा। नेत्रों की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वे अप्रकाशित वस्तु को देख लें। हमारी इंद्रियाँ अपनी सीमा के भीतर ही

१—मानस, १।११७।५।

वस्तु को देख (प्रत्यक्ष कर) सकती हैं। अत्यंत समीप रहने पर भी वे सीमा के बाहर की वस्तु नहीं देख सकतीं जैसे नेत्र का श्वेत गोलक या नेत्र में लगा सुरमा, काजल आदि। हमारी इंद्रियों में इतनी शक्ति नहीं कि वे सबको देख सकें। छोटे-छोटे कीटाणु अणुवीक्षणयंत्र द्वारा ही देखे जा सकते हैं। आत्मदर्शन की शक्ति इन इंद्रियों में नहीं है। आत्मा का परिभाग अत्यंत सूक्ष्म है। अतः अणुवीक्षणयंत्र द्वारा भी उसका दर्शन संभव नहीं है।

वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयो स चानन्त्याय कल्पते॥

बाल की नोक के दस हजारवें भाग के बराबर आत्मा है। आत्मा के संबंध में गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है--

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥[1]

हथियार, अग्नि, जल और वायु से आत्मा नष्ट नहीं होती। काटनेवाला अस्त्र सूक्ष्म होता है और जिसे काटते हैं वह स्थूल होता है, तभी अस्त्र उसके भीतर जाकर काट सकता है। परंतु आत्मा इतना अधिक सूक्ष्म पदार्थ है कि शस्त्रास्त्र आदि उतने सूक्ष्म हो ही नहीं सकते। अतः--

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।[2]

आत्मा अर्थात् हम विनाश से तो निर्भय हैं। अतएव अब यह विचारणीय है कि हम सबको इस जीवन-यात्रा में क्या करना चाहिए। हम नाना प्रकार की भोग्यवस्तु एकत्र करते हैं, पर यह नहीं सोचते कि हमारा जीना किसलिए है। प्रायः सभी को शरीर-यात्रा के लिए कष्ट उठाना पड़ता है। विचारवान् भोजन के लिए नहीं जीते प्रत्युत जीने के लिए भोजन करते हैं। उन्हें जीने की प्रबलतम इच्छा होती है क्योंकि

तनु बिनु वेद भजनु नहि बरना।[3]

जीने का उद्देश्य आत्मा को सुखमय बनाने के साधन का अनुष्ठान करना है, अर्थात् उसे बहुत सच्चा और स्थायी पूर्ण सुख प्राप्त हो ऐसा कर्म करना चाहिए। प्रश्न होता है कि सच्चा और पूर्ण सुख क्या है, लौकिक या पारलौकिक? इसका यही उत्तर है कि जिस सुख को प्राप्त कर लेने के पश्चात् फिर कभी दुःख न मिले वही सच्चा और पूरा सुख है। जीवा (आत्मा) को इस पृथ्वी पर क्या सुख है? जैसे सबको अग्नि में दाहकता और बर्फ में शीतलता प्रतीत होती है वैसे ही सभी मनुष्यों के हृदय में जो सुख एक सा जँचे वही सुख है। सांसारिक किसी वस्तु में सुख की कल्पना कर लेना सुख नहीं है। संसार का कोई पदार्थ दुःखमय भी नहीं है। अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण सुख दुःख का अनुभव होता है। वैसे तो

१—२।२३। २—गीता- २।२४। ३—मानस- ७।९६।५।

संसार में अधिकांशतः दुःख का ही अनुभव होता है। मनुष्य की नाना प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं, पर उनमें सुख की अपेक्षा दुःख का अनुभव अधिक होता है।

१—गर्भावस्था में हाथ पाँव जकड़े रहते हैं, इसलिए वहाँ सुख की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

२—बाल्यावस्था में बुद्धि अविकसित रहती है और अभिवावक के अधीन रहना पड़ता है। अतः बाल्यावस्था में भी सुख नहीं।

बाल-दसा जेते दुख पाए। अति अनीस नहिं जाइ गनाए॥
छुधा व्याधि व्याधा भई भारी। बेदन नहिं जानै महतारी॥[1]

३—कुमार एवम् पौगंडावस्था का भी यही हाल है। यद्यपि बोल और चल फिर सकते हैं फिर भी अज्ञान और पराधीनता के कारण सुख नहीं मिलता।

कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
व्यतिरेक तोहि निर्दय महा खल आन कहु को सहि सकै?

४—विचार करने पर युवावस्था में भी अत्यधिक दुःख है—

जोबन जुवति-संग रँग रात्यो। तब तू महा मोह मद मात्यो॥[3]
जोबन-ज्वर जुवती-कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥[4]

इस समय मनुष्य सर्व प्रकार के व्यामोह से आवृत रहता है। वह बिना कुछ सोचे विचारे आगे बढ़ने की धुन में लगा रहता है। उसकी पुरानी वासनाएँ प्रबल होती जाती हैं और नित्य नई दुर्निवार इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं जिनकी पूर्ति न होने से क्लेश के सिवा सुख नहीं मिलता।

५—वृद्धावस्था में परिवार-पालन, धनोपार्जन आदि के कारण कष्ट ही मिलता है—

मध्य वयस धनहेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय।[5]

६—जरावस्था तो समस्त दुःखों की खानि है—

सो प्रगट तनु जर्ज्जर जराबस व्याधि सूल सतावई।
सिरकंप, इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥
गृहपालहू तें अति निरादर, खान पान न पावई।[6]

ऐसी स्थिति में सभी लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, मरने को मनाते हैं, स्वार्थी बनकर किनारा खींचते हैं। मनुष्य शारीरिक कष्ट से अधिक कुटुंब, संपत्ति

१—विनयपत्रिका, १३६।६। २—वही। ३—वही। ४—वही, ८३।४।
५—वही, ८३।५। ६—वही, १३६।८।

आदि की चिंता के कारण मानसिक व्यथाओं से इतना त्रस्त रहता है कि भगवान् के भजन का उसे अवकाश ही नहीं मिलता। उस समय तो—

आँखों में तनैगा जाला नाक से बहैगा नाला,
लाठी से पड़ैगा पाला जरा जिंदगानी में।
खड़े-खड़े वस्त्र में करोगे मल मूत्र त्याग,
पड़े पड़े थूकते रहोगे पीकदानी में।
भक्ति क्या करोगे तुम शक्ति न रहेगी जब,
राम नाम बोलते तुम्हारे बंधवानी में।
अतः योग योग से औ भोग से वियोग करि,
करले भजन भगवान का जवानी में॥

७—मृत्यु-काल में भी सुख नहीं मिलता। मरते समय सहस्रों वृश्चिकदंशन सी परम पीड़ा का अनुभव होता है। इस समय की वेदना का अनुमान किसी भी मरते हुए मनुष्य का मुख देखकर लगाया जा सकता है।

८—मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग या नरक में भी सुख नहीं मिलता। प्रत्यक्ष दुःख भोगने के लिए नरक में जाना ही पड़ता है। स्वर्ग में भी ईर्ष्या, जलन, पतन का भय रहता ही है और अंत में पुण्य की समाप्ति पर पतन होता ही है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन॥[1]
स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई।
स्वर्गहु मिटत नसावत।

स्वर्ग पहुँचते ही वह सुख छोड़ने की चिंता लग जाती है। लोक में साधारणतः सुख के लिए हितोपदेश में कहा है कि—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

पर श्रुति ने सुख की मीमांसा करते हुए समझाया है कि १—सौ वर्ष तक युवावस्था बनी रहे, २—समझने समझाने दोनो प्रकार का ज्ञान हो, ३—सर्वदा सर्व मनोवांछित पदार्थ उपलब्ध होता रहे, ४—जठराग्नि प्रबल हो, ५—शरीर में सर्वाधिक बल हो और ६—संपत्ति अपने अधिकार में हो। इतनी बातें जिसमें मिलें उसे मानुषानंद प्राप्त कहा जा सकता है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक
आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्।
स एको मानुष आनन्दः।[2]

१—गीता। २—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।८।१।

यदि मनुष्य को कुछ या सभी सुख प्राप्त हो जायँ और वह संसारी सुखों में रम जाय तो उसे सुख नहीं मिलता। हजारों वर्षों तक समस्त मानुषानंद भोगने के बाद ययाति ने कहा है कि

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥[1]

संसारी सुखानुभव से अपना कर्तव्य विस्मृत कर देना महान् भूल है। भोग-सामग्रियों का अनुभव हमें (आत्मा को) इंद्रियों के द्वारा ही होता है। इंद्रियों की अनुभव शक्ति क्षीण हो जाने से दुःख होता है। यद्यपि सभी जानते मानते हैं कि संसारी समस्त पदार्थ नाशवान् हैं फिर भी उनके न मिलने से सभी को दुःखानुभव होता है। मनुष्यों को मन में उत्पन्न होनेवाली विषय वासनाओं से कभी तृप्ति होती ही नहीं, यही इसका कारण है।

होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।[2]

विषयानुभव से प्राप्त होनेवाला सुख दुःखरूप ही है। वास्तविक सुख आत्मा में ही है क्योंकि आत्मा सतत सुखरूप है। आनंदमय आत्मा का अनन्य आत्मा में ही विद्यमान है। संसार में जो सुख भासमान होता है वह आत्मानंद का प्रतिबिंबवत् है। आत्मा का आनंद आत्मा से प्रवाहित होकर इंद्रियों द्वारा बाहर से सुख प्रतीत होता है। जैसे काँवरी (पीलिया) रोगवाले को सर्वत्र पीला ही दिखाई देता है अथवा जैसे घर के भीतर जलती हुई कंडील का प्रकाश खिड़कियों एवम् दरवाजे से बाहर जाता है पर वस्तुतः वह बाहर का न होकर घर के भीतर का ही है वैसे ही हमारी आत्मा का सुख ही बाह्य इंद्रियों द्वारा निकलकर पुनः इंद्रियों द्वारा ही प्राप्त होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि आत्मा सुखमय है तो सदैव सुख क्यों नहीं मिलता ? इसका उत्तर यह होगा कि सुखमय आत्मा का अपना सुख अनुभव करने के लिए शरीररूपी घर का द्वार बंद करना होगा। बहिर्मुख इंद्रियों को अंतर्मुखी करने पर ही आत्म-सुख की प्राप्ति हो सकती है। सुख के अन्वेषण में बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, आत्मा के भीतर ही इंद्रियों को रोकने से सुख की उपलब्धि संभव है, जैसे घर की सभी खिड़कियों और द्वारों को बंद करने से दीपक का प्रकाश घरों में ही रह जाता है। जब तक हम बाहर जाती हुई इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं करेंगे तब तक आत्मदर्शन नहीं हो सकता और बिना आत्मदर्शन के परमात्मदर्शन होना संभव ही नहीं है। क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों का अतिक्रमण कर जाने पर आनंदमय कोष की उपलब्धि हो सकती है और तत्पश्चात् आत्मा का यथार्थ सुख प्राप्त हो सकता है।

१—भाग०, ९।१९।१४।१३। २—मानस, १।१४२।९।

जिसे सुखमय आत्मा का सुख मिल जायगा उसके लिए संसारी सुख तुच्छ है, तृणवत् है, कुछ नहीं है। ब्रह्मानंद की इच्छा करने से वह मिल सकता है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा आत्मा का अपृथक् सिद्ध सनातन (अनादि) धर्म है। शरीर आत्मा के लिए है अतः शरीर को ऐसे काम में लगाना चाहिए जिससे आत्मा को सुख मिले। बिना आनंद के इसको अल्पज्ञान, अल्पशक्ति और वायु भी अल्प रहती है। जब दूसरा शरीर तैयार हो जाता है और समस्त इंद्रियाँ उस शरीर में प्रवेश कर जाती हैं तभी आत्मा एक शरीर को छोड़ता है पर आनंद आत्मा से कभी पृथक् नहीं होता। हम अज्ञान के कारण भ्रमवश दुःख भोगते हैं। हम मानव-जीवन के प्रधान उद्देश्य को भूल गए हैं। जीवन के प्रधान उद्देश्य का विचार आगे किया जायगा।

—क्रमशः

बेद को बिधान लिये परम पुरान मत मानत प्रमान साधु संत सब ठाँई के।
भक्ति पद्य भीनो पद परम नबीनो कहि दीन्हो सु अखेद कबि भेद जहाँ ताँई के।
दया दरसावै बरिसावै प्रेम पुन्य जल पघिलावै पाहनहूँ हिए ताकी नाँई के।
राम के स्वरूप केसव बपुरो बखाने कहा भक्ति यह बाँटे परी तुलसी गोसाँई के॥

बाल्मीकि नारद कपिल औ अगस्ति देव कह्यौ बहु भेव पै समुझ में न आई है।
भक्तिरस चाखो चाहै बूझे बिन सूझें काहा निपट अबूझे को निकट दरसाई है।
दास आस पूरे करै संसय सब दूरे करै प्रभुपद फूरे करै सुजन सोहाई है।
चारिषट दसबसु उदधि अगाधि मथि सुधा से निकासे मूल तुलसी गोसाँई है॥

आचार्य पं० रामबहोरी शुक्ल

रामचरितमानस और हनुमन्नाटक

(३)

इस प्रकार रामचरितमानस के अनेक स्थलों में हनुमन्नाटक की छाया देखी जाती है। साथ ही कवितावली और गीतावली में भी हनुमन्नाटक के कुछ श्लोकों से सादृश्य है। इससे यह कहना अनुचित न होगा कि मानसकार को हनुमन्नाटक की जो उक्तियाँ अच्छी लगीं वे उन्होंने अपना लीं—कहीं ज्यों की त्यों, कहीं कुछ घटा-बढ़ाकर और कहीं थोड़ी बहुत बदल कर। रामचरितमानस के कथानक में भी हनुमन्नाटक का प्रभाव दिखलाई पड़ता है—इसका संकेत ऊपर यत्र-तत्र किया जा चुका है; किंतु अच्छा होगा कि इसको हम क्रमबद्ध रूप में देख लें।

दोनो ग्रंथों में वर्णित रामचरित में भी कहीं सादृश्य तथा कहीं अंतर है। हनुमन्नाटक के प्रथम अंक में (१) दशरथ के चार पुत्रों के रूप में भूरिश्रवा (नारायण) के भू-भार के हरने के लिए जन्म लेने, (२) उन चारों कुमारों में जन्म से ही ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित राम को लक्ष्मण के सहित मुनि विश्वामित्र द्वारा राक्षसों का भय दूर करने के लिए माँगने, (३) राम के ताटका-वध करने, विश्वामित्र से विद्या प्राप्त करने, उनके यज्ञ की रक्षा करने एवम् राक्षस-सेना का संहार करते हुए मारीच को बचाये रखने और (४) यज्ञ पूर्ण होने पर धनुषोत्सव देखने के निमित्त मिथिला जाने का उल्लेख मात्र है। मुख्य कथा आरंभ होती है धनुषयज्ञ के वर्णन से। उसमें रावण के पुरोहित ने जनक से कहा है कि सीता का विवाह रावण से कर दो। यह मानस में नहीं है। जानकी तथा जनक की चिंता, धनुष में रोदा चढ़ाने को राम के सन्नद्ध होने पर लक्ष्मण द्वारा पृथ्वी को सँभाले रखने के लिए शेष, कूर्म, दिक्कुंजरों को सचेत करने तथा धनुष टूटने और उसके प्रभाव का वर्णन दोनो कृतियों में है। मानस में कुछ अधिक विस्तार के साथ इस प्रसंग का वर्णन है। हनुमन्नाटक सें धनुष टूटते ही परशुराम का उस सभा में आगमन तथा उनसे लक्ष्मण और श्रीराम की बातचीत एवम् परशुराम की हार का जैसा विवरण है वैसा ही रामचरितमानस में भी है, परंतु नाटक की अपेक्षा मानस में यह अधिक विस्तार के साथ है तथा बातचीत और उसका क्रम भी भिन्नरूप में है। इसके पश्चात् लक्ष्मण और राम के विवाह तथा उनके सीता के साथ अयोध्या लौट जाने का उल्लेख मात्र हनुमन्नाटक में हुआ है; किंतु रामचरितमानस में जनक द्वारा अयोध्या दूत भेजना, विवाह की तैयारी और संपन्नता आदि का बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उसमें भरत और शत्रुघ्न के भी विवाह की चर्चा है।

नाटक के द्वितीय अंक में राम और सीता के संभोग के बहुत ही खुले दृश्य अंकित हैं। रामचरितमानस में इसका कहीं संकेत तक नहीं मिलता। तुलसी ने लिखा है—

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥[1]

इससे उन्होंने हर-गिरिजा के विहार का वर्णन करना स्वीकार नहीं किया। किंतु राम और सीता के जीवन के इस अंश की ओर तो उन्होंने आँख उठाकर देखा तक नहीं। उन्होंने केवल यही लिखा है कि दशरथ के यह कहने पर कि

लरिका श्रमित उनीदवस सयन करावहु जाइ।[2]

रानियों ने

सेज रुचिर रचि रामु उठाए। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाए॥[3]

तथा

सुंदर बधू सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई॥[4]

इस प्रकार इस प्रसंग के हनुमन्नाटक के श्रृंगारपूर्ण दृश्य मानस में कहीं भी नहीं हैं।

हनुमन्नाटक के तृतीय अंक में राम के वनवास की योजना इस प्रकार हुई। कुछ दिनों तक राघव के भोगविलास (अथवा दशरथ के स्वपत्नी से अपूर्ण कामाभिलाष) के बाद श्रवणमुनि के पिता द्वारा दशरथ को दिए शाप का समय आ पहुँचा। उस समय सूर्य की किरणें मलिन पड़ गईं, आकाश से प्रचंड उल्कापात होने लगे, पृथ्वी काँपने लगी, दिशाएँ दिन में ही धूसर हो गईं, तारे निकल आए, राहु का ग्रहण लगने को हुआ, शृगाल बार-बार दौड़ने और बोलने लगे, रुधिर की बूँदें बरसने लगीं तथा महाकाल (रुद्र) का घोर चीत्कार होने लगा। इस समय दशरथ ने राम को युवराज बनाने का विचार किया। पुरवासियों को राम के युवराज बनाने के उत्सव की तैयारी करने को कहा। उधर कैकेयी ने राजा के दिए वचनों की पूर्ति के लिए शीघ्र ही भरत को राज्य देने के लिए प्रार्थना करने का विचार करके एकांत में राजा से भरत को राज्य और सीता के सहित राम को वनवास माँगा। दशरथ ने यह स्वीकार किया। वे बहुत देर तक मूर्च्छित पड़े रहे। पिता की बात मानकर राम ने हर्षपूर्वक जटा-वल्कल और भरत ने शोक के साथ छत्र-चामर धारण करके क्रमशः वन के लिए प्रस्थान और राज्याभिषेक कराते हुए दशरथ को नमस्कार किया। भरत ने विलाप किया। सुमंत्र से सुत के वन जाने की बात सुन दशरथ एक बार 'हा राघव' कहकर लंबी-लंबी उसासें भरने लगे। भरत मूर्च्छित हो गए। लक्ष्मण राम के पीछे हो लिए।

१—मानस, १।१०३।४। २—वही, १।३५५।९। ३—वही, १।३५६।५। ४—वही, १।३५८।४।

राम को प्रस्थान करते देख सीता भी उनके पीछे-पीछे चलीं। राम के चले जाने पर भरत को चेत हुआ, दशरथ ने प्राण त्याग किए। तब भरत ने पिता के अंत्येष्टि-संस्कार किए और राम के लौटने की प्रतीक्षा में जटा तथा अजिन धारण कर नंदिग्राम में निवास किया। वन के मार्ग में सीता के कष्टों को देख राम को क्लेश हुआ। गाँवों की स्त्रियों ने जब सीता से सादर पूछा कि ये कुवलयदल नील तुम्हारे कौन हैं तब विकसित गंडस्थलों और व्रीड से विभ्रांत नेत्रों द्वारा उन्होंने मुँह नीचे झुका स्पष्ट कर दिया कि ये मेरे पति हैं। चित्रकूट में जटा-वल्कल धारी भरत ने प्रणाम किया और सीता जोर-जोर से रोने लगीं। वहीं सुमित्रा ने लक्ष्मण को समझाया कि

> रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
> अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ पुत्र यथासुखम्॥ हनुमन्नाटक, ३।१८।

चित्रकूट से चलकर राम ने गोदावरी के किनारे पर्णकुटी बनाई। मारीच ने भूत, भविष्यत् और वर्तमान के द्रष्टा रावण की आज्ञा से मृग का रूप बनाया। सीता ने मोहित हो उसका चर्म माँगा। राम ने उसका पीछा किया।

उपर्युक्त कथानक से रामचरितमानस की कथा ज्यों की त्यों नहीं मिलती। वहाँ दशरथ ने गुरु की आज्ञा लेकर और प्रजाजन की सम्मति से राम को युवराज बनाने की तैयारी करने को कहा। उस समय भरत अयोध्या में न थे, अपने ननिहाल गए थे। मंथरा ने अभिषेक की सूचना कैकेयी को दी तथा उनको भरत के लिए राज्य और राम को चौदह वर्ष का वनवास राजा से माँगने को प्रेरित किया। रात में ही रानी के वरदान माँगने, राजा के उनसे अनुनय-विनय करने फिर प्रातःकाल राम के सुमंत्र द्वारा बुलाए जाने और दशरथ को समझाने, कौशल्या के पास जाने, वहीं सीता और लक्ष्मण के आने और राम के समझाने तथा अंत में सीता-लक्ष्मण सहित राम के वन जाने का विशद वर्णन है। मार्ग में सुमंत्र के रथ लेकर गंगा तक साथ जाने, सिंगरौर में निषादराज गुह्व से मिलने, फिर प्रयाग में भरद्वाज का आतिथ्य ग्रहण करते और यमुना पार के ग्रामवासी नर-नारी समुदाय से मिलते हुए वाल्मीकि से वार्तालाप करके चित्रकूट पहुँचकर वहाँ कुछ दिनों तक रहने का सुंदर वर्णन है। तत्पश्चात् गुह के यमुना तट से लौटकर सुमंत्र को अयोध्या भिजवाने, दशरथ के देहत्याग करने पर वशिष्ठ द्वारा भरत के ननिहाल से बुलाए जाने की चर्चा है। फिर भरत के पश्चात्ताप, राज्य-ग्रहण न करने और राम को मनाकर लौटा लाने के लिए सारी अयोध्या के साथ चित्रकूट जाने, वहीं बाद में जनक के भी पहुँचने पर वशिष्ठ, जनक तथा राम से भरत के बातें करने तथा अपने त्याग और प्रेम से राम को जीतकर भी उनकी ही इच्छा को पूरा करने का भक्ति और अनुराग से सराबोर मार्मिक और विशद चित्र प्रस्तुत किया गया है। तदनंतर राम के अनुरोध को स्वीकार करके भरत के अयोध्या लौटकर राजकाज की व्यवस्था करने एवम् स्वयम् नंदिग्राम में तपमय जीवन बिताने का वर्णन

है। यह सब मानस के द्वितीय सोपान में है। इसके आगे तृतीय सोपान में चित्रकूट से प्रस्थान करके, अत्रि-अनुसूया से अनुमति लेकर, विराध का वध करके, शरभंग और सुतीक्ष्ण को सद्गति देने के बाद अगस्त्य के कहने पर गोदावरी के किनारे पर्णगृह बनाकर जटायु से मैत्री करके निवास करने का उल्लेख है। वहीं शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने, खर-दूषण के ससैन्य संहार, रावण द्वारा प्रेषित कपटमृग रूपी मारीच के वध, रावण द्वारा सीता के हरण तथा जटायु का वध और सीता के अशोक वन में रखने के बाद लक्ष्मण के साथ लौटकर सीता को आश्रम में न पाने पर राम के विरहीरूप में विलाप, सीता के खोजने और गीधराज जटायु तथा शबरी से भेंट होने के बाद पंपा सरोवर पहुँचने का विवरण मिलता है। वहीं नारद ने आकर अपने दिए शाप से नारि-वियोगी राम से भेंट की और उनसे पूछा कि मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया था आपने। राम ने अपने भक्त की रक्षा संबंधी प्रण की चर्चा की। नारद संतुष्ट हो विदा हुए।

ऊपर उल्लिखित कथा के अंत का कुछ अंश हनुमन्नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है। वह है—राम द्वारा कपटमृग मारीच का पीछा किया जाना और बाद में वध, रावण द्वारा सीता-हरण, जटायु-वध तथा सीता को आकाशमार्ग से ले जाना, सीता का अपने आभूषण गिरिशिखर पर बैठे हनुमान् के पास फेंककर यह कहना कि इन्हें राम तथा लक्ष्मण को दे देना। इसके अनंतर राम ने लौटकर सूनी पर्णकुटी देखी।

नाटक के पंचम अंक का कथानक यह है—शून्य कुटी में सीता का उत्तरीय पाने पर राम ने रोते हुए सीता के साथ व्यतीत आनंद के प्रसंग स्मरण करते हुए विलाप किया। उन्होंने फिर सीता की खोज आरंभ की, वृक्षों और गोदावरी से जानकी का पता पूछा, समर-मूर्छित जटायु से भेंट होने पर माघ[1] कृष्ण सिताष्टमी को सीताहरण किए जाने की बात जानी। राम ने जटायु के कर्म की प्रशंसा कर उससे अनुरोध किया कि सीताहरण की चर्चा पिता से स्वर्ग में न कीजिएगा, कुछ दिन पीछे रावण सबांधव आकर स्वयम् ही सब कुछ बतलाएगा। यही बात मानस के राम ने भी जटायु से कही है। इसके बाद विरह से व्याकुल राम के विलाप, प्रलाप और लक्ष्मण द्वारा उनके समझाए जाने के दृश्य हैं। ये सब मानस में इस रूप में नहीं हैं। ऐसे ही, नारद के मिलने और उनसे कही राम की बातों का वर्णन भी नाटक में नहीं है। फिर किष्किंधा पहुँचने पर राम मारुति से मिले और सीता के फेंके आभूषण पाए। राम ने जब लक्ष्मण से कहा कि मैं जानता हूँ कि ये आभूषण जानकी के ही हैं, फिर भी तुम भी बतलाओ कि ये सीता के हैं न? इस पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

१—[अग्निवेश रामायण में माघ शुक्ल ८ को सीताहरण होना उल्लिखित है जिसकी पुष्टि चरक से होती है 'कृष्णोऽस्त्री माघकृष्णयोः', किंतु वाराह पुराण में चैत्र कृष्ण ८ को सिताष्टमी बतलाया है 'चैत्रमाससिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञिते। राघवस्य प्रियां सीतां जहार दशकन्धरः॥ इति वृन्दः।]

कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥[1]—५।३६।

आभरणों को हृदय से लगाकर राम ने अत्यंत करुण विलाप किया। हनुमान् ने उनको समझाया-बुझाया तथा सुग्रीव से मिलाया। राम ने बालि-बध की प्रतिज्ञा की। बालि ने अपने वध की प्रतिज्ञा सुनने पर राम के पास सप्त ताल के अंतर्गत दैत्यों को युद्ध के लिए भेजा। राम ने एक ही वाण से उन सब को मार गिराया। वाण छोड़ते समय राम ने यह शपथ की—

भावोऽस्ति चेत्कुशिकनन्दनपादयोर्मे
यद्यस्म्यहं द्विजतिरष्कृतिरोषहीनः।
नान्याङ्गनासु च मनः शर सप्त तालान्
भित्वा तदा प्रविश भूतलमप्यगाधम्॥[2]

सप्त ताल के वध को सुनकर बालि गिरि-चत्वर पर गया। तारा प्रसन्न होकर सोचने लगी कि आज मैं अवश्य ही पुरुषोत्तम राम के प्रसाद से प्राणवल्लभ सुग्रीव के वक्षःस्थल पर लेटूँगी। उधर राम ने नारायण वाण से बालि का हृदय वेध दिया। बालि ने कहा कि क्या मेरे पिता इंद्र के शत्रु रावण ने यह वाण चलाया है। यह सुन राम ने अपराधी बालि को मारने के लिए लक्ष्मण से विषाद प्रकट किया। प्राण छोड़ने को उत्सुक बालि ने राम से कहा कि जिस कार्य के लिए तुम ने सुग्रीव को क्षमा किया क्या उसके लिए मुझे क्षमा कर सकते थे? राम ने कहा कि सुख चाहनेवाले मुझ पापी को तुम मार डालो तो मेरी शुद्धि हो जाय। बालि ने कहा कि ऐसा कहने से तुह्मारी स्वर्ग-गति न होगी। जब तक मैं तुम्हें न मारूँगा तब तक तुम यमालय में रहोगे।—(५। ६०-६१)। बालि के प्राण त्यागने पर सुग्रीव को राज्य, अंगद को यौवराज्य देकर वर्षा बीतने और शरद् आने पर राम ने पवनतनय और वानरेंद्रों के साथ लंका के लिए प्रस्थान किया।

नाटक के पंचम अंक में ऊपर लिखी कुछ बातें, कथानक और उक्तियों में कुछ अंतर के साथ मानस के चतुर्थ सोपान में वर्णित हैं। वहाँ पंपा सरोवर से आगे बढ़ने पर राम ऋष्यमूक पर्वत पहुँचे। वहाँ सचिवों के साथ सुग्रीव रहता था। उसने राम-लक्ष्मण को पता लगाने के लिए हनुमान् को भेजा। राम ने अपना परिचय

१—यही बात वाल्मीकि रामायण (४।६।२१-२२, पं० रामतेज पाण्डेय, प्र०सं०।) में प्रायः इन्हीं शब्दों में लक्ष्मण द्वारा कथित हैं—

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।—२२।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।······।—२३।

२—५।४७।

दिया। हनुमान् उनके असली रूप को पहचान गए। उनके शरणापन्न हुए। सुग्रीव के पास उनको ले गए। सुग्रीव से मित्रता कराई। सुग्रीव ने सीता के फेंके पट राम को दिए। नाटक के वर्णनानुसार सीता का उत्तरीय तो राम को पर्णकुटी में ही मिल गया था और सुग्रीव ने नहीं, हनुमान् ने सीता के आभूषण राम को दिए थे। यह उसमें और मानस में भिन्नता है। सुग्रीव ने पूछने पर अपनी और बालि की शत्रुता के कारण से संबंधित बातें कहीं। राम ने दुंदुभि की अस्थियों और (सप्त) तालों को प्रयास के बिना ही ढहा दिया। तब सुग्रीव को उनके बल पर भरोसा हुआ यह बात भी नाटक में वर्णित ताल-वध संबंधी विवरण से भिन्न है। मानस में राम का बल पाए सुग्रीव के ललकारने पर युद्धार्थ चलने पर बालि को तारा ने समझाया है कि राम-लक्ष्मण काल-विजेता हैं, उनसे युद्ध न करो; परंतु बालि ने उसकी एक न सुनी। यह बात भी मानस में नहीं है और न उसमें तारा की सुग्रीव के प्रति आसक्ति ही है जो नाटक में है; परंतु मानस में आगे चलकर बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव का तारा के साथ विहार में रत हो राम-काज भुला देने का उल्लेख अवश्य है, जो नाटक में नहीं है। युद्ध होने पर सुग्रीव बालि का प्रहार न सह सकने पर भागकर राम के पास पहुँचा, राम ने उसे माला पहनाकर पुनः भेजा। इस बार राम ने बालि के हृदय में तान कर शर मारा। वह व्याकुल होकर गिर पड़ा। राम से कुछ वैसे ही बोला जैसे हनुमन्नाटक में बोला था, पर यहाँ भक्तिभाव की प्रधानता है और वहाँ राजधर्म संबंधी बातों की। राम ने यहाँ उसको 'निज धाम' दिया, यह बात नाटक में नहीं है। सुग्रीव को राज्य और अंगद को यौवराज्य नाटक के समान मानस में भी दिया गया है तथा वर्षा भर शैल पर निवास करने का उल्लेख है। इसके बाद वर्षा और शरद् का नीति संबंधी उपमाओं से भरा वर्णन है, जो नाटक में नहीं है। शरद् आने पर सुग्रीव की चेतावनी, सीता की खोज के लिए वानरों को बुलाने की बात मानस में है, किंतु नाटक में नहीं है। देश-देशांतर से वानरों को बुलाने की बात मानस में है, किंतु नाटक में नहीं है। देश-देशांतर से वानरों के आ जाने पर सुग्रीव ने उनको सीता को खोजने के लिए चारों दिशाओं में भेजा। सब के अंत में हनुमान् के सिर नवाने पर राम ने पास बुलाकर अभिज्ञान के लिए अपनी मुद्रिका देते हुए कहा कि—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥[1]

नदियों, सरोवरों, पर्वतों और खोहों में खोजते हुए वानर चल पड़े। प्यास से आकुल वानरों को हनुमान् एक सर में ले गए। वहाँ तपपुंज नारि ने उन्हें समुद्र के किनारे पहुँचा दिया। वहाँ वे सब चिंताग्रस्त हो लवणसिंधु के किनारे बैठ गए। जांबवान ने उन्हें ढारस बँधाया। इतने में संपाति आ निकला। उसने उनको खा जाना चाहा। अंगद ने जटायु का वृत्तांत सुनाया। संपाती ने अपनी तथा जटायु की

१—४।२३।११।

सूर्य तक पहुँचने की चेष्टा संबंधी घटना सुनाई। फिर चित्रकूट पर्वत पर बसी लंका के अशोक उपवन में सोचरत सीता के बैठे होने तथा स्वयम् उनको देखने की बात कही। समुद्र पार करने के विषय में सब लोग अपने-अपने बल का उल्लेख करने लगे, परंतु कोई अपने को पार जाकर लौटने में समर्थ नहीं कहता था। इस पर जांबवान ने हनुमान् को प्रेरित किया। तब हनुमान् ने पूछा कि वहाँ जाकर मैं क्या करूँ? जांबवान ने कहा कि तुम सीता को देख भर आओ और उनका समाचार दो। तब रामचंद्र कपिसेना लेकर राक्षसों का संहार करेंगे और सीता को ले आएँगे।

हनुमन्नाटक के षष्ठ अंक में सीतान्वेषण की योजना कुछ भिन्न ढंग से हुई है। श्रीराम के पूछने पर कि कौन लंका जाकर पता लगा सकेगा हनुमान् ने कहा कि मेरी आठ अंगुल की काया और बारह अंगुल की पूँछ है। देखिए मेरी बाहें। कैसे सागर पार किया जाय? राम के चिंतित होने पर जांबवान ने कहा ये रुद्रावतार मारुति हैं। रुद्र की स्तुति कीजिए। स्तुति से तुष्ट हो मारुति ने अपने पराक्रम का ओजपूर्ण वर्णन किया। इससे आश्वस्त हो राम ने अपनी मुँदरी देते हुए कहा कि तुम समुद्र लाँघकर जानकी को ढारस बँधा उसके सामने यह मुद्रिका डालकर मेरे जीवित रहते ही लौट आओ।

इसके बाद राम और सुग्रीव को प्रणाम कर हनुमान् अँगूठी लेकर समुद्र के किनारे पहुँचे। उमड़ते हुए सागर को देख उसको लाँघने लगे। यहाँ तक का आख्यान ऊपर लिखे मानस के चतुर्थ सोपान में वर्णित कथा का दूसरा रूप है। हनुमान् मैनाक को उँगली से छूकर आगे बढ़े। अनायास समुद्र पार पहुँचे।

वे द्विदंश (वन-मक्षिका = बड़ी मक्खी) का रूप धर शिंशुपा (शिंशपा = अशोक) के आगे जानकी के सामने गए। अपना परिचय दिया। मुँदरी को छाती से लगाने पर जानकी के देह में रोमांच हो आया। हनुमान् ने राम की विरहावस्था का वर्णन किया और उन्हें आश्वासन दिया, फिर राजवाटिका में जाकर अक्ष को मारा। तब मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र चलाकर हनुमान् को बाँध लिया। रावण को हनुमान् ने परिचय दिया। रावण के चंद्रहास खड्ग का हनुमान् पर कोई प्रभाव न हुआ। तब हनुमान् की पूँछ में कपड़े बाँध, तेल से भिगोकर उसको जला दिया गया। राक्षसों के देखते लंका जल उठी। हनुमान् ने प्रार्थना की कि यदि मैं राम की भक्ति से युक्त होऊँ तो सीता के लिए यह आग शीतल हो जाय। रावण ने विचार किया कि मैं रुद्र का भक्त हूँ और ये मारुति रुद्र ठहरे, तो फिर मेरी नगरी क्यों जल रही है। उसने कहा कि ठीक है, मैंने अपने दस शिरों से पिनाकी को तुष्ट किया था, किंतु एकादश रुद्र असंतुष्ट रह गए, इसी से पंक्ति भेद के कारण हनुमान् लंका जला रहे हैं। हनुमान् ने रावण को ललकारते हुए लंका जला डाली। फिर वे अशोकवनिका में पहुँचे। सीता से राम के लिए अभिज्ञान माँगने लगे। जानकी ने शिरोरत्न दिया। दूसरे अभिज्ञान के रूप में चित्रकूट में स्तन पर चोट करनेवाले काक के काने किए जाने का वृत्तांत

बतलाया और तीसरा अभिज्ञान बतलाया अपने गंडस्थल में राम के हाथ से मैनसिल के तिलक लगाने की घटना। एक महीने तक ही मैं जीवित रहूँगी—यह भी सीता ने कहा। हनुमान् शिरोरत्न को लेकर लौटे। राम ने ससंभ्रम उठ उनका आलिंगन करना चाहा। हनुमान् ने इसके लिए अपने को अयोग्य बतलाते हुए कहा कि मैं न तो समुद्र पी गया, न लंका को चूर-चूर कर आया, न रावण के शिर लाया और न सीता को ही ला सका, मैं तो केवल संदेशवाहक ठहरा। मैं इस पुरस्कार के योग्य नहीं। इस पर राम को निराशा हुई। वे बोल उठे कि यदि तुम शीघ्र ही चंद्रमुखी को न लाओगे तो मेरे प्राण निकल जायँगे। तब हनुमान् ने उनके प्राणों की गति के द्वार की अर्गला रूपी जानकी के शिरोरत्न को भेंट किया और मैनसिल के तिलक तथा कौए के काने करने के वृत्तांतों का संकेत किया। साथ ही हनुमान् ने सीता की विरह-दशा तथा रावण-नगरी की आकुलता का वर्णन किया। राम ने पूछा तुमने रावण के रहते लंका कैसे जला डाली। इस पर हनुमान् बोले कि वह तो सीता की उसाँसों और आपके कोप की आग से पहले ही जल चुकी थी, मैं तो निमित्त मात्र था। शाखामृग की शक्ति तो शाखा से कूदकर शाखा पर जाने भर की है, मेरा समुद्र-लंघन आपके प्रभाव से ही हुआ।

इसी बीच लंका में सरमा और सीता का वार्त्तालाप हुआ। जब सीता ने कहा कि राम के ध्यान में निरंतर लगे रहने से मुझे पुंस्त्व (रामत्व) प्राप्त हो गया है तब सरमा ने उत्तर दिया कि चिंता किस बात की है। तुम्हारे ध्यान में राम ने स्त्रीत्व प्राप्त किया है—वे सीता हो रहे हैं।

ऊपर वर्णित कथा मानस के षष्ठ सोपान में है। हनुमान् के लंका पहुँचने, सीता के मिलने, वन उजाड़ने, अक्ष को मारने, मेघनाद द्वारा बंदी बनाए जाने, रावण से बातें करने, लंका जलाने, सहिदानी लेकर राम के पास आने की मुख्य घटनाएँ यहाँ भी हैं, किंतु सीता और हनुमान्, रावण और हनुमान् तथा राम और हनुमान् की बातचीत का रूप इसमें नाटक से भिन्न है। लंका से लौटकर अपनी राह देख रहे अंगद आदि के साथ हनुमान् के वार्त्तालाप तथा अंगद की सम्मति से मधुवन जाकर फल खाने और वन उजाड़ने से संबद्ध वर्णन नाटक में नहीं हैं। ऐसे ही मानस में राम को सीता के अभिज्ञान भी उस ढंग से नहीं दिए गए जिस ढंग से नाटक में दिए गए हैं। मानस में राम से जांबवान ने पवनसुत के कार्यों का वर्णन किया, तब राम ने हनुमान् से सीता की दशा पूछी। उसका वर्णन तथा सीता का संदेश हनुमान् ने सुनाया। उस समय राम की आँखें भर आयीं। उन्होंने हनुमान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। हनुमान् प्रेम से आकुल हो प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। राम ने उठाकर उन्हें गले लगाया तथा लंका-दहन के विषय में पूछा। मानस में भी हनुमान् ने इस कार्य की संपन्नता का श्रेय प्रभु के प्रताप को ही दिया। इसके अनंतर वानर और भालुओं की सेना लेकर रामचंद्र ने समुद्र के किनारे डेरा डाला।

नाटक के कथानक में रावण ने हनुमान् से बातचीत के बाद ही उन पर खड्ग-प्रहार किया है, उसके व्यर्थ होने पर उनकी पूँछ में कपड़े तथा सन लपेटने और उनपर तेल डालकर जलाने की व्यवस्था की थी; किंतु रामचरितमानस में यह सब दूसरे प्रकार से हुआ है। बातचीत के बीच हनुमान् ने रावण से अनुरोध किया कि सीता को लौटाकर राम की शरण ग्रहण करो। इस पर उसके आदेश से निशाचर हनुमान् को मारने दौड़े। उसी समय वहाँ विभीषण आ पहुँचा। उसने समझाया कि नीति के विरुद्ध दूत को मारना ठीक नहीं, कुछ दूसरा दंड दीजिए। इस पर रावण ने हनुमान् की पूँछ जला देने के लिए बसन और घृत-तेल का उपयोग करने की आज्ञा दी। लंका जलते समय में हनुमान् ने नाटक में सीता के जलने से बचने के लिए जो शपथ की है वह मानस में नहीं है। उसमें तो इस विषय में इतना ही कहा गया है—

> जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं।
> ता कर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥[1]

हाँ, तो इधर राम का शिविर समुद्र-तट पर पड़ा, उधर हनुमान् के चले आने पर लंका में खलबली मच गई। पुरवासियों की घबराहट सुन मंदोदरी ने रावण को समझाया कि सीता को लौटाए बिना कल्याण नहीं। रावण ने हँसी में ही सब कुछ टाल दिया। फिर उसने राजसभा में राम के ससैन्य सिंधु के पार पहुँचने की खबर सुनी। मंत्रियों ने इसको कोई महत्त्व न दिया, चुप बैठने को कहा। उसी समय राजसभा में विभीषण उपस्थित हुआ। उसने राम की शरण जाकर सीता को लौटाने का परामर्श दिया। माल्यवंत ने विभीषण का समर्थन किया। रावण ने दोनों को वहाँ से दूर हटाने को कहा। माल्यवंत तो चला गया, किंतु विभीषण ने फिर समझाया और सीता को लौटाने की बात दोहराई। इस पर रावण ने बिगड़ कर पाद-प्रहार किया। विभीषण अपने सचिवों के साथ वहाँ से सबको बतलाकर राम की शरण पहुँचा। बंदरों ने उसे रावण का दूत समझकर बाँध लिया तथा सुग्रीव को सूचित किया। सुग्रीव ने राम को सुझाया कि विभीषण को बाँध रखना उचित होगा। राम ने इसे न माना। विभीषण ने गद्गद होकर राम को दंडवत् की। राम ने उसे गले लगा लिया, फिर लंका का राजतिलक कर दिया। विभीषण के पीछे आए रावण के छद्मवेशी दूत यह सब देख खुलकर राम के स्वभाव की बड़ाई करने लगे। तब वे पकड़ गए। अंत में लक्ष्मण ने उनको मुक्त करके रावण के पास अपना पत्र ले जाने को दिया। उन्होंने जाकर रावण से सब बातें कहीं। लक्ष्मण की पाती पढ़कर रावण आपे से बाहर हो गयो। उधर विभीषण के परामर्श से समुद्रके तट पर बैठ उससे राह माँगते राम को तीन दिन बीत गए। समुद्र टस से मस न हुआ।

१—मानस, ५।२६।६-७।

तब राम के कराल वाण संधान करते ही समुद्र विप्र रूप में आ पहुँचा। उसने गिड़गिड़ाते हुए अपनी रक्षा किए जाने की विनती की। राम द्वारा संतरण का उपाय पूछने पर उसने बतलाया कि नल-नील के छूने से भारी गिरि तैरने लगेंगे। उनसे बँधे पुल से सेना पार हो जायगी।

मानस के पंचम सोपान के उत्तरार्द्ध में ऊपर लिखा वृत्तांत हनुमन्नाटक के सप्तम अंक में थोड़े हेर-फेर के साथ मिलता है। राम के कार्य का स्मरण करके सुग्रीव सेना सजाकर पहुँचा। आश्विन शुक्ला विजयादशमी को अठारह महापद्म यूथप[1] लेकर रामने रावण का वध करने के लिए प्रस्थान किया। शस्त्र, रथ, हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट तथा शिविर, वित्त, वस्त्र और राजकीय तैयारी से विहीन ऐसी जटाधारी राम की इस सेना को देखकर किसी भिल्ली को विश्वास न हुआ कि वह क्या कुछ कर सकेगी। उसकी माँ ने विश्वास दिलाया कि अकेले राम वानरों की सहायता से ही लंका जीतेंगे और समुद्र पार कर जायँगे भले ही रावण उनका विपक्षी हो। कारण, कार्य की सिद्धि धैर्य से ही होती है उपकरणों से नहीं।

१—रावण के पूछने पर कि 'कहसि न रिपु दल तेज बल' शुक ने अन्य बातों के साथ यह उत्तर भी दिया—

'पूछिहु नाथ रामकटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई॥'—मा०, ५।५४।५।
'अस मैं श्रवन सुना दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर॥'—मा०, ५।५५।३।

मानस में कहे गए इन अठारह पद्म यूथपतियों से नाटक में लिखे अनुसार दस गुने यूथनाथ और दूसरे कपि अपरिमाण थे जिनसे भू, दिशाएँ और आकाश भरे थे—

अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः।
द्विरदविधुमहाब्जैर्यूथनाथैस्तथान्यैः कपिभिरपरिमाणैर्व्याप्तभूदिक्खचक्रैः॥
—हनु०, ७।२।

द्विरदविधुमहाब्ज—द्विरद = गज = दिग्गज = आठ। विधु = चंद्रमा = एक। महाब्ज = महा + अब्ज (पद्म) = महा पद्म।

[वाल्मीकि रचित रामायण में 'शत सहस्र' (= १ लाख) को कोटि कहा गया है। 'शत कोटि सहस्र' का 'एक शंकु', 'शत सहस्र शंकु' का 'एक महा शंकु', 'शत सहस्र महाशंकु' का 'एक वृन्द', 'शत सहस्र महावृन्द' का 'एक पद्म' और 'शत सहस्र पद्म' का 'एक महापद्म' बतलाया है। (दे०वा०रा०, ६।२८।३३-३६)]

हनुमन्नाटक के उक्त श्लोक में आश्विन शुक्ला दशमी को विजयदशमी कहा गया है और इसी दिन राम के रावण को मारने के लिए प्रस्थान करने का स्पष्ट उल्लेख है, किंतु आजकल इस तिथि को रावण का वध करने का दिन मानकर पंजाब और मध्य देश में विजयादशमी का उत्सव मनाया जाता है। वास्तव में वाल्मीकि रामायण के आधार पर राम ने फाल्गुन के अंतिम दिनों में कभी रावण को मारा होगा, किंतु कालिकापुराण में देवी के

इधर राम की सेना समुद्र-तट पर पहुँच रही थी उधर रावण को विभीषण समझा रहा था कि राम साधारण नर नहीं हैं और न ये वानर ही साधारण वानर हैं जिसको तुम नगण्य समझते हो। तनिक सहस्त्रार्जुन और बलि का स्मरण करो। इसलिए सीता को राम के हाथों में सौंप दो। इस पर रावण ने बाएँ पैर से ठुकरा दिया यह कहते हुए—

जानामि सीतां जनकप्रसूतां जानामि रामं मधुसूदनं च।
वधं च जानामि निजं दशास्यस्तथापि सीतां न समर्पयामि॥—७।११।[1]

—क्रमशः

प्रसाद से राम द्वारा आश्विन शुक्ला नवमी को रावण के मारे जाने और दशमी को देवी के विसर्जन का उल्लेख है। (६०।३२-३३)। जान पड़ता है इस शक्ति-प्रभाव से इन दिनों आश्विन को ही राम का विजयोत्सव मनाने का प्रचलन हो गया है। इस संबंध में विस्तृत विवेचन के लिए दे० इंद्रचंद्र नारंग कृत 'दशहरा–दिवाली बनाम रावणवध-रामराज्याभिषेक', हिंदी भवन, जालंधर, इलाहाबाद।

१—[मानस में रावण इस प्रकार सीता, राम और अपनी मृत्यु की जानकारी विभीषण से ही नहीं, मंदोदरी और कुंभकर्ण के भी समझाने पर कदापि स्वीकार नहीं करता यद्यपि वह शूर्पणखा से खर-दूषण का सेना-सहित विनाश सुनकर मन ही मन राम को पहचान लेता है—'खर दूषण मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥' (३।२३।२) इस कारण, वह तभी निश्चय कर लेता है कि 'सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥ तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजें भव तरऊँ॥' (३।२३।३-४)। इस प्रकार राम के हाथों से मारे जाने का दृढ़ निश्चय करके रावण अनेक बार प्रेरित किए जाने पर भी अपने मन का भेद विभीषण से क्या मंदोदरी तक से नहीं प्रकट करता। प्रत्यक्ष रूप में राम को भूपसुत, नर, तापस आदि ही कहता है। राम का नाम तक कभी मुँह से नहीं लेता। केवल अंत में प्राण त्यागते समय 'राम' कहता है, सो भी भक्ति भाव से, श्रद्धापूर्वक नहीं, विरोध भाव की पराकाष्ठा के रूप में, शत्रु को ललकारते हुए—'गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥' (६।१०३।४)। यह है नाटक और मानस के रावण के रूप का साम्य-वैषम्य।]

श्रीयुगेश्वर

तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्द

[राजभाषा के प्रभाव से जनभाषा बच नहीं सकती। यह एक अनुभूत सत्य है। इस्लामी सल्तनत में जिस अरबी-फारसी की बाअदब कदर थी वही ईसाई हुकूमत में अंग्रेजी के बोलबाले के कारण किताबों में ही इज़्ज़त बचाकर छिप गई। अपने अपने समय में दोनों के शब्द-प्रयोग खुल कर चले। अतः मानस में तत्कालीन बहुप्रचलित विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग असंगत नहीं कहा जा सकता। हिंदी की अन्य पूर्ववर्ती तथा परवर्ती रचनाओं में भी विदेशी शब्द-ग्रहण की प्रवृत्ति मिलती है। गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा प्रयुक्त विदेशी भाषा-शब्दों को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत निबंध में यह बतलाया गया है कि उन्होंने किस प्रकार शुद्धि कर, अछूतपन को मिटाकर उन्हें अपनाया और यह निष्कर्ष निकाला गया है—

'कहा जा सकता है कि विषयवस्तु के क्षेत्र में जहाँ गोस्वामीजी ने 'नानापुराणनिगमागमसंमतं' का प्रयोग करके अपनी समन्वय-साधना का परिचय दिया, वहीं वे भाषा के क्षेत्र में भी समन्वय-साधना में अग्रगण्य हैं। भारत की भावात्मक एकता की दृष्टि से तुलसी-साहित्य का इस प्रकार का अध्ययन अत्यावश्यक है।']

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने साहित्य में अरबी-फारसी के जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे हमारी भाषा-समस्या पर अनेक प्रकार से प्रकाश डालते हैं। इस संबंध में कहना यह है कि गोस्वामीजी का अन्य बातों में भले ही किसी संप्रदाय विशेष से मतैक्य न रहा हो किंतु शब्दार्थों के बारे में उनका दृष्टिकोण संकीर्ण और सांप्रदायिक बिलकुल न था, जैसा कि आज के अनेक विद्वान् अरबी-फारसी के शब्दों को बिलकुल देश निकाला देकर संस्कृत के प्रवाहहीन और प्रचलनहीन शब्दों को भी स्थान दे रहे हैं। स्व० चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने 'मारेसि मोहि कुठाँव' नामक निबंध में बहुत पहले लक्ष्य किया था कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान, विशेषकर शब्दार्थों के आवागमन, के बारे में आर्यदृष्टि अत्यंत परिष्कृत और वैज्ञानिक थी। गोस्वामीजी ने भी अपने लिए यही आर्य-पथ चुना था।

उर्दू-हिंदी संघर्ष का एक बड़ा हिस्सा राजनीति से प्रभावित रहा है। साथ ही मुख्यरूप से एक खास संप्रदाय की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम रहने के कारण उर्दू तथा अरबी-फारसी के शब्दों के बारे में भारत के एक बहुत बड़े वर्ग में अलगाव की भावना रही है जो बहुत हद तक आज भी है। किंतु उर्दू का जन्म और दरबारों

तथा जन-जीवन पर मध्यकाल से आरंभ होनेवाले अरबी-फ़ारसी के प्रभावों को देखते हुए इस अलगाव को अधिक तूल दिया गया जान पड़ता है।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी के शब्दों को देखने से दो बातें सामने आती हैं—

१—गोस्वामीजी ने भाषा के क्षेत्र में किसी प्रकार की सांप्रदायिकता नहीं बरती है। उन्होंने अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है जो विदेशी तथा अहिंदूजन की भाषाएँ थीं। लोकभाषा के प्रति आग्रह के कारण ही उन्होंने ऐसा किया होगा। इसलिए उन्होंने अरबी-फ़ारसी के उन्हीं शब्दों को अपने साहित्य में स्थान दिया होगा जो उस समय तक लोक-प्रचलन में आगए थे। इससे विदेशी शब्दों को साहित्य में स्थान देने की सीमा और स्वातंत्र्य तथा शब्दार्थों के क्षेत्र में अछूत-भावना के अभाव का बोध होता है।

२—गोस्वामीजी ने विदेशी भाषा के शब्दों को जिन ध्वनियों और रूपों में ग्रहण किया है उनसे विदेशी भाषा के शब्दों को देशी भाषा में ग्रहण करते समय उनके ध्वन्यात्मक रूपों आदि का पता लगाया जा सकता है। विशेषकर जब कि हिंदी में अंग्रेजी शब्दों को ग्रहण करते समय उनकी अंग्रेजी ध्वनियों पर जोर दिया जाता हो, गोस्वामीजी द्वारा प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी के शब्दों की सीमा, ध्वनिरूप, अर्थविकास आदि हमारा मार्ग-निर्देश कर सकते हैं।

गोस्वामीजी ने अपने साहित्य में अरबी-फ़ारसी के कितने शब्दों का और एक ही शब्द को कितनी बार तथा कितने रूपों में प्रयोग किया है इसकी ठीक-ठीक गणना शायद अभी नहीं हो पाई है। मोटे तौर पर इतना कहा जा सकता है कि प्रायः सभी स्वरों और सभी व्यंजनों या व्यंजन वर्गों से आरंभ होनेवाले शब्द तुलसी-साहित्य में वर्तमान हैं। जिन वर्णों से आरंभ होनेवाले शब्द स्वयम् संस्कृत आदि भारतीय आर्य भाषाओं में भी नहीं हैं या कम हैं अथवा जो वर्ण उक्त भाषाओं में उच्चरित ही नहीं होते उनके शब्दों को तुलसी-साहित्य में ढूँढ़ना फिजूल है।

जैसा कि बाबू रामचंद्र वर्मा ने लिखा है कि 'उर्दू वर्णमाला में ऋ, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, भ, और ष के लिए कोई वर्ण नहीं है ......ट और ड के सूचक वर्ण तो उसमें हैं परंतु इन वर्णों से आरंभ होनेवाले शब्दों का ही अभाव है।'[१] करीब-करीब ऐसी ही स्थिति अरबी-फ़ारसी की भी है। तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी के शब्द आदिकालीन और मध्यकालीन हिंदी में सामान्यरूप से व्यवहृत

१—दे०—"देवनागरी उर्दू-हिंदी कोश", हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई, भूमिका, पृ० १५।

होते थे। चाहे वह निर्गुणपंथी या सगुणपंथी कवि हो अथवा वह मिथिला, राजस्थान, व्रज या अवध में रहता हो सबकी भाषा पर इस शब्दावली का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इन शब्दों को देखने से कुछ प्रश्न सामने आते हैं। इन शब्दों का प्रयोग गोस्वामीजी ने क्यों किया? क्या उस समय हिंदी भाषा और उसकी नानी संस्कृत के पास शब्दों का अभाव था? इनका एक उत्तर तो लोकभाषा के प्रति आग्रह बताया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि हर राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन या परिवर्द्धन का आंदोलन कुछ नवीन अर्थबोध देता है जिन्हें व्यक्त करने के लिए कुछ नवीन शब्दों का आविष्कार होता है और कुछ पुराने शब्दों में ही नवीन अर्थ भर दिए जाते हैं। नवीन शब्दों के ग्रहण की दो दिशाएँ हो सकती हैं—कोई विदेशी भाषा या अपने ही देश की कोई समृद्ध भाषा की शब्दराशि तथा विशाल धातु प्रत्ययों वाली भाषा। विदेशी भाषा के शब्द विदेशियों से प्रत्यक्ष संबंध के कारण आते हैं। राम के लिए स्वामी और अपने लिए सेवक के स्थान पर जब गोस्वामीजी ने साहब और गुलाम का प्रयोग किया तो निश्चय ही वे एक नवीन, गहन और तीव्रतायुक्त सेव्य-सेवकभाव व्यक्त कर रहे थे। 'साहब-गुलाम' में मुगलकालीन दरबारी जीवन की झलक स्पष्ट है। विकट सांसारिक तथ्यों के आधार पर आध्यात्मिक संबंधों की तीव्रता व्यक्त करने के लिए ही गोस्वामीजी ने इस प्रकार के शब्दों को उनकी संपूर्ण अर्थवत्ता के साथ ग्रहण किया होगा। गोस्वामीजी ने भक्त और भगवान् की ऐकांतिक स्थिति, प्रेम तथा साधना की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भक्त को कामी तथा अविवेकी पुरुष से उपमित किया है। कहने का मतलब यह नहीं कि तुलसीदास ने साहब और गुलाम का प्रयोग सभी स्थानों पर साथ-साथ किया है। कहीं वे 'महाराज' के साथ भी 'गुलाम' का प्रयोग करते हैं तो कहीं राम को जहान का साहब बनाकर अपने को केवल 'धींग धमधूसर'[1] कहकर रह जाते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'साह (पत-शाह) ही को गोत गोत होत है गुलाम को।'

तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अरबी फारसी के शब्दों को देखने पर पता चलता है कि इनमें से अधिकांश शब्द उस युग में अत्यंत प्रचलित थे। कुछ शब्द तो कबीर आदि संतों के साहित्य में बहु प्रयुक्त हैं। ऐसे शब्दों में साहब, गुलाम, खलक, खसम, हराम, दगा, दरबार, मुकाम, महल, उमरि, रहम, गरीब, गुमान, खबरि, करामाति, करम, कसाई, मसीत आदि प्रमुख हैं। तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी के अधिकांश शब्द आज तक हिंदी-साहित्य और भाषा में प्रचलित हैं। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो हिंदी भाषा में आजकल शायद ही प्रयुक्त होते हों। ऐसे

१–क–'आपने निवाजे की तौ लाज महाराज को, सुभाव समुझत मन मुदित गुलाम को।'
ख–'साहब कहाँ जहान जानकीस सो सुजान, अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो।'
—कवितावली, ७।१४,१६।

शब्दों में दादि (न्याय), तकिया (सहारा या भरोसा), चौगान, आहन, इताति, कुमाच, गनी, दिरमानी (वैद्य), मनसा (अरबी—मनशा = इच्छा, सम्मति), मिसकीनता आदि गिनाए जा सकते हैं। संभव है ये शब्द उर्दू में आज भी प्रचलित हों किंतु सामान्यतः हिंदी में अप्रयुक्त हैं।

कुछ शब्द ऐसे हैं जो हिंदी की बोलियों में अब भी बहु प्रचलित हैं किंतु साहित्यिक हिंदी में इनका प्रयोग विरल है, जैसे–पोच, पोचा, पोचू आदि। कुछ शब्द तो मध्यकालीन हिंदी में भी विरल जान पड़ते हैं। यथा–दिरमानी, दादि, हरास, मनसा, मिसकीनता आदि।

जान पड़ता है गोस्वामीजी ने अरबी-फारसी के जिन शब्दों को अपने साहित्य में स्थान दिया उनके न तो सभी अर्थों न उनके सभी वैयाकरणिक रूपों तथा न उनसे बननेवाले सभी संयुक्त शब्दों को ही ग्रहण किया। उदाहरण के लिए अरबी 'साहिब' शब्द को लें। ('साहिब' अत्यंत दीर्घजीवी शब्द है। मध्यकाल से ही अनेक उतार-चढ़ाव देखता यह शब्द आज भी लोक-प्रवाह में जीवित है।) 'मद्दाह' के उर्दू कोश में 'साहिब' और 'साहब' से बननेवाले ८३ शब्द हैं। बाबू रामचंद्र वर्मा के उर्दू कोश में यह शब्द विशेषण और संज्ञा बतलाया गया है तथा विशेषण के दो और संज्ञा के पाँच अर्थ बतलाए गए हैं। तुलसी-साहित्य में यह शब्द केवल संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है और इसका मालिक तथा परमेश्वर अर्थ ही पाया जाता है। उर्दू में इससे बननेवाले 'साहबान' बहुबचन, 'साहबा' स्त्रीलिंग तथा 'साहब-जादा', 'साहब-सलामत', 'साहबे-आलम' आदि संयुक्त शब्द नहीं लिए गए हैं। किंतु 'साहिबी' संज्ञा का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'गरीब' (अरबी) और उससे बननेवाले संयुक्त शब्द 'गरीबनिवाज' को लेकर 'गरीब-खाना', 'गरीब-परवर' आदि शब्दों को छोड़ दिया गया है। 'मद्दाह' के कोश में गरीब से बननेवाले १२ शब्द हैं। अरबी-फारसी के शब्दों को लेने में 'संग्रह-त्याग' का जो विवेक गोस्वामीजी ने दिखलाया है उसकी चर्चा लंबी हो सकती है जो प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य नहीं है। फारसी 'तकिया' का बहुप्रचलित अर्थ उपधान तो तुलसी-साहित्य में नहीं मिलता किंतु 'आश्रय' और 'भरोसा' विनयपत्रिका में प्रयुक्त है।[१]

तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्दों में निम्नलिखित ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं—

अर्ध चंद्रबिंदु का प्रयोग—

अरबी—'अभारी' > तुलसी-साहित्य 'अँबारी'।
फारसी—'हिरास' > ,, ,, 'हराँसू'।

१–तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे!—वि०, ३३।

ए को इ

फारसी—'वेबाकी'	> तुलसी-साहित्य		'बिबाकी' ।
फारसी—'बेगानः'	>	,, ,,	'बिराना' ।

इ को अ

अरबी—'साहिब'	>	,, ,,	'साहब' ।
फारसी—'हिरास'	>	,, ,,	'हरास' ।

अ को इ

अरबी—'इताअत'	≥	,, ,,	'इताति' ।
अरबी—'उम्र'	>	,, ,,	'उमरि' ।
अरबी—'कस्ब'	>	,, ,,	'किस्ब' ।
अरबी—'करामत'	>	,, ,,	'करामाति' ।
अरबी—'जमाअत'	>	,, ,,	'जमाति' ।
अरबी—'तर्क'	>	,, ,,	'तरकि' ।
अरबी—'दगाबाज'	>	,, ,,	'दगाबाजि' ।
फारसी—'दाद'	>	,, ,,	'दादि' ।
अरबी—'फजिहत'	>	,, ,,	'फजीहति' ।
फारसी—'शाह'	>	,, ,,	'साहि' ।

अ को उ, ऊ ।[1]

फारसी—'खरगोश'	>	,, ,,	'खरगोसु' ।
फारसी—'ख्वार'	>	,, ,,	'खुआरु' ।
फारसी—'गुमान'	>	,, ,,	'गुमानु' ।
अरबी—'जहाज़'	>	,, ,,	'जहाजू' ।
फारसी—'जह्र'	>	,, ,,	'जहरु' ।
फारसी—'नाज'	>	,, ,,	'नाजु' ।
फारसी—'पूच'	>	,, ,,	'पोचु', 'पोचू' ।
अरबी—'बाज'	>	,, ,,	'बाजू' ।
अरबी-फारसी—'वेहाल'	>	,, ,,	'बेहालू' ।
फारसी—'सरखत'	>	,, ,,	'सरखतु' ।
फारसी—'शाह'	>	,, ,,	'साहु' ।

१—['उ' तथा 'ऊ' छंदानुरोध अथवा व्याकरणानुरोध के कारण भी लगा हो सकता है ।]

आ को अ

फारसी—'गुनाह' > ,, ,, 'गुनह'।
फारसी—'जाया' > ,, ,, 'जाय'।
उर्दू—'बाबा' > ,, ,, 'बबा'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त प्रायः सभी अरबी-फारसी के शब्द स्वर-व्यत्यय से प्रभावित हैं। असल में स्वरों का यह व्यत्यय मध्यकालीन आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताओं में है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओं में यह स्पष्टता से लक्ष्य किया जा सकता है। आचार्य हेमचंद्र ने तो अपभ्रंश के लिए स्पष्ट निर्देश किया है कि अपभ्रंश भाषा में प्रायः स्वर के स्थान पर स्वर हो जाता है।[1]

अब व्यंजनों के परिवर्तनों को देखिए—

फारसी—'अंदेशः' > तुलसी-साहित्य 'अँदेसा'।
अरबी—'गोतः' > ,, ,, 'गोतो'।
फारसी—'फलीतः' > ,, ,, 'पलीता'।
फारसी—'सादः' > ,, ,, 'सादें'।

म को ब और ब को म

अरबी—'अमारी' > ,, ,, 'अँबारी'।
फारसी—'बालाई' > ,, ,, 'मलाई'।

द को त

फारसी—'मस्जिद' > ,, ,, 'मसीत'।
फारसी—'सफेदी' > ,, ,, 'सुपेती'।

ज को द

फारसी—'गुंज़र' > तुलसी-साहित्य 'गुदरत'।
फारसी—'गुजारा' > ,, ,, 'गुदारा'।

फ को प

फारसी—'फलीतः' > ,, ,, 'पलीता'।
फारसी—'फिरोजा' > ,, ,, 'पिरोजा'।
फारसी—'सफेदी' > ,, ,, 'सुपेती'।

द को ड

अरबी—'दफ़' > ,, ,, 'डफ'।

१—'स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे।'—अपभ्रंश-व्याकरण ॥४॥३२९॥

ग को क

फारसी—'गर्द' > ,, ,, 'करदा'।

तालव्य 'श' के स्थान पर दंत्य 'स' तो मध्यकाल की साधारण बात है। ध्वनि-परिवर्तन के अन्य उदाहरणों को विस्तारभय से छोड़ा जा रहा है।

इसी प्रकार पलीता (फा०—फलीतः) शब्द वर्ण-विपर्यय, किसब (अर०—कस्ब), खसम (अर०—खस्म), गरद (फा०—गर्द), तरकि (अर०—तर्क) आदि शब्द स्वरागम और बलैया (अर०—बला), परवाह (फा०—परवा), रजाय (अर०—रजा) जैसे शब्द श्रुति के उदाहरण हैं।

तुलसी-साहित्य में आए अरबी-फारसी के शब्दों के उक्त ध्वनि-परिवर्तनों और वर्ण-विपर्ययों को देखने से यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने एक भी विदेशी शब्द को उसके मूलरूप में अपनी भाषा में नहीं ग्रहण किया। इस आधार पर यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि भाषा-विज्ञान के इस सिद्धांत को वे मानते थे कि विदेशी शब्दों का एक सीमा तक ग्रहण अनुचित नहीं है किंतु उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप ही ग्रहण करना चाहिए।

अंग्रेजी के शब्दों को अपनी भाषा के प्रकृति-प्रत्यय से जोड़कर बोलते सुन कुछ अंग्रेजी-भक्त उसका मजाक उड़ाते हैं। अंग्रेजी-भक्तों के अनुसार स्कूलों को स्कूल्स, कालेजों को कालेजेज् कहना उचित है। जो लोग रेलिया, टेसनियाँ, कालेजवा और प्रोफेसरी जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं उन्हें अशिक्षित समझा जाता है। किंतु यह अंग्रेजी-समर्थक वर्ग अगर कभी भाषाशास्त्र तथा तुलसी आदि संतों के पुराने साहित्यरूपी निर्मल-दर्पण को देखे तो उसे उक्त अशिक्षितों में अपना ही मुखड़ा प्रतिबिंबित दिखाई पड़ेगा।

कोई भी वधू जब हमारे घर आती है तो देश-काल और जलवायु के प्रभाव से उसके रूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। विदेशी शब्द जब देशी उपसर्गों, परसर्गों आदि को ग्रहण कर लेते हैं तब मानों शब्द-वधू का यह पहनावा और अलंकार उसे पूर्ण स्वदेशी बना देता है जिससे वह नवीन कुल-गोत्र में हिलमिल कर पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। दुनियाँ की सभी भाषाओं का यह शाश्वत नियम है। गोस्वामीजी ने भी अरबी-फारसी के शब्दों को संस्कृत तथा अवधी उपसर्गों और परसर्गों के साथ प्रयोग करके उन्हें पूर्णतः स्वदेशी बना लिया था। नीचे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

नञ् समास प्रयोग

अदाग (सं० अ + फा० दाग)

अलायक (सं० अ + अर० लायक)

इसी प्रकार फारसी 'सवार' में 'अ' स्वार्थे जोड़कर 'असवारा' शब्द निर्मित हुआ।

दो शब्दों का योग—

सं० त्रि + फा० पारः (= टुकड़ा) टिपारे, टेपारे, टिपारो।

सं० त्रीणि + फा० मुहानी = तिमुहानी।

सं० बल + फा० जोर = बरजोर।

अर० सहन + सं० भंडार = सहनभंडार।

सं० सु + अर० साहब = सुसाहिब।

संस्कृत 'ता' प्रत्यय का प्रयोग

अर० मिसकीन + सं० ता (प्रत्य०) = मिसकीनता।

फा० शरीक + सं० ता (प्रत्य०) = सरीकता।

इ, उ, ऊ प्रत्ययों से बननेवाले शब्द

बेगारि, करामाति, खबरि, फजीहति, उमरि, खरगोसु, गमु, नेवाजू, बेहालू, जहरु आदि।

अरबी फारसी के कुछ संज्ञा शब्दों का क्रियार्थक संज्ञा के रूप में प्रयोग—

अरबी 'निवाज' से 'निवाजिबो'।

अरबी 'कबूल' से 'कबूलत'।

अरबी 'खाली' से 'खलाना'।

फारसी 'गुजर' से 'गुदरत'।

फारसी 'बख्श' से 'बकसत'।

अरबी 'गनी'+ हिं (प्रत्य०) = 'गनिहिं'।

अरबी 'गुलाम'+ नि ,, = 'गुलामनि'।

फारसी 'जहाँ'+ हि ,, = 'जहानहि'।

फारसी 'पासंग'+ हु ,, = 'पासंगहु'।

क्रियार्थक संज्ञा और अवधी प्रत्यय भी मध्यकालीन भाषा की प्रवृत्ति से बिलकुल मेल खाते हैं।

इसी प्रकार 'तुलसी-सतसई' नामक ग्रंथ में 'गैन' अक्षर का जिस प्रकार संयोग किया गया है उससे उस समय के जीवन पर अरबी-फारसी के शब्दों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।[1]

कहा जा सकता है कि विषय-वस्तु के क्षेत्र में जहाँ गोस्वामीजी ने 'नाना-पुराणनिगमागमसंमतं' का प्रयोग करके अपनी समन्वय-साधना का परिचय दिया, वहीं वे भाषा के क्षेत्र में भी समन्वय-साधना में अग्रगण्य हैं। भारत की भावात्मक एकता की दृष्टि से तुलसी-साहित्य का इस प्रकार का अध्ययन अत्यावश्यक है।

१—नाम जगत सम समुझु जग बस्तु न करु चित चैन।
बिंदु गये जिमि गैन तें रहत ऐन को ऐन॥
—तुलसी-सुधाकर, दो० ३९२, बनारस चंद्रप्रभा कंपनी, १८९९ ई०।

डा० वासुदेवसिंह

तुलसी का काव्य-दर्शन

[प्रस्तुत निबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी की काव्य विषयक मान्यताओं का उद्घाटन किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि 'उन्होंने आखर, अर्थ, अलंकार, छंद, प्रबंध-कौशल, भाव-भेद, रस-भेद एवम् काव्य के गुण दोष में अपना अभिनिवेश न होना सूचित करके अपने प्रगाढ़ ज्ञान का प्रमाण दिया है। तात्पर्य यह है कि कवि को काव्यांग की जानकारी तो है, किंतु उसका प्रदर्शन उसे अभिप्रेत नहीं है।']

किसी भी शास्त्र या कर्म विषयक प्रवृत्ति के हेतु को 'प्रयोजन' कहते हैं। काव्य रचनाभिधेय अनेक कहे गए हैं। आचार्यों ने भिन्न भिन्न दृष्टिभंगियों से उन पर विचार किया है। आलंकारिक भामह चतुर्वर्ग की प्राप्ति, यश-लाभ और आनंदानुभूति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। रीतिवादी वामन प्रीति और कीर्त्ति तक ही काव्य को सीमित रखते हैं। ध्वनिवादी आनंदवर्धन भी 'प्रीति' को काव्य का मुख्य अभिधेय मानने हैं—'प्रीतये तत्स्वरूपम्।' वक्रोक्तिवादी कुंतक भी आनंदवर्धन का समर्थन करते हैं। इन सब में आचार्य मम्मट की उक्ति बड़ी प्रसिद्ध है। उन्होंने काव्य के छः प्रयोजन गिनाए हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

उक्त आचार्यों के कथनों पर ध्यान देने से यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्याभिधेय निश्चित करते समय उनकी दृष्टि कवि या भावक अथवा दोनो पर रही है अर्थात् उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों को दो भागों में रखा जा सकता है—(१) कविनिष्ठ प्रयोजन (२) भावकनिष्ठ प्रयोजन। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन दोनो को स्वीकार किया है। उनकी रचना का एक उद्देश्य स्वांतः सुख, आत्म-प्रबोध और अपने संदेह-मोह-भ्रम का निवारण है और दूसरा है जन-कल्याण, लोकमंगल और जन-मोह का निराकरण। मानस में वे प्रथम प्रयोजन को अनेकत्र व्यक्त करते हैं—

स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।[१]
स्वांतस्तमःशांतये।[२]
मोरे मन प्रबोध जेहि होई।[३]

१—१। मं० श्लो० ७। २—७। फल० श्लोक० १। ३—१।३१।२।

निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो।[१]
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी।[२]

गोस्वामीजी का यह 'स्वांतःसुखाय' उन्हें अपने 'स्व' तक सीमित कर देनेवाला नहीं है। वह विश्व की आत्मिक एकता या सर्वभूतात्मैक्यवाद का प्रतिपादक है। 'स्वांत' में 'अंत' शब्द 'अंतःकरण' का प्रतीक है, जो ज्ञान-समष्टि का बोधक है। इससे समष्टि सुख का अविरोध संबंध है। बहुजनहिताय से ही उनके स्वांतःसुख का लगाव है। वस्तुतः गोस्वामीजी में 'लोकमंगल' और 'काव्यकौशल' का चरम परिपाक मिलता है। इसका आभास मानस के मंगलाचरण में की गई वाणी विनायक की वंदना से मिल जाता है। एक विद्या की देवी है दूसरा लोकमंगल का प्रतीक। पहले वाणी तब विनायक अर्थात् गोस्वामीजी पहले कवि तब लोक-हित-चिंतक। उनकी लोक-हित-चिंतन की भावना मानस में स्पष्ट है—

मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[३]
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[४]

उनका विश्वास है कि सच्ची कविता वही है जो कवि-हृदय से निकलकर पाठक के हृदय को छू ले। काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी है समाज। सच्ची कविता अपने मूलस्थान (कवि-हृदय) की अपेक्षा समाज में ही शोभा को प्राप्त होती है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृपकिरीट तरुनीतनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥[५]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी 'अनत छबि' प्राप्त करनेवाली कविता को ही वस्तुतः कविता मानते हैं। वे काव्य-विषय तथा उसकी प्रतिपादन-शैली दोनो पर अपना मत व्यक्त कर देते हैं।

काव्य का कथानक तीन प्रकार का होता है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात के भी ऐतिहासिक और पौराणिक दो भेद होते हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि में प्राकृतजनों का गुणगान सरस्वती का अपमान है—

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥[६]

इसीलिए उन्होंने अपना काव्य-नायक 'राम' को चुना। उनके राम सगुण निर्गुण से परे लोकमंगल के प्रतीक हैं। विश्व में जितने भी महापुरुष अवतरित हुए उन सबकी विशेषताएँ समष्टि रूप से राम में पुंजीभूत हैं। वे सर्वगुणसंपन्न थे। आदर्श लोकमर्यादा की जो दीक्षा हमें राम से मिलती है वह भारतीय इतिहास में

१—१।३६।१९। २—१।३१।४। ३—१।१०।११। ४—१।१४।९।
५—१।११।१-३। ६—१।११।७।

अन्यतम है। उनकी एक विशेषता और है। वे सूर्यवंशी हैं, अर्थात् प्रकाश के प्रतीक। रावण निशाचरों का स्वामी है, अर्थात् तम का प्रतीक। राम की रावण पर विजय ज्ञान की अज्ञान पर, प्रकाश की अंधकार पर और पुण्य की पाप पर विजय है। मानस के इन्हीं काव्य-गुणों से प्रभावित होकर प्रसिद्ध रूसी प्राच्यविद्याविद् प्रो० वारान्निकोव ने लिखा है कि 'भारत में व्यापक लोकप्रियता प्राप्त करते हुए तुलसीदासजी ने रामायण (सोलहवीं शती) मनोरंजन या पठन (मात्र) के लिए नहीं लिखा। उनके देशवासी विजेताओं द्वारा धूलधूसरित थे ओर उन्होंने अपने काव्य के द्वारा अपने देश की रक्षा के लिए अपूर्व (मौलिक) मार्ग-प्रदर्शन की चेष्टा की।'[1]

तुलसी राम जैसे लोकनायक का चरित्र वर्णित कर देने मात्र से इतने लोकप्रिय नहीं हुए। राम का चरित्र भले ही स्वयम् काव्य हो, किंतु प्रत्येक राम-कथाकार तुलसी नहीं बन सकता, न केशव बन सके और न मैथिलीशरण गुप्त। सूर ने ऐसे 'सागर' का निर्माण किया जिसकी प्रेरणा से परवर्त्ती कवियों द्वारा बहुल कृष्ण-काव्य लिखे गए और तुलसी का 'मानस' इतना अथाह बना कि उसके पश्चात् रामकाव्य-प्रणयन की परंपरा ही अवरुद्ध सी हो गई। तुलसी बनने के लिए व्यापक प्रतिभा तथा काव्य-दृष्टि चाहिए। आचार्यों ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्य-हेतु माना है। गोस्वामीजी में यद्यपि तीनो का सुंदर सामंजस्य है तथापि वे शक्ति या कवि-प्रतिभा को ही प्रमुख काव्य-हेतु मानते हैं। काव्य हृदय की वस्तु है। बौद्धिक व्यायाम से कोई श्रेष्ठ कवि नहीं बन सकता। जब स्वाति रूपी सरस्वती उत्तम विचारों की वर्षा करती हैं, तब हृदय-सिंधु में स्थित मति-सीपी में कविता-मुक्तामणि उत्पन्न होती हैं।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥[2]

गोस्वामीजी ने हृदय-सिंधु को ही काव्य की जन्मभूमि माना है। वाणी वही प्रभावकारी होती है जो सीधे हृदय से उद्भूत होती है। नीति आदि के कोरे बौद्धिक उपदेश उतने प्रभावशाली नहीं होते। स्थान-भेद से वाणी चार प्रकार की मानी गई है—परा, पश्यंती, मध्यमा और बैखरी। इनका निवास क्रमशः नाभि, हृदय, कंठ और जिह्वा है। सच्चे कवि की वाणी इन चार सोपानों को पार करके अभिव्यक्त होती है। इसीलिए गोस्वामी ने कहा है—

भगतिहेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥[3]

१—दे० डा० केशरीनारायण शुक्ल द्वारा अनुवादित 'मानस' की (रूसी) भूमिका, श्री ए० वरान्नीकोव लिखित प्राक्कथन।

२—१।११।८-९। ३—१।११।४।

सरस्वती का विधिभवन से कवि तक आना, वाणी का परा से वैखरी की स्थिति को पहुँचना है। परा का वासस्थान नाभि है जो ब्रह्मा का जन्म-स्थान है। वाणी का हृदय से प्रकट होना कवि-प्रतिभा का द्योतक है।

प्रतिभा का व्युत्पत्ति से योग होने पर काव्य अधिक हृदयग्राही बन जाता है। कबीर में व्युत्पत्ति पक्ष निर्बल था और केशव में शक्ति की न्यूनता। इसीलिए एक का कलापक्ष अनगढ़ है तो दूसरे में भावपक्ष दब गया है। तुलसी में दोनो का संतुलन है, यद्यपि वे भाव को प्रधानता देते हैं और कला को गौण मानते हैं। उनके लिए भाव साध्य है, कला साधन। वस्तु भली होनी चाहिए 'भनिति भदेस' हो तो भी काम चल सकता है, किंतु यदि वस्तु भली नहीं है तो 'भनिति' चाहे जितनी विलक्षण तथा काव्यांगपूर्ण क्यों न हो वह समादृत नहीं हो सकती। नग्न नारी शोभा को प्राप्त नहीं हो सकती है, भले ही वह शेष १५ शृंगारों से अलंकृत हो—

भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥[1]

गोस्वामीजी ने इसी विश्वास को लेकर 'भाषा' में राम-कथा लिखी। उस समय भाषा में रामचरित का प्रणयन प्रचलित परंपरा के प्रति खुला विद्रोह था। तत्कालीन सामंती-समाज में वही समादृत होता था जो देववाणी संस्कृत में कविता लिखता था। केशव को भाषा में कविता करने का पश्चाताप था ही। गोस्वामीजी के अवचेतन मन में यह शंका छिपी थी कि कहीं 'भाषा भनिति' होने के कारण उनके काव्य का निरादर न हो। इसीलिए उन्होंने सफाई दी है—

भाषाभनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगलकरनी॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी॥[2]

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे संस्कृत में काव्य-रचना नहीं कर सकते थे अथवा भाषा में कविता करने का उन्हें खेद था। रामचरितमानस के मंगलाचरण तथा यत्र तत्र उसमें संस्कृत में स्तुतियाँ लिखकर उन्होंने संस्कृत में रचना कर सकने की अपनी क्षमता का परिचय दे दिया है। उन्होंने भाषा में मानस की रचना सोच समझकर लोक-कल्याणकारी भावना से प्रेरित होकर की थी। वे भलीभाँति जानते थे कि जिस समाज को उन्हें अपना संदेश देना है, उसे भाषा-रचना ही सुबोध हो सकती है। संस्कृत में लिखने से मानस बुध-समाज तक ही सीमित रह जाता, जन-जन का कंठहार न बन पाता। गौतम बुद्ध ने भी तो संस्कृत का मोह त्याग कर तत्कालीन जन भाषा 'पालि' में प्रवचन दिया था।

१—१।१०।३-४। २—१।९।४, १।१०।१०, १३।

गोस्वामीजी के समय तक संस्कृत अलंकार-प्रधान चमत्कारों से बोझिल हो ही गई थी और वह पंडित-समाज तक ही सीमित हो चुकी थी। भाषा में भी आचार्यत्व-प्रदर्शन की भावना जोर पकड़ने लगी थी। केशवदास (सं० १६५०) आचार्य-कवि थे ही। उनके बहुत पहले गोपा कवि (सं० १६१५) 'रामभूषण' और 'अलंकार-चंद्रिका' की तथा करनेस कवि (सं १६३७) 'कर्णाभरण' 'भूपभूषण' और 'श्रुतिभूषण' की रचना कर चुके थे। इस प्रकार हिंदी-कविता में छंद-वैविध्य और अलंकार-प्राचुर्य की भावना बढ़ रही थी। विद्यापति और सूर भी इससे अछूते नहीं बचे थे। गोस्वामीजी आचार्यत्व-प्रदर्शन की भावना से बचना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने बड़े नम्र शब्दों में 'कबितबिबेक' के प्रति अपना अज्ञान व्यक्त किया है।

कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबितबिबेक एक नहि मोरें। सत्य कहौं लिखि कागर कोरें॥
कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं॥[1]

वस्तुतः उन्होंने आखर, अर्थ, अलंकार, छंद, प्रबंध-कौशल, भाव-भेद, रस-भेद एवम् काव्य के गुण-दोष में अपना अभिनिवेश न होना सूचित करके विनम्रतापूर्वक अपने प्रगाढ़ ज्ञान का प्रमाण दिया है। तात्पर्य यह है कि कवि को काव्यांग की जानकारी तो है, किंतु उसका प्रदर्शन उसे अभिप्रेत नहीं है। उसकी मान्यता यह है कि सुजान उसी कविता का आदर करते हैं, जो प्रसाद-गुण-संपन्न हो तथा जिसमें निर्मल चरित्र वर्णित हो।

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।[2]

तथा जो काव्य बुध-जनों में समादृत न हो, उसे बाल-कवि का निष्फल रचना-श्रम समझना चाहिए।

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥[3]

'निज मुख निज गुन कहसि न काऊ' के अनुसार वे अपना गुणानुवाद करने से विरत रहे। उन्होंने अपने पांडित्य का प्रमाण अपनी रचनाओं द्वारा दे दिया है। मानस के प्रारंभ में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और छंद का उल्लेख उनकी काव्य-पटुता का परिचायक है। मानस-रूपक उनके काव्य-दर्शन का मेरुदंड है। रामचरितमानस तथा अन्य ग्रंथों में अवधी, व्रजी तथा अन्य बोलियों का परिनिष्ठित प्रयोग, विविध काव्य-शैलियों का अनुसरण, छंदों की विविधता, अलंकारों की प्रचुरता एवम् गुण-ध्वनि रस की तरलता गोस्वामीजी के विश्व-कवि होने के सशक्त प्रमाण हैं।

१—१।९।८, ११;१।१२।९। २—१।१४।१३। ३—१।१४।८।

डा० रामअवध पांडेय

क्या दंडकारण्य की शूर्पणखा कुमारी थी ?

[रामचरितमानस में शूर्पणखा एक ऐसी पात्र है जिसने राम-रावण युद्ध का बीजारोपण किया। वस्तुतः वह विधवा थी, किंतु मानस में उसने अपने को कुमारी कहा है। अन्य ग्रंथों का उद्धरण देते हुए इसी प्रसंग पर यहाँ विचार विमर्श किया गया है।]

रामायण की कथा में शूर्पणखा कई दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण पात्र है। जिस प्रकार वेद शास्त्र मर्मज्ञ एवम् साथ ही सकल भौतिक साधन संपन्न मानव के अभद्र रूप या अपरूप पक्ष का प्रतीक रावण है उसी प्रकार शूर्पणखा नारी के अमर्यादित तथा उच्छृंखल पक्ष की। शूर्पणखा के संबंध में उन उन कथाओं या कवि-कल्पनाओं में तथाकथित भेद हो जाने के कारण स्वभावतः कुछ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। जैसे—(१) क्या यह रावण की सहोदर बहन थी ?, (२) यह पहले राम से मिली या लक्ष्मण से ?, (३) इसके मिलने का समय दिन था या रात थी ? तथा (४) एक मनोरंजक प्रश्न यह भी है कि यह कुमारी थी या विधवा ? यहाँ इसी अंतिम प्रश्न पर एक तुलनात्मक विचार उपस्थित किया गया है।

स्कंदपुराण में लिखा है—

'अर्धत्रयोदशे वर्षे पंचवट्यामुवास ह।'[1]

अर्थात् रामचंद्र, सीता और लक्ष्मण के साथ साढ़े बारह वर्ष इधर उधर अरण्य में बीतने पर, पंचवटी में जाकर बसे। पंचवटी की मुख्य घटनाएँ हैं—शूर्पणखा का प्रेम-प्रस्ताव, लक्ष्मण द्वारा उसका विरूपण, चौदह हजार राक्षसी सेना के साथ खर और दूषण का नाश, माया के स्वर्ण-मृग का वध और सीता का रावण द्वारा अपहरण। पंचवटी में अंग्रेजी नाटकों की भाँति घटना पर घटना का ताँता सा बँधा दीख पड़ता है। वस्तुस्थिति यह है कि लंका के सर्वनाश का बीजारोपण यहीं होता है।

गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

'सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जसि अहिनी॥
पंचबटी सो गै एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
रुचिर रूप धरि प्रभु पहि जाई। बोली बचन मधुर मुसुकाई॥

१—ब्रा० खं० ३, धर्मा० खं० अध्या० २ य।

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। येह सँजोग बिधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
ता तें अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ॥'[1]

शूर्पणखा को तीनो लोकों में खोजने पर भी अनुरूप कोई पुरुष न मिल सका अतएव वह अभी कुमारी है। श्रीराम को देखकर उसका मन कुछ माना है। यहाँ वह कुमारी है।

मानस के व्याख्याकार शिवलाल पाठक ने लिखा है कि शूर्पणखा विधवा थी। उसका विवाह विद्युज्जिह्व से हुआ था। विवाह से छठे दिन ही उसे एक संतान हुई। रावण इसे सुनकर बहुत लज्जित और दुखी हुआ। उसकी लज्जा का कारण स्पष्टतया संतान की अवैधता थी तथा दुःख का कारण यह था कि यदि वैध रूप से ही शूर्पणखा को सप्ताह में एक संतति पैदा हो तो वर्ष भर में उनकी संख्या प्रायः पचास से अधिक होगी और इस प्रकार थोड़े ही दिनों में इसका परिवार बहुत बढ़ जाएगा। अतः उसने विद्युज्जिह्व को मार डाला। उस नवजात शिशु को एक पिंजड़े में बंद करके जनस्थान (पंचवटी) में एक पेड़ पर टाँग दिया और शूर्पणखा को भी वहीं रहने की आज्ञा दे दी। राम और लक्ष्मण के पंचवटी पहुँचने पर कभी लक्ष्मण उधर फल लेने गए तो पेड़ पर टँगा हुआ वह शिशु जो अब कुछ बड़ा हो चला था इन्हें देखकर हँस पड़ा। इस पर लक्ष्मण के क्रोध की सीमा न रही। क्रोधाभिभूत लक्ष्मण ने उसे भस्म कर दिया। नारद को पता चला और उन्होंने तत्काल इस समाचार को शूर्पणखा से कह दिया। रावण की इकलौती विधवा बहन शूर्पणखा के इकलौते बालक को वन में इधर उधर भटकनेवाले गृह निष्कासित किसी ब्रह्मचारी ने भस्म कर दिया, यह धृष्टता एवम् दुःसाहस मिश्रित अनर्थपूर्ण घटना थी। शूर्पणखा की क्रोधाग्नि भभक उठी। उसकी प्रतिशोध-भावना तीव्र हो चली। अपने क्रोधाग्नि में लक्ष्मण को भस्म करने तथा प्रतिशोध का बदला लेने वह चली अवश्य, किंतु यहाँ बात बदल गई— 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा'।

रामायण की कथा के लिए वाल्मीकि को अधिक प्रमाण मानना चाहिए। कथा में थोड़ी बहुत उलट फेर उस साहित्यकार की मौलिकता ही माननी पड़ेगी। यह अवश्य है कि यदि यह मौलिकता कथावस्तु के इतिहास भाग से कहीं टकराती है तो विचार उठ खड़े होते हैं और उन्हें खड़े होने चाहिएँ। वाल्मीकि में विद्युज्जिह्व और शूर्पणखा के विवाह की कथा आती है। रावण जब लंका में अभिषिक्त हुआ तो उसे सर्वप्रथम अपनी बहन के विवाह की चिंता हुई। रावण ने विद्युज्जिह्व से उसका विवाह कर दिया—

ददौ तां कालकेन्द्राय दानवेन्द्राय राक्षसीम्।
स्वसां शूर्पणखां नाम विद्युज्जिह्वाय राक्षसः ॥[2]

१-मानस, ३।१७।३-१०। २-वा०रा०, पं० ज्वालाप्रसाद, वें०प्रे०, ७। सर्ग १२। श्लो० २।

यहाँ भी रावण ने विद्युज्जिह्व को मारा है, परंतु कथा दूसरी है, अवसर दूसरा है। लंका के राज्य-सिंहासन पर व्यवस्थित होकर रावण ने शूर्पणखा का विवाह किया और तब उसने दिग्विजय करने की ठानी। यमराज को पराजित कर वह रसातल में गया। वहाँ उसने विजय प्राप्त की। उसके बाद अश्म नगर में गया। वहाँ कालकेय लोग रहते थे। वे बहुत बली थे। उन्हें मारकर तलवार से अपने श्याल[1] विद्युज्जिह्व को भी काट डाला। यही शूर्पणखा का पति था। इसकी विशेषता यह थी कि यह जिसे चाट देता था वह मर जाता था[2]।

'शूर्पणख्याश्च[3] भर्तारमसिना प्राच्छिनत्तदा।
श्यालञ्च बलवन्तञ्च विद्युज्जिह्वं बलोत्कटम्॥
जिह्वया संलिहन्तञ्च राक्षसं समरे तदा।
तं विजित्य मुहूर्तेन.................... ॥[4]

इसी प्रकार विजय प्राप्त करके और मार्ग के राजा, ऋषि, देव तथा दानवों की सुंदर सुंदर दर्शनीय कन्याओं एवम् स्त्रियों को, उनके सहायकों को मार कर, हरता हुआ जब रावण अपनी राजधानी लंका लौटा उसी समय शूर्पणखा आई और ऐसी चिल्लाती उसके समक्ष कटे वृक्ष की भाँति धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी—

'एतस्मिन्नन्तरे घोरा राक्षसी कामरूपिणी।
सहसा पतिता भूमौ भगिनी रावणस्य सा।
....

कृतास्मि विधवा राजँस्त्वया बलवता बलात्।'[5]

शूर्पणखा रावण को कोसती हुई कहती है कि हे राजन्! तुमने १४ हजार कालकेयों को मार दिया तथा मेरे प्राण से प्रिय पति को मारकर मुझे विधवा बना दिया, तुम्हें लज्जा नहीं आती। रावण ने उसकी परिसांत्वना के लिए उसके मातृष्व-सेय भाई खर के साथ दंडक वन में रहने का उसे आदेश दिया और उसकी रक्षा के

१—'श्याल' का अर्थ टीकाकार ने 'भगिनीपति' दिया है। इस शब्द का अर्थ आज-कल ठीक विपरीत हो गया है। हम लोग स्त्री के भ्राता को श्याल→शाला कहते हैं। इस अर्थ वैपरीत्य में परिहास कारण है। परिहास में संभवतः स्त्री का भ्राता यह दावा करने लगा कि वह अपने भगिनीपति का श्याल = भगिनीपति है। भगिनीपति परिहास में दबते गए और स्त्री का भाई ही श्याल बन बैठा।

२—संभव है प्राचीन युग की विषकन्या की भाँति यह भी कोई प्रयोग हो या रामायण-कालीन भौतिकी उन्नति को देखते हुए यह भी संभव है कि उसने अपनी जीभ में 'करेन्ट' जैसी कोई विद्युत् शक्ति संपन्न कर ली हो।

३—'शूर्पणख्याः' यह अपाणिनीय प्रयोग है। द्र० 'नखमुखात्संज्ञायाम्' (पा०४।१।५८)।

४—वा० रा०, उ० कां०, सर्ग २३, श्लो० १८, १९।

५—वा० रा०, उ०, सर्ग २४, श्लो० २४-२७।

लिए १४ हजार कालकेयों, जिन्हें उसने अश्म नगर में मार डाला था, के बदले १४ हजार राक्षसों की सेना भी, जिसका बलाध्यक्ष दूषण था, भेजी। अब 'सा च शूर्पणखा तत्र न्यवसद्दण्डके वने।'[1] तब से शूर्पणखा दंडक वन में रहने लगी। वाल्मीकि में शूर्पणखा को लड़का भी था, इसकी चर्चा नहीं आई है। हाँ, यहाँ यह विधवा है, यह निश्चित है।

ब्र० वै० पुराण में लिखा है—

'भ्रमन्ती कानने घोरे भर्त्रा सार्धं सकौतुकात्।
ददर्श रामं कुलटा.......... .... ॥'[2]

कौतुक से अपने पति के साथ घूमती हुई शूर्पणखा ने राम को देखा। इसका पति विद्युज्जिह्व ही था, यह सिद्ध है। वह तो मार दिया गया था। किंतु वाल्मीकि में भी सीताजी को अशोकवाटिका में भ्रम पैदा करने के लिए रावण किसी विद्युज्जिह्व के साथ गया था। अपने गुप्तचरों द्वारा राम का समीप आना सुनकर रावण बहुत घबड़ाया और आवश्यक परामर्श के लिए तत्काल अपने मंत्रियों को बुलवाया—

ततो राक्षसमादाय विद्युज्जिह्वं महाबलम्।
मायाविनं महामायं प्राविशद्यत्र मैथिली॥
विद्युज्जिह्वञ्च मायाज्ञमब्रवीद्राक्षसाधिपः।
....

एवमुक्तस्तथेत्याह विद्युज्जिह्वो निशाचरः॥[3]

माया से बना हुआ राम का शिर तथा विशाल बाणों सहित राम के धनुष को लेकर रावण और विद्युज्जिह्व दोनो सीता के पास गए। रावण ने पहले ही विद्युज्जिह्व को मार डाला था। उसके बाद शूर्पणखा दंडक वन में गई। उसका विरूपणहुआ। खर दूषण आदि मारे गए। सीता हरी गईं। जब पहले ही विद्युज्जिह्व मर चुका था तब वह दूसरा कौन है? क्या यहाँ की कथा के आधार पर ब्र० वै० की कथा को, जिसमें शूर्पणखा अपने पति के साथ घूमती थी, उचित मान लिया जाय? नहीं, रामायण में स्पष्टतः दो विद्युज्जिह्व हैं। एक शूर्पणखा का पति और दूसरा रावण का भाई। अतः कोई विवाद ही नहीं है। यहाँ केवल विचार इतना ही है कि मानस, ब्र० वै० एवम् वाल्मीकि इन तीनो की शूर्पणखा जिसका एक ही स्थल पर क्रमशः कुमारी, सधवा और विधवा के रूप में वर्णन किया गया है, उसका सामंजस्य कैसे हो?

पूर्वापर का विचार करने पर स्पष्ट है कि मानस की शूर्पणखा छल कर रही है। जैसे उसने अपना रुचिर रूप माया से बना लिया है वैसे ही उसकी बात भी छलपूर्ण है।

१—वा० रा०, उ० का० स० २४, श्लो० ४३। २—ब्र० वै० कृ० ज० खं० अ० ६२, श्लो० २६। ३—वा०रा०, यु० कां०, सर्ग ३१, श्लो० ६-१०।

राम उसके इस कपट को ताड़ गए और इसीलिए उन्होंने कहा—'अहहिं कुमार मोर लघु भ्राता'। जैसे शूर्पणखा कुमारी वैसे लक्ष्मण कुमार। 'मानस मयंक' में राम पर असत्य बोलने के आक्षेप का निराकरण करने के लिए 'कुमार' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'कुत्सित है मार (कामदेव) जिसकी अपेक्षा, ऐसा मेरा भाई है।' तब तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि शूर्पणखा ने अपने को जो कुमारी कहा है, उस 'कुमारी' शब्द का भी अर्थ, 'कुत्सित है मारी (मार की स्त्री—रति, रति भी सर्वोपरि सुंदर है) जिसकी अपेक्षा ऐसी शूर्पणखा है', कर देने से यह भी सत्य ठहर जाती है। शूर्पणखा को भी तो गर्व था कि—

'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी, येह सँजोग विधि रचा बिचारी।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं, देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥'[1]

वाल्मीकि में स्पष्ट रूप से शूर्पणखा का विशेषण 'परिहास विचक्षण' आया है। राम पर असत्य बोलने के आक्षेप से भय नहीं करना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी यदि परिहास करने लगेंगे तो उस परिहास के परिपाक के लिए असत्य का पुट अनिवार्य हो जाएगा। दूसरी बात यह है कि राम मर्यादापुरुषोत्तम होने के साथ ही नीतिमान् नहीं थे, यह कौन स्वीकार करेगा ? अतः निस्संदेह राम परिहास कर रहे थे। अन्यथा अन्यत्र आए हुए 'अकृतदारः अभार्यः' आदि लक्ष्मण के विशेषणों के लिए भी 'कुमार' शब्द की व्युत्पत्ति की भाँति ही कसरत करनी पड़ेगी। वाल्मीकि रामायण के एक टीकाकार ने 'अकृतदारः' का 'दूर है स्त्री जिसकी' ऐसा अर्थ किया भी है, जो वस्तुतः प्रौढ़िमात्र है।

ब्रह्मवैवर्त के 'भर्त्रा सार्धं' में 'भर्त्ता' शब्द का यदि शुद्ध यौगिक अर्थ 'पालन पोषण करनेवाला' मान लिया जाय तो शूर्पणखा खर की संरक्षकता में घूमती थी ही, अतः बात ठीक बैठ जाती है। अथवा इससे उपयुक्त युक्ति मुझे यह प्रतीत होती है कि वहाँ का पाठ 'भर्त्रा सार्धं' के स्थान पर 'भ्रात्रा सार्धं' यही था, मुद्रण-भ्रम से यह संकट उपस्थित हो रहा है।

अब रही बात मानस-मयंक की। शूर्पणखा विधवा थी यह पाठकजी भी मानते हैं। रावण ने ही विद्युज्जिह्व को मारा यह भी मानते हैं। भेद केवल इतना ही है कि 'शूर्पणखा के विवाह के छठे ही दिन उसे बच्चा पैदा हुआ था, अतः विद्युज्जिह्व मारा गया' वे यह भी मानते हैं। यहाँ मुझे यही कहना है कि यह अस्वाभाविक सा लगता है कि नारद के मुख से अपने इकलौते पुत्र का वध सुनकर शूर्पणखा प्रतिशोध लेने आए और यहाँ आकर पुत्रघातक से ही प्रेम-प्रस्ताव कर बैठे। यद्यपि एक प्रतिष्ठित अधिकारी ने मुझे ठीक इसी प्रकार की घटना सुनाई। एक विधवा थी। उसका

१—मानस, ३।१७।८-९।

एकमात्र युवक पुत्र था। उसका किसी नृशंस ने वध कर दिया। विधवा ने अपने जीवननिर्वाह के लिए हत्या करनेवाले से विवाह का प्रस्ताव कर दिया। किंतु शूर्पणखा के समक्ष तो जीवननिर्वाह की समस्या थी ही नहीं। उसकी व्यवस्था तो रावण ने ही कर दी थी। यहाँ तो स्पष्ट कामुकता थी। क्या वह इतनी हृदयशून्य तथा लंपट थी कि अपने एकमात्र पुत्र की हत्या करनेवाले के रूप को देखकर उसकी क्रोधाग्नि प्रेमाग्नि में परिवर्तित हो गई? उसे घृणा न हुई? उसकी क्रोधाग्नि तीव्रता से भभक न उठी? उसका मातृत्व इतना अशक्त था? यदि हाँ, तो वह वास्तव में राक्षसी थी। दूसरी बात यह है कि मैंने प्रायः मुख्य मुख्य सब पुराणों को देखा, वाल्मीकि रामायण, अद्भुत रामायण, मानस आदि देखे परंतु मुझे इस कथा का आधार कहीं नहीं मिला।

राजतु है आनंदवन *तुलसी* जंगमु रूप।
कविता जाकी मंजरी रामभ्रमर पीयूष॥

मनु समुद्र भयौ सूर कौ सीपि भए चख लाल।
हरि मुक्ताहल परत हीं मूँदि गए ततकाल॥

बिधना यह जिय जानि कै सेसहि दए न कान।
मेरु सहित महि डोलती सुनि *तानसैनि* की तान॥

—चतुर्भुज मिश्र कृत 'भाषा संग्रह' का हस्तलेख, पृ० १२९, पुस्तक सं० १, बस्ता सं० ७२। प्राप्तिस्थान—विद्या विभाग, काँकरौली (राजस्थान)।

तुलसी शोध संस्थान, श्रीसत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर में सुरक्षित 'सारस्वत चंद्रिका' की
सं० १६६५ वै० की पांडुलिपि का पुष्पिकावाला पत्र। गो० तुलसीदासजी
कृत संस्कृत रचनाओं की वर्तनी एवम् व्याकरण संबंधी
जानकारी के लिए यह प्रति उपादेय है।

तुलसी शोध संस्थान, श्रीसत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर में सुरक्षित आचार्य केशवदास कृत 'रामचंद्रचंद्रिका' की प्राचीन पांडुलिपि का एक पत्र। इसमें अकारांत पुंलिग शब्दों में लगे उकार द्रष्टव्य हैं।

डा० बटेकृष्ण

बाबू गोपालचंद्र कृत 'भाषा-व्याकरण'

[प्राचीन हिंदी-पद्य के विशुद्ध रूप का दर्शन तत्कालीन प्रचलित शब्दार्थ एवम् भाषाशास्त्र का ज्ञान होने पर ही हो सकता है। आधुनिक व्याकरण की दृष्टि से वे विकृत प्रतीत होते हैं। जैसे उनमें प्रयुक्त अकारांत शब्दों के उकारांत रूप पर बहुतों को आपत्ति है। स्व० श्रीगोपालचंद्र कृत 'भाषा-व्याकरण' ऐसे विसंवादी स्थलों के निर्णय के लिए उपयोगी और सहायक है। परिचयात्मक विवरण सहित वही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।]

हिंदी में यों तो काव्यशास्त्र के विविध अंगों का विचार पुराकाल में बहुत हुआ है, किंतु भाषाशास्त्र का विचार अधिक नहीं हुआ। तात्पर्य व्याकरण-संबंधी ग्रंथों के प्रणयन से है। मिर्जा खाँ का ब्रजबुलि व्याकरण अवश्य पुराना है फिर भी बँगला और मैथिली से विशेष प्रभावित होने के कारण उसे सोलह आने हिंदी का व्याकरण मानने में हिचक होती है। हिंदी के इतिहास पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि संवत् १९०० वि० के पश्चात् हिंदी भाषा और साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का शुभारंभ हो गया था। आधुनिक हिंदी के उन्नयन के लिए भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो बहुत किया, किंतु उनके पूर्व उनके पिता बाबू गोपालचंद्रजी ने अल्पायु में भी कुछ कम नहीं किया। जिस प्रकार नाटक के क्षेत्र में उनके 'नहुष' नाटक की प्रथम रेखा है, उसी प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में भी उनका 'भाषा-व्याकरण' मूर्धन्य स्थान पर अधिष्ठित है। हिंदी गद्य के व्याकरण यद्यपि उनके पूर्व भी अनेक लिखे जा चुके थे, तथापि हिंदी-पद्य का व्याकरण उनके पूर्व किसी ने नहीं रचा था। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भारतेंदु बाबू को साहित्य में नवमार्गोन्मेषकारिणी प्रतिभा भी अपने पिता से ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी।

गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास के भाषा-व्याकरण का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बहुत काल पश्चात् उनके यशस्वी पुत्र भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की सम्मति से सन् १८८२ ई० (संवत् १९३९ वि०) में पटना से हुआ था। खड्गविलास प्रेस के स्वामी श्रीरामदीनसिंहजी ने उसे धर्मप्रकाश प्रेस से छपवाकर वितरित कराया था। यद्यपि चौदह पृष्ठों की यह पुस्तिका बहुत नन्हीं सी है, तथापि इसमें ब्रजभाषा के शब्दों की वर्तनी-संबंधी कुछ ऐसी सूचनाएँ विद्यमान हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और प्राचीन ग्रंथों के आधुनिक संपादकों के लिए तो उपयोगी ही नहीं वरदान भी हैं; अधिक नहीं तो शताधिक वर्षों पूर्व की मान्यताओं का आख्यान तो करती ही हैं।

यह पुस्तिका प्रकाशित तो हुई है भाषा-व्याकरण नाम से, किंतु रचनाकार इसका नामकरण करना चाहते थे—'भाषाशब्दनियमप्रकाश' जिसका आभास उनके अंतिम दोहे से प्रकट है जो इस प्रकार है—

भाषा के इमि जानि कै शब्दनियम परकास।
लिखहु पढ़हु कबिता करहु बरनत गिरधरदास ॥१२५॥

ग्रंथ का प्रतिपाद्य भी भाषा के विविध शब्दों का वर्तनी-विचार ही है। इसमें विभक्तियों के संयोग से विविध शब्दों के रूपों में होनेवाले विकारों का विचार ही सर्वोपरि है। भाषा के ग्रंथकर्ता का तात्पर्य व्रजभाषा से है, खड़ी बोली हिंदी से नहीं जैसा कि कुछ लोग अक्सर समझ बैठते हैं। उन्होंने लिखा है—

हिंदी आकारांत जे ते व्रज ओकारांत।
होत बिशेषन सैं बहुत समुझहु कबिकुलकांत ॥१०९॥
खड़ो बड़ो लाँबो पड़ो प्यारो आदिक जान।
भाखे अकारांत ए उरदू होत सुजान ॥११०॥

उपर्युक्त दोहों में खड़ीबोली हिंदी, व्रजी और उर्दू का अंतर बहुत स्पष्ट बताया गया है। खड़ी बोली हिंदी के खड़ा, बड़ा, लंबा आदि विशेषण व्रजी में खड़ो, बड़ो, लाँबो आदि होते हैं और उर्दू में उच्चारण के कारण खड़ह, बड़ह, लंबह की भाँति अकारांत। प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणयन के समय श्रीगोपालचंद्रजी के संमुख व्रज-भाषा का शुद्ध रूप ही रहा है। इसलिए उन्हें भाषा पर जहाँ संस्कृत का प्रभाव दिखाई दिया वहाँ उन्होंने उसे स्पष्ट इंगित किया। जैसे संबोधन के प्रकरण में भाषा कवियों का राधा, कमला, सिया आदि को राधे, कमले, सिये आदि कर देना। हिंदी पर संस्कृत का प्रभाव तो जन्मजात ही है। इससे तो बाबू गोपालचंद्रजी से व्रजभाषारस में पगे सचेत कवि भी व्याकरण लिखते समय और नहीं तो शुद्धाशुद्ध लिखते समय ही संस्कृत के तालव्य 'श' से नहीं बच सके।

खड़ी बोली में जब भाषा शब्दों का परिष्कार आरंभ हुआ और तत्सम शब्दों की बहुलता तथा संस्कृत के शुद्ध रूपों के व्यवहार की चाल गद्य और पद्य दोनों में चली तब व्रजभाषा और अवधी के उकारांत रूपों को देखकर नए लोगों के कान खड़े होने लगे। उन्होंने धीरे धीरे उनका परिहार आरंभ किया और प्राचीन कृतियों के आधुनिक संस्करणों में उक्त उकारांत रूपों का वहिष्कार जाने अनजाने करने लगे। जब राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' सदृश व्रजभाषा के मर्मज्ञ कवि संस्कृत के शुद्ध रूप अपनी व्रजभाषा-कविता में व्यवहृत करने लगे तब औरों की क्या कही जाय। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इस दृष्टि से अवश्य बहुत साहसपूर्ण कार्य किया और 'बिहारी-सतसई' का संस्करण हिंदी की प्राचीन परिपाटी के अनुरूप ही प्रस्तुत किया।

श्रीगोपालचंद्र ने उकारांत रूपों के विषय में बहुत स्पष्ट लिखा है कि—

बहुधा कवि की रीति हलंतहि उकारांत करि।
बरनहि पै नहिं अपर अर्थ जहँ होइ तहाँ परि।
रामहि जैसे रामु होइ धन धनु नहि होइ।
राम रामु दोउ शुद्ध अशुद्ध सु धनु है सोइ।

यह ह्रस्व उकारांतहि लखौ सब बिभक्ति मैं सुबुध जन।
सो उ एक बचन मैं होत हैं तहँ न होत जहँ बहुबचन ॥ १४ ॥
जिमि धन धनु नहि होत हैं तिमि सुर सुरु नहि होइ।
पूर्व उकार निपात तें श्रवण बिरोधी सोइ ॥ १५ ॥
चित्र जनक तुक अंत मैं शब्द हलंत सु जोय।
ऊकारांतहु होत है आकारांतहु होय ॥ १६ ॥
तजि उकार आकार के ईकारादिक अंत।
शब्द हलंत न होत हैं नियम गुनहु गुनवंत ॥ १७ ॥
धन को धनु चित्रादि मैं सुर को सुरु न विरुद्ध।
रामू रामा होहिं सति रामी आदि अशुद्ध ॥ १८ ॥

उपर्युक्त वक्तव्य में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) अकारांत शब्द हिंदी में प्रायः हलंतवत् उच्चरित होते हैं। राम शब्द अकारांत है, किंतु हलंतवत् 'राम्' उच्चरित होता है।[1]

(२) इस प्रकार के शब्द यदि सर्वदा नहीं तो बहुधा उकारांत कर दिए जाते हैं।

(३) जिस अकारांत शब्द में अंत के पूर्व का स्वर 'उ' होता है उसे उकारांत नहीं करते। जैसे 'सुर' का 'सुरु' नहीं होता।

(४) यदि किसी अकारांत शब्द को उकारांत करने से उसका अर्थ बदल जाय तो उसे उकारांत नहीं करते। 'धन' का 'धनु' इसी से नहीं होता। किंतु चित्रकाव्य, यमक, तुक आदि के प्रसंग में यह हो भी सकता है।

(५) इन प्रसंगों में अकारांत शब्द उकारांत और आकारांत भी हो सकता है, किंतु ईकारांत नहीं हो सकता। राम का रामु, रामू और रामा हो सकता है, किंतु रामी नहीं हो सकता।

(६) अकारांत का उकारांत रूप एकवचन में होता है, बहुवचन में नहीं होता।

१—विशेष विस्तार के लिए देखिए दोहा संख्या ६-८।

'रत्नाकर' जी ने इन नियमों में कुछ भिन्नता भी दिखाई है। जैसे 'भौ यह ऐसोई समौ, जहाँ सुखद दुखु देत'[१] में 'दुख' का 'दुखु' नियमतः इसलिए नहीं होना चाहिए कि उसमें अंत के पूर्व का स्वर 'उ' है। उन्होंने एकवचन ही नहीं अकारांत बहुवचन को भी उकारांत किया है। जैसे 'भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति'[२] में 'भौंहनु' और 'आँखिनु' दोनो बहुवचन हैं। स्त्रीलिंग ही नहीं पुल्लिंग बहुवचन को भी उकारांत लिखा है। जैसे 'राखति खेत खरे खरे खरे उरोजनु बाल'[३]।

संयोग से इस समय मेरे सन्मुख अपने ही पुस्तकालय के व्रजभाषा गद्य के दो हस्तलेख विद्यमान हैं। पहला है रास पंचाध्यायी का माथुर कृष्णदेव कृत भाषा व्याख्यान का सं० १७३२ वै०[४] का और दूसरा है श्रीमद्भागवत भाषा का[५] जिसे सं० १७६३ वै० प्रथम आषाढ़ बदि १३ को गुर्जरदेशोत्पन्न औदीच्य हाँडिया नगर के सारा कृत (?) भट्ट श्रीकृष्णदास के पुत्र विद्याधर ने लिखा है। इन हस्तलेखों में प्रयुक्त वर्तनी से इस संबंध में कुछ बहुमूल्य तथ्य प्रकट होते हैं।

सं० १७३२ वै० के हस्तलेख में नकारांत बहुवचन, चाहे वे पुंलिंग शब्दों के हों चाहे स्त्रीलिंग, प्रायः सर्वत्र उकारांत लिखे गए हैं। जैसे स्त्रीलिंग शब्द श्रुतिनु, कन्यानु, स्त्रीनु, रात्रीनु, गोपीनु, सखीनु, सुंदरीनु आदि तथा पुंलिंग शब्दों में लोकनु, बालकनु, प्राणनु, वैष्णवनु, जोगेश्वरनु, ईश्वरनु, आदि। पुंलिंग इकारांत और ईकारांत शब्दों के नकारांत बहुवचन भी उकारांत हो गए हैं, जैसे पतिनु, कामीनु आदि। उकारांत शब्दों के नकारांत बहुवचन भी उकारांत मिलते हैं, जैसे व्रजबधूनु आदि। साथ ही व्रजबधू के बहुवचन के इकारांत व्रजबधूनि रूप भी व्यवहृत हैं। नकारांत एकवचन का उकारांत रूप 'अंजनु' एक ही स्थल पर मिला। नकारांत एकवचन का बहुवचन भी यदि नकारांत है तो वह उकारांत न होकर इकारांत हो गया है, जैसे 'वचननि'। यहाँ एक विलक्षणता और है। संस्कृत 'किरण' शब्द का बहुवचन रूप 'किरिणिनु' मिलता है। इस हस्तलेख से 'रत्नाकर' जी के भौंहनु, आँखिनु, उरोजनु आदि रूपों का पूर्ण समर्थन होता है।

अब रही बात एकवचन के उकारांत रूपों की। सं० १७६३ वै० के हस्तलेख में उसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। इस हस्तलेख की पहली ही पंक्ति में

१—दे० बिहारी-रत्नाकर, पृ० २१४, छंद ५१९। २—वही, पृ० २८१, छंद ६८३।
३—वही, पृ० १०३, छंद ३४८।
४—इस ग्रंथ के सं० १८८७ वि० के लिखे एक हस्तलेख का विवरण खोज-विवरणिका सन् १९०९-१० ई० में सं० १५९ पर है। इसकी सं० १९२८ वै० एक अन्य प्रति भी मेरे पुस्तकालय में विद्यमान है।
५—यह हस्तलेख प्राचीन गुजराती लेखनशैली का है। इसमें ऊपर की एकार की मात्रा बाँई ओर लगाई गई है।

लिखा है--"राजा सों आय कहो की तुम्हारो कालु सतमे दिनु तक्षक नाग तें होयगो।" इसमें अकारांत एकवचन 'काल' और 'दिन' के उकारांत रूप स्पष्ट ही हैं। इसमें 'दिन' का बहुवचन 'दिननु' भी मिलता है। ऐसे ही "माया तें मनु विरक्त करो। सावधानु रहो। श्री गोविंदु के ध्यान।" आदि भी। इस हस्तलेख में उकारांत रूपों की एकरूपता नहीं है। एक ही शब्द कहीं उकारांत है, कहीं नहीं है। बाबू गोपालचंद्रजी ने उकारांत रूपों के विषय में जो बहुधा लिखा है वह इस हस्तलेख के देखने से समीचीन प्रतीत होता है। इस हस्तलेख में न 'सुर' का 'सुरु' है और न 'रूप' का 'रूपु'। इस दृष्टि से बाबूसाहब का पक्ष बहुत स्पष्ट है। ऐसे ही इकारांत आदि शब्द-रूपों के संबंध में भी बाबू गोपालचंद्रजी के विचार बहुत पुष्ट एवम् सारगर्भित हैं। संप्रति विशेष विस्तार में न पड़कर 'भाषा-व्याकरण' का महत्त्व देखते हुए इसे प्रथमतः ज्यों का त्यों शीघ्र प्रकाशित कर देना उपयुक्त जान पड़ा। तदुक्त स्थापनाओं पर सविस्तर विचार बाद में प्रस्तुत किया जायगा।

भाषा व्याकरण

बाबू गोपालचंद्र (श्री गिरधरदासजी) कृत।

जिसको

साधारण लोगों के लिये भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी

की सम्मतिऽनुसार महाराजकुमार बाबू

रामदीन सिंह "क्षत्रि पत्रिका"

सम्पादक ने छपवाई।

---:o:---

इस पुस्तक को छापने का अधिकार मेरे

सिवाय किसी को नहीं है।

---:o:---

बाँकीपुर धर्म्मप्रकाश प्रेस में कालीप्रसाद

तिवारी ने छापा।

दाम डाक व्यय समेत एक आना

यह पुस्तक बाँकीपुर खड्गविलास प्रेस में मिलेगी।

१८८२

भूमिका

भाषा गद्य के अनेक व्याकरण हिन्दी में छपे हैं परंतु पद्य के आजतक कोई नहीं इससे पद्य के विषय में पाठकों या बालकों को कोई नियम नहीं ज्ञात है। इस अभाव को दूर करने के लिये मैं परम प्रसिद्ध विद्वान् बाबू गोपालचंद्र (श्री गिरधरदास) कृत "भाषाव्याकरण" को अपने परम मित्र भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद जी की अनुमति अनुसार छपवाई है यदि इससे किसी को कुछ भी लाभ हो तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूँगा।

रामदीनसिंह

भाषा व्याकरण

गोपीजनवल्लभाय नमः॥

(दोहा)

संस्कृत के मधि रहति हैं जैसे सात बिभक्ति।
ते भाषा महँ होति हैं लिखत तिन्हनि की पंक्ति॥ १॥

(अडिल्ल)

प्रथमा द्वितिया बहुरि तृतीया जानिये।
बहुरि चतुर्थी पंचमि षष्ठी मानिये।
सप्तमि सात बिभक्ति इही सिगरे भनै।
एकबचन बहुबचन और संबोधनै॥ २॥

इनको रूप

(कवित्त)

जो सो जे ते कों नकों सों नसों को नकों तें नतें
को नको मैं नमैं ए बिभक्ति सात जानियै।
करता करम कर्ण संप्रदान अपादान
संबंधौ सु अधिकर्ण सातो नाम मानियै।
संबोधन बीच होत है औ ए कथन पूर्व
कहूँ ए रहैं बिभक्ति लोप कहूँ ठानियै।
अर्द्ध लोप कहूँ जैसे देवन कों कहैं तहाँ
देव कों औ देवन कहेहू अर्थ आनियै॥ ३॥

(दोहा)

इन बिभक्ति बहुवचन को अहै नकार सु जोय।
ता कहँ कहहिं निकार हू रीति बुधन की दोय॥ ४॥

शब्द हलंतन मैं अहै सोभा सहित निकार।
कै पुनि आकारांत मैं अरु थल नाहिं प्रचार ॥ ५ ॥
पुंलिंगौ स्त्रीलिंग ए शब्द दोय बिधि जानि।
होहिं हलंतन स्वरांत तित पहिलो कहूँ बखानि ॥ ६ ॥
होत हलंत सु शब्द नहिं भाषा मैं कबि कंत।
अकारांत को कहत हैं तातें इहाँ हलंत ॥ ७ ॥
श्याम राम तन मन गगन आदिक शब्द हलंत।
सह बिभक्ति बरनत अबै उदाहरन कबि कंत ॥ ८ ॥

(कवित्त)

देव जो सो सुखी, देव जे हैं ते सुपूजनीय,
देव कों नमत, पूजैं देवन कों मति सित।
देव सों मिलाप मेरो, देवन सों रमैं मन,
देव कों सु दीनो चित, देवन कों गृह वित।
देव तें न दूजो साथी, देवन तें बड़ो हू न,
देव को रसिक दास, देवन को गुनि हित।
देव मैं बिरति नति, देवन मैं सतगति,
करहु कृपा हे देव हे देवो द्रवहु नित ॥ ९ ॥

(दोहा)

जहँ बिभक्ति को लोप है तहँ प्रसंग के जोर।
प्रथमा आदि बिभक्ति को मानहि कबि सिरमोर ॥ १० ॥

राम बचन सुनि कै इहाँ षष्ठी लोप सु जानि।
राम को बचन मानियै इमि औरहु अनुमानि ॥ ११ ॥

जहाँ बिषय संबंध के और कथन कछु होइ।
षष्ठी को को होत तहँ के जानहु सब कोइ ॥ १२ ॥

जैसे हरि के दास कों नौमि कहैं सब लोग।
भाषे हरि को दास को अहै अशुद्ध प्रयोग ॥ १३ ॥

(छप्पय)

बहुधा कवि की रीति हलंतहि उकारांत करि।
बरनहि पै नहिं अपर अर्थ जहँ होइ तहाँ परि।
रामहि जैसे रामु होइ धन धनु नहि होइ।
राम रामु दोउ शुद्ध अशुद्ध सु धनु है सोइ।
यह ह्रस्व उकारांतहि लखौ सब बिभक्ति मैं सु बुधजन।
सो उ एकबचन मैं होत हैं तहँ न होत जहँ बहुबचन ॥ १४ ॥

(दोहा)

जिमि धन धनु नहि होत है तिमि सुर सुरु नहि होइ।
पूर्व उकार निपात तें श्रवन बिरोधी सोइ॥ १५॥
चित्र जमक तुक अंत मैं शब्द हलंत सु जोय।
ऊकारांतहु होत है आकारांतहु होय॥ १६॥
तजि उकार आकार के ईकारादिक अंत।
शब्द हलंत न होत हैं नियम गुनहु गुनवंत॥ १७॥
धन को धनु चित्रादि मैं सुर को सुरु न विरुद्ध।
रामू रामा होहिं सति रामी आदि अशुद्ध॥ १८॥
अब हलंत स्त्रीलिंग कों बरनत सहित सनेहु।
मान सैन दिग तान त्रिय आदि शब्द गुनि लेहु॥ १९॥
प्रथमा कै बहुबचन सैं सान सैन ही जानु।
सोइ संबोधन के विषैं भेद इतोई मानु॥ २०॥
और रूप पुंलिंग सो जानहु उर निरधारि।
बरने गिरिधरदास इमि शब्द हलंत बिचारि॥ २१॥

इति हलंत शब्दः।

राजा यह पुंलिंग को शब्द सु आकारांत।
बरनत ताको रूप अब समुझहु कबि कुल कांत॥ २२॥
राजा प्रथमा इकबचन राजे बहुबच होइ।
राजा कों राजान कों दुतिया जानहु सोइ॥ २३॥
सों को तें को मैं गुनी राजा प्रथम लगाय।
त्रितिया सों सप्तमी को एकबचन कबिराय॥ २४॥
धरि नकार सों आदि के आदि बहुबचन होइ।
हे राजा राजे कहे राजाओ हू सोइ॥ २५॥
द्वितियादिक बहुबचन मैं राजा शब्द सु जोइ।
होत राज राजेन पै एकबचन मैं होइ॥ २६॥

आकारांत पुंलिंग बाजा शब्द।

होत शब्द राजा सरिस बाजा को सब रूप।
अधिको इक इकबचन मैं द्वितियादि के अनूप॥ २७॥
आकारांतहु होय अरु एकारांतहु होइ।
बाजे कों ऐसे गुनहु राजे कों नहि सोइ॥ २८॥
दरवाजा, लाजा, मजा वीरा, चीरा, जान।
ऐना, उपरैनादि, ए बाजा सम पहिचान॥ २९॥
होत सु हीरा शब्द को बाजा सम सब रूप।
याहि हलंतहु कहैं तहँ देव सरिस कवि भूप॥ ३०॥

अथ आकारांत धाता शब्द ।

धाता जो पुंलिंग है आकारांत प्रसिद्ध ।
प्रथमा के बहुबचन मैं धाते कहे निषिद्ध ॥ ३१ ॥
द्वितियादिक बहुबचन मैं रूप दोय ही आहिं ।
धातन कों धातान कों धातेन कों सु नाहिं ॥ ३२ ॥
यामें राजा शब्द सों अधिक इतोई जोइ ।
हे धाता संबोधनै हे धाताओ होइ ॥ ३३ ॥
करता संहरता पिता हरता भरता जानि ।
ज्ञाता दातादिकन कों धाता सम पहिचानि ॥ ३४ ॥

अथ आकारांत स्त्रीलिंग ।

सिया तिया सैना प्रिया नारिलिंग इन आदि ।
होहिं सु धाता शब्द सम समुझहु कवि मरजादि ॥ ३५ ॥
आकारांत सियादि कों कहुँ कवि करहिं हलंत ।
सात शब्द सम रूप तब होत लखहु कबि कंत ॥ ३६ ॥
गंगा यमुना कों कहैं गंग यमुन सब कोइ ।
दोऊ सिद्ध प्रयोग है जहँ थल जैसो होइ ॥ ३७ ॥

आकारांत कमला शब्द ।

नारिलिंग कमला शबद आकारांत सु जानि ।
सब बिभक्ति को इकबचन राजा सम पहिचानि ॥ ३८ ॥
प्रथमा के बहुवचन मैं शब्द सीस अध बिंदु ।
कमला सति कमले असति जानहु कबिकुल इंदु ॥३९॥
संबोधन प्रथमा सरिस ए हे दै कै आदि ।
रमा छमा पदमा धरा कमला तुल्य जरादि ॥ ४० ॥

आकारांत गैया शब्द ।

गैया आकारांत को कमला सम सब रूप ।
अधिक इतो द्वितियादि बहुबचन बीच कबि भूप ॥ ४१ ॥
आकारांत हलंत ए दोऊ सिद्ध प्रयोग ।
गैयन कों गैयान कों इमि जानहु कबि लोग ॥ ४२ ॥
कला बिभा सोभा प्रभा स्वक्रिया परकीयादि ।
कथा कृपा चिंता दया इन से शब्द गयादि ॥ ४३ ॥

आकारांत राधा में बिशेष शब्द ।

गैया सम राधा शबद पै इक कबि की चाल ।
सब थल एकारांत करि कहैं शुद्ध दोउ हाल ॥ ४४ ॥
राधा राधे होत यह प्रथमा औ संबोध ।
राधे कों राधेन कों इमि औरहु को बोध ॥ ४५ ॥

आकारांत धारा शब्दः ।

धारा प्रथमा के बिषें सिया शब्द सम होय।
आकारांत हलंतहूँ लखहु सुकबि सब कोय ॥ ४६ ॥
द्वितिया सों सप्तमि अवधि गैया सरिस प्रमान।
एकारांतहु होत है तहँ राधा सम जान ॥ ४७ ॥
धारन कों धारान कों धारेन को प्रसिद्ध।
संबोधन प्रथमा सरिस धारा धार सु सिद्ध ॥ ४८ ॥
कमला गैया शब्द अरु राधा सिया कहाहिं।
धारादिक तियलिंग ए कबि भाषा के माहिं ॥ ४९ ॥
इनके संबोधन बिषें लै संस्कृत की रीति।
एकारांतहु कहत हैं कहुँ कहुँ कबि सह प्रीति ॥ ५० ॥
हे कमले गइये सिये राधे धारे जानि।
इमि इक के संबोधनै बहु मैं नहि पहिचानि ॥ ५१ ॥

इत्याकारांत शब्दाः आकारांत शब्दे विशेषाः ॥

भ्रातादि शब्देः ।

भ्राता जामाता पिता माता दुहिता जानि।
स्वसा शब्द पुंलिंग त्रय नारिलिंग त्रय मानि ॥ ५२ ॥
ए सु शब्द इकबचन मैं उकारांत हू होहिं।
सात बिभक्तिन मैं लखों संबोधन हू त्योहिं ॥ ५३ ॥
पूर्ब पिता शब्दहि कह्यौ धाता मैं कबि भूप।
इन शब्दन को जानियो ताते तैसो रूप ॥ ५४ ॥

संका लंका शब्दे विशेषः ।

संका लंका शब्द ए सिया शब्द से दोउ।
उकारांत हू होत हैं एकबचन मैं सोउ ॥ ५५ ॥

दिशा शब्दे विशेषः ।

दिशा शब्द संका सरिस इतो अधिक या माहिं।
इकारांत हू होत सब रूपनि बीच सदाहिं ॥ ५६ ॥

इत्याकारांत शब्द नियमाः ।

अथ इकारांत पुंलिंग हरि शब्दः ।

इकारांत हरि शब्द है पुरुषलिंग कबि भूप।
बरनत गिरिधरदास अब भाषा मैं ता रूप ॥ ५७ ॥
जो सो आदि बिभक्ति रिषि बरनी पूर्ब अनूप।
हरि पैं तिनको धरिय सोइ क्रम सों चौदह रूप ॥ ५८ ॥

प्रथमा हरि जो सो बहुरि हरि जेते पहिचानि।
द्वितीया हरि कों हरिन कों औरहु इहि बिधि जानि ॥ ५९ ॥
संबोधन हे हरि कहै इक हरि को सब ठौर।
हे हरियौ बहुबचन को कहहिं सुकबि सिर मौर ॥ ६० ॥
मुनि मुरारि त्रिपुरारि करि कपि कवि रवि सनि वारि।
कलि बलि अलि आराति अहि ए सब हरि अनुहारि ॥ ६१ ॥

अथ इकारांत स्त्रीलिंग सरि शब्दः।

इकारांत तियलिंग सरि ताको हरि सम रूप।
सह विभक्ति संबोधनहु समुझहु सत कवि भूप ॥ ६२ ॥
कोरि खोरि रति गति भगति कांति पांति मति जाति।
नीति प्रीति छिति छबि अवलि ए सब सरि की भाँति ॥ ६३ ॥

ईकारांत पुंलिंग ज्ञानी शब्दः।

ज्ञानी ईकारांत है शब्द पुंलिंग सु जौन।
होत दीर्घ ई अंत है हरि सम सब थल तौन ॥ ६४ ॥
बनमाली माली छली मानी दानी जानि।
बली धनी चक्री गृही ज्ञानी सम पहिचानि ॥ ६५ ॥

ईकारांत स्त्रीलिंग नदी शब्दः।

ईकारान्त्य नदी शबद नारिलिंग है जोइ।
ज्ञानी के सम रूप सब ताको भाषा होइ ॥ ६६ ॥
ससी लच्छमी मोहनी बानी रानी और।
लाली काली कामिनी नदी सरिस सब ठौर ॥ ६७ ॥

इतीकारांत शब्दाः।

होइ दीर्घ ईकार लघु लघुहू दीर्घ न दोस।
भाषा मैं दोउ लिंग मैं इमि बरनहि दोउ कोस ॥ ६८ ॥
हरी सरी ज्यों ज्ञानि नदि तहऊँ इतो विशेष।
ताहि कहत संछेप मैं समुझहु सुकबि नरेस ॥ ६९ ॥
आरातिन से शब्द ए आराती नहिं होहिं।
जोति आदि जोती नहीं बली नहीं बलि त्योहिं ॥ ७० ॥
रानी रानि न होय पै एकवचन मैं एहु।
नेम नहीं बहुबचन मैं भाषा मैं बुधि गेहु ॥ ७१ ॥
अनुप्रास तुक अंत मैं चित्रजमक के माहिं।
थल संकीर्ण इकार लघु दीर्घ दोस है नाहिं ॥ ७२ ॥

इतीकारांत शब्द नियमाः ।

अथ उकारांत पुंलिंग भानु शब्दः ।

भानु शब्द पुंलिंग है उकारांत ता रूप।
क्रम सों होत बिभक्तिजुत हरि सम गुनहु अनूप ।। ७३ ।।
कटु पटु गुरु अरु साधु बिधु बिभु प्रभु मनु धनु जानु।
असु बसु संभु स्वयंभु मधु भानु सरिस पहिचानु ।। ७४ ।।

उकारांत स्त्रीलिंग धेनु शब्दः ।

उकारांत तियलिंग जो धेनु भानु सम तासु।
संबोधन सह रूप सब बरनत गिरिधरदासु ।। ७५ ।।
वेनु रेनु रंभोरु रितु चंचु बिज्जु दनु (हनु?) जानि।
क, (?) वस्तु अरु सासु ए धेनु सरिस पहिचानि ।। ७६ ।।

ऊकारांत पुंलिंग दाऊ शब्दः ।

दाऊ ऊकारांत है शब्द पुलिंग प्रसिद्ध।
होत दीर्घ ऊ अंत सो भानु सरिस सब सिद्ध ।। ७७ ।।
भालू-सालू, कमल भू बाजू, आसू जानि।
तिरशंकू गोहूँ लहूँ दाऊ सम ए मानि ।। ७८ ।।

ऊकारांत स्त्रीलिंग गऊ शब्दः ।

गऊ शब्द स्त्रीलिंग है दीरघ ऊकारांत।
दाऊ सम ताकों सकल रूप लखहु कबि कांत ।। ७९ ।।
बहू बधू सुभ्रू भट्टू आफू जोरू जानि।
दारू रू बू भू चमू गऊ सरिस अनुमानि ।। ८० ।।
शंभू सासू आँसु बधु बिन चित्रादिहु ठीक।
धनू रितू चित्रादि मैं कमल भु भटु कबि लीक ।। ८१ ।।
लघु दीरघ ईकार को नेम कहौं जैसोइ।
तैसोइ अहै उकार को चित्रादिहु मैं सोइ ।। ८२ ।।

इत्युकारांत शब्दाः।

(चरना दोहा)

इकरांत अरु उकारांत लघु दीर्घ लिंग द्वै जोइ।
इन मैं किते हलंत किते नहिं होहिं कहौं अब सोइ ।। ८३ ।।

(दोहा)

बिना प्रयोजन शब्द ए तजैं न अपनो रूप।
स्वल्प हेत कहु मध्य हित अति हित कहुँ कबि भूप ।। ८४ ।।

स्वल्प हेत जिमि बार कहि जात भान औ चैन।
दीरघ ई ऊकार ए तजहि रूप मति ऐन॥ ८५॥

मध्यम हित आरात छित बाल नारि इमि जानि।
तर अरु संभ सुआँस कहि दार लेहु पहिचानि॥ ८६॥

सुकब भगत अत्यंत मैं मानसु रागिन होइ।
साध बिज्ज अरु भाल ए आफ गिनहु सम सोइ॥ ८७॥

मन अह मुन सर औ गुनी चक्र रान सम काल।
पट उर बिध रंभो रदन गोंइ लोह औ साल॥ ८८॥

कमल भवाज त्रिसंक वह वध चम आदि सदैव।
होहिं हलंत कदापि नहिं आय करै जौं दैव॥ ८९॥

अथ एकारांत पुंलिंग।

चौबे एकारांत है पुरुषलिंग बिख्यात।
क्रम सों धरे बिभक्ति कों रूप होत द्वै सात॥ ९०॥

प्रथमा चौबे जो कहे बहु कों जेते जानु।
चौबन को चौबेन कों इमि औरहु अनुमानु॥ ९१॥

द्वितिया आदि बिभक्ति के बहुत बचन मैं एहु।
होत हलंतहु सो यथा चौबन कों गुनि लेहु॥ ९२॥

हे चौबे संबोधनै हे चौबेओ होत।
चौबे सम पाँड़े दुबे इमि जानहु मति पोत॥ ९३॥

एकारांत स्त्रीलिंग श्यामदे शब्दः।

नारिलिंग ए अंत है शब्द श्यामदे जौन।
बिन हलंत बहुबचन सब चौबे के सम तौन॥ ९४॥

एकहि बहु को श्यामदे संबोधन बुध केतु।
ग्राम रीति तिय नाम के पाछे दे दे देतु॥ ९५॥

उभय लिंग ए अंत नहि जदपि अहै ग्रंथस्थ।
तदपि कहै ग्रामीन लै क्रम हित करि मति स्वस्थ॥ ९६॥

अथ ऐकारांत पुंलिंग ह्वदै शब्दः।

ह्वदै शब्द पुंलिंग है भाषा मैं कबि कांत।
होत श्यामदे सरिस सो सब थल ऐकारांत॥ ९७॥

संस्कृत मैं बहुधा जदपि नहीं ऐ अंत लखाहिं।
यकारांत सुहलंत बहु तदपि इहाँ ह्वै जाहिं॥ ९८॥

बिजै धनंजै है सदै निरदै हिरदै तूल।
राय पीय जिय तोय ए ऐकारांत अमूल ॥ ९९ ॥

ऐकारांत सु होहिं बहु एकारांतहु अत्र।
हृदे यथा पै नहि सदे मध्य प्रयोजन तत्र ॥१००॥

हृदयादिक ऐ अंत जहँ तहँ है ऐसो रूप।
जहँ हलंत तहँ देव सम इमि बरनहिं कबि भूप ॥१०१॥

अथ पै शब्दः।

पयस शब्द संस्कृत बिषें सोउ पय ह्वै पै होइ।
इक पै शब्द परंतु को बाचौ अव्यय सोइ ॥१०२॥

अथ ऐकारांत स्त्रीलिंग पै शब्दः।

नारिलिंग पै खोट को सूचक ऐकारांत।
हृदै शब्द सम रूप सब ताको कबि-कुल-कांत ॥१०३॥
हृदै सरिस तियलिंग बहु हैं हलंत ऐ अंत।
जै लै आसै भै प्रलै पै सम सभै (समै?) समेत ॥१०४॥

अथ ओकारांत पुंलिंग प्यारो शब्दः।

प्यारो ओकारांत है पुरुषलिंग कबि भूप।
इक प्रथमा इकबचन मैं राखै अपनो रूप ॥१०५॥
प्रथमा के बहुबचन सों सब थल एकारांत।
हे प्यारे संबोधनै बहुतन को ओ अंत ॥१०६॥
उरदू को मत लै कहूँ महा प्रयोजन पाय।
आकारांतहु होत है प्यारा पंडित राय ॥१०७॥
सब प्रथमा बहुबचन सों पूरब सम मत सोइ।
द्वितीया सों आ अंत कहुँ यह बारह थल होइ ॥१०८॥

ओकारांत पुंलिंग मैं विशेष नियम।

हिंदी आकारांत जे ते ब्रज ओकारांत।
होत बिशेषन मैं बहुत समुझहु कबि-कुल-कांत ॥१०९॥
खड़ो बड़ो लाँबो पड़ो प्यारो आदिक जान।
भाखे अकारांत ए उरदू होत सुजान ॥११०॥
बाजादिक बहु शब्द को दोऊ होत सरूप।
बाजा बाजो शुद्ध दोउ समुझहु कबि-कुल-भूप ॥१११॥
हीरा राजादिक शबद होत न ओकारांत।
कहे अशुद्ध बखानिए यह समुझहु मतिमंत ॥११२॥

अथ ओकारांत स्त्रीलिंग बन्नो शब्दः ।

बनी शुद्ध है जदपि तउ कहुँ बन्नो हू होइ ।
सब बिभक्ति मैं एक ही रूप राखिहै सोइ ॥११३॥
जदपि लगत बहुबचन मैं यामैं अंत नकार ।
पै सो सुंदर होत नहिं लीजै मनहि बिचार ॥११४॥
यासों दोऊ बचन में ये सब एक समान ।
राखैं सुंदर होत है जानहु कबि मतिमान ॥११५॥
लाड़ो मुन्नो आदि सब जानहु याही रीति ।
नियम सु ओकारांत को कबि जन करि अति प्रीति ॥११६॥

औकारांत शब्द नियमाः ।

वकारांत करि होत हैं शब्द सु औकारांत ।
होत बिभक्ति हलंत सो यह समुझहु कबि कांत ॥११७॥
राघौ जादौ आदि सब राघव जादव होइ ।
बरनहिं तिन कहँ राम सम यह जानहु सब कोइ ॥११८॥
बकारांत जौ होइ नहिं कहुँ सँजोग बस रूप ।
तो सब थल निज रूप मैं रहिहै पंडित भूप ॥११९॥
आसौं भादौं आदि जे शब्द सु सानुस्वार ।
तिनहू को इमि मानिए एकहि रूप बिचार ॥१२०॥

अथ अनुस्वार विसर्गांत नियमाः ।

अनुस्वार नहिं अंत मैं कहुँ भाषा मधि होइ ।
तैसेहु होत बिसर्ग नहिं ये संस्कृत के दोइ ॥१२१॥
होइ अनुस्वारांत जौ तौ ह्वै जाइ मकार ।
रांत सांत अरु हांत तिमि अंत बिसर्ग प्रचार ॥१२२॥
चित्र काव्य मैं होत सोउ साधु कथन मैं नाहिं ।
यह सब दोउन के नियम जानहु भाषा माहिं ॥१२३॥

अथ अन्य स्फुट नियमाः ।

ऋ ॠ ऌ ॡ होत हैं सब ईकार इकार ।
तैसेहि होत हलंत सब आकारांत निरधार ॥१२४॥
भाषा के इमि जानि कै शब्द नियम परकास ।
लिखहु पढ़हु कविता करहु बरनत गिरिधरदास ॥१२५॥

इति भाषा व्याकरण ।

डा० श्रीधरसिंह

तुलसी-पूर्व मूल रामकथा में परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन

[भारतीय वाङ्मय के विभिन्न रचयिताओं ने अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं एवम् स्वरुचि के अनुसार राम का चरित्र-चित्रण विविध प्रकार से किया है। तुलसीदास ने लिखा ही है कि 'रामचरित सत कोटि अपारा'। प्रस्तुत लेख के लेखक को 'यहाँ, रामायण (आदिरामायण) की इसी मूल कथा की पीठिका पर तुलसीदास से पूर्व के विविध ग्रंथों में होनेवाले परिवर्तनों-परिवर्द्धनों का लेखा-जोखा ही नहीं, इनके मूल में अंतर्निहित, प्रयोजनों और मंतव्यों का समुचित संधान करना भी अभीष्ट है।' विचार-विमर्श के बाद लेखक अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'विविध प्रयोजनों एवम् प्रवृत्तियों के अंतर्गत विविध-विधाओं में ढलती हुई रामकथा मूलकथा से बिल्कुल अलग न हटकर भी बहुत अधिक विकसित हो गई है; 'इसे विपर्यास नहीं विकास ही कहना उपयुक्त है।']

रामकथा की उत्पत्ति आदिकवि वाल्मीकि के 'रामायण' से मानी जाती है। रामायण बहुत वर्षों तक 'आदिरामायण' के रूप में मौखिक परंपरा में जीवित रहा और इसे निश्चित लिखित आकार ई० पू० चौथी शताब्दी के आसपास ही प्राप्त हुआ। इस समय तक रामायण के अतिरिक्त रामकथा का आविर्भाव बौद्ध तिपिटक के 'दशरथ जातक' एवम् महाभारत के कई पर्वों—विशेषतः रामोपाख्यान में हो चुका था। कुछ विद्वान् दशरथ जातक एवम् महाभारत के रामोपाख्यान की रामकथा को रामायण की कथा से विकसित न मानकर इनके स्वतंत्र स्रोत ढूँढ़ने के पक्ष में हैं। डा० वेवर तो 'दशरथ जातक' को ही मूल रामकथा मानने के पक्षपाती हैं। किंतु आज इन दोनो को ही मूल रामकथा ठहराने के समस्त तर्क एवम् प्रमाण लचर और कल्पना-विलास सिद्ध किए जा चुके हैं। डा० याकोबी प्रभृति सभी विद्वान् रामायण की रामकथा को ही मूलकथा स्वीकार करते हैं।[1] मौखिक रूप में प्रचलित रामायण के आदि रूप 'आदिरामायण' की लंबी परंपरा के संदर्भ में रामायण की रामकथा को ही मूल कथा मानना समीचीन है।

यहाँ रामायण की इसी मूल कथा की पीठिका पर तुलसीदास से पूर्व के विविध ग्रंथों में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनों-परिवर्द्धनों का लेखा-जोखा ही नहीं, इनके मूल में अंतर्निहित प्रयोजनों और मंतव्यों का समुचित संधान करना भी अभीष्ट है।

१—रामकथा, फादर कामिल बुल्के, पृ० ५९ और ९५, १९६२।

मूल रामकथा अथवा रामायण की कथा की संक्षिप्ति सातों कांडों के क्रम से इस प्रकार है––

बालकांडम्––(१) नारदजी का वाल्मीकि मुनि को संक्षेप में राम-चरित्र सुनाना, (२) राजा दशरथ के राज्य एवम् उनकी राजनीति का विस्तृत वर्णन, (३) शांता एवम् ऋष्यशृंग का विवाह, पुत्रेष्टि यज्ञ और यज्ञकुंड से प्राजापत्य पुरुष का प्रकट होकर खीर अर्पण करना, (४) तीनो रानियों का खीर खाकर राम, लक्ष्मण, भरत एवम् शत्रुघ्न चार पुत्रों को जन्म देना, (५) विश्वामित्र के साथ राम एवम् लक्ष्मण का वन जाना, (६) ताटका की कथा एवम् उसका वध, (७) विश्वामित्र द्वारा राम को अस्त्र एवम् अस्त्रविद्या का दान, (८) राम द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा एवम् राक्षसों का संहार, (९) मिथिला के लिए प्रस्थान-मार्ग में कुशनाभ की कन्याओं की कथा, गाधि की कथा, गंगावतरण की कथा, दिति की कथा और अंत में अहल्या की कथा के विस्तृत वर्णन, (१०) शतानंद का राम को विश्वामित्र की पूर्व कथा सुनाना, (११) राम आदि को राजा जनक का धनुष की कथा और अपनी प्रतिज्ञा सुनाना, विश्वामित्र के आग्रह पर राम को दिखलाने के लिए हजारों लोगों द्वारा धनुष मँगवाना और राम का इस धनुष को उठाकर तोड़ देना, (१२) राम और सीता के विवाह का आयोजन, अयोध्या से दशरथ का आगमन तथा चारो भाइयों का जनक एवम् कुशध्वज की कन्याओं से विवाह, (१३) बरात का अयोध्या लौटना, मार्ग में कुपित परशुराम का आना, अंत में श्रीराम का उनके वैष्णव-धनुष को चढ़ाकर अपने अमोघ बाण से परशुराम के पुण्यलोक को नष्ट कर देना तथा इनका महेंद्र पर्वत पर चला जाना और (१४) अयोध्या में आनंद तथा भरत का अपने मामा के यहाँ जाना।

अयोध्याकांडम्––(१) राम को युवराज बनाने की, राजा दशरथ की विभिन्न नरेशों तथा जनपद के लोगों से मंत्रणा, एतदर्थ सभा में प्रस्ताव और इसका सबके द्वारा सहर्ष अनुमोदन, (२) राज्याभिषेक की विधिवत् तैयारी तथा प्रजा में हर्ष और उल्लास, (३) राज्याभिषेक के समाचार से खिन्न मंथरा का कैकेयी को उभाड़ना पर इसके उलटे कैकेयी का प्रसन्न होना और शुभ समाचार के लिए मंथरा को पुरस्कार देना, मंथरा का कैकेयी को अनेक प्रकार से समझाना और अंत में कैकेयी को कोप-भवन में भेजना, (४) कैकेयी-दशरथ के संवाद, कैकेयी का भरत के राज्याभिषेक और राम के वनवास का वरदान माँगना और इसी पर दृढ़ होना, सुमंत्र का राम को बुलाकर कोपभवन में लाना, सारी स्थिति समझकर राम का वन जाने के लिए तैयार हो जाना, चारो ओर कोहराम मचना, लक्ष्मण का रोष करना, अंत में सीता और लक्ष्मण का राम के साथ वन जाने के लिए उद्यत होकर सबका कोपभवन में आज्ञा लेने जाना, कैकेयी का इन सबको वल्कलवस्त्र ही पहनकर जाने का दुराग्रह करना, (५) सुमंत्र के साथ राम, लक्ष्मण एवम् सीता का रथ पर चढ़कर सारे शोक-संतप्त पुरवासियों के साथ तमसा तट तक जाना, (६) अंत में सोते पुरवासियों को वहीं छोड़कर इन

सबका आगे बढ़ जाना, निषादराज से भेंट, गंगा पार करके प्रयाग पहुँचना, भरद्वाज मुनि के परामर्श से चित्रकूट प्रस्थान करना और वहाँ वाल्मीकि मुनि की आज्ञा से पर्णशाला तैयार करना, (७) सुमंत्र का अयोध्या लौट आना, दशरथ की वेदना का बढ़ना, दशरथ का अपने कृत्यों पर कौशल्या के आगे पछताना, मुनि-शाप की कथा सुनाना और अंत में देहत्याग करना, (८) भरत का अयोध्या आना, राजा बनना अस्वीकार करना, माता की भर्त्सना करना और राम आदि को लौटा लाने के लिए सबके साथ चित्रकूट जाना, (९) राम का न लौटना और अंत में भरत का राम की चरणपादुका लेकर वापस आना तथा नंदिग्राम में रहकर राज्य-संचालन करना तथा (१०) राम का अत्रि मुनि से सत्कृत होना, अनसूया का सीता को समझाना एवम् प्रेमोपहार देना और चित्रकूट से अन्यत्र जाने के लिए ऋषियों से राम का विदा होना।

अरण्यकांडम्—(१) तापसों के आश्रम मंडल में राम आदि का सत्कार, (२) विराध-वध, (३) शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषियों के आश्रमों में जाना और सेवा करने का वचन देना, (४) अगस्त्य की आज्ञा से पंचवटी में रहने के लिए प्रस्थान, मार्ग में जटायु से मिलन और पंचवटी में पर्णशाला बनाकर निवास करना, (५) आश्रम में आकर शूर्पणखा का भार्या बनने का आग्रह करना, असफल होने पर सीता पर आक्रमण करना, लक्ष्मण का इसका नाक-कान काट लेना (६) इस समाचार से क्रुद्ध होकर खर-दूषण का चौदह राक्षसों को भेजना, उनकी मृत्यु पर स्वयम् विशाल सेना के साथ राम पर आक्रमण करना और दूषण त्रिशिरा की मृत्यु के बाद खर का स्वयम् भी मरना, (७) सीता का अपहरण करने के लिए रावण का छल करना—मारीच का कंचनमय मृग के रूप में आना, राम का इसका पीछा करना, 'राम' जैसे छलमय नाद पर सीता का लक्ष्मण को मर्मवचन कहना, लक्ष्मण का राम के पास जाना, अकेली सीता के पास रावण का साधुवेष में आना, सीता को अपना परिचय देकर उन्हें भार्या बनने के लिए समझाना, असफल होने पर बलात् अपहरण करना, (८) सीता के रक्षार्थ जटायु का मरणासन्न होना, (९) सीता का वानरों को देखकर उनके पास अपना चिह्न फेंकना, (१०) रावण का सीता को पहले अंतःपुर में और फिर राजी न होने पर ताड़नार्थ अशोकवाटिका में रखना, (११) राम का विलाप करते हुए सीता की खोज में भटकना, जटायु से समाचार मिलना और जटायु का मरना, (११) लक्ष्मण का अयोमुखी को दंड देना, और बाद में कबंध की भुजाओं में फँसना, कबंध की भुजाओं का कटना, दिव्यरूपी कबंध द्वारा राम लक्ष्मण का अपनी आत्मकथा कहकर स्वागत, कबंध का राम को सुग्रीव से मित्रता करने को कहना और मतंगवन, ऋष्यमूक एवम् पंपासरोवर का मार्ग बताना तथा (१२) राम-लक्ष्मण का मतंग वन में शबरी के आश्रम पर जाना और शबरी को दिव्यधाम प्रदानकर पंपा-सरोवर के तट पर जाना।

किष्किंधाकांडम्---(१) राम-लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव आदि वानरों का भयभीत होना, हनुमान्‌जी की मध्यस्थता से राम एवम् सुग्रीव में मित्रता होना, (२) बालि का वध एवम् सुग्रीव तथा अंगद का अभिषेक, (३) सीता की खोज करने में सुग्रीव की ढिलाई पर लक्ष्मण का क्रुद्ध होना, सुग्रीव का बंदरों को सीता की खोज के लिए चारों ओर भेजना, दक्षिण दिशा में गए हनुमान् आदि बंदरों को छोड़ शेष तीन दिशाओं के बंदरों का निराश होकर लौट आना, (४) सूखे प्यासे बंदरों का गुफा में घुसना, वहाँ दिव्य सरोवर के पास स्वयंप्रभा नामक तापसी से हनुमान् का परिचय, स्वयंप्रभा का परिचय, तापसी के प्रभाव से बंदरों का वहाँ से निकलकर समुद्र-तट पर पहुँचना, (५) संपाती से वानरों की भेंट और मित्रता, संपाती का अपने भाई जटायु की मृत्यु जानकर उसे श्रद्धांजलि देना, संपाती का अपनी आत्मकथा सुनाना और अंत में अपने पुत्र सुपार्श्व द्वारा देखी गई रावण द्वारा सीता-हरण की घटना सुनाना तथा कार्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न करने को प्रोत्साहित करना और (६) समुद्रलंघन के निमित्त बंदरों का अपनी अपनी गति का वर्णन करना और अंत में जांबवान के प्रोत्साहन पर समुद्रलंघन के लिए हनुमान् का तैयार होकर महेंद्र पर्वत पर चढ़ना।

सुंदरकांडम्---(१) हनुमान् के द्वारा समुद्र का लंघन---मैनाक द्वारा स्वागत, सुरसा पर विजय तथा सिंहिका का वध, (२) चंद्रोदय काल में हनुमान् का लंका में प्रवेश करते समय लंकिनी को पराजित करना, लंका के वैभव पर मुग्ध होना, लंका के घर-घर में सीता को ढूँढना, रावण के भवन, अंतःपुर एवम् पुष्पक विमान को देखना, (३) अशोकवाटिका में चैत्य प्रासाद के पास दयनीय सीता का हनुमान् को दर्शन, (४) इसी बीच रावण का वहाँ आना और सीता को भय-प्रीति दिखाना तथा दो मास की अवधि देना, (५) सीता का विलाप, त्रिजटा की सांत्वना, सीता से हनुमान् की भेंट, सीता को परिचय एवम् मुद्रिका देना, सीता का हनुमान् को काक-प्रसंग सुनाना और चूड़ामणि देना, (६) हनुमान् द्वारा अशोकवाटिका का ध्वंस एवम् जंबुमाली, अक्षयकुमार आदि राक्षसों का वध, (७) इंद्रजित् के दिव्यास्त्र में बँधकर हनुमान् का रावण के दरबार में आना, रावण-हनुमान्-संवाद, हनुमान् की पूँछ जलाना, (८) पूँछ में आग लगने पर हनुमान् का लंका को जलाना, सीता से लौटकर मिलना और सांत्वना देकर समुद्र के इस पार लौट आना तथा (९) प्रसन्न वानर साथियों के साथ हनुमान् का राम के पास आना और समाचार एवम् चूड़ामणि देना।

युद्धकांडम्---(१) वानरों की सेना के साथ राम-लक्ष्मण का समुद्र-तट पर पहुँचना, (२) मंत्रियों एवम् सेनापतियों से रावण की मंत्रणा, सबका रावण को आश्वस्त करना, विभीषण का सीता को लौटाने के लिए रावण को समझाना, सभाभवन में सभासदों द्वारा रावण का समर्थन, नगर-रक्षा की तैयारी आरंभ, विभीषण का रावण को फिर समझाना, रावण द्वारा विभीषण की भर्त्सना, विभीषण का राम की शरण में जाना, (३) समुद्र पर नल द्वारा सेतु-बंध और वानरसेनाका लंका के तट पर पहुँचना,

(४) राम-सेना में जासूसी करते समय शुक-सारण का पकड़ा जाना, अंत में छूटने पर रावण को राम की सेना की सूचना देना, राम की सैन्य तैयारी, (५) रावण का माल्यवान् की सलाह को ठुकराना और सेना की मोर्चेबंदी करना, (६) राम और रावण के भयानक युद्ध और अंत में राक्षसों एवम् रावण का वध, (७) विभीषण का राज्याभिषेक, (८) सीता के चरित्र पर राम को शंका, सीता की अग्नि-परीक्षा और अंत में लक्ष्मण, सीता, विभीषण, सुग्रीव आदि के साथ राम का पुष्पक विमान से अयोध्या लौटना तथा हर्षित पुरवासियों के साथ भरत से मिलन एवम् राम का राज्याभिषेक।

उत्तरकांडम्—(१) महर्षि अगस्त्य का राम को राक्षस-वंश तथा रावण-चरित्र का वर्णन सुनाना, (२) हनुमत्-चरित कहना, (३) राजाओं, वानरों, रीछों और विभिन्न राक्षसों की अयोध्या से विदाई, (४) भद्र का सीता के संबंध में पुरवासियों की अशुभ चर्चा से राम को अवगत कराना, राम का भाइयों से परामर्श करना और सीता को वन में छोड़ आने के लिए लक्ष्मण को आदेश देना, (५) सीता-निर्वासन, वाल्मीकि के आश्रम में सीता का निवास एवम् लव-कुश नामक पुत्रों की उत्पत्ति, (६) राम का अश्वमेध यज्ञ करना, यज्ञ में वाल्मीकि के साथ लव-कुश का आगमन और भरी सभा में राम को रामायण काव्य सुनाना, (७) राम का सीता की शुद्धता जानने के लिए शपथ कराने का विचार, वाल्मीकि द्वारा सीता की शुद्धता का समर्थन, सीता का शपथ ग्रहण और रसातल में प्रवेश, (८) राम की जीवन-चर्या एवम् राम-राज्य और अंत में लक्ष्मण की मृत्यु के बाद बहुत से आत्मजों के साथ राम का परलोकगमन।

रामायण की यह रामकथा परवर्तीकाल में इतनी लोकप्रसिद्ध हुई कि भारत में यहाँ के प्रायः सभी हिंदू, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के अंतर्गत इसे अनेक रूपों एवम् अनेक विधाओं में ग्रहण किया गया। इस कथा के रूप अथवा आत्मा के सबसे अधिक परिवर्तन-परिवर्द्धन जिन विधाओं में हुए, ये मुख्यतः तीन हैं—(१) धार्मिक-साहित्य अथवा पुराण, (२) महाकाव्य और (३) नाटक। ये ही तीन विधाएँ प्राचीन वाङ्मय की प्रतिनिधि विधाएँ भी हैं और मोटे तौर पर इन्हीं के अंतर्गत अन्यों का भी अंतर्भाव हो जाता है।

यहाँ विभिन्न विधाओं में ढलती रामकथा में अंतर्निहित विभाजक प्रभावों और प्रवृत्ति की दिशाओं को ठीक-ठीक परखने-पकड़ने के लिए उपर्युक्त तीन वर्गों की केवल उन्ही प्रतिनिधि रचनाओं का अध्ययन करना उचित है जो परिवर्तन के विभिन्न आयामों को किसी न किसी रूप में उद्घाटित करने में सहायक हैं।

धार्मिक-ग्रंथ अथवा पुराण—अवतारवाद की भावना के साथ-साथ विष्णु का महत्त्व बढ़ता गया और कालांतर में विष्णु, कृष्ण और राम एक हो गए। जनमानस में प्रतिष्ठित राम का चरित्र विष्णुत्व (ईश्वरत्व) के संदर्भ में निखर कर और भी गरिमामय होता गया और रामकथा भी अधिक से अधिक प्रिय बनती गई। ऐसे चरित्र

और ऐसी कथा के माध्यम से धार्मिक अथवा सांप्रदायिक भावना को जनता तक पहुँचाना अधिक सुगम और सुकर था, अतः सभी धर्मों एवम् संप्रदायों ने अपने अपने ढंग से इसे ग्रहण किया और अभीष्ट आकार-प्रकार प्रदान किया। यही राम हिंदुओं में विष्णु बौद्धों में बोधिसत्त्व और जैनियों में आठवें बलराम बन गए। राम के इन सभी रूपों (चरित्रों) को लेकर विशुद्ध धार्मिक अथवा सांप्रदायिक भावना से राम का जो भी आख्यान निर्मित हुआ है, इन सबका अंतर्भाव यहाँ काम चलाऊ ढंग पर पुराण की विधा के अंतर्गत किया जाता है।

बौद्धपुराण---प्राचीन बौद्ध साहित्य में रामकथा संबंधी तीन जातक सुरक्षित हैं--दशरथ जातक, अनामकम् जातकम् और दशरथ कथानम्। इन जातकों के कथावस्तु की दृष्टि से तीन-तीन खंड हैं। पहला खंड 'वर्तमान कथा' (पच्चुप्पन्नवत्थु) का है, जिसमें जातक अथवा मूलकथा कहने का कारण बताया जाता है; दूसरा खंड 'अतीत कथा' (अतीतवत्थु) का है जिसमें मूलकथा कही जाती है और तीसरा खंड 'समाधान' (समोधान) का है जिसमें भगवान् बुद्ध जातक का सामंजस्य का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

दशरथ जातक---वर्तमान कथा: किसी गृहस्थ का पिता मर गया था। उसने शोक-विह्वल होकर अपना सारा कर्तव्य छोड़ दिया। भगवान् बुद्ध ने उसे दशरथ के मरने पर राम के धैर्य-धारण की गाथा सुनाकर प्रबोध दिया और समझाया कि पंडित लोग अपने पिता के मरण पर शोक नहीं करते हैं।

अतीत कथा: वाराणसी में महाराज दशरथ धर्मपूर्वक राज्य करते थे। उनकी ज्येष्ठा महिषी की तीन संताने थीं, दो पुत्र (रामपंडित और लक्खण) और एक पुत्री (सीतादेवी)। ज्येष्ठा महिषी की मृत्यु के बाद राजा ने दूसरी रानी को मुख्य महिषी बनाया। इससे एक पुत्र (भरतकुमार) उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा ने इस रानी को एक वरदान दिया। जब भरत सात वर्ष के हुए तब इस रानी ने दिए गए वरदान के आधार पर इनके लिए राज्य माँगा। राजा ने अस्वीकार कर दिया किंतु आगे चलकर रानी के षड्यंत्रों से आशंकित होकर राम और लक्खण को स्वरक्षार्थ वन में रहने के लिए समझाया। ज्योतिषियों द्वारा यह जानने पर कि उनकी उम्र के १२ वर्ष शेष हैं, उन्होंने अपने पुत्रों को ठीक बारह वर्ष बाद वन से लौटकर राज्य हस्तगत कर लेने की सलाह दी। दोनो भाइयों के साथ बहन सीतादेवी भी गई और तीनो ही हिमालय पर्वत पर आश्रम बनाकर रहने लगे। ९ वर्ष के बाद राजा का देहांत हो गया। भरत ने राजा बनना अस्वीकार कर दिया और राम लक्खण एवम् सीता को लौटा लाने के लिए गए। आश्रम में राम अकेले बैठे थे। राम को देखते ही भरत एवम् उनके अमात्य राजा के मरने का सारा वृत्तांत कहकर रोने लगे। राम ने न तो रोया और न शोक ही किया। संध्या समय लक्खण एवम् सीता भी जब

आश्रम में लौटे तब पिता की मृत्यु की बात को सुन फूट-फूटकर रोने लगे। राम ने इन्हें अनित्यता का रहस्य समझाया और इनका शोक दूर हो गया। पिता के वचनों को ध्यान में रखकर राम और तीन वर्षों के लिए वहाँ रह गए और लक्खण एवम् सीता भरत के साथ राम की तृणपादुका लेकर लौट आए। पूरे बारह वर्ष बीतने पर राम ने अपने राज्य में लौटकर राज्य ग्रहण किया और सीता से विवाह भी कर लिया। अंत में सोलह सहस्र वर्षों तक राज्य करके राम इस संसार से मुक्त हो गए।

समाधान :—भगवान् बुद्ध जातक की इस कथा का इस प्रकार सामंजस्य बैठाते हैं—'उस समय महाराज शुद्धोदन दशरथ थे, महामाया राम की माँ थीं, यशोधरा सीता थीं, आनंद भरत थे और मैं ही राम पंडित था।'

अनामकम् जातकम्[१] :—इसका मूल भारतीय पाठ अप्राप्त है। चीनी अनुवाद सुरक्षित है। दशरथ जातक के संदर्भ में इसमें निम्नलिखित अंतर दिखाई देता है।

(१) इसमें किसी भी पात्र के नाम का उल्लेख नहीं है, (२) सीता राम की बहन नहीं हैं, (३) राजा (राम) ने राज्य इसलिए छोड़ दिया कि उनके लोभी एवम् निर्दयी मामा की राज्यापहरण-नीति के विरुद्ध इन्हें युद्ध करना पड़ता और असंख्य जीवों की हत्या होती, (४) पहाड़ी वन में राजा की अनुपस्थिति में समुद्र का एक दुष्ट नाग इनकी पत्नी का छद्मवेश में अपहरण कर लेता है, (५) चाचा से त्रस्त एक बंदर से इस राजा की मित्रता होती है और राजा के वाण-संधान को देखते ही बंदर का चाचा भाग जाता है, (६) बंदर रानी की खोज प्रारंभ करते हैं और एक आहत पक्षी से रानी का समाचार प्राप्त होता है, (७) समुद्र-संतरण में असमर्थ बंदरों की सहायता, समुद्र के नाग की समूची माया से अवगत एक छद्मवेशी छोटा बंदर (इंद्र) करता है, (८) नाग विद्युत् के रूप में प्रकट होता है और मारा जाता है, रानी मुक्त हो जाती है, (९) मामा का देहांत सुनकर राजा स्वदेश लौटता है और राज्य ग्रहण करता है, (१०) रानी के चरित्र पर राजा को संदेह होता है, रानी पृथ्वी में समा जाती है और (११) धर्मराज्य की स्थापना हो जाती है।

अंत में भगवान् बुद्ध कहते हैं 'उस समय मैं राजा था, गोपा रानी थी, देवदत्त मामा था और मैत्रेय इंद्र छोटा बंदर था।'

दशरथ कथानम् :—इसकी कथा 'दशरथ जातक' सी ही है। अंतर केवल इतना ही है कि इसमें सीता आदि किसी राजकुमारी का उल्लेख नहीं हुआ है। राम का वनगमन रानी के भयवश नहीं वरन् तीसरी रानी के वरदान के परिणामस्वरूप होता है। इसके अतिरिक्त इसमें दशरथ की चार रानियाँ है और चारों पुत्र एक-एक

१—रामकथा, फादर कामिल बुल्के, पृ० ६१ (१९६२ ई०)।

के हिसाब से चारों रानियों से उत्पन्न हुए हैं। अंत में भरत राम की तृणपादुका नहीं बल्कि चर्मपादुका लेकर अयोध्या लौटे हैं।

प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन—तीनों जातक ग्रंथों में जो भी परिवर्तन हुए हैं वे बौद्ध आदर्श एवम् बौद्ध ग्रंथों की शैली के अनुरूप ही हैं। लोक में भगवान् बुद्ध के ईश्वरत्व को जमाने के लिए इनके अनेकानेक जन्म की कल्पना करके जहाँ एक ओर हिंदू देवताओं से अभिन्नत्व स्थापित किया गया है वहाँ साथ ही साथ दूसरी ओर इन देवों के चरित्रों के बौद्ध दृष्टि से नूतन संस्कार भी किए गए हैं। उपर्युक्त जातक ग्रंथों में इसीलिए बालि-वध एवम् रावण-वध के कार्य त्याज्य रहे। राम पंडित के रूप में अवतरित भगवान् बुद्ध इस तरह का हिंसक कार्य करते यह भला कैसे संभव था। 'अनामकम् जातकम्' में ये प्रसंग आए भी हैं तो नए ढंग से। यहाँ बालि तो भयभीत होकर भाग जाता है जब कि रावण मनुष्य-रूप में नहीं प्रत्युत विद्युत् का रूप ग्रहण करने पर ही मारा जाता है।

कथा के माध्यम से संदेश अथवा उपदेश ग्रहण कराने की प्रवृत्ति के अनुकूल कथानक में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। कथानक को उद्देश्य-विशेष की ओर सीधा दौड़ाया गया है और इस प्रक्रिया के अंतर्गत कथा, पात्र, आदि सभी गौण हो गए हैं; उद्देश्य—केवल उद्देश्य और वह भी उद्देश्य की उपदेशपरक परिणति ही प्रमुख रह गई। इसलिए कथानक में कहीं अभूतपूर्व मोड़ दे दिए गए हैं तो कहीं सारी की सारी, अन्यथा आवश्यक कथा को ही छाँट दिया गया है। 'दशरथ जातक' में शोक की निःसारता और 'दशरथ कथानम्' में आचरण शुद्धता एवम् पितृभक्ति को प्रदर्शित करने के लिए सीताहरण आदि प्रसंग अनावश्यक थे, अतः इन्हें छोड़ दिया गया है। 'अनामकम् जातकम्' में मूल रामकथा का पूरा अंश तो लिया गया है पर कथा उपदेश-ग्रहण कराने के माध्यम-मात्र से अधिक नहीं उभर पाई है। रामकथा को लेते हुए भी पात्रों के नामों का उल्लेख न करके मनुष्य की मनोवृत्तियों का अधिक व्यापकता के साथ सामान्यीकरण कराने और निष्कर्षों में निवृत्ति-परक प्रभविष्णुता लाने की चेष्टा की गई है। इसीलिए वनवास के कारण और रावण (नाग) के वध का रूप ही बदल गया है। निष्कर्ष यह कि मन के संयम और निवृत्ति मूलक जीवन-दृष्टि के पोषण का कार्य ही इन सभी कथाओं का कार्य है और समूचे परिवर्तन-परिवर्द्धन इसी लक्ष्य के अनुरूप घटे हैं।

राजधानी का अयोध्या न होकर वाराणसी होना और वनवास का स्थान दक्षिण में न होकर हिमालय पर होना बौद्ध-शैली की विशेषता है। 'दशरथ जातक' में ज्योतिषियों के कथन के प्रतिकूल राम-वनवास के नवें वर्ष ही दशरथ की मृत्यु दिखाना और भाई-बहन (राम और सीता) का विवाह कराना हिंदू-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया-भर है। वैदिक धारा के नैतिक पहलुओं पर अवैदिक धारा के संप्रदायों का आघात करना,

प्राचीन प्रवृत्ति है। कहने के लिए भाई-बहन का विवाह (यौन-संबंध) सभ्यता के विकास के पूर्व की वन्यावस्था (सैवेजरी स्टेज) के दूसरे चरण की प्रथा का अवशेष भी कहा जा सकता है और इस संदर्भ में लोक-कथाओं में जीवित अवशिष्ट को जातककारों द्वारा बिना किसी संशोधन के ग्रहण कर लेने की बात भी कही जा सकती है। फिर भी इस जातक ग्रंथ के रचनाकाल तक समाज का जो विकास हो चुका था, उससे आँख मूँदकर आदिम अवस्था के अवशेष को ही ग्रहण करने के आग्रह का क्या कोई अन्य औचित्य बताया जा सकता है—और यह भी तब जब इसमें अपनाई गई रामकथा का ही समूचा सामाजिक ढाँचा सभ्यता की प्रौढ़ अवस्था का सूचक है। वस्तुतः यह बौद्ध-शैली की परिचित प्रवृत्ति है।

जैन-पुराण—बौद्धों की अपेक्षा जैनियों में रामकथा की विस्तृत परंपरा प्राप्त होती है। जैनियों ने रामकथा के पात्रों को अपने धार्मिक विश्वासों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण क्रमशः त्रिषष्टि महापुरुष——आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव माने गए हैं। वासुदेव अपने बड़े भाई बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं और चक्र से उसे मार डालते हैं। हत्या के पाप से वासुदेव को नरक मिलता है और शोकाकुल बलदेव जैन-धर्म में दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यही धारणा जैन रामकथा का आधार है और इसी के अनुरूप कथा में परिवर्तन-परिवर्द्धन हुए हैं। इस प्रसंग में दो ग्रंथों का अध्ययन पर्याप्त हैं—एक है विमलसूरि का 'पउमचरिउ' और दूसरा है गुणभद्र का 'उत्तर पुराण'।

पउमचरियं—एक दिन राजा सेणिय गोयम (गौतम—महावीर के प्रधान शिष्य) से रामकथा के यथार्थ रूप को जानने की इच्छा प्रकट करता है। इसपर गोयम पउमचरियं (रामचरित) सुनाते हैं। प्रारंभ विद्याधर लोक, राक्षस-वंश, वानर-वंश और रावण की वंशावली के वर्णन से होता है। इस वर्णन में 'रामायण' से केवल इतनी भिन्नता है कि रावण, कुंभकर्ण, विभीषण और चंद्रनखा एक ही माँ की संतानें हैं। रावण के गले में पड़ी मोतियों की माला में दश सिरों का प्रतिबिंब देखकर पिता ने इसका नाम दशशीश रखा। रावण ने अनेक युद्ध किए और ६००० कन्याओं से विवाह किया और नलकूवर की पत्नी के प्रेम-प्रस्ताव को अस्वीकार कर परनारी का भोग न करने का व्रत लिया—वस्तुतः यहाँ यह एक धर्मभीरु जैनी है। वालि ने वैरागी रूप में सुग्रीव को राज्य देकर जैन धर्म की दीक्षा ले ली। हनुमान् ने रावण की ओर से युद्ध करके चंद्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा से विवाह किया। खरदूषण रावण के वंश का नहीं बल्कि विद्याधर वंश का है और चंद्रनखा से ही इसका विवाह हुआ है।

राम और सीता के जन्म एवम् विवाह की घटनाओं तक के वर्णन रामायण की कथा के अधिक निकट हैं। अंतर इतना है कि राम और सीता के हाथों अपनी मृत्यु का समाचार नारद से सुनकर रावण ने दशरथ तथा जनक दोनो ही को मार

डालने के लिए विभीषण को भेजा। दोनो राजा भयभीत होकर परदेश चले गए और अपने-अपने महलों में धोखा देने के लिए अपनी प्रतिमाएँ स्थापित कर दीं। परदेश में ही कैकेयी ने दशरथ का वरण किया। दशरथ की सुप्रभा नाम की एक चौथी रानी भी है। प्रत्येक से एक-एक पुत्र की उत्पत्ति हुई है। इसके पश्चात् राम का वनगमन तथा उन्हें लौटा लाने का भरत का प्रयत्न रामायण जैसा ही है। वन में जीवन-यापन का भाग रामायण से भिन्न है। इसमें राम-लक्ष्मण अनेक युद्ध करते हैं और अनेक कन्याओं को पत्नि-रूप में ग्रहण करते हैं।

सीताहरण एवम् सुग्रीव से मित्रता होने तक की घटनाएँ रामायण से भिन्न हैं। लक्ष्मण ने चंद्रनखा के पुत्र शंबक का वध करके उसके १२ वर्ष के तप की सिद्धि सूर्यहास खड्ग को छीन लिया। दुःखी चंद्रनखा ने दुःख को भुलाने के लिए लक्ष्मण से विवाह का प्रस्ताव किया। असफल होने पर रावण एवम् खरदूषण को बुलवाया। रावण सीता के सौंदर्य पर मुग्ध हो गया और 'अवलोकनी विद्या' द्वारा लक्ष्मण को बताए गए कोड-संकेत-सिंहनाद को जान गया और सिंहनाद द्वारा लक्ष्मण को दूर पर राम के पास भेजने में सफल हो गया। इधर सुग्रीव की पत्नी को साहसगति ने छीन लिया था। राम ने इसका वध किया और सुग्रीव से मित्रता हो गई। इसके बाद की रावण-वध तक की कथा लगभग रामायण जैसी ही है। अंतर यही है कि कई युद्ध हुए हैं और अनेक विवाह वर्णित हैं। अंत में रावण के परिवार के अधिकांश लोग महल को त्याग कर साधना का जीवन अपनाते हैं और राम-सीता का हर्षमय मिलन होता है। तदनंतर ६ वर्षों तक राम-लक्ष्मण अपनी सभी पत्नियों को लंका में ही बुलाकर आनंद का जीवन बिताते हैं। इसके आगे सीता के निर्वासन और लवण एवम् अंकुश (लव-कुश) की कथाएँ भी लगभग समान हैं।

अंत में राम ८००० पत्नियों के साथ और लक्ष्मण १३००० पत्नियों के साथ आनंद करते हैं। इसी बीच दो देवता राम के प्रति लक्ष्मण के प्रेम को परखने के लिए उन्हें राम की मृत्यु का मिथ्या समाचार सुनाते हैं। लक्ष्मण शोकाधिक्य से मर जाते हैं और इन्हें नरक होता है। राम विरक्त होकर जैन धर्म में दीक्षा लेते हैं और १७००० वर्ष तक साधना करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।

उत्तर पुराण—त्रिषष्टि लक्षण महापुरुष का द्वितीय भाग ही उत्तर पुराण है। इसमें आठवें बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण (क्रमशः राम, लक्ष्मण और रावण) के चरित्र लगभग सहस्र श्लोकों में वर्णित हैं। इस ग्रंथ की रामकथा वाल्मीकि एवम् विमलसूरि दोनो से भिन्न है। रामकथा में परिवर्तन की विशिष्ट प्रवृत्ति को परखने की दृष्टि से, विमलसूरि के पउमचरियं की रचना के लगभग चार-पाँच सौ वर्षों के बाद की, उत्तर पुराण की इस कथा का अध्ययन नितांत उपयोगी है। कथा का सार इस प्रकार है—

राजा दशरथ वाराणसी के राजा हैं। कालांतर में ये साकेत को अपनी राजधानी बनाते हैं। इनकी चार रानियाँ हैं और राम आदि चार पुत्र। रावण विद्याधर वंश का है। सीता इसी रावण की पुत्री है—पूर्व जन्म की मणिमती ही अपने साथ किए गए रावण के अनाचार का बदला लेने के लिए मंदोदरी के गर्भ से जन्म लेती है। ज्योतिषियों से जब रावण को इस कन्या के कारण अपनी मृत्यु का पता चलता है, तब वह इसे विदेह नगर में गड़वा देता है। वहाँ हल चलाते समय यह जमीन से प्राप्त होती है और जनक के यहाँ पलती है। इसका नाम सीता रखा जाता है। इसका विवाह राम से होता है। पिता की अनुमति से राम-सीता वाराणसी में ही रहते हैं। रावण सीता पर मुग्ध हो जाता है। उसे बहकाने के लिए वह शूर्पणखा को भेजता है, पर असफल रहता है। अंत में मारीच स्वर्णमृग बनकर राम को अपने साथ दूर तक दौड़ा ले जाता है। इस बीच रावण राम का रूप ग्रहण कर आता है और सीता को भ्रमा कर पुष्पक विमान पर भगा ले जाता है। दशरथ को सारी घटना स्वप्न में मालूम होती है और वे यह समाचार राम के पास भेजते हैं।

इस बीच सुग्रीव एवम् हनुमान् बालि के विरुद्ध सहायता माँगने पहुँचते हैं। इसके बाद की कथा लगभग रामायण जैसी है। अंतर इतना है कि बालि एवम् रावण दोनो की हत्या लक्ष्मण करते हैं और लंका में सेना पुल के मार्ग से नहीं, विमान द्वारा भेजी जाती है। लंका-दहन भी नहीं हुआ है। राम सीता को ग्रहण करते हैं। तदनंतर राम एवम् लक्ष्मण ४२ वर्ष तक दिग्विजय का अभियान चलाते हैं और दोनों का अभिषेक होता है। राम की ८००० और लक्ष्मण की १६००० रानियाँ हैं। लक्ष्मण असाध्य रोग से मरकर नरक में पड़ते हैं। राम सुग्रीव आदि पाँच सौ राजाओं और १८० पुत्रों के साथ ३९५ वर्ष तक साधना करते हैं और राम को केवल-ज्ञान प्राप्त होता है। सीता भी अपने आठ पुत्रों को छोड़ अनेक रानियों के साथ दीक्षा लेती है और अंत में स्वर्ग प्राप्त करती है।

प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन—जैन-साहित्य में राम की कथा विशेष उद्देश्य से ग्रहण की गई है। सर्वत्र मूल दृष्टि निश्चित निष्कर्ष निकालने पर है, अतः पात्र अथवा पात्रों को उभारनेवाली परिस्थितियों के वर्णन नहीं बल्कि उन अनेक वास्तविक-कल्पित घटनाओं के वर्णन अथवा ब्योरे मुख्य हैं जो निष्कर्ष तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। इसीलिए चरित्र के उदात्त रेखांकन अथवा रसमय प्रसंगों के वर्णन से न बँधकर कथा का विकास अनंत अलौकिक और चामत्कारिक घटना व्यूहों में से गुजरकर हुआ है।

बलदेव, वासुदेव एवम् प्रतिवासुदेव—कहीं नारायण, प्रतिनारायण आदि, संबंधी सांप्रदायिक धारणा के कारण पात्रों के नूतन संस्कार भी हुए हैं और कथा को नया रंग भी मिला है। लक्ष्मण, कृष्ण आदि को शोकाकुल दिखाने और नरक में डालने से जहाँ एक ओर सदाचार और अहिंसावाद की पुष्टि की गई है, वहाँ

निवृत्तिमार्ग की जीवन में अनिवार्यता भी सिद्ध की गई है। बलदेव (राम), वासुदेव (लक्ष्मण) के ठीक उल्टे चित्र हैं—उल्टे इस अर्थ में कि इन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति में सामंजस्य प्राप्त कर लिया है जिसकी परिणति पूर्ण निवृत्ति में होती है, जब कि वासुदेव प्रवृत्ति से उबर ही नहीं पाते हैं। इसलिए राम के चरित्र में आरंभ से ही जैनी महापुरुष के लक्षण प्रकट किए गए : राम अपने जीवन में एक भी वध-कार्य नहीं करते और अंत में शोक से परे होकर जैन-धर्म की दीक्षा भी ले लेते हैं। ध्यान देने की बात है कि हिंदुओं के विष्णुदेव—वासुदेव एवम् नारायण को, नरक में डालकर जहाँ हिंदुओं की भावना को ठेस पहुँचाई गई है, वहाँ ही राम को हिंदुओं की तरह वासुदेव या नारायण न मानकर, इस चरित्र की लोकप्रसिद्धि का पूरा-पूरा उपयोग इन्हें जैनी बनाकर किया गया है। इस रूप में राम आदर्श जैन महापुरुष के रूप में सामने लाए गए हैं।

रावण को वासुदेव के ही विकृत रूप प्रतिवासुदेव होने के कारण यहाँ इसे हिंदू-ग्रंथों की तरह पाप एवम् घृणा का प्रतीक नहीं बनाया गया है। न वह सचमुच में दशमुखोंवाला राक्षस है और न व्यभिचारी ही। उसका दशमुख नाम उसके पिता द्वारा रखा गया नाम है। वह नलकूबर की पत्नी तक का प्रेम-प्रस्ताव ठुकरा देता है। यहाँ तक कि उत्तर पुराण में भी वह मणिमती के साथ वैसा भ्रष्ट आचरण नहीं करता, जैसा हिंदू-पुराणों का रावण नलकूबर की पत्नी के साथ करता है; इतना ही नहीं अपहरण के समय और बाद में भी वह सीता का स्पर्श तक नहीं करता है। रावण के चरित्र को अधिक न गिरने देने के लिए ही संभवतः हनुमान् से इसकी मित्रता कराई गई है—वैसे वानर और राक्षस दोनो ही एक ही विद्याधरवंश के हैं।

सीता का रावणात्मजा होना, संभव है बलदेव की अर्द्धांगिनी को उन्हीं समकक्षीय-शक्ति-प्रतिवासुदेव, से उत्पन्न दिखाने का परिणाम हो। साथ ही यह भी संभव है कि लोक-प्रचलित किसी कथा को रखकर चमत्कार उत्पन्न करने अथवा सदाचार के अभाव में पुत्री तक को न पहचान सकनेवाले रावण के अबोध को प्रकट करने की दृष्टि से इस कथा का निर्माण हुआ हो।

जैन रामकथा में बहुपत्नीत्व सीमा पार कर चुका है। कन्याओं की प्राप्ति के लिए न जाने कितने युद्धों की योजना और नए-नए प्रसंगों की अवतारणा करनी पड़ी है। पर यह सारा विधान श्रृंगारिकता के प्रवाह के लिए नहीं, एक निश्चित उद्देश्य की संप्राप्ति के लिए हुआ है। जीवन में सुख-वैभव के लिए सबकुछ जुटाकर इनकी भूमि पर ही इन सबकी निःसारता और निवृत्ति की आवश्यकता दिखाई गई है। घोर प्रवृत्ति के बीच से शुद्ध निवृत्ति की प्राप्ति का यह बड़ा कठिन किंतु सुलझा मार्ग है।

हिंदू-पुराण—पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य में रामकथा को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया था, परंतु रामभक्ति की उत्पत्ति के पश्चात् इस कथा ने समूचे हिंदू-जीवन को आच्छादित-सा कर लिया। परवर्ती पुराणों में जैसे-जैसे रामकथा का प्रसार बढ़ता गया, वैसे-वैसे इसमें मूल कथा (रामायण) के निकट रहते हुए भी अनेक प्रसंग, विपुल आख्यान जुड़ते गए और विभिन्न संप्रदायों के रंग भी चढ़ते चले गए। समान कथा के रहते हुए भी उद्देश्य-वैभिन्य के अनुकूल संपूर्ण कलेवर में किस प्रकार परिवर्तन हो गए हैं, इसे नमूने के लिए अध्यात्म रामायण से जाना जा सकता है।

अध्यात्म रामायण—सांप्रदायिक रामायणों में अध्यात्म रामायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य उद्देश्य वेदांत दर्शन के आधार पर रामभक्ति का प्रतिपादन करना है। इस दृष्टि से मूल रामकथा से इसमें जो भी कथागत परिवर्तन हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) संपूर्ण कथा पार्वती-शंकर-संवाद के रूप में कही गई है। नारद ने ब्रह्मा से इस संवाद को सुना था, (२) राम और सीता, विष्णु और माया (परब्रह्म एवम् प्रकृति के) तथा भरत, लक्ष्मण एवम् शत्रुघ्न क्रमशः शंख, शेष और चक्र के अवतार हैं। ग्रंथ के अधिकांश पात्र इस रहस्य से अवगत हैं, (३) भागवत के कृष्ण की तरह राम भी माता को अपना दिव्य रूप दिखाते हैं और बाल-लीला करते हुए छींका आदि तोड़ते हैं, (४) भक्तवत्सल प्रभु के रूप में राम अहल्योद्धार करते हैं तथा केवट एवम् अरण्यवासी ऋषियों को दर्शन देते हैं, (५) प्रभु के नाम-माहात्म्य को जताने के लिए वाल्मीकि आत्म-कथा सुनाते हैं, (६) वास्तविक सीता का नहीं बल्कि मायामयी सीता का हरण होता है, (७) रावण प्रच्छन्न भक्त है और राम के वाणों से शरीर त्यागकर वैकुंठ जाने के संकल्प से सीता का हरण करता है, (८) लक्ष्मण वनवास-काल में १२ वर्ष तक उपवास करते हैं, (९) सेतु-बंध के पूर्व शिवलिंग की स्थापना की जाती है और (१०) अंत में रावण देह-त्याग कर वैकुंठ जाता है तथा भक्ति-राज्य स्थापित हो जाता है।

प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन—अध्यात्म रामायण का संपूर्ण ढाँचा तीन आयामों में बँधा है। ये आयाम हैं—भक्त, भक्ति और भगवान् के। अतः एक ओर राम के ईश्वरत्व को अधिकाधिक उभारने का प्रयत्न है तो दूसरी ओर भक्ति-भावना को अधिकाधिक पुष्ट करने का उत्साह भी है। इस दृष्टि से भगवान् के अलौकिक कार्यों, तीर्थ-व्रतादि के माहात्म्यों, पूजा-भजनों, सर्ग-प्रतिसर्ग के सृष्टि अथवा लय के तत्त्वों के निरूपणों, स्तवन-देवार्चनों आदि के वर्णनों से कथा भर गई है : चरित्र अथवा कथानक के रसात्मक विकास का अवसर ही नहीं रहा—यह अभीष्ट भी नहीं था। ऐसी स्थिति में कथा ने कैसा रूप ग्रहण कर लिया होगा, यह सहज ही अनुमेय है। इन सभी सांप्रदायिक तत्त्वों को खपाने और कथनों को प्रतीतात्मक बनाने के निमित्त ही संवादों

(शंकर-पार्वती आदि के संवादों) की योजना की गई है। इस प्रकार की संवाद-योजना पुराणों की शैली है।

भक्ति-भावना का इतना आधिक्य हो गया है कि रावण तक इससे नहीं बच पाया है। रावण का भी प्रच्छन्न भक्त के रूप में नया संस्कार हो उठा है। वास्तविक सीता का हरण तो भक्तों के लिए असह्य था, इसलिए माया सीता का आख्यान निर्मित हुआ। सांप्रदायिक राम-भक्ति को प्रतिपादित करनेवाले विष्णुपुराण, वायुपुराण, गरुड़ पुराण, प्रभृति सभी पुराणों एवम् अद्भुत रामायण, आनंद रामायण प्रभृति समस्त रामायणों में उपर्युक्त प्रवृत्ति का ही विकास दिखाई देता है; सब ने अपने-अपने उद्देश्यानुकूल निश्चित रूप-रंग उरेहा है।

महाकाव्य—महाकाव्य, उद्देश्य और विधागत वैशिष्ट्य दोनो दृष्टियों से पुराणों से पृथक् होता है; अतः इसमें पुराणों की कथा आती है, तब भी पर्याप्त अंतर हो जाता है। महाकाव्यों में ग्रहण की गई रामकथा के विषय में भी यह बात सत्य है। तुलसी-पूर्व राम आख्यानक संपूर्ण महाकाव्यों के रचना-वैशिष्ट्य का अंतर्भाव चार महाकाव्यों के अंतर्गत, मोटे तौर पर हो जाता है। ये हैं—'रामायण', 'रघुवंश', भट्टिकृत 'रावणवध' और 'जानकीहरण'। चूँकि रामायण को ही आधार बनाकर संपूर्ण अध्ययन किया जा रहा है अतः अलग से इसका अध्ययन करना ठीक नहीं जँचता है। शेष तीनो महाकाव्यों की कथाएँ रामायण-जैसी ही हैं, अंतर केवल नूतन प्रसंगों की उद्भावनाओं अथवा कहीं-कहीं कला की दृष्टि से मूल प्रसंगों के स्थानांतरणों और कृतित्व को कलामय आकार देने के ढंगों में है। अतः परिवर्तन-परिवर्द्धनों के साथ ही प्रवृत्ति-प्रयोजनों की चर्चा भी समीचीन है।

रघुवंश—रघुवंश में रामकथा का वर्णन सर्गों में हुआ है। कथा रामायण जैसी ही है। कथा में इतना अंतर अवश्य है कि यहाँ अहल्या सचमुच में शिला बन गई है, वाल्मीकि के रावण की तरह रघुवंश का रावण, ब्रह्मा को नहीं, शिव को मस्तक चढ़ाता है और काक जयंत का वृत्तांत भरत के चित्रकूट से चले जाने के बाद आता है।

कथा-साम्य होने पर भी रामायण एवम् रघुवंश की आत्मा बिल्कुल अलग हैं। रघुवंश में न वीरयुग (हीरोइक ऍज) के काव्यों—रामायण जैसी नैसर्गिक रुक्षता है और न जीवन की गरिमा : यहाँ सब कुछ सधा और कलात्मक रंगीनी में ढला हुआ है। एस. के. डे ने लिखा है कि दरबारी प्रभाव से शैली में केवल कृत्रिम मसृणता एवम् समृद्ध साज-सज्जा ही नहीं आती बल्कि हृदय को छू देनेवाले माध्यमों की जगह आँखों को लुभा लेनेवाले माध्यमों की अधिकता बढ़ती जाती है[1]। यही रघुवंश के संबंध में भी कहा जा सकता है।

१—डा० यस० यन० दासगुप्ता एवम् एस० के० डे, हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, भूमिका, पृ० ३८।

संपूर्ण रामकथा कालिदास के आनंदवादी दर्शन से सराबोर हो गई है। इससे राम के व्यक्तित्व पर कोई अन्यथा आँच नहीं आई है, फिर भी वाल्मीकि की रामकथा यहाँ कुछ और ही बन गई है—विशेष रमणीय और लुभावनी। इतिवृत्तों अथवा नीरस आख्यानों पर कवि-लेखनी आगे बढ़ जाती है और रसात्मक प्रसंगों पर विलम जाती है। राम के यौवन काल के शौर्यपूर्ण कार्य-कलाप, सीता से पुनर्मिलन के के समय भावावेश में राम के प्रेमी हृदय से निःसृत विगत काल के सुख-दुःखों के निश्छल वर्णन, ऐसे ही रमणीय प्रसंग हैं। इसी पीठिका पर सीता के करुण निर्वासन और राम के मूकरुदन में काव्य जी उठा है।

रावणवध—भट्टिकाव्य अथवा रावणवध की कथा बहुत कुछ रामायण जैसी ही है। इसमें रामायण के अंतिम कांड की कथा नहीं है। कथा में उल्लेखनीय अंतर ये हैं—(१) दशरथ शैव हैं, (२) पुत्रेष्टि यज्ञ में कोई देवता नहीं प्रकट होता, (३) लक्ष्मण सीता को शाप देते हैं, (४) राक्षसियों के संभोग का वर्णन हुआ है और (५) ब्रह्मा के स्थान पर शिव ने राम को उनके नारायणत्व का स्मरण दिलाया है।

यह काव्य भारवि एवम् माघ की परंपरा का काव्य है। कालिदास के बाद काव्य को प्रतिभा के चमत्कार का और काव्य-कर्म को कारीगरी का जिस प्रकार पर्याय बनाया जाने लगा था, यह काव्य उसी का सच्चा निदर्शन है। आद्यंत व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की वृत्ति होने के कारण समूची कथा और संपूर्ण काव्य का रूप ही बदल गया है।

कथानक अत्यंत शिथिल और निर्जीव है। प्रतिभा-प्रदर्शन और काव्य को ललित बनाने की प्रवृत्ति के कारण प्रासंगिक आख्यानों अथवा वर्णनों पर इतना बल दे दिया गया है कि वे मूल कथानक में बाहर से जोड़े गए प्रतीत होते हैं। बिना किसी संतुलन के व्याकरण आदि के नियमों के ऊहात्मक वर्णनों एवम् काम-परक प्रसंगों के चित्रणों के कारण कथानक समग्र और जीवंत रूप में नहीं बल्कि चित्र-विचित्र खंड-खंडों के रूप में ही उभर पाया है।

जानकी-हरण—पूरा ग्रंथ प्राप्त नहीं है। अंत का भाग ही उपलब्ध है। आधार रामायण का ही है। कथानक अत्यंत साधारण है। इस ग्रंथ की कथागत मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) पहले सर्ग में अयोध्या का चित्र छठें सर्ग में मिथिला के चित्र जैसा ही है, (२) तीसरे सर्ग में राजा दशरथ एवम् उनकी पत्नियों की जल-क्रीड़ा है, (३) सातवें सर्ग में सीता एवम् राम के पूर्वराग का और आठवें में सीता एवम् राम के ही संभोग-शृंगार का वर्णन है, (४) ग्यारहवें एवम् बारहवें सर्गों में उद्दीपन के लिए क्रमशः वर्षा एवम् पतझड़ के वर्णन हैं और सोलहवें सर्ग में युद्ध से पूर्व राक्षसों की केलि-लीलाओं के वर्णन हैं।

इससे स्पष्ट पता चल जाता है कि कवि की दृष्टि श्रृंगारिकता पर पूरी जमी हुई है और इसके लिए उसने अनेक अवसर निकाले हैं। एस. के. डे के मत से इस पर कुमारसंभव का प्रभाव पड़ा है[1]। लेकिन कुमारसंभव में श्रृंगार जीवन की सहज पद्धति पर है, यहाँ सांप्रदायिक पद्धति पर निर्मित है। कथानक शिथिल है। स्थान-स्थान पर नए प्रसंग आए हैं और असंबद्ध काव्यात्मक वर्णनों की अधिकता हो गई है।

नाटक—मूल रामकथा में सबसे अधिक परिवर्तन-परिवर्द्धन नाटकों में हुए हैं। नाटककार के विशिष्ट उद्देश्य और नाटक की विशिष्ट विधा दोनो ने ही मूल कथा को कथानक में ढलने से पूर्व कितने ही नए आकार-प्रकार प्रदान कर दिए हैं। इस प्रवृत्ति को परखने के लिए यहाँ दो नाटकों का अध्ययन किया जा रहा है। ये नाटक हैं—भास कृत 'प्रतिमा' और भवभूति कृत 'महावीर-चरित'।

प्रतिमा—रामायण के अयोध्याकांड की कथा, अरण्यकांड की सीता-हरण की कथा और युद्धकांड के अंतिम भाग की राज्याभिषेक की कथा से ही इस नाटक के कथानक का ताना-बाना बुना गया है। कथा की संक्षिप्ति इस प्रकार है—राम के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगती है, अभिषेक शुरू भी हो जाता है, तबतक मंथरा चुपके से दशरथ के कान में कैकेयी के वरदान माँगने—राम को वनवास और भरत को राज्य देने की बात कहती है। रंग में भंग पड़ जाता है। इसी बीच एक दासी रंगभूमि से एक वल्कल वस्त्र उठाकर भाग आती है और इसे सीता पहन लेती है। इस तरह की नाटकीय व्याजोक्ति के बाद राम, लक्ष्मण और सीता वन चले जाते हैं। जब भरत अयोध्या वापस आते हैं तब प्रतिमा-गृह में अपने पिता की प्रतिमा भी प्रस्थापित पाते हैं। शोक-विह्वल भरत माता की भर्त्सना करते हैं और स्वयम् राजा बनना अस्वीकार करके राम को लौटा लाने का प्रयत्न करते हैं। राम नहीं लौटते। भरत नंदिग्राम में बसकर राज्य-कार्य का संचालन करते हैं। ···दशरथ के श्राद्ध का दिन आता है। राम सर्वोत्तम रीति से श्राद्ध करने के लिए चिंतित हैं। वे फल-फूल से श्राद्ध कर्म करके पिता को यह आभास कराकर दुःखी नहीं करना चाहते कि वे लोग अभी वन में ही हैं। वे लक्ष्मण को ऋषियों से परामर्श के लिए भेजते हैं। इस बीच रावण 'मेधातिथि' विशेषज्ञ ब्राह्मण के वेश में उपस्थित होता है और 'कांचनपाश्वमृग' के तर्पण से पितृ-गणों को प्रसन्न होने की बात सुनाता है। ठीक इसी समय मारीच कंचनमृग के रूप में दिखाई देता है और राम इसे मारने के लिए पीछा करते हैं। सीता को अकेली पाकर अपने असल रूप में रावण सीता का हरण करता है।···किष्किंधा, सुंदर और युद्ध कांडों की कथाएँ नहीं आई हैं। रावण-विजय और रावण-वध सभी सूच्य हैं। अंत में राम का राज्याभिषेक हो जाता है।

१—वही, भूमिका, पृ० १८८।

महावीर चरित—इसमें रामायण के बालकांड से लेकर युद्धकांड तक की कथा है। कथानक मुख्य रूप से सीता स्वयंवर से लेकर रावण-वध तक की घटनाओं से बँधा है। कथा का रूप बहुत बदल गया है। कथा इस प्रकार है--सीता से विवाह करने का रावण का प्रस्ताव उसका दूत जनकपुर में जनक के सामने रखता है। लेकिन उस दूत की उपस्थिति में ही राम और सीता का विवाह संपन्न हो जाता है। विवाह से राम-रावण के संघर्ष का बीजारोपण होता है। परशुराम, सुग्रीव, बालि, विराध और खर-दूषण आदि रावण के सहायक और मित्र हैं। समय-समय पर इनका उपयोग किया जाता है। विवाहोपरांत राम को मिथिला में ही समाप्त कर देने की दृष्टि से वहाँ परशुराम को भेजा जाता है। राम के आगे परशुराम असफल हो जाते हैं। अतः दूसरी बार कूटनीति का सहारा लिया जाता है। शूर्पणखा अयोध्या में षड्यंत्र रचती है और राम, लक्ष्मण एवम् सीता को बनवास दिलाने में सफल हो जाती है। रावण के मित्र एवम् मित्र राष्ट्र राम को वनवास-काल में समाप्त करने का पूरा प्रयत्न करते हैं, लेकिन महावीर राम के आगे सभी असफल सिद्ध होते हैं। अंत में छल द्वारा सीता का हरण किया जाता है। राम के मित्र राज्य (गृद्ध) द्वारा सीता की रक्षा का प्रयत्न होता है और राम को सूचना भी दे दी जाती है। इस बीच बालि एवम् सुग्रीव में अनबन हो जाती है। शबरी राम से सुग्रीव की मित्रता स्थापित करने का प्रयास करती है। मैत्री प्रस्ताव लेकर वह राम के यहाँ जा ही रही थी कि बीच में रावण के मित्र विराध को पता चल जाता है और वह इसका हरण करता है, पर राम की सतर्कता से विराध सफल नहीं हो पाता और मारा जाता है। सुग्रीव से राम का मैत्री संबंध स्थापित हो जाता है और रावण के मित्र बालि का वध होता है। अंत में रावण के समस्त मित्र-राज्यों को समाप्त कर राम रावण का वध करने में सफल हो जाते हैं।

प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन—नाटकों पर युग का प्रभाव पुराणों अथवा महाकाव्यों से अधिक पड़ता है। इनका सीधा संबंध जनता से होता है। युग-प्रभाव की स्पष्ट झलक रामकथा संबंधी नाटकों में मिलती है। संपूर्ण युग जिस रूप में राजाओं की राजनीति—उनके षड्यंत्र, छल-कपट, युद्ध और कूटनीति से आक्रांत हो रहा था और साथ ही स्मृतियों आदि द्वारा प्रतिस्थापित पारिवारिक एवम् सामाजिक आदर्शों की जो साँस युग ले रहा था, उसकी बहुत साफ अनुगूँज इन नाटकों में मिलती है। महावीर-चरित का समूचा कथानक ही जहाँ राजनीतिक दाव-पेंच में फँसा है वहाँ प्रतिमा का कथानक पितृ-प्रेम, भातृ-प्रेम और उच्च कर्तव्यपरायणता की भावना से ओत-प्रोत है। प्रतिमा के संबंध में परांजपे ने इसी तरह की बात कही है।[१] अनर्घराघव, उदात्तराघव में भी कुछ हद तक यही बात है। यहाँ तक कि प्रतिमा अथवा महावीर-

---

१—प्रतिमानाटकम्—सं० एस०एम० परांजपे, भूमिका, पृ० ३७ (१९३० ई०)

चरित प्रभृति राम को नर रूप में ही ग्रहण करनेवाले नाटकों के अलावा राम को विष्णु या भगवान् मानकर चलनेवाले नाटकों में भी युग की राजनीति पूरा छूट नहीं सकी है। हनुमन्नाटक, अभिषेक नाटक इसके प्रमाण हैं।

भारतीय नाटक रसवादी दृष्टि से प्रणीत हो रहे थे। रस-निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण आवश्यक आधार है और इस आधार की दृढ़ स्थापना निश्चित आदर्श अथवा जन-जीवन द्वारा गृहीत आदर्श जीवन-पद्धति से ही संभव होती है। एतदर्थ नाटकों में साधारणीकरण के निमित्त आदर्शवाद की इतनी प्रबल लहर लहराई कि मूल रामकथा के अनेक प्रसंगों में न्यायोचितता का रंग तो भरा ही गया, साथ ही मुख्य पात्रों—अथवा नायकों के चरित्रों पर भी भरपूर कांति चढ़ा दी गई। इसीलिए प्रतिमा, महावीर-चरित आदि में कैकेयी निर्दोष दिखाई गई है, राम के कनकमृग के पीछे भागनेवाली उनकी अबोधता प्रतिमा में नए ढंग से विश्वसनीय बनाई गई है और बालि-वध एवम् रावण-वध के महावीर-चरित, हनुमन्नाटक, प्रतिमा आदि में औचित्यपूर्ण कारण प्रस्तुत किए गए हैं। नायकों को जितना ही आदर्शमय बनाया गया, प्रतिनायकों को उतना ही तुच्छ, अशक्त और कापुरुष चित्रित किया गया है। महावीर-चरित के राम जितने ही वीर, धीर, उदार और योग्य स्वामी हैं—वीर पुरुष होने के नाते वे रावण एवम् परशुराम तक की प्रशंसा करते हैं, ताडका (स्त्री) के ऊपर अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाते हैं; धीर पुरुष की तरह परशुराम के भीषण क्रोध को ही नहीं वनवास के समाचार को भी शांत भाव से सह लेते हैं और शवरी एवम् सुग्रीव आदि को पूर्ण आश्रय देते हैं——प्रतिनायक रावण उतना ही दंभी, कपटी और अयोग्य है। नाटक के षष्ठ अंक में माल्यवान की चिंता का सबसे बड़ा कारण रावण की अयोग्यता ही है। यही प्रवृत्ति हनुमन्नाटक, उदात्तराघव, अनर्घराघव आदि में भी मिलती है।

युग-विश्वासों के अनुरूप कथानक में कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने की पूरी चेष्टा की गई है। इसलिए कथानक में बहुत-सी कथानक रूढ़ियाँ (मोटिफ) और कार्यौचित्य सिद्ध करनेवाली बहुत-सी प्रणालियाँ अपना ली गई हैं। कथानक रूढ़ियों में सबसे प्रमुख रूढ़ि है पात्रों का वेष बदलना। प्रतिमा, उत्तररामचरित, बाल-रामायण आदि सभी में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं: उदात्तराघव में तो इसका अतिरेक-सा हो गया है। कार्यौचित्य सिद्ध करनेवाली प्रणालियों में सबसे मुख्य प्रणाली है प्रतिनायक अथवा उसके सहायक, दूत अथवा मित्रों की प्रारंभ से—सीता स्वयंवर से ही यत्र-तत्र-सर्वत्र उपस्थिति—जैसे इनका जाल-सा बिछा हो। महावीर-चरित, हनुमन्नाटक, बालरामायण, अनर्घराघव आदि इसके प्रमाण हैं। इन प्रवृत्तियों के और विशेष रूप से अन्य पात्रों के रूप ग्रहण करानेवाली कथानक रूढ़ियों के कारण कभी-कभी अद्भुत रस का प्रवेश भी होने लगा है। उदात्तराघव आदि में तो इसकी पूरी प्रबलता है।

भारतीय जीवन के आनंदवादी दृष्टिकोण के कारण नाटक सुखांत ही होते रहे। रामकथा से संबंध न रखनेवाले 'उरुभंग' आदि अपवाद ही हैं। इस प्रवृत्ति के कारण १०वीं शताब्दी से पूर्व रामकथा संबंधी संभवतः दो नाटकों—उत्तररामचरित और कुंद-माला को छोड़कर अन्यत्र रामायण के उत्तरकांड (सीता-निर्वासन) की कथा नहीं आई है।

निष्कर्ष—मूल रामकथा में परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रवृत्ति की परीक्षा करने पर जो तथ्य सामने आए हैं, उन्हें संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है--

(१) मूल रामकथा (रामायण) की आधिकारिक कथावस्तु में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं। कनकमृग की कथा एवम् लंका-दहन, अग्नि-परीक्षा आदि की पद्धतियों में थोड़ा अंतर अवश्य आ गया है और आगे चलकर धार्मिक भावना की प्रबलता के कारण वास्तविक सीता का हरण न कराकर माया सीता का ही अपहरण कराया जाने लगा है, लेकिन इन कतिपय परिवर्तनों के अतिरिक्त आधिकारिक कथावस्तु में अन्य अधिक परिवर्तन नहीं हुए हैं। हाँ, बालकांड एवम् उत्तरकांड की सामग्री में पर्याप्त हेर-फेर और विकास हुआ है। स्वयम् वाल्मीकि रामायण के तीनो पाठों के इन कांडों की सामग्रियों में एकरूपता नहीं है।

(२) मूल आधिकारिक कथा-वस्तु में भी जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें विभिन्न उद्देश्यों एवम् प्रयोजनों के अंतर्गत अलौकिक घटनाओं के विनियोग, अद्भुत और शृंगार रस के आयोजन और हर क्षेत्र में जीवन की कृत्रिमता के ग्रहण की प्रवृत्ति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कनक-मृग का वृत्तांत, हनुमान् का लंकादेवी से युद्ध, लंका-दहन, सीता की अग्नि-परीक्षा, राम के जन्म के अवसर पर अलौकिक घटनाएँ, लक्ष्मण का बारह वर्ष तक का उपवास एवम् जागरण, रावण के मर्मस्थान की कल्पना, पात्रों द्वारा अन्य पात्रों के रूप-ग्रहण आदि परिवर्तनों में उपर्युक्त प्रवृत्तियों की स्पष्ट झलक मिलती है।

(३) कथावस्तु के अंतर्गत विभिन्न कार्यों एवम् घटनाओं में कार्यकारण संबंध ढूँढ़ने का प्रयत्न भी कथा-विकास का मुख्य साधन रहा है, जैसे कैकेयी को दो वरदान क्यों और कैसे मिले, इनके कारणों के खोज की अनेक कल्पनाएँ की गईं। कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने अथवा विभिन्न कार्यों के कारण-निर्देश करने की प्रवृत्ति मुख्यतः तीन तरह की सामग्रियों में अधिक प्रकाशित हुई हैं—(१) पात्रों के पूर्व जन्म की कथा-संबंधी सामग्री, (२) वरदानों एवम् शापों के विषय में विविध वृत्तांत प्रस्तुत करनेवाली सामग्री और (३) पात्रों के नामों के आधार पर उनकी जन्म-कथाएँ निर्मित करनेवाली सामग्री। जैसे सीता के कारण रावण की मृत्यु की घटना को लेकर जैनग्रंथ 'उत्तरपुराण' में मणिमती की तथा अन्यत्र बहुत ग्रंथों में वेदवती की कथाएँ गढ़ ली गई हैं। वेदवती की पूर्वजन्म की कथाओं में भी एकरूपता नहीं है—

रामायण के उत्तरकांड में इसका दूसरा रूप है तो श्रीमद्देवीभागवत पुराण एवम् ब्रह्म-वैवर्त पुराण में तीसरा, 'पउमचरिउ' एवम् उड़िया रामायण 'विचित्र रामायण' में तो इन सबसे अलग रूप ही गढ़ा गया है। ठीक इसी प्रकार राम के अवतार के कारणों को स्पष्ट करने के लिए विविध वरदानों एवम् शापों की अनगिन कल्पनाएँ की गई हैं। सीता-निर्वासन के भी भृगु-शाप, शुकी-शाप प्रभृति अनेक कारण मान लिए गए हैं।

(४) पात्रों के नामों के आधार पर भी तरह-तरह के वृत्तांत निर्मित होते रहे हैं। इस प्रकार कथा नाम का कारण न होकर नाम ही कथा का कारण बन गया है यथा, सीता शब्द के कई अर्थ लगाए गए, जैसे लांगलपद्धति, सीताफल आदि। पहले अर्थ के आधार पर भूमिजा सीता की कल्पना की गई तो दूसरे के आधार पर दक्षिण भारत की एक कथा में लक्ष्मी के सीताफल से प्रकट होने और तदनंतर रावण के अत्याचार से स्वयम् अग्नि में राख होकर पुनः सीता के रूप में उत्पन्न होने की कल्पना की गई है। अवतारवादी भावना के अनुसार लक्ष्मी ही सीता के रूप में अवतरित होती हैं और लक्ष्मी चूँकि पद्मा हैं, अतः इस आधार पर 'पद्मजा सीता' की कल्पना कर ली गई। इसी प्रकार 'रावणात्मजा', दशरथात्मजा आदि संबंधी अनेक आख्यानों की सृष्टि हुई है। इस तरह की प्रवृत्ति और भी अन्य पात्रों से संबद्ध आख्यानों के गढ़ने में देखी जा सकती है—रावण, राम, कुशीलव, वायुपुत्र हनुमान् आदि से संबद्ध बहुत से आख्यान इनके नामों के अर्थों एवम् पर्यायों पर आधारित हैं।

(५) अवतारवाद की भावना के कारण भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। अवतारी पुरुष के रूप में राम के मान्य हो जाने पर, विभिन्न धर्मों एवम् संप्रदायों में इस चरित्र को नवीन भूमि पर प्रस्तुत किया गया। इससे केवल राम के चरित्र में ही नवीनता नहीं आई अपितु कथा एवम् कथानक में भी पर्याप्त हेर-फेर कर दिए गए। जैनों एवम् बौद्धों ने अपनी निवृत्ति-मूलक साधना को जमाने के लिए राम के चरित्र एवम् इनकी कथा में जो भी परिवर्तन किए, उन्हें ऊपर दिखाया जा चुका है। हिंदुओं में भी वैष्णवों, शैवों और शाक्तों ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि से ग्रहण किया। वैष्णव ग्रंथों में राम सर्वोपरि देव के रूप में अनेक लीलाओं के द्वारा भक्त-मनोरंजन करते हैं तो शैव-ग्रंथों के राम शिव के कृपाकांक्षी बनकर स्थान-स्थान पर शिव की पूजा अथवा शिवलिंग की स्थापना ही नहीं करते बल्कि शक्ति के अर्जन के लिए शिव का वरदान भी प्राप्त करते रहते हैं, शाक्त-ग्रंथों के राम भी पीछे नहीं रहते और कालिकापुराण में तो शक्ति को प्रसन्न करने के लिए सहस्र कमल दलों का अर्पण करते समय अंत में एक कमल-दल की कमी होने पर स्वयम् अपनी आँख (राजीव-नयन) तक निकालने के लिए तैयार हो जाते हैं। कहना नहीं होगा कि इन प्रवृत्तियों ने कथा को कितना प्रभावित किया होगा।

(६) एक प्रकार से रामकथा पर अवतारवाद का जितना प्रभाव पड़ा, उस कहीं अधिक बाद की सांप्रदायिक भक्ति-भावना का पड़ा है। भक्तों के संसार रावण सीता का अपहरण इसलिए नहीं करता कि वह व्यभिचारी अथवा कामुक है बल्कि इसलिए करता है कि वह भगवान् का प्रच्छन्न भक्त है और विरोध भाव उपासना के द्वारा उनके वाणों से प्राण त्याग कर मुक्त होना चाहता है। अपहर भी सीता का नहीं माया सीता का होता है। भक्तों के लिए ही राम नर-रूप अवतरित होते हैं और वन जाते हैं—अरण्यकांड की समूची कथा इसी दृष्टि रची गई है।

(७) जीवन में बढ़ती श्रृंगारिकता को कृष्ण-साहित्य का बड़ा सहारा मिला आगे चलकर श्रृंगारिक कृष्ण-साहित्य का राम-साहित्य पर भी काफी प्रभाव पड़ा आरंभ में तो सेतुबंध, भट्टिकाव्य (रावणवध) आदि में राक्षसों की काम-क्रीड़ाओं ही वर्णन किए गए किंतु बाद में हनुमन्नाटक, जानकी-हरण आदि में राम और सी के संभोग के भी विस्तृत वर्णन होने लगे--इसके लिए कथा में अन्यान्य प्रसंगों अवतारणाएँ भी नियोजित की जाने लगीं। जिन भक्तों ने पर्याप्त संयम रखा उन से भी अधिक लोगों ने सीता के पूर्वानुराग की तरह-तरह की कल्पनाएँ करलीं।

(८) रामकथा संबंधी ग्रंथों की विशिष्ट विधाओं ने भी कथा की रूप-रचना पर्याप्त प्रभावित किया है। प्रयोजन के अनुरूप जहाँ पुराणों में कथा के भीतर कथा और उसके भीतर उपकथाएँ जोड़ते जाने की पूरी छूट रही है वहाँ महाकाव्यों भावात्मक स्थलों एवम् परिस्थतियों की उद्भावनाएँ करते जाने और नाटकों में रंगमंच आग्रहों से प्रसंगों में उलट-पलट अथवा स्थानांतरण करते रहने की पूरी गुंजायश र है। अतः कथा की रूप-रचना भी अनेक आकार ग्रहण करती गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि विविध प्रयोजनों एवम् प्रवृत्तियों के अंतर्गत विवि विधाओं में ढलती हुई रामकथा मूल कथा से बिल्कुल अलग न हटकर भी बहु अधिक विकसित हो गई है: इसे विपर्यास नहीं विकास ही कहना उपयुक्त है।

डा० मोहनराम यादव

रामलीला की व्यापकता और महत्ता

[काशिराज के दरबारी कवि ईश्वर ने 'मानस-दीपिका' की भूमिका में मानस-तिलक के ये तीन प्रकार बतलाए हैं—

पहलो तिलक रामलीला बर। जिहि लखि परत न तिमिर कूप नर ॥
छंद अमंद चारु चौपाई, जाको जहाँ अर्थ है जैसे, लीला ललित लखावति तैसे ॥
दूजो तिलक सकल मन भायो। रामायन सहचित्र लिखायो ॥
मूर्तिमंत जनु अर्थ बिराजै। जिहिं लखि अर्थ कथन लजि भाजै ॥
यद्यपि तिलक दिव्य ये दोऊ। अति प्रसन्न इन तें सब कोऊ ॥
तदपि सकल पुर नगर निवासी। जे हैं रामायन अभ्यासी ॥
तिन्हैं न सुलभ सुलभ हू जिनको। सोउ न सदा न सब थल तिनको ॥
तातें सुलभ सदा अरु सब थल। तीजो तिलक बरनमय अति भल ॥

—पृ०३, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सं० १९३० वै०।

उपर्युक्त उद्धरण से रामलीला की सब में श्रेष्ठता एवम् अन्य की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। सुनी-पढ़ी बातों से प्रत्यक्ष देखी बात अधिक विश्वसनीय एवम् प्रभावशाली होती है। साहित्य की काव्य-प्रणालियों में नाटक इसीलिए श्रेष्ठ माना गया है। अभिनीत होने पर दर्शकों में रस की स्थायी निष्पत्ति करने में नाटक सर्वाधिक सफल होता है। रामलीला एक प्रकार का नाटक ही तो है। इसका प्रचार, प्रसार एवम् इसकी मान्यता विदेशों में भी है। इसका संक्षेप में परिचय देते हुए प्रस्तुत लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि 'रामलीला में भारतीय संस्कृति की समग्रता, उदारता, मौलिकता, श्रेष्ठता तथा महत्ता के सम्यक् दर्शन होते हैं। यह समाज को नैतिकता, न्याय, औचित्य, सत्य तथा मर्यादापालन की प्रेरणा देती है।']

भारतीय नाट्य-परंपरा के प्रारंभ से ही इंद्रध्वज-महोत्सव में देवचरित का अभिनय होता रहा है। इस अभिनय का संबंध देवासुर-संग्राम से है। इंद्रध्वज-महोत्सव आश्विन मास में होता है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि राम के अवतार-रूप धारण करने पर रामलीला भी इन्द्रध्वज महोत्सव से संबद्ध हो गई। कालांतर में राम का प्रभाव बढ़ने पर रामलीला का प्रदर्शन मुख्य रूप से सारे देश में व्याप्त हो गया।

१—डा० वी०पी० काणे: हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, खंड २, भाग २, पृ० ८२५-८२७ तथा जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०९ का पाँचवाँ अंक।

रामलीला में भी सद् एवम् असद् पक्षों का संघर्ष है जो देवासुर-संग्राम के अनुरूप पड़ता है।

अतः रामलीला की प्रधानता स्थापित होने में अनायास ही सुगमता प्राप्त हो गई होगी। विदेशों की रामलीलाएँ भी आश्विन मास में होती हैं। बाली में प्रदर्शन के पूर्व 'जर्जर' के रूप में वृक्षारोपण होता है। वहाँ की रामलीलाएँ पितृपक्ष में होती हैं। भारत में भी पितृपक्ष आश्विन मास में ही पड़ता है।

उक्त तथ्यों के आधार पर रामलीला की प्राचीनता स्वयम् सिद्ध हो जाती है। भारतीय संस्कृति की भाँति यह भी विश्वव्यापिनी रही है।

रामलीला के आद्याचार्य वाल्मीकि ऋषि थे। उन्होंने ही इसे जन-जीवन में प्रविष्ट किया था। कालांतर में समाज के विभिन्न रूपों के साथ-साथ इसके भी अनेक रूप हो गए। जिस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक सारा देश राम की क्रीड़ा-भूमि रहा है, उसी प्रकार रामलीला भी देश के कोने-कोने में हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक व्याप्त है। दक्षिण में इसका गठ-बंधन आराधना-मंदिरों से हो गया। इस कारण कहीं-कहीं तो उनके बाहर इसके प्रदर्शन का साहस भी नहीं हुआ। रामलीला के भक्तिपरक धार्मिक रूप में गोस्वामी तुलसीदास ने अन्य तत्त्वों का भी समावेश किया। उन्होंने रामलीला के माध्यम से रामराज्य की कल्पना साकार की। इससे जनता में राजनीतिक चेतना जागी। उन्होंने संकटपूर्ण मुसलमानी शासन में राजनीतिक प्रचार का ऐसा विचित्र मार्ग ढूँढ़ निकाला जिसका अवरोध शासन की शक्ति के परे था। उन्होंने रामलीला के ब्याज से शासन की क्रूरता तथा स्वेच्छाचारिता के प्रति घृणा उत्पन्न की, दुर्बल राष्ट्र को राम की अद्भुत शक्ति का परिचय दिया और हनुमान् द्वारा लंका-दहन का रूप दिखलाकर अत्याचार तथा अनाचार की लंका को ढहाने की क्रियात्मक प्रेरणा दी।

मराठों के उत्कर्ष में गोस्वामीजी की रामलीला से अवश्य सहायता मिली। तुलसीदास की हनुमत्पूजा दक्षिण में समर्थ रामदास के मारुति-मंदिरों में पहुँच गई। मारुति-मंदिरों ने गोस्वामी जी की कथा-वार्ता, अखाड़े आदि की सभी योजनाएँ ग्रहण कर लीं। कहना न होगा कि गोस्वामीजी के आदर्शों पर चलनेवाले वे ही मारुति-मंदिर महाराज छत्रपति शिवाजी के प्रेरणामय आधार-स्तंभ थे। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने राष्ट्र के नवोत्थान में अपूर्व योग दिया।

उत्तरी भारत में केवल बंगाल, असम तथा उड़ीसा को छोड़कर शेष सभी स्थानों में रामचरितमानस के आधार पर रामलीलाओं का प्रदर्शन होता है। उनके संवाद भी मूलतः रामचरितमानस पर ही आधृत होते हैं। उनमें यदा कदा अन्य कवियों द्वारा रचित पद्यबद्ध संवाद भी प्रविष्ट हो जाते हैं, किंतु उनका विशेष महत्त्व नहीं है।

रामलीला के माध्यम से 'मानस' का प्रचार अहिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में भी हुआ। इससे हिंदी के प्रसार को बल मिला। हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने में मानस का यह अप्रत्यक्ष सहयोग सदा वंदनीय रहेगा।

गोस्वामीजी श्रेष्ठता की कसौटी गुण धर्म तथा स्वभाव को मानते थे। उत्तम कुल में उत्पन्न होकर रावण अपने गुण, कर्म एवम् स्वभाव के कारण ही राक्षस हो गया। वैसे ही निषाद हीनकुल में जन्म लेकर भी सद्गुणों तथा सत्कर्मों के कारण भगवान् के निकट पहुँच गया।

तत्कालीन समस्याओं के समाधान के लिए उन्होंने कथा-वार्ता, कीर्तन-भजन, सत्संग, रामलीला आदि द्वारा समाज का संघटन प्रारंभ किया। इनमें रामलीला सर्वश्रेष्ठ निकली। रामलीला की लोकप्रियता इतनी बढ़ी की अन्य संप्रदाय वाले तथा उनके धर्माचार्य भी उसमें संमिलित होने लगे। पुष्टमार्गीय गोपाल-मंदिर के महाराज आज भी काशी की प्राचीनतम चित्रकूट-रामलीला में पधारते हैं। अतः तुलसी की रामलीला ने सभी संप्रदायों को एक सूत्र में आबद्ध कर अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

महाराष्ट्र के अतिरिक्त समस्त दक्षिणी भारत में रामलीला धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूप में प्रायः नाट्य-नृत्य के माध्यम से होती है। वहाँ से यह विदेशों में भी पहुँच गई। बृहत्तर भारत के सभी देशों ने रामलीला की वे सभी प्रणालियाँ ग्रहण कर लीं जो दक्षिण भारत में प्रचलित थीं। उन्होंने नाट्य-नृत्य के साथ चर्म-पुत्तलिका नृत्य तथा छाया-नाट्य भी ग्रहण किए। उन स्थानों में भी रामलीला भारतीय संस्कृति में दूध-पानी की भाँति घुल मिल गई है। वह संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई है। बाली द्वीप के निवासी मुसलमान और ईसाई भी रामलीला के दर्शन एवम् प्रदर्शन दोनो में गौरव का अनुभव करते हैं। पूर्वेशिया के अन्य देशों में सामूहिक धर्म-परिवर्तन हो जाने के पश्चात् भी रामलीला के प्रति अगाध श्रद्धा तथा भक्ति की भावना आज भी विद्यमान है। श्याम की राजधानी बैंकाक में इस समय भी ऐसी नाट्य-शालाएँ विद्यमान हैं जिनमें रामलीला वर्ष भर निरंतर आयोजित होती रहती है। साथ ही उनमें दर्शकों की यथेष्ट भीड़ होती है।

सहस्रों वर्षों से अमेरिका में बसे भारतीयों को रामलीला का अभिनय आज भी अध्यात्मिक शांति प्रदान करता है। देश काल तथा परिस्थिति के कारण उनके जीवन में अनेक परिवर्तन हुए किंतु वे रामलीला की परंपरा अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

रामलीला के इतने लोकप्रिय होने का कारण रामचरित्र की विशेषता तथा उज्ज्वलता ही है। मनोरंजन के अन्य साधनों की अपेक्षा रामलीला में अनेक विशेषताएँ हैं। आधुनिक चल-चित्रों की अभद्र प्रवृत्तियों, नग्न शृंगारिकता तथा कुरीतियों के विरोधियों को सिनेमा से घृणा है, उन्हें थिएटरों में व्याप्त विदेशी परंपरा

तथा शैली से भी अरुचि है। नाटकों की लौकिकता उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाती। अतः ऐसे सम्भ्रांत पुरुषों के लिए रामलीला ही मनोरंजन का एकमात्र साधन है, जहाँ उन्हें पूर्ण आत्म-संतुष्टि का अनुभव होता है।

अन्य प्रदर्शन जहाँ भौतिकवादी हैं, रामलीला वहाँ आदर्शवादी। अतः आत्म-तुष्टि का जैसा संयोग रामलीला में होता है वैसा अन्यत्र नहीं। रामलीला भक्ति तथा मनोरंजन से ओतप्रोत है। रामलीला के प्राचीन गद्यबद्ध संवाद सर्वसाधारण के बौद्धिक स्तर के विचार से भाषा संबंधी दुरूहता से दूर हैं। यदि रामलीला में भाषा चमत्कार का समावेश कर दिया गया तो सर्वसामान्य भक्तों के बीच वह विशेष लोक-प्रिय न रह जायगी। रामनगर की रामलीला के संवादों की भाषा को विशुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली का रूप देने का प्रयत्न हुआ, संवाद छपवा भी लिए गए, पर धर्म-प्राण जनता ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। वर्तमान तत्रभवान् महाराज काशीनरेश ने संवादों का प्राचीन स्वरूप स्थिर रखकर भक्तों का संकट दूर किया। इससे स्पष्ट है कि भक्ति की दृष्टि से रामलीला में किसी प्रकार का परिवर्तन उचित नहीं माना जाता। रामनगर के भक्तजन रामलीला को 'रामचरितमानस' की टीका या व्याख्या मानते हैं। 'मानस-दीपिका' की भूमिका में इसका स्पष्ट उल्लेख है। रामलीला के द्वारा 'मानस' के कठिन स्थलों की सरल व्याख्या हो जाती है। 'मानस' जैसे साहित्यिक तथा गूढ़ ग्रंथ के प्रति जन साधारण के हृदय में औत्सुक्य उत्पन्न करने का प्रमुख श्रेय रामलीला को ही प्राप्त है।

रामलीला में भारतीय संस्कृति की समग्रता, उदारता, मौलिकता, श्रेष्ठता तथा महत्ता के सम्यक् दर्शन होते हैं। यह समाज को नैतिकता, न्याय, औचित्य, सत्य तथा मर्यादापालन की प्रेरणा देती है। अतः प्रत्येक भारतीय का ही नहीं अपितु मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह तन मन धन से इस सांस्कृतिक एवम् धार्मिक आयोजन में सहयोग प्रदान करके जन-मानस के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

श्रीमनोहर शर्मा

राजस्थानी लोकजीवन में तुलसी-महिमा

[मानव की सहज वृत्ति है कि वह अंतरंग में उठे भावों, उसमें चिरसंचित अनुभूतियों, ज्ञान और उपार्जित सामग्री को प्रकाशित करके आत्मतोष का अनुभव करता है। गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों में स्वरचित रचना को अंतर्भुक्त कर बहुतों ने आत्मतुष्टि प्राप्त की। इस वृत्ति को भले ही लोकहित की भावना से परिपुष्ट धार्मिक वृत्ति कह लिया जाय, किंतु ऐसी उपबृंहण-वृत्ति की नैतिकता सर्वमान्य नहीं हो सकती। प्रस्तुत लेख में आए उद्धरण गोस्वामीजी की किसी कृति के प्रक्षिप्त अंश नहीं हैं। उनका अस्तित्व पृथक् है। इसलिए उनकी रचना का प्रयोजन अन्य प्रक्षेपकारों से भिन्न है। फिर भी उन्हें गोस्वामीजी को श्रद्धापूर्वक अर्पित की गई भेंट स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति हो सकती है। यह संभावना की जा सकती है कि कहीं ये तुलसीदास नामधारी अन्य कवि द्वारा प्रणीत रचनाएँ न हों ? उत्तर भारत में प्रचलित लोकगीतों में हिंदी के चार प्रमुख भक्त कवियों के नाम की छाप का उपयोग बहुत मिलता है। कृष्ण-परक पद्यों में 'सूरदास प्रभु' तथा 'मीरा के प्रभु गिरधरनागर' और राम-परक पद्यों में 'कहै कबीर सुनो भाइ संतो' तथा 'तुलसीदास' यथा रुचि जोड़ लिया गया है। परिणामस्वरूप मूल रचनाओं की उपलब्धि श्रमसाध्य हो गई है।

इस लेख से शोध के क्षेत्र में एक नवीन तथ्य सामने आया है और चिंतन की नई धारा उद्भावित हुई है। प्रस्तुत लेख का उपसंहार इस प्रकार हुआ है—

'विद्वान् विवेचकों की दृष्टि में इन पद-धाराओं का पृथक् रूप स्पष्ट है, परंतु जनसाधारण के लिए तो यह सब तुलसी-साहित्य ही है क्योंकि यहाँ तो गंगा में आकर मिलनेवाली प्रत्येक जलधारा गंगा बनकर लोकपूजित होती है।']

महाकवि तुलसीदासजी का वचन है—

> तेरे बेसाहें बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचनहारे।[1]

(हे राम, अन्य लोग तो खरीद कर बेचनेवाले मात्र हैं परंतु तुम्हारे द्वारा खरीद किए हुए व्यक्ति दूसरों को स्वयम् खरीद लेते हैं।)

१—कवितावली, उत्तर० १२।

यह उक्ति प्रकट करते समय महाकवि को ऐसा ध्यान कभी नहीं रहा होगा कि जो कुछ उन्होंने भगवान् श्रीरामचंद्रजी के लिए कहा है, वही कथन कालांतर में स्वयम् उनके संबंध में भी चरितार्थ होगा। यदि भगवान् श्रीराम तथा उनके भक्त हनुमान् आदि के अगणित भक्त संसार में हैं तो तुलसीदासजी के भक्त भी कुछ कम नहीं हैं। तुलसीदासजी की महिमा का गौरव अनुभव करके अनेक ऐसे कवियों ने पद-रचना की है, जिनका नाम कोई नहीं जानता पर उनके पद जनसाधारण में बड़े चाव के साथ गाए जाते हैं। विशेषता यह है कि इन तुलसी-भक्तों ने जान-बूझकर अपने नाम अप्रकट रखे हैं और अपनी श्रद्धा के पुष्पों को महाकवि की भेंट चढ़ाकर सुख माना है। इन्होंने अपने पदों के अंत में 'तुलसीदास' के नाम की छाप लगा दी है और अपनी वाणी को तुलसी-वाणी का रूप देकर सार्थक बनाने का सरल प्रयास किया है।

इस प्रकार तुलसीदासजी को भेंट में मिले हुए पदों की संख्या काफी बड़ी है। यह विषय उनकी प्रामाणिकता के विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि स्पष्ट ही ये पद अन्य कवियों के बनाए हुए हैं। परंतु इनकी असाधारण लोकप्रियता अवश्य ही ध्यातव्य है। ये पद प्रायः लोकमुख पर अवस्थित हैं और जन-जीवन में रमे हुए हैं। ऐसी स्थिति में लोकहृदय में भक्तिरस प्रवाहित करने में इनकी उपयोगिता निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है। साधारण जनता में इनको तुलसीदासजी की रचना के रूप में ही गाया जाता है और वहाँ इस प्रकार की छानबीन कभी नहीं की जाती कि ये पद महाकवि द्वारा विरचित हैं या नहीं। यह विषय भक्ति का है, विवेचन का नहीं। स्मरण रहे कि ऐसे पद रामचरित्र से संबंधित ही होते हैं। लोकमानस ने रामचरित्र और तुलसीदास को एकाकार मान रखा है, अतः रामकथा विषयक किसी भी पद के अंत में यदि तुलसीदास का नाम सुनाई पड़े तो वहाँ तर्क करने की आवश्यकता ही कौन अनुभव करेगा ?

इस प्रकार के पदों में अनेक बड़े ही सरस एवम् मधुर हैं। उनके माधुर्य ने लोकहृदय पर अधिकार कर रखा है। यह सब तुलसीदास के नाम की महिमा का प्रकाशन है। राजस्थान में तो ऐसे पद बहुत ही अधिक प्रचलित हैं। उन्हें भक्तजन बड़े चाव से गाते हैं। यदि चेष्टापूर्वक संग्रह किया जाय तो महाकवि तुलसीदास को भेंट में मिली हुई एक नई 'गीतावली' प्रकाशित हो सकती है। शायद ही रामचरित्र का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रसंग हो, जिससे संबंधित राजस्थानी पद लोक प्रचलित न मिलें। ये पद अधिकतर राजस्थान के गाँवों में फैले हुए हैं और वहाँ के लोग इनसे रामभक्ति का अमृतपान करके धन्य होते हैं।

उदाहरण स्वरूप आगे इस प्रकार के कुछ चुने हुए पद प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. सीता का विवाह-प्रसंग

देख ज्यानकी को जोर, जनक राजा सोच भयो। टेक।
जद राजाजी बाग सिधारया, राणी नैं फरमाई।
के तो सेवा[1] थे कर लीज्यो, के कर लेसी म्हारी बाई।
चोको देय बुहारी दीनी, कर सूँ धनस उठायो।
जद बाई सेवा में बैठी, राजा बाग सूँ आयो।
राजा पूछै सुण ए बाई, यो चोको कुण दीन्यो।
ई में बापजी[2] काँई भार छै, कर सूँ उठा मैं लीन्यो।
राजा कहै सुणो हो राणी, अब काँई बात करीजै।
ई धनस नैं जो कोई तोड़ै, उग नैं या परणीजै[3]।
राणी कहै सुणो राजाजी, मैं तो कछु नहीं जाणूँ।
तुलसीदास भजो भगवाना, करज्यो मोटो ठिकाणूँ[4]॥

२. वन के मार्ग में

वन में देख्या दोय वनवासी,
ज्याँ रो मुख देख्याँ दुःख जासी, ए माय[5]।
नैणाँ सूँ सखि निरखण लायक,
ज्यानैं कूण करया वनवासी, ए माय।
मात कोसल्या पिता राजा दसरथ,
वाँनैं केकई करया वनवासी, ए माय।
धन वाँ रा मात पिता सखि धन है,
वै तो हिवड़ो फाट मर ज्यासी, ए माय।
आगै आगै राम वाँ रै पाछै भाई लिछमण,
ये तो चित्रकूट नैं जासी, ए माय॥
तुलसीदास भजो जी भगवाना,
वाँ रै दरसण सूँ दुःख जासी, ए माय॥

३. सीता हरण पर राम-विलाप

मेरा लिछमण भइया, सियाजी नैं कूण हड़ी[6]। टेक।
उड़ उड़ काग कुटी पर बैठै भइया, कुटिया सूनी तो पड़ी।
दिवलो जोय[7] कुटिया में देखो भइया, के कोई कूणै में खड़ी।
गिरवर चढ़ कर सरवर देखो भइया, के जल भरण गई।
के लंकापत रावण लेगो भइया, के कोई सिंघ भखी।
बन में रहता बनफल खाता भइया, बन में बिपत पड़ी।

१—पूजा। २—पिताजी। ३—विवाह किया जाए। ४—बड़ा सम्बन्ध। ५—यहाँ 'माय' शब्द सखी का वाचक है। ६—किसने हरण किया। ७—दीपक जला कर।

सीता-हरण मरण दसरथ को भइया, या के बिधना घड़ी।
तुलसीदास भजो भगवाना भइया, बन में तो बिपत पड़ी ॥

४. रावण मंदोदरी संवाद

गढ़ लंका माँहीं, आई असवारी राजा राम की। टेक।
कहत मनोवर सुण पिया रावण, या के कुबद कमाई[1]।
जिणकी ज्यानकी तूँ हड़ ल्यायो, वै तपसी दोनूँ भाई।
मेघनाद सा पुत्र हमारै, कुंभकरण बल भाई।
लंक सरीसा कोट हमारै, सात समंदर खाई।
हणूमान सा पायक वाँ कै, लिछमण सा बल भाई।
जलती अगन में कूद पड़ै वै, कोट गिणै नहीं खाई।
तिरिया जात बुद्ध की ओछी, उणकी करत बड़ाई।
धू मंडल सैं पकड़ मँगा लेवूँ, वै तपसी दोनूँ भाई।
जे डर लागै नार मनोवर, पीहरिये उठ जाई।
तुलसीदास भजो भगवाना, रघुबर करी चढ़ाई ॥

५. राम राज्य

घर आया मेरा लिछमण राम, पुरी में आनन्द भयो। टेक।
फूल्या बाग, बगीची[2] फूली, ओर फूली बणराय[3]।
पुरी अजोध्या सारी फूली, फूली हर की माय।

पहलाँ भाई भरत सैं मिलिया, पाछै केकई माय।
पुरी अजोध्या सारी मिलिया, मिलिया कोसल्या माय।

सुरही गऊ को गोबर मँगायो, घर आँगण लिपवाय।
कोरा कलसाँ जल भर ल्याई, मोतियन चोक पुराय।

सांयड़[4] राम सिंघासण वैठ्या, लिछमण चँवर ढुलाय।
मात कोसल्या करै आरतो, तुलसीदास जस गाय ॥

यहाँ उदाहरण स्वरूप केवल पाँच चुने हुए पद दिए गए हैं। इन पदों में कवि नाम की छाप कई रूपों में देखी जाती है, जैसे 'तुलसीदास आस रघुबर की' 'तुलसीदास भजो भगवाना', 'तुलसीदास जस गाई', 'तुलसीदास की बीनती' अथवा 'तुलसीदास' आदि। ये पुरुषों एवम् महिलाओं में समान रूप से गाए जाते हैं। कई व्यक्ति तो इनको अपने दैनिक-जीवन में प्रातः या सायंकाल नियमित रूप से गाते हैं। इनका प्रयोग अनेकत्र रात्रि-जागरणों में भी देखा जाता है। यहाँ तक कि कई पद ऐसे हैं, जिनको गाँव के लोग होली के दिनों में 'डफ' बजाते हुए और नाचते हुए गाते हैं।

१—कुबुद्धि पैदा हुई। २—छोटा बाग। ३—वन। ४—स्नान करके।

इन पदों पर ध्यान देने से विदित होता है कि इनकी अभिव्यक्ति सर्वथा सरल है और यहाँ कला-सौष्ठव का प्रायः अभाव है। इन में आलंकारिक सजावट लगभग नहीं के समान है और इनकी रचना लोक-गीतों की शैली पर हुई है। किसी रामभक्त ने अपना पद बना कर उसे महाकवि को भेंट कर दिया और जनता में प्रचलित होकर वह समयानुसार मँजता गया। इस प्रकार उस पद ने लोकवाणी का रूप धारण करके भक्त-मंडली में अपना स्थान बना लिया और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। महाकवि तुलसीदासजी की यह असाधारण महिमा है कि केवल उनकी अपनी वाणी ही लोकवाणी के रूप में गौरवान्वित नहीं हुई अपितु उनके भक्तों की वाणी भी उनके नाम से लोक में प्रतिष्ठित बन गई। किसी कवि का यह परम सौभाग्य होता है कि उसके हृदयोद्गार लोकवाणी का रूप धारण कर लें परंतु तुलसीदासजी का प्रभाव तो इतना गहरा हुआ कि उनके भक्तों तक को यह सौभाग्य प्राप्त हो गया और उनके पद जनजीवन का अंग बन गए।

महाकवि तुलसीदासजी भारतीय संस्कृति के अन्यतम प्रतिनिधि हैं और उनका साहित्य एक समुद्र के समान गंभीर और विस्तृत है। विशेषता यह है कि इस साहित्य-सागर में तुलसी-भक्तों की भी अनेक पद-धाराएँ आकर मिली हैं। विद्वान् विवेचकों की दृष्टि में इन पद-धाराओं का पृथक् रूप स्पष्ट है परंतु जनसाधारण के लिए तो यह सब तुलसी-साहित्य ही है क्योंकि यहाँ तो गंगा में आकर मिलनेवाली प्रत्येक जलधारा गंगा बन कर लोकपूजित होती है।

जै जै श्री तुलसी की बानी।
बिसद बिचित्र चित्र पद मंडित भक्ति मुक्ति बरदानी॥
लीन्हो वेद पुरान सास्त्र मत मुनिजन ललित कहानी।
ज्ञान बिराग ब्रह्मसुख जननी करम धरम नयसानी॥
उदित भई जा दिन तें जग मैं तब तें बुधन बखानी।
अखिल अवनिमंडल परिपूरित को अस जो नहिं जानी॥
प्रगटी रामचरन रति जहँ तहँ भूरि बिमुखता मानी।
रामगुलाम सुनत गावत हिय आवत सारंगपानी॥

श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर

इस मंदिर के संस्थापक का अभीष्ट आरंभ से ही इसे एक ऐसे जीवित केन्द्र का रूप देने का रहा है जो नवभारत की वास्तविक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे तथा भारतीय धर्म, साहित्य एवम् संस्कृति के आदर्शों का प्रतीक हो। संशय और अविश्वास के इस भौतिक युग में श्रीरतनलालजी सुरेका जनमानस में श्रद्धा और विश्वास की ज्योति जगा देने के लिए कृतसंकल्प हैं। उनके इस महत् उद्देश्य का अनुमोदन ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड के सुयोग्य मंत्री श्रीसत्यनारायणजी झुनझुनवाला ने किया और इस जनहितकारी कार्य को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने की विशाल योजना बनाई।

भारत की आध्यात्मिक एवम् सांस्कृतिक नगरी वाराणसी में उपयुक्त भूमि की उपलब्धि एक समस्या थी। माननीय श्रीकमलापतिजी त्रिपाठी, श्रीनंदकिशोरजी प्रह्लादका तथा श्रीशिवप्रतापजी नवलगढ़िया के सहयोग और उद्योग से ही श्रीदुर्गाजी तथा संकटमोचन श्रीहनुमान्‌जी के मंदिरों के मध्य यह भूमि सुलभ हो सकी जिस पर मंदिर आज सुशोभित है।

भूमि की प्राप्ति के पश्चात् अपनी दिवंगता परमपुनीता माता श्रीभागीरथी देवी सुरेका के सत्संकल्प एवम् अपने महत् उद्देश्य को साकार रूप प्रदान करने के लिए श्रीरतनलालजी सुरेका ने शुभ तिथि फाल्गुन कृष्ण तृतीया, संवत् २०१६ वै० सोमवार को अभिजित् मुहूर्त में मंदिर-निर्माण का स्वयम् सविधि संकल्प किया और ज्योतिर्विद् पं० प्रह्लादजी स्वामी के हाथों शिलान्यास का कार्य सुसंपन्न कराया। तिथि पौष कृष्ण त्रयोदशी, संवत् २०१९ वै० सोमवार को शिखर-प्रतिष्ठा का भी सुयोग शिलान्यासकर्ता श्रीस्वामीजी महाराज के हाथ लगा।

मंदिर-निर्माण संबंधी व्यवस्था का सारा भार श्रीघनश्यामदासजी के कंधों पर पड़ा। वयोवृद्ध कृशकाय इस परमभक्त ने अहर्निश तन मन से अपने उत्तरदायित्व का सुचारुरूपेण पालन करने में कोई कोरकसर न उठा रखी। पं० चिरंजीलालजी शर्मा के पांडित्यपूर्ण सुझावों के बल पर ही इस मंदिर के निर्माण में तुलसी-दर्शन को मूर्तरूप दिया जा सका। श्रीविक्रमादित्यसिंह (ठीकेदार) ने निष्ठा एवम् सौजन्यतापूर्वक अपने कर्तव्यों को पूरा किया। इस देवालय की निर्मिति में कलापूर्ण सौंदर्य लाने, इसे भव्य एवम् आकर्षक बनाने में श्रीबसंत मिस्त्री का श्रम स्तुत्य है। निर्माण संबंधी समस्त कार्यों में श्रीचंद्रवदनजी मिश्र के पूर्ण सहयोग और सत्परामर्श से बड़ी सहायता मिली तथा बराबर मिलती रहती है।
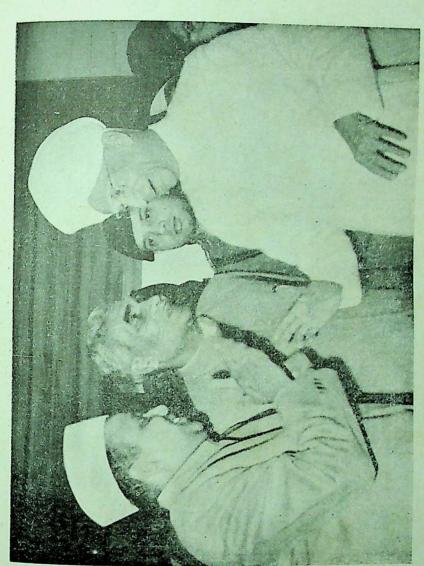
श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर का उद्घाटन सुसंपन्न करने के पश्चात् महामान्य राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् मंदिर के संस्थापक श्रीरतनलाल सुरेका के प्रति शुभकामना प्रकट करते हुए।
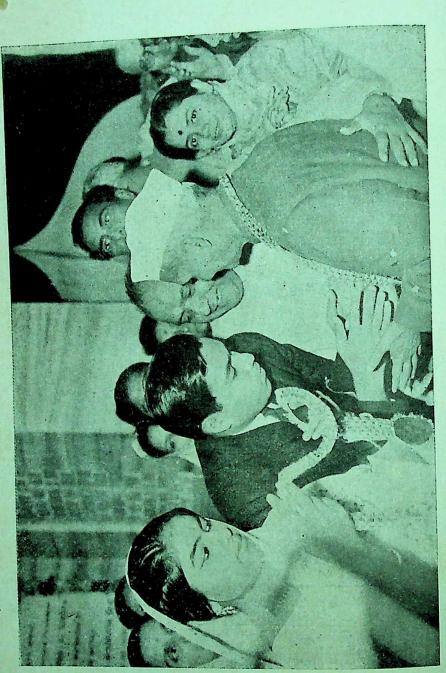
मानस मंदिर में प्रधानमंत्री श्रीलालबहादुर शास्त्री का स्वागत करते हुए
बाएँ से दाहिने—मंदिर के संस्थापक श्रीरतनलाल सुरेका की पुत्रवधू सौ० सुश्रीवीणारानी, पुत्र श्रीराजेंद्रकुमार सुरेका तथा स्वयम् श्रीसुरेका जी।

परमादरणीय आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने अपने स्वसंपादित रामचरितमानस को शिलांकित कराने मात्र की ही अनुमति प्रदान करने की कृपा न की अपितु अथ से इति तक आशीर्वाद रूप में निर्हेतुक सहयोग एवम् निर्देशन भी देते रहे। तत्रभवान् काशिराज महाराज डा० विभूतिनारायणसिंहजी महोदय ने सर्वभारतीय काशिराज न्यास द्वारा प्रकाशित संस्करण का आधार लेने का आदेश अनुग्रहपूर्वक प्रदानकर पाठ संबंधी कठिनाइयों से परित्राण किया। रामचरितमानस के शिलांकन का कार्य श्रीनरेश झा शास्त्री के योग्यतापूर्ण देखरेख में अति शुद्धता से संपन्न हुआ है। लेखन से लेकर उत्कीर्ण होने तक वे निरंतर सावधानीपूर्वक पाठों को बारंबार मिलाते रहते थे। विसंवादी स्थलों पर श्रद्धेय आचार्य मिश्रजी का विद्वत्तापूर्ण सत्परामर्श उन्हें सदैव सुलभ रहा है। पाठों के संशोधन एवम् संयोजन में उनकी निष्ठा सराहनीय है।

उपर्युक्त महानुभावों के सहज साहाय्य से गत माघ शुक्ल तृतीया, २०२० वै० सोमवार को देव-विग्रहों का प्रतिष्ठा-समारोह उत्साहपूर्ण वातावरण में सुसंपादित हुआ। सं० २०२१ वै० की तुलसी-जयंती के अवसर पर इस मंदिर में स्थापित प्रातःस्मरणीय परमसंत गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रतिमा का अनावरण अनंतश्रीविभूषित जगद्गुरु काशीपीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीमहेश्वरानंदजी के करकमलों द्वारा हुआ।

भारत गणतंत्र के राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय ने मिति मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी, सं० २०२१ वै० रविवार को इस मंदिर का उद्‌घाटन कर तथा भारत के प्रधानमंत्री श्रीलालबहादुर शास्त्री ने पौष कृष्ण सप्तमी, सं० २०२१ वै० शुक्रवार को इसका निरीक्षण कर इसके संस्थापक को परम गौरवान्वित किया है। इन महामान्य द्वय ने इस देव-प्रतिष्ठान, इससे संबद्ध साहित्य-विभागों एवम् इसके निर्माता के जनहितकारी उद्देश्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की।

इस मंदिर की स्थापना हुए एक वर्ष हुआ। इस अवधि के अंतर्गत देश विदेश के सहस्रों विशिष्ट विद्वानों, उच्च राज्याधिकारियों, सम्मानित नागरिकों आदि ने इस संस्थान और इससे संबद्ध साहित्य-विभागों का निरीक्षण कर प्रशंसात्मक एवम् शुभकामना-सूचक जो अभिमत अंकित किए हैं उनकी संख्या इतनी अधिक है कि संप्रति उनका प्रकाशन संभव न हो सका।

नवीन विज्ञान के चाकचिक्य में लोकधर्म एवम् भारतीय संस्कृति के मूलाधार तत्त्व सत्य, सभ्याचरण, मर्यादापालन, कर्तव्याकर्तव्य आदि लुप्त होते जा रहे हैं। मानवता की रक्षा एवम् राष्ट्र के उत्थान के लिए उक्त तत्त्वों का व्यापक प्रचार और प्रसार अनिवार्य हो गया है। भारतीय सामाजिक-धार्मिक-नभमंडल के सर्वदा देदीप्यमान दिवाकर श्रीतुलसीदासजी ने न केवल हमारे जीवन का उत्कर्ष करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और सभी परिवर्तनकालों में हमारा पथ-प्रदर्शन किया है अपितु समस्त विषम परिस्थितियों में हमें आलोक प्रदान कर हमारी सुरक्षा भी की है और

कर रहे हैं। उन्होंने भारतीय जीवन और संस्कृति का सर्वोत्तम चित्रण करते हुए मानव को अद्वितीय महत् साहित्यदान श्रीरामचरितमानस के रूप में अर्पित किया है। वह मानव मात्र का रिक्थ है। अमर दिव्य मनीषी संत श्रीतुलसीदासजी के स्मृति में प्रतिष्ठित उनकी प्रतिमा का दर्शन कर तथा भित्तियों पर उत्कीर्ण उनके विश्वविश्रुत महाकाव्य का अवलोकन कर नित्यप्रति सहस्राधिक मानव आदर्शचरित्र-निर्माण की प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उन पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप अंकित हो जाती है।

उनके सदुपदेशों के प्रचार प्रसार के हेतु 'तुलसी शोध संस्थान' तथा 'मानस-पुस्तकालय' एवम् 'वाचनालय' यहाँ प्रतिष्ठित हो चुके हैं। शोध-संस्थान में आधुनिकतम वैज्ञानिक पद्धति पर संप्रति मानसेतर तुलसी-साहित्य के संपादन का कार्य चल रहा है। 'मानस-मयूख' नाम की त्रैमासिक शोध पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। पुस्तकालय में संस्कृत और हिंदी के प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की पांडुलिपियों, अप्राप्य और प्राप्य मुद्रित पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओं का संग्रह नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है तथा मानस के सुंदरकांड की 'सुंदर सौंदर्य' नाम्नी डा० बलदेवप्रसादजी मिश्र कृत सुबोध टीका शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है। विशेष पर्वों पर उत्सव भी धूमधाम से मनाया जाता है।

वाराणसी में जाति और राष्ट्रीयता के भेद भाव से मुक्त एक ऐसे अतिथिशाला का निर्माण अत्यंत अपेक्षित है जिसमें देश विदेश से आनेवाले अनुसंधित्सुओं एवम् पर्यटकों के आवास की सुख-सुविधा की सुचारु व्यवस्था हो। एक ऐसे बाल पाठशाला की स्थापना भी नितांत आवश्यक है जिसमें आरंभ से ही बच्चों को भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रशिक्षित किया जा सके। यद्यपि इस महान् नगरी में अनेकानेक चिकित्सालय हैं तथापि आधुनिकतम उपकरण से सुसज्जित एक ऐसे चिकित्सालय का निर्माण अभीष्ट है जहाँ अर्थाभावग्रस्त जनता व्ययसाध्य उपचारों का निःशुल्क लाभ बिना किसी भेदभाव के प्राप्त कर सके।

उपर्युक्त योजनाएँ इतनी विस्तृत हैं कि उनमें से एक की भी समाई प्रस्तुत मंदिर की परिधि में होना संभव नहीं है। अतः मंदिर के निर्माता श्रीरतनलालजी सुरेका और ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड के मंत्री श्रीसत्यनारायणजी झुनझुनवाला इन समस्त योजनाओं को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने के लिए पूर्णरूपेण प्रयत्नशील हैं।

निवेदन

१—प्रति वर्ष, ३० जून से ३१ मार्च तक, 'मानस-मयूख' के चार प्रकाश प्रकाशित होंगे ; चौथा प्रकाश विशेषांक होगा। पत्रिका का वार्षिक शुल्क ८ रु० तथा आजीवन शुल्क २५१ रु० है।

२—पत्रिका के उद्देश्यों के अंतर्गत आनेवाले सभी विषयों पर ससाक्ष्य, सुविचारित और मौलिक लेख ही प्रकाशित किए जायँगे। अन्यत्र पूर्व प्रकाशित लेख प्रकाशित करने का नियम नहीं हैं।

३—लेख की पाण्डुलिपि कागद के एक ओर लिखी हुई, सुस्पष्ट और पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग किया गया हो, संस्करण तथा पृष्ठांक सहित उनके नाम आदि का निर्देश अपेक्षित है।

४—लेखों में प्रकट विचारों के लिए लेखक उत्तरदायी हैं, सम्पादक नहीं।

५—लेख, संपादक, 'मानस-मयूख', श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५ के पते पर भेजना चाहिए।

प्राप्ति-स्थान

ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड

प्रधान कार्यालय
१७२, जे० एन० मुखर्जी रोड,
सलकिया (हवड़ा)
तार : रत्नेषु] [फोन : ६६-४५११-१४

शाखा कार्यालय
दुर्गाकुंड,
वाराणसी-५ (उ० प्र०)
तार : मानस] [फोन : ३८२०

रामनवमी अंक

पत्रिका के उद्देश्य

१. तुलसी-साहित्य का अध्ययन, अन्वेषण और उसके विविध अंगों का विवेचन।
२. संत-साहित्य का मनन और विश्लेषण।
३. निगम, आगम और पुराण में कथित मानव-धर्म का उद्घाटन।
४. विश्व-वाङ्मय के सर्वनिष्ठ तत्वों का संकलन और मूल्यांकन।

परामर्शदातृ मण्डल

मानस-मयूख

[त्रैमासिक शोध-पत्रिका]

संरक्षक

श्रीरतनलालजी सुरेका

संपादक

रामादास शास्त्री, एम० ए०

मुद्रक एवम् प्रकाशक

सत्यनारायण झुनझुनवाला,
मंत्री, ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड,
१७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड,
सलकिया, हवड़ा।

रामनवमी अंक

वर्ष १
चतुर्थ प्रकाश]

३१ मार्च, सन् १९६५ ई०

[मूल्य ६ रु०

निवेदन

ग्राहकों से—'मानस-मयूख' के प्रति वर्ष, ३० जून से ३१ मार्च तक, चार प्रकाश प्रकाशित होते हैं; चौथा प्रकाश विशेषांक होता है। इस अंक में पत्रिका का प्रथम वर्ष पूर्ण हो रहा है।

'मानस-मयूख' का वार्षिक शुल्क ८ रुपए है। प्रति साधारण अंक का मूल्य २ रु० तथा इस विशेषांक का ६ रु० है। स्थायी वार्षिक ग्राहकों को विशेषांक का अतिरिक्त मूल्य न देना होगा। 'मानस-मयूख' का आजीवन ग्राहक शुल्क २५१ रु० है। आजीवन ग्राहकों को पत्रिका उनके जीवनपर्यंत मिलती रहेगी। किसी प्रकार की संस्था अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी आजीवन ग्राहक हो सकते हैं।

पत्रिका के संबंध में पत्राचार करते समय अपना पूरा नाम एवम् स्थायी पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

लेखकों से—पत्रिका के उद्देश्यों के अंतर्गत आनेवाले सभी विषयों पर ससाक्ष्य, सुविचारित और मौलिक लेख ही प्रकाशित किए जायँगे। अर्वाचीन अन्यत्र पूर्व प्रकाशित रचनाओं के पुनः प्रकाशन का नियम नहीं है।

लेख की पांडुलिपि कागद के एक ओर लिखी हुई, सुस्पष्ट और पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि से उद्धरण उद्धृत किए गए हों, संस्करण तथा पृष्ठांक सहित उनके नाम आदि का निर्देश अपेक्षित है।

लेखों में प्रकट विचारों के लिए लेखक उत्तरदायी हैं, संपादक नहीं।

प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें। अस्वीकृत एवम् अप्रकाशित रचना वापस भेजने के लिए संपादक उत्तरदायी नहीं हैं।

लेख प्राप्ति की सूचना यथासाध्य शीघ्र दी जाती है तथा प्रकाशन की स्वीकृति भेजने में एक मास लग सकता है।

लेख, संपादक, 'मानस-मयूख', श्री सत्यनारायण तुलसी मानस-मंदिर, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी—५ के पते पर भेजना चाहिए।

मानस-मयूख' में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिएँ। उनकी समीक्षा अथवा प्राप्ति-स्वीकृति यथावसर प्रकाशित की जायगी। संभव है प्राप्त सभी पुस्तकों की समीक्षा का प्रकाशन न भी हो।

प्राप्ति-स्थान

ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड

प्रधान कार्यालय	शाखा कार्यालय
१७२, जे० एन० मुखर्जी रोड, सलकिया (हवड़ा)।	दुर्गाकुंड, वाराणसी५।
तार: रत्नेषु फोन: ६६-४५११-१४	तार: मानस फोन: ३०२०

अनुक्रम

मानस-मयूख

प्रथम वर्ष,

द्वितीय प्रकाश ।

अनुक्रम

मानस-मयूख
प्रथम वर्ष,
तृतीय प्रकाश ।

अनुक्रम

अनुक्रम

श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर में सं० २०२२ के मधुमासीय नवरात्र के नवदिवसीय महोत्सव का एक
बाएँ से दाएँ—काशीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीमहेश्वरानंदजी (सभापति) तथा आचार्य पीठा
रामानुजाचार्य श्रीराघवाचार्यजी प्रवचन करते हुए।
श्रोताओं में दाएँ से बाएँ बैठे हुए—श्रीलक्ष्मीप्रसादजी मस्करा तथा श्रीरतनलालजी सुरेका।

मानस-मयूख
रामनवमी अंक
प्रथम वर्ष,
चतुर्थ प्रकाश ।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र

मानस के द्वितीय सोपान का प्रथम मंगल श्लोक

वामांके च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु मां ॥१॥

यह शंकरजी की स्तुति है। उनके बाएँ अंग में पार्वती, मस्तक पर गंगा, भाल या ललाट पर बालचंद्र, गले में विष, हृदय पर नागराज तथा देह भर में चिता-भस्म विभूषण की भाँति सुशोभित हैं। वे सुरवर हैं, सर्वाधिप हैं। वे ही शर्व हैं, अर्थात् संहारकारी हर भी हैं और सर्वगत कल्याणकारी शिव भी हैं; चंद्रमा के समान कांतिवाले वे श्रीशंकरजी हमारी रक्षा करें।

संप्रति उपर्युक्त स्तुति में अंतर्भूत काव्यगरिमा का उद्घाटन मात्र अभिप्रेत है। प्रसंग है अयोध्याकांड का, जिसमें संपत्ति और विपत्ति का घटनाचक्र बड़ी तेजी के साथ घूमा है। कुछ देर पूर्व जो राम यौवराज्य पर अभिषिक्त होनेवाले थे उन्हें ही वनवास दे दिया गया। राम ने दोनो ही परिस्थितियाँ समान प्रसन्नता के साथ स्वीकार कीं--

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।[1]

ऐसी थी श्रीरघुनंदन की मुखांबुजश्री। प्रसंग लीला के उस क्रम का है, जिसमें कैकेयी के वर-रूप शापों का विष भी है और भरत की अश्रुसिक्त उमंगों का अमृत भी है। मानव-जीवन के उज्वल पक्ष और श्याम पक्ष इस कांड में खुलकर खेले हैं। वह धीर वीर कैसा जो संपत्ति में बहक उठे और विपत्ति में बिलबिला उठे। संपत्ति और विपत्ति ही नहीं किंतु चित् (जो अद्वैत दृष्टि से परम ग्राह्य है) और अचित् (जो उसी दृष्टि से परम त्याज्य है) भी जिसके एक समान अलंकार बन जायँ उसी परमतत्व को अपना संरक्षक बनाकर मनुष्य सच्ची धीरता प्राप्त कर सकता है और संपत्ति-विपत्ति के वात्याचक्र से अविचलित रहकर सच्ची श्री (भाव-विभूति) और सच्चे शं (व्यष्टि समष्टि कल्याण) का अधिकारी हो सकता है। इस कांड के पूर्वार्ध में श्रीराम के हृदय की और उत्तरार्ध में विशाल गंगा के समकक्ष किंतु उसी में लीन होनेवाली यमुनाधारा के समान भरत के हृदय की विशालता है। इतने, सारे, वातावरण के संदर्भ में अब इस श्लोक की काव्य-गरिमा देखिए।

यदि सदाशिव के साथ पार्वती (शक्ति अथवा सत्) है, देवापगा (गंगा, अथवा सरसतामंडित पावन आनंदराशि) है और बाल-विधु (प्रकाशधर्मा सौम्यज्ञान या चित्) है तो चिताभस्म (श्वेतवर्णी सतोगुण) भी है, व्यालराज (उग्रता का प्रतिरूप रक्तवर्णी रजोगुण) भी है, साथ ही गरल (विलयनकारी श्यामवर्णी तमोगुण) भी है। यदि प्रथम तीन सत् चित् आनंदरूप में अर्थात् मूल चित् के रूप में उपादेय हैं, ग्राह्य हैं, तो अंतिम तीन सतोगुण रजोगुण तमोगुण के रूप में अर्थात् मूल अचित् के रूप में हेय ही हैं। चिता-भस्म, साँप और जहर को कौन अपने पास रखना चाहेगा? परंतु महादेव का महा-देवत्व, जिसे गोस्वामीजी ने यहाँ सुरवरत्व कहा है, ऐसा है कि वहाँ सच्चिदानंदत्व अर्थात् प्रकृतितत्व का भी पूर्ण अंगीकार है। यदि भूधरसुता, देवापगा और बालविधु के साथ विभाति की क्रिया जुड़ी हुई है तो गरल, व्यालराट् और भूति (चिता-भस्म) के साथ विभूषण शब्द जुड़ा हुआ है। दोनो स्थलों पर 'वि' उपसर्ग है। कितनी विशालता है सदाशिव के जीवन दर्शन की? इस कांड के श्रीराम विषयक कथानक का कितना सुंदर पूर्वाभास इन पंक्तियों में निहित है।

१—मानस, २।मं० श्लो० २।१।

अब 'सुरवर' की विशेषताएँ देखिए। सम-विषम परिस्थितियों को एक साथ सँभाल लेने की क्षमता किसी एक समय दिखाकर ही वे जन-साधारण के हृदय-सम्राट् बन गए हों, यह बात नहीं है। वे तो सर्वदा सर्वाधिप हैं। अर्थात् अपनी इस सार्वकालीन उदात्तता के कारण वे सदा सबके द्वारा अपने प्रकृत स्वामी स्वीकार कर लिए गए हैं। चाहे अयोध्या हो या अरण्य, नगर या ग्राम हो अथवा तपोवन सर्वत्र राम की नैसर्गिक उदात्तता उन्हें आधिपत्य ही दिलाती रही। इसी का पूर्वाभास और संकेत इन शब्दों में कथित है।

महादेव शर्व (संहारक) भी हैं और सर्वगत (सर्वव्यापक) शिव (कल्याण-तत्व) भी हैं। परंतु उनकी शर्वता उनकी शिवता से इस प्रकार आच्छादित है जैसे चंद्रमा की श्यामता उसकी उज्वलता से आवृत है। इसीलिए वे शशिनिभ कहे गए हैं। अयोध्या का क्रांतिकारी घटनाचक्र राम की इच्छा से ही चला, भरत का हृदय-मंथन राम की इच्छा से ही हुआ, परंतु उनकी जगन्मंगलता ही प्रमुख रूप से सामने रही, जिसने उस इच्छा को चारों ओर से आच्छादित कर रखा है। चंद्रमा की श्यामता केंद्रस्थ है अवश्य, किंतु सर्वप्रधानता उज्वलता की ही है जो सज्जनों को प्रेमामृत का वितरण कर रही है। मिलान कीजिए—

> पेमु अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गभीर।
> मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥[1]

और भी—

> अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
> एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥[2]

ऐसे महादेव पर जो अपने संरक्षण का भार सौंप दे, जो उन्हें अपना पालन करनेवाला बना ले, उसे श्री (हर तरह की विभूति) और शं (हर तरह के कल्याण) की कमी कैसे रह सकती है? वे ही तो श्रीशंकरः हैं–'श्री' और 'शं' के कर्ता हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मंगलाचरण के उपर्युक्त प्रथम श्लोक में ऐसे महादेव की वंदना करके न केवल अयोध्याकांड के कथानक की पूरी झलक दिखा दी अपितु विमल विज्ञान वैराग्य के सोपान पर आरूढ़ साधक को सब प्रकार अयोध्य बनने का तत्व भी प्रदान कर दिया है।

१—मानस, २।२३७।०। २—कुमारसंभव, १।३।

श्रीमहावीरप्रसाद श्रीवास्तव

श्रद्धा और विश्वास के रूप भवानी-शंकर

[महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के प्रथम श्लोक में
'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥'

कहकर शिव-पार्वती की वंदना की है। महाकवि तुलसीदास ने रामचरितमानस के मंगलाचरण में 'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' कहकर उनका स्मरण किया है। माता श्रद्धारूपिणी होती हैं और पिता विश्वास के पात्र। अतः पार्वतीपरमेश्वर 'वागर्थाविवसंपृक्तौ' भी हैं और 'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' भी। इस प्रकार दोनो में अन्योन्याश्रित संबंध है।

'भवानी और शंकर के चरित्रों पर आद्योपांत अनुसंधानात्मक दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि मानस में उन चरित्रों के ऐतिहासिक वर्णन के साथ ही साथ श्रद्धा और विश्वास के स्वाभाविक विकास-क्रम का दिग्दर्शन भी श्रृंखलाबद्ध रूप में है। इसी बात का स्पष्टीकरण इस निबंध का मुख्य विषय है।']

वेद पुराणादि प्रामाणिक आर्षग्रंथों में भगवान् शंकर का वर्णन विभिन्न रूपों में मिलता है। कहीं उन्हें स्वयम् परब्रह्म, कहीं त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में से एक और कहीं रामभक्ति के परमाचार्य के रूप में माना गया है। श्रीराम की भक्ति और उनकी कृपा की प्राप्ति के लिए शंकर की आराधना आवश्यक बतलाई गई है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्राचीन आर्षग्रंथों की तीनो व्यापक परंपराओं का समन्वय रामचरितमानस में किया है।

१—मानस की इन पंक्तियों में शंकर का परब्रह्मत्व स्पष्ट रूप से कथित है—

नमामीशमीशाननिर्वाणरूपं विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं।
निराकारमोंकारमूलं तुरीयं गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकालकालं कृपालं गुणागारसंसारपारं नतोहं।[1]

इसी प्रकार उनकी अर्द्धांगिनी भवानी पार्वती को भी साक्षात् भगवती आद्याशक्ति सूचित किया गया है—

१—७।१०८।१-४।

तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।[1]
मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥[2]

२–शंकर को, त्रिदेवांतर्गत एक पद विशेष पर अधिकारारूढ़ होने से उस देव विशेष के रूप में ही, देवपद की सीमित मर्यादानुसार परब्रह्म के अंश से उत्पन्न उसके सेवक और आराधक कहा गया है। इतना ही नहीं परब्रह्म के अवतार भगवान् श्रीराम की तुलना में अनेकत्र उनका अति लघुत्व भी दिखलाया गया है––

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥[3]
सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पदरेनू॥[4]
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥[5]
बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी॥[6]
अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥[7]
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥[8]
कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जा के सेवक॥[9]
सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥[10]

३–अनेक स्थलों पर उन्हें परम वैष्णव, रामभक्त तथा रामभक्ति के परमाचार्य के रूप में दिग्दर्शित किया गया है और उनकी कृपा से ही रामभक्ति का प्राप्त होना बतलाया है––

सिव सम को रघुपति व्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥
पनु करि रघुपतिभगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥[11]
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥[12]
संकरबिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥[13]
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकरु देइहि॥[14]

औरो एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि।
संकरभजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥[15]

सिवसेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥[16]

मानस में गोस्वामीजी को श्रीराम का ही परब्रह्मत्व प्रतिपादित करना अभीष्ट था––

१—१।८१।९। २—१।९८।२-४। ३—१।१४४।६। ४—१।१४६।१।
५—२।१२६।१। ६—२।२९४।५। ७—२।२४०।५। ८—५।२१।५।
९—६।६३।५। १०—७।१२४।३। ११—१।१०४।७-८। १२—१।१३८।७।
१३—६।२।८। १४—६।३।३। १५—७।४५।०। १६—७।१०६।२।

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना।।[१]
एहि मह रुचिर सप्त सोपाना। रघुपतिभगति केर पंथाना।।[२]

अतः उन्होंने भगवान् शंकर के उपर्युक्त तीनो रूपों का वर्णन करते हुए प्रधानता उनके रामभक्ति के आचार्यरूप को ही दी है। यही गोस्वामीजी को अभिप्रेत था। इसीलिए उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण आरंभ करने से पूर्व विस्तारपूर्वक शिवचरित्र का ही वर्णन किया है। ऐसा करने का एक और भी कारण है। शैवों और वैष्णवों के मध्य दीर्घकाल से परस्पर घोर सांप्रदायिक मनोमालिन्य चला आता था। इस विद्वेष की खाई को भरना आवश्यक था। इस दिशा में मानसकार का यह साभिप्राय और सफल प्रयत्न कहा जा सकता है। शिवचरित्र को पूरा कर रामचरित आरंभ करने के पूर्व गोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य मुखेन स्पष्ट कहा है--

प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार।।[३]

मानस के प्रारंभिक मंगलाचरण की वंदना—

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरं।।[४]

में स्पष्ट कहा है कि श्रद्धा और विश्वास रामभक्ति की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। इस मान्यता के अनुसार बालकांड में वर्णित भवानी और शंकर के चरित्रों पर आद्योपांत अनुसंधानात्मक दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि मानस में उन चरित्रों के ऐतिहासिक वर्णन के साथ ही साथ श्रद्धा और विश्वास के स्वाभाविक विकास-क्रम का दिग्दर्शन भी शृंखलाबद्ध रूप में है। इसी बात का स्पष्टीकरण इस निबंध का मुख्य विषय है।

विषय-विमर्श के पूर्व श्रद्धा और विश्वास की परिभाषा तथा उनके स्वरूप की जानकारी अपेक्षित है। ज्ञाता के अंतःकरण में ज्ञेय के प्रति तद्विषयक ज्ञान के अनुकूल उत्पन्न होनेवाली दृढ़ धारणा विश्वास है। जैसा ज्ञान होता है, धारणा भी उसी के अनुकूल बनती है। यदि ज्ञान सही है, अर्थात् उसमें किसी प्रकार के दोष अथवा भ्रम की संभावना नहीं है तो उस यथार्थ ज्ञान के आधार पर बनी धारणा भी सदैव शुद्ध और सफल होती है। यदि ज्ञान में कोई त्रुटि या भ्रम का समावेश रहता है, तो उसके आधार पर बनी धारणा भी प्रायः निर्बल और असफल होती है। अतएव विश्वास की दृढ़ता और सफलता के लिए उसके पीछे यथार्थ ज्ञान का आधार होना अनिवार्य है। 'सिव भगवान ज्ञान गुन रासी'[५] हैं। इसलिए ज्ञान-स्वरूप शंकर के चरित्र के सहारे विश्वास के विकास-क्रम का अनुसंधान महत्त्वपूर्ण

१—७।६१।६। २—७।१२९।३। ३—१।१०४।०। ४—१।मं० श्लोक २।
५—१।४६।३।

होगा। इसी प्रकार किसी विषय को जानने-समझने अथवा व्यवहार में लाने के लिए मुक्त हृदय से सादर और सप्रेम उत्तरोत्तर प्रोत्साहित रहने की प्रवृत्ति का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा में चित्तवृत्ति का प्रवाह स्वाभाविक होने से उस विषय के विशेषज्ञ और अनुभवी महापुरुषों पर विश्वास ही श्रद्धा का आलंबन रहता है। इस प्रकार श्रद्धा, विश्वास की सहधर्मिणी और अनुगामिनी होकर विश्वास के साथ साथ चलती है। अतः विश्वास-रूप शंकर के साथ साथ उनकी सहधर्मिणी भवानी के चरित्र के सहारे श्रद्धा के स्वाभाविक विकास-क्रम का दिग्दर्शन भी महत्त्वपूर्ण होगा।

तुलसीकृत रामचरितमानस में, प्रथम सोपान (बालकांड) के अंतर्गत, भवानी-शंकर का चरित्र इन अर्द्धालियों से आरंभ होता है--

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं।।
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।।[1]

यहाँ कथा का क्रम त्रेता युग को लक्ष्य करके उठाया गया है। गुण त्रय के प्रसंग से चारों युगों का वर्णन गोस्वामीजी ने मानस के सप्तसोपान में इस प्रकार किया है--

सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृतप्रभाव प्रसन्न मन जाना।।
सत्व बहुत रज कछु रतिकर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा।।
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापरधर्म हरष भय मानस।।
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलिप्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।[2]

इस वर्णन के अनुसार सतयुग का संबंध शुद्ध सत्वगुण से है और अन्य का त्रय गुण मिश्रित है। अन्य तीनो में त्रेतायुग सतयुग के निकटतम है। अब ऐतिहासिक कथा के साथ ही साधक की मनोमय भूमि में त्रेता का क्या स्थान है? यह विचारणीय है। साधना की पूर्वावस्था में विश्वास का आधार शास्त्र तथा प्राचीन महर्षियों द्वारा प्रणीत इतिहास (पुराणादि) में चर्चित उनके अनुभव पर आश्रित रहता है। उस अवस्था में शास्त्रों आदि के मनन एवम् वर्तमान महापुरुषों के सत्संग से साधक की मनोवृत्ति का संशोधन होता रहता है। क्रमशः संशोधित होकर मनोवृत्ति का सत्व के पूर्ण संपर्क में प्रतिष्ठित होना ही मनोमय जगत् का त्रेतायुग है। इस अवस्था में संत-संसर्ग से आप्तवचनों के विश्वास पर गंभीर प्रभाव पड़ता है, जिससे उस विश्वास में नवीन जागृति उत्पन्न हो जाती है। इस समय जिन सिद्धांतों एवम् रहस्यों पर विश्वास स्थिर रहता है उनके प्रत्यक्षानुभव की प्रबल आकांक्षा साधक के अंतःकरण में जागृत हो जाती है।

मानस कथित ऐतिहासिक कथा के अनुसार विश्वासरूपी भगवान् शंकर कुंभज ऋषि के यहाँ जाते हैं। उनके सत्संग से बारंबार भगवान् श्रीराम का चरित्र

१—१।४८।१-२। २—७।१०४।२-५।

श्रवण करने पर वहाँ से लौटते समय उनके अंतःकरण में श्रीराम-दर्शन की तीव्र उत्कंठा उठती है। यथा--

हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ॥
संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसनलोभु मन डरु लोचन लालची॥[1]

यही, साधक की मनोमय भूमि में, शुद्ध सत्वगुण के स्पर्श से प्रतिष्ठित हुई, 'त्रेता' रूपी प्रवृत्ति की अवस्था में, घनिष्ट सत्संग में श्रवण किए हुए रहस्यों से प्रभावित होकर उसके प्रत्यक्षानुभव के लिए, विश्वास में एक नई जागृति का आदर्श है।

भगवान् के संबंध में प्रत्यक्षानुभूति के लिए भक्तिपूर्वक आतुर होने पर भक्तवत्सल भगवान् भी भक्त की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेते हैं। जब प्रभु-दर्शन के लिए, विश्वासरूपी शंकरजी का हृदय अति उत्कंठित एवम् आतुर हुआ और इस परिस्थिति को समझते हुए कि

रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधिबचनु कीन्ह चह साचा॥
जौं नहिं जाउँ रहै पछितावा। करत बिचारु न बनत बनावा॥[2]

तब उसी अवसर पर सहसा प्रभु की ओर से 'सीताहरण' का चरित्र उपस्थित हुआ तथा सीता-विरह का अद्भुत नाट्य करते हुए, भगवान् श्रीराम के दर्शन की एक झलक उन्हें दूर से मिल ही तो गई। यही यहाँ भक्त की अभिलाषा पूरी करने के लिए, साधक की स्थिति के अनुकूल कोई रास्ता निकाल लेने का आदर्श हुआ।

भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन अथवा अनुभव की एक छटा भी प्राप्त हो जाने पर साधक के अंतःकरण में आनंद और प्रेमातिरेक उमड़ पड़ता है। उस तन्मयता की स्थिति में साधक को आगे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। इस अवस्था में प्रेम और आनंद साधक की चेष्टाओं तथा प्रायः वाणी से भी प्रगट हो जाया करता है। विश्वासरूपी शंकर के संबंध में कथित इन अर्द्धालियों से यह आदर्श सर्वथा स्पष्ट है—

संभु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हियँ अति हरषु बिसेषा॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी॥
जय सच्चिदानंद जगपावन। असि कहि चलेउ मनोजनसावन॥
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥[3]

अब इस प्रसंग को यहीं छोड़कर, स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए श्रद्धारूपी भवानी का प्रसंग उठाया जाता है।

१—१।४८।९-१२। २—१।४९।१-२। ३—१।५०।१-४।

श्रद्धा में विषय-विशेष को जानने-समझने अथवा व्यवहार में लाने के लिए उत्तरोत्तर उत्सुकता की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। अतएव उस विषय के विशेषज्ञ तथा अनुभवी महापुरुषों पर सहज श्रद्धा का आलंबन रहता है। इस प्रकार श्रद्धा विश्वास की सहधर्मिणी और अनुगामिनी होकर विश्वास के साथ साथ चलती है, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आदर्श के अनुरूप यहाँ ऐतिहासिक कथा के क्रम में विश्वासरूपी शंकर के संग श्रद्धारूपी भवानी का चलना स्पष्ट किया गया है—

संग सती जगजननि भवानी।[1]

इस स्थल पर श्रद्धारूपी भवानी के लिए 'सती' और 'जगजननी', दो शब्द विशेष रूप से व्यवहृत हैं। इन दोनो शब्दों से भी साधनात्मक मनोभूमि पर श्रद्धा के दो पक्षों का संकेत स्पष्ट होता है। एक ईश्वरोन्मुखी श्रद्धा जो 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'[2] के अनुसार ईश्वर संबंधी ज्ञान की ओर जीव को प्रवृत्त कराने के संबंध से 'सती' है और दूसरी जगत्प्रपंचोन्मुखी श्रद्धा जो सांसारिक बातों अर्थात् अनेक प्रकार के कलाकौशल, व्यवसाय तथा लौकिक आवश्यकताओं की ओर जीव को उन्मुख करने के संबंध से 'जगजननी' है। इसी बात को शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली में यों व्यक्त करेंगे कि पराविद्या (ब्रह्मविद्या) की ओर प्रवृत्त कराने से वह 'सती' और अपराविद्या (सांसारिक व्यवहार के विकास की विद्या) की ओर प्रवृत्त कराने से वह 'जगजननी' है। इस प्रकार ऐतिहासिक कथा में 'सती' और 'जगजननी' भवानी के दोनो ही नाम विशेषण होते हुए भी साधनात्मक मनोभूमि में श्रद्धा के उपर्युक्त दोनो पक्षों का भी संकेत करते हैं।

श्रद्धा और विश्वास के परस्पर ओतप्रोत होने तथा श्रद्धा के विश्वास की अनुगामिनी होने से, विश्वास की अवस्था में जब भी किसी प्रकार का कंपन होता है, श्रद्धा पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। यहाँ ऐतिहासिक कथा में कुंभज ऋषि के यहाँ सत्संग समागम में, भगवान् श्रीराम की कथा श्रवण कर वहाँ से लौटते समय मार्ग में विश्वासरूपी शंकर के हृदय में उन्हीं भगवान् श्रीराम के दर्शन के लिए तीव्र उत्सुकता का जागृत होना, पहला कंपन है। यह 'हृदय बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ' से ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। उसी स्थल पर आगे के सोरठे में 'संकर उर अति छोभु सती न जानहि परमु सोइ' से यह लक्षित होता है कि इस अवसर पर शंकरजी के हृदय में जो क्षोभ हो रहा था, सती उसे लक्ष्य न कर सकीं। पर उन्हें उस क्षोभ की अवस्था के बाहरी लक्षणों को लक्ष्य कर यह आभास मिल गया कि शंकरजी को क्षोभ हो रहा है। इस स्थल पर ग्रंथकार यदि 'सती न जानहि परमु सोइ' इतना न भी कहते, तो भी कथा-प्रवाह में कोई अवरोध आने की आशंका न थी, परंतु श्रद्धारूपी सती की ओर भी इतना लक्ष्य कर देने से, साधना की

१—१।४८।२।१। २—गीता, ४।३९।

मनोभूमि पर, विश्वास की अवस्था में कंपन होने के साथ ही साथ श्रद्धा की अवस्था पर भी उसका प्रभाव पड़ने की स्वाभाविक परंपरा का भी दिग्दर्शन हो गया।

भगवान् श्रीराम के दर्शनानंद को जब विश्वासरूपी शंकर हृदय में न रोक सके और प्रगट में मुख से भी 'जय सच्चिदानंद जगपावन'[१] कहकर उन्हें प्रणाम किया तो मार्ग में भी उस हर्ष और आनंद के लक्षण उनमें बराबर प्रगट होने लगे, तो श्रद्धारूपी सती की अवस्था में दूसरा विशेष कंपन उपस्थित हुआ। इस बार वह कंपन पूर्व की भाँति दब न सका। उसने संदेह के रूप में श्रद्धारूपी सती के अंतःकरण में प्रत्यक्ष होकर उसमें एक हलचल उत्पन्न कर दी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥

विश्वास की अवस्था में कंपन के साथ साथ, श्रद्धा की अवस्था में भी कंपन दो प्रकार से हुआ करता है। एक तो इस प्रकार कि विश्वास की अवस्था में जैसा-जैसा परिवर्तन होने लगता है, श्रद्धा का रूप भी वैसा ही शरीर की छाया की भाँति विश्वास के अनुकूल ही बदलता जाता है। विश्वास की ओर श्रद्धा का झुकाव अबाध गति से चलता रहता है। विश्वास के साथ श्रद्धा की इस परि- अवस्था को ही निष्ठा के नाम से व्यक्त किया जाता है। साधना के क्षेत्र में श्रद्धा की परिपक्वावस्था का यह निष्ठा-रूप यद्यपि प्रशंसनीय है तथा वह साध्य की प्राप्ति में शी- सफलता प्राप्त करनेवाला माना जाता है, तथापि इस स्थल पर सावधान रहना आवश्यक है। इस प्रकार की निष्ठा वास्तव में उसी विश्वास के साथ सफल और संगत होती है, जो पूर्णतया संशयरहित ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित हो, अन्यथा इस प्रकार की निष्ठा अंध श्रद्धा का रूप ग्रहण कर साधक को हानि भी पहुँचा सकती है। फिर भी संशयरहित यथार्थ ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वास के साथ तो श्रद्धा की परिपक्व अवस्था उपर्युक्त निष्ठा ही है जो निश्चितरूप से शी- सफलता की ओर पहुँचाने में समर्थ होती है। यह ध्रुव सत्य है। कंपन का दूसरा प्रकार यह है कि विश्वास के प्रत्येक कंपन के साथ-साथ श्रद्धा में भी तदनुरूप ही कंपन होकर वह श्रद्धा स्वभावतः विश्वास के साथ सहमत तो रहती है, पर किसी-किसी अवसर पर संदेह में पड़कर निर्भरता को खो बैठती है। इस अवस-

१—१।५०।३। २—१।५०।५—१।५१।२।

में श्रद्धा, विश्वास को परीक्षा की कसौटी पर चढ़ाकर उसके साथ अपनी एकता में उत्पन्न शैथिल्य को दूर कर देने के लिए भी आतुर होती है। वास्तव में यह श्रद्धा की पूर्व अपरिपक्व अवस्था है, जिसके साथ तर्क भी संमिलित रहता है।

श्रद्धा की इन दोनो अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए, रामचरितमानस में श्रद्धारूपी भवानी का चरित्र भी स्पष्ट रूप में दो भागों में विभक्त है--१. सतीचरित्र तथा २. पार्वतीचरित्र।

सती के चरित्र पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान देने पर ऐतिहासिक कथा के साथ ही साथ श्रद्धा की पूर्वावस्था, अर्थात् तर्क सापेक्ष श्रद्धा की रूप-रेखा, का दिग्दर्शन होता है। आगे चलकर उन्हीं के हिमाचलसुता पार्वती के रूप में जन्म लेने पर उनके चरित्र में उसी श्रद्धा की परिपक्वावस्था निष्ठा की रूप-रेखा का चित्रण सुचारु रूप से सामने आता है।

अब सती के चरित्र से श्रद्धा की तर्क सापेक्ष पूर्व अवस्था का दिग्दर्शन कीजिए।

शंकर के द्वारा भगवान् श्रीराम को 'जय सच्चिदानंद जगपावन' कहकर प्रणाम करने तथा मार्ग में बार-बार उनकी प्रेम में पुलकायमान होने की दशा देखकर सती के अंतःकरण में विशेष रूप से संदेह उत्पन्न हो गया। वे विचार करने लगीं कि--

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥[१]

इस पर शंकर ने उन्हें समझाया--

सुनहि सती तव नारिसुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं॥
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवननिकाय पति मायाधनी॥
अवतरेउ अपनें भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥[२]

फिर भी--

लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु।[3]

शंकर ऐसे ज्ञानी जगद्गुरु के समझाने पर भी, उन्हीं की अर्द्धांगिनी सती के संदेह का निवारण न होना, शंकर के महत्त्व की दृष्टि से एक आश्चर्य की ही बात है।

१--१।५०।०-१।५१।२। २--१।५१।६-१२। ३--१।५१।१३।

इस ऐतिहासिक कथा में भवानी-शंकर के उस चरित्र का वर्णन किया गया है, जिसके अर्थानुसंधान में श्रद्धा और विश्वास के विकास–क्रम की रूप-रेखा का पूरी तरह दिग्दर्शन निहित है। अतएव इस वर्णन के अंतर्गत श्रद्धारूपी भवानी के चरित्र में श्रद्धा की पूर्व तर्क सापेक्ष अपरिपक्व तथा पूर्ण परिपक्व निष्ठा की अवस्थाएँ और विश्वासरूपी शंकर के चरित्र में विश्वास की पूर्व परोक्ष तथा पूर्ण अपरोक्ष अवस्थाएँ दोनो की चरितार्थता में उपर्युक्त प्रकार के अवकाश उपस्थित होना, उनके वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार त्रुटि की बात न होकर, श्रद्धा और विश्वास के विकास-क्रम से संबंधित किसी रहस्य का ही द्योतक है।

जिस प्रकार श्रद्धा की पूर्व अवस्था में उसके साथ तर्क का संमिश्रण रहता है, उसी प्रकार विश्वास की भी पूर्व अवस्था में बहुत दूर तक उसके साथ परोक्षता का आवरण साथ साथ चलता है। जिस प्रकार श्रद्धा में जब तक तर्क की अपेक्षा साथ चलती रहती है, उस समय तक उसे अपनी परिपक्व अवस्था के रूप 'निष्ठा' का महत्त्व नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार विश्वास के साथ भी जब तक परोक्षता का आवरण लगा रहता है उस समय तक उसकी भी शक्ति और सामर्थ्य में कुछ न कुछ कमी रहती है। इसका प्रभाव यह होता है कि किसी भी सिद्धांत अथवा रहस्य पर आत्मा के पूर्व संस्कार अथवा पूर्व अभ्यास के फलस्वरूप, किसी साधक अथवा सिद्धपुरुष का विश्वास अपने लिए तो, उपर्युक्त परोक्षता रूपी आवरण के साथ रहते हुए भी दृढ़ रहता है, परंतु तर्क की अपेक्षा रखनेवाले किसी श्रद्धा को भी, वह अपने विश्वास से प्रभावित कर ही ले, इस सामर्थ्य में कभी असफल होने की भी संभावना बनी रहती है। ऐतिहासिक कथा के उपर्युक्त अवसर पर विश्वासरूपी शंकर द्वारा समझाए जाने पर भी श्रद्धारूपी सती पर उसका कोई प्रभाव न पड़ने में, साधनात्मक मनोभूमि पर विश्वास की इसी उपर्युक्त अवस्था की चरितार्थता लक्ष्यीभूत है। अब विश्वासरूपी शंकर के चरित्र में उस परोक्षता के आवरण का क्या स्थान है? यह विचारणीय है।

शंकर ने प्रभु को पहचान कर अपने इष्टदेव के दर्शन का परम सुख अनुभव किया, पर अवतारी शरीर में नर-नाट्य करते हुए भगवान् श्रीराम तो योगमाया के आवरण में थे। इस अवस्था में भगवान् का योगमाया के आवरण में छिपे रहना अवतार का स्वाभाविक नियम ही है। श्रीभगवद्गीता में भगवान् ने स्वयम् कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥[१]

अर्थात् अवतारी शरीर में मैं योगमाया से आवृत होने के कारण सबके सामने प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। इससे मूढ़ लोग मुझे अज, अव्यय स्वयम् परमात्मा न मानकर मनुष्य ही मानने के भ्रम में रहते हैं और मेरे स्वरूप को नहीं पहचान पाते।

१—७।२५।

इस स्थल पर भगवान् के अवतारी शरीर में योगमाया का आवरण ही विश्वास के प्रतीक शंकर के साथ परोक्षता के आवरण का रूप है और विश्वास के विकास-क्रम की चरितार्थता एवम् ऐतिहासिक कथा में शंकर के समझाने पर भी सती पर उसका कोई प्रभाव न पड़ने की सार्थकता का यही रहस्य है।

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर किसी सिद्धांत अथवा रहस्य पर अटल विश्वास रखनेवाले किसी महापुरुष के पास, तर्क की अपेक्षा रखनेवाले किसी श्रद्धालु व्यक्ति की श्रद्धा को संतुष्ट करके, उसे विश्वास के साथ एकता की ओर अग्रसर करने का एक ही मार्ग रह जाता है। वह मार्ग यह है कि श्रद्धालु व्यक्ति को उस सिद्धांत अथवा रहस्य के संबंध में, अपनें संतोष के अनुसार परीक्षा कर लेने के लिए, पूरी स्वतंत्रता प्रदान कर देना। अतएव विश्वासरूपी शंकर ने श्रद्धारूपी भवानी 'सती' से कहा—

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू।
तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं। जब लगि तुम्ह अैहहु मोहि पाहीं॥[1]

पर साथ ही परीक्षा करने में कोई दूसरी आपदा न उपस्थित हो जाय, इसके लिए सावधान करते हुए उन्होंने इतना और कह दिया—

जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥[2]

यहाँ 'बिबेकु बिचारी' कहकर सावधानतापूर्वक परीक्षा लेने का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है।

श्रद्धा स्वाभाविक रूप से गुरुजनों के वाक्यों पर ही हुआ करती है और गुरुजनों का, अपने अनुभवों पर विश्वास ही श्रद्धा का आधार रहता है। अतएव श्रद्धा और विश्वास के विकास-क्रम की चरितार्थता को समझने के लिए विश्वास के प्रतीक के रूप में गुरु अथवा आचार्य तथा श्रद्धा के प्रतीक के रूप में श्रद्धालु जिज्ञासु को प्रतिष्ठित कर, गुरु शिष्य के संबंध को आगे रखकर इस विषय का विवेचन अधिक सुविधाजनक होगा।

श्रद्धा की परिपक्व अवस्था 'निष्ठा' के प्राप्त हो जाने पर श्रद्धालु जिज्ञासु को तर्क अथवा परीक्षा की अपेक्षा नहीं रह जाती। उसे बिना किसी रुकावट के गुरु के बताए हुए अनुभवों का अनुसरण करते हुए अपनी साधना में एक प्रकार की स्वाभाविक तन्मयता प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप उत्तरोत्तर नई अनुभूतियों के प्राप्त होते रहने से उसके संशयरूपी मल का ह्रास स्वाभाविक रूप में होता रहता है। संशय की उत्पत्ति और पुष्टि करनेवाली किसी विरोधी प्रवृत्ति के साथ चलने का उसे अवकाश नहीं रहता। इस कारण श्रद्धा की उस परिपक्वावस्था में, साधना-

---

१—१।५२।१,२। २—१।५२।३।

शक्ति प्रबल होने से सफलता की प्राप्ति भी सुगम हो जाती है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए रामचरितमानस के अयोध्याकांड में चित्रकूट-प्रसंग के अंतर्गत यहाँ तक कह दिया गया है—

गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥[1]

श्रद्धा की अपरिपक्वावस्था में, विश्वास की परीक्षा में प्रवृत्ति होने के कारण विश्वास के विपरीत पक्ष को आगे रखकर चलने से, साधना के साथ ही साथ श्रद्धालु साधक की चित्तवृत्ति के झुकाव का अभ्यास विपरीत पक्ष की ओर भी चलता रहता है जिससे साधना की तन्मयता बीच-बीच में शिथिल हो जाती है। इसलिए सफलता की दृष्टि से यह मार्ग प्रायः दुस्तर और कंटकाकीर्ण रहता है, फिर भी श्रद्धा की परिपक्व अवस्था 'निष्ठा' की प्राप्ति के पूर्व तक, साधक को इसी मार्ग से चलना ही पड़ता है। केवल कठिनाई के कारण उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस अवस्था में भी, शुद्ध हृदय से गुरु में दृढ़ भक्ति-भावना रखनेवाले साधक के प्रति गुरु की शुभकामना एवम् आंतरिक कृपा-दृष्टि भीतर ही भीतर बराबर उसके हित में अपना प्रभाव डालती रहती है।

प्रस्तुत प्रसंग में शंकर ने सती को परीक्षा करने की अनुमति तो दे दी पर उस मार्ग की कठिनाईयों एवम् संभव आपत्तियों को समझते हुए, उनके कल्याण के लिए भी उन्हें चिंता होने लगी--

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दक्षसुता कहुँ नहिं कल्याना॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥[2]

इस चिंता के उपस्थित होते ही उन्होंने सती के कल्याण का सारा सार-संभार अपने इष्टदेव श्रीराम पर छोड़ दिया--

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा।[3]

यही, श्रद्धा की तर्क और परीक्षा सापेक्ष अपरिपक्व अवस्था में, विश्वास की परीक्षा के कंटकाकीर्ण मार्ग में चलते हुए श्रद्धालु साधक के प्रति गुरु के कृपापूर्वक आंतरिक संरक्षण की चरितार्थता है। अब आगे के चरित्र में इस परीक्षण के मार्ग की कठिनाईयों तथा संभव आपत्तियों की चरितार्थता का दिग्दर्शन कीजिए।

यद्यपि शंकर ने सती को 'करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी' कहकर समझ-बूझकर उचित परीक्षा लेने के लिए सावधान कर दिया था, फिर भी परीक्षा करने में 'सतीं कीन्ह सीता कर बेषा'[4]। उनकी इस भयंकर भूल के कारण

१—२।२१४।५। २—१।५२।५-६। ३—१।५२।७-८। ४—१।५६।७।

'सिव उर भएउ बिषाद बिसेषा'।[१] उन्होंने सोचा कि 'जौ अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथु होइ अनीती'।[२] अतः 'सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं।' 'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'[३] इसके फलस्वरूप सती को, उस शरीर के जीवनपर्यंत, शंकरजी के वियोग का अपार दुःख सहन करना पड़ा।

अब उनके प्रति आंतरिक कृपा तथा सहानुभूति के प्रभाव में, प्रभु श्रीराम की ओर से उनके संरक्षण की चरितार्थता का अवलोकन कीजिए।

यदि श्रीराम सती के द्वारा परीक्षा करने पर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यभाव का परिचय नहीं ही देते, तो इसमें उनका क्या बनता बिगड़ता? अधिक से अधिक, लोक में अनेक माया मोहित लोगों की तरह सती भी उन्हें साक्षात् परब्रह्म का अवतार न मानकर एक मनुष्य राजकुमार ही मान बैठतीं। पर यह सब, विश्वास के प्रतीक परम गुरु शंकर की सती के प्रति आंतरिक कृपा और सहानुभूति तथा प्रभु श्रीराम के ऊपर ही सती के कल्याण का सारा सार-संभार छोड़ देने का प्रभाव था कि प्रभु ने अपने ऐश्वर्य भाव का परिचय इस प्रकार दिया—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥[४]

फिर

जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥
सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभुसेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥
सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥
देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूदि बैठीं मग माहीं॥
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥
पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥[५]

१—१।५६।७। २—१।५६।८। ३—१।५७।२। ४—१।५३।७-८।
५—१।५४।३-१।५५।८।

यही भवानी शंकर की ऐतिहासिक कथा के अंतर्गत, विश्वास के प्रतीक गुरु की ओर से, श्रद्धा के प्रतीक गुरु-भक्त साधक के तर्क और परीक्षा सापेक्ष, श्रद्धा के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने की स्थिति में भी, उनकी आंतरिक कृपा और सहानुभूति के प्रभाव की चरितार्थता है।

इस स्थल पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब शंकरजी ने सती के कल्याण का भार प्रभु श्रीराम पर छोड़ दिया तब श्रीराम ने सती को ऐसी प्रेरणा क्यों नहीं दी कि वे सीता का रूप न ग्रहण करके किसी दूसरी भाँति परीक्षा करतीं, जिससे उन्हें पति-वियोग का दारुण कष्ट न सहन करना पड़ता? प्रभु श्रीराम ने इतनी और संभाल क्यों नहीं की?

इसका उत्तर यह है कि अवश्य ही यदि प्रभु श्रीराम चाहते तो अंतःप्रेरणा द्वारा ऐसा कर सकते थे, परंतु श्रद्धा के विकास-क्रम का आदर्श उपस्थित करते हुए, श्रद्धा की तर्क सापेक्ष पूर्व स्थिति में परीक्षा के कंटकाकीर्ण मार्ग की कठिनाइयों एवम् आपत्तियों की संभावना का भी दिग्दर्शन आवश्यक था। साथ ही परीक्षा के मार्ग में गुरु के प्रति धृष्टता, अविश्वास, उनके वचनों की अवहेलना आदि आचार्यापराधों की संभावना भी रहती ही है, जिनका प्रायश्चित भी आवश्यक था। अतएव उस प्रायश्चित की चरितार्थता के लिए प्रभु ने सती को, सीताजी का रूप धारण करने से रोकने के लिए कोई दूसरी अंतःप्रेरणा नहीं दी।

अब पुनः विश्वास के प्रतीक परमगुरु शंकर के चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। परीक्षा करके लौटने पर जब सती——

गईं समीप महेस तब हसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीक्षा कवन बिधि कहहु सत्य सब बात॥[1]

यहाँ 'हसि पूछी कुसलात' से यह ध्वनित होता है कि यद्यपि वे स्वयम् तो सती को नहीं समझा सके, पर उनके प्रति अपनी कृपा एवम् हार्दिक सहानुभूति तथा उनके कल्याण का भार प्रभु श्रीराम पर छोड़ देने से वे पूरी तरह निश्चित हो गए थे कि वहाँ प्रभु श्रीराम अवश्य ही अपने ऐश्वर्यभाव का परिचय देकर इन्हें ठीक रास्ते पर ले आएँगे और तब अपनी भूल पर इन्हें लज्जित भी होना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने हास्य की मुद्रा के साथ कुशल पूछा। कदाचित् लज्जा और संकोच के कारण सती सब बात स्पष्ट कहने का साहस न करें, इसलिए 'कहहु सत्य सब बात' से सब समाचार ठीक ठीक कहने का संकेत किया।

इस स्थल पर शंकरजी की चेष्टा से व्यंजित होता है कि विश्वास के विकास-क्रम में, विश्वास के साथ परोक्षता का आवरण उपस्थित रहने की स्थिति में भी,

---

१—१।५५।०।

विश्वास के प्रतीक गुरु अथवा आचार्य भले ही अपने श्रद्धालु शिष्य अथवा जिज्ञासु का समाधान तर्क द्वारा स्वयम् न कर सकें, पर वे अपने आत्म-विश्वास से स्वयम् कदापि विचलित नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस स्थिति में विश्वास के साथ परोक्षता के आवरण का ज्ञान भी, विश्वास के प्रतीक गुरु अथवा आचार्य के अंतःकरण में बराबर बना रहता है। आवरण ही, तर्क द्वारा दूसरे का समाधान न कर सकने में, असमर्थता का कारण होता है। इस बात की चरितार्थता के लिए भी, भवानी शंकर के ऐतिहासिक चरित्र में आगे का प्रसंग द्रष्टव्य है।

शंकरजी के द्वारा परीक्षा विषयक समाचार पूछने पर सती ने सचमुच भय और संकोच के कारण अपने कृत्य को छिपाने का असफल प्रयत्न किया—

सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं॥[1]

शंकरजी को सती की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ—

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥[2]

यह सब जान लेने पर भी उनके हृदय में सती के प्रति कोई रोष या मनोविकार नहीं उत्पन्न हुआ। उन्होंने भगवान् श्रीराम की माया की प्रेरणा का ही अनुभव कर, सती को निर्दोष ही ठहराया—

बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥[3]

यही विश्वासरूपी शंकर के ऐतिहासिक चरित्र के अंतर्गत विश्वास के विकास-क्रम में, विश्वास के प्रतीक गुरु अथवा आचार्य के अंतःकरण में उपर्युक्त परोक्षता के आवरण का ज्ञान बने रहने की चरितार्थता है।

फिर भी अपने विश्वास की चरितार्थता में, उसको विकृत करनेवाले किसी विपरीत पक्ष की संभावना से, अपने को पृथक् रखने के उद्देश्य से, यदि किसी विशेष संयम का अनुष्ठान कर लेने की आवश्यकता प्रतीत हो तो संकल्प भी विश्वास के विकास-क्रम के लिए प्रायः आवश्यक हो जाता है। इस संयम की चरितार्थता आगे शंकर द्वारा सती-त्याग के संकल्प से होती है।[4]

ऐसी स्थिति में विश्वास के विकास-क्रम को सुरक्षित, निर्विघ्न और बाधारहित रखने के लिए, कभी-कभी लोकोपदेश आदि व्यवहार से एकांत होकर कुछ काल के लिए ऐकांतिक साधना अथवा समाधि-अवस्था में तन्मय हो जाने की भी आवश्यकता पड़ जाती है। इस बात की चरितार्थता आगे शंकर के दीर्घकाल पर्यंत अखंड समाधि में स्थित हो जाने के प्रसंग से होती है—

१—१।५६।१–२। २—१।५६।४। ३—१।५६।५। ४—द्रष्टव्य—१।५६।६–१।५७।२।

बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥
संकर सहज सरूपु सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥[१]

अब विश्वास के विकास-क्रम के प्रसंग को यहीं छोड़ श्रद्धा के विकास-क्रम की ओर आइए।

विश्वास के केंद्र अनुभवी महापुरुषों के साथ जब जिज्ञासु की सच्ची श्रद्धा का संबंध जुट जाता है तब तर्क के कारण उसमें उन महापुरुषों के उपस्थित किए विचारों की परीक्षा कर लेने की प्रवृत्ति भले ही उपस्थित होती रहे, पर ऐसे सत्पुरुषों के साथ श्रद्धा का संबंध-विच्छेद प्रायः कभी नहीं होता। फिर भी अपने तर्क और परीक्षा की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कभी-कभी आचार्यापराध हो जाने तथा उन महापुरुषों की ओर से अपने प्रति उदासीनता का भाव प्रकट हो जाने पर जिज्ञासु की श्रद्धा अपनी धृष्टता एवम् अपराधों का प्रायश्चित कर, उनके सान्निध्य और सेवा में उपस्थित रहने के लिए ही सदा उत्कंठित और प्रयत्नशील रहती है। यह तथ्य आगे सती की मनःस्थिति से प्रमाणित हो जाता है—

सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं॥

नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहौं दुखसागर पारा॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पतिबचनु मृषा करि जाना॥
सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥
अब बिधि अस बूझिअ नहि तोही। संकरबिमुख जिआवसि मोही॥[२]

ऐसे आध्यात्मिक तथ्यों पर विश्वास की प्रत्यक्षता के रहस्य को समझनेवाले अनुभवी महापुरुष, श्रद्धालु जिज्ञासुओं के तर्क और परीक्षा की कसौटियों से कभी असंतुष्ट और अप्रसन्न नहीं होते। उन्हें श्रद्धा के भी विकास-क्रम की स्थिति का ज्ञान रहता है। फिर भी अपने इष्ट तथा आराध्य देव के प्रति निष्ठा के विपरीत यदि जिज्ञासु के तर्क और परीक्षा बाधक सिद्ध हुए तो ऐसी स्थिति में अपनी भक्ति और निष्ठा को सँभालने के हेतु अवश्य ही ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासुओं के प्रति भी उनमें कुछ न कुछ उदासीनता तथा उपेक्षा का भाव प्रायः व्यवहार में आ ही जाता है। ऐसी दशा में गुरु अथवा आचार्य को संतुष्ट करके उनके प्रति अपना संबंध पूर्व की भाँति उतनी ही घनिष्ठता से पुनः स्थापित करने के लिए श्रद्धालु जिज्ञासु को आचार्य के भी आचार्य तथा आराध्य स्वयम् भगवान् की शरण लेना पड़ता है। साधनात्मक मनोभूमि की इस आदर्श स्थिति की चरितार्थता भी भवानी-शंकर के ऐतिहासिक चरित्र के अंतर्गत सती की स्थिति से हो जाती है—

१—१।५८।६-८। २—१।५८।०-१।५९।४।

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महु रामहि सुमिर सयानी ॥
जौ प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा ॥
तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी ॥
जौ मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू ॥
तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ।
होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥[1]

इस प्रकार सच्चे हृदय से दीन होकर प्रार्थना करने पर शरणागतवत्सल प्रभु उस प्रायश्चित की अवस्था को भी शीघ्र समाप्त कर श्रद्धा को पुनः विकास-क्रम के मार्ग में आगे बढ़ाने के लिए कोई न कोई रास्ता सामने उपस्थित कर देते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में सहसा अपने पिता दक्ष के यहाँ यज्ञ महोत्सव का समाचार सुनना, अपने वहाँ जाने के लिए शंकरजी से आग्रहपूर्वक स्वीकृति लेना, पुनः वहाँ जाकर यज्ञ में शंकरजी का भाग न देख उनके अपमान को सहन न कर क्रोधपूर्वक उनके निंदक अभिमानी दक्ष के वीर्य्य से उत्पन्न अपने उस शरीर को त्याग देने की घोषणा करके वहीं योगाग्नि से शरीर को भस्म कर देना, हिमाचल के यहाँ पार्वती के रूप में दूसरा जन्म धारण करना आदि घटनाएँ उपर्युक्त प्रभु की ओर से प्रायश्चित का समय शीघ्र समाप्त करके श्रद्धा को नव-विकास के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देने की चरितार्थता की ही द्योतक हैं। दक्ष-सभा में—

सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा ॥
तेहि कारन हिमगिरिगृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई ॥[2]

हिमाचल पर्वत के घर जन्म लेने में ही, श्रद्धारूप भवानी के चरित्र में श्रद्धा के विकास-क्रम के अंतर्गत एक जन्मजात लक्षण अथवा संस्कार की संभावना झलक उठती है। सती शरीर में दक्षसुता थीं। दक्ष का अर्थ ही होता है 'चतुर'। अतएव दक्ष-सुता होने से उस शरीर द्वारा उपस्थित किए गए श्रद्धा के आदर्श में, उस श्रद्धा के साथ तर्क और परीक्षा की सापेक्षता स्वाभाविक थी। पर अब श्रद्धा के स्वाभाविक शुद्ध सात्विक रूप 'अचल निष्ठा' का आदर्श उपस्थित करने के अनुरूप अचल हिमालय के घर जन्म लेकर अपने स्थान पर अडिग रहनेवाली पर्वत-सुता 'पार्वती' के नाम से विख्यात हुईं। यह जन्म से ही श्रद्धा के विकास-क्रम में एक स्वाभाविक काया पलट उपस्थित होने का लक्षण है।

दक्ष का अभिमानी होना स्पष्ट ही है—

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमानु हृदयँ तब आवा ॥[3]

अतएव श्रद्धा की रूप भवानी में, अहंकारजनित दक्षता का संपर्क (तर्क का कश्मल) जब तक साथ लगा हुआ था, उस समय तक श्रद्धा के शुद्ध सात्विक

१—२।५९।५–१०। २—१।६५।५–६। ३—१।६०।७।

निष्ठा रूप की प्राप्ति दुस्तर थी। अतः शुद्ध सात्विक निष्ठा के रूप में काया पलट होने के लिए उस अहंकारजनित दक्षता के संस्कार को योगाग्नि में भस्म करना पड़ा।

श्रद्धा के इस प्रकार काया पलट हो जाने से पूर्वावस्था में उस श्रद्धा के साथ चलनेवाली 'तर्करूपी' सहेली भी 'निर्भरता' के रूप में परिणत होकर 'निष्ठा-देवी' का साहचर्य्य करने लगती है। सप्तर्षियों द्वारा परीक्षा के उत्तर में पार्वती के ही शब्दों में देखिए—

सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥
कनकौ पुनि पषान तें होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई॥
नारदबचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवनु उजरौ नहि डरऊँ॥
गुर के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥

महादेव अवगुनभवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिऊँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥
जौ तुम्हरें हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किएँ बरेखी॥
तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाही। बर कन्या अनेक जग माही॥
जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी॥
तजौं न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥
मैं पाँ परौं कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भएउ बिलंबा॥[1]

निष्ठा-देवी की इस निर्भरता को देख सप्तर्षि भी मुग्ध रह गए और हृदय में संतुष्ट होकर चरणों में नतमस्तक हुए—

देखि प्रेमु बोले मुनि ज्ञानी। जय जय जगदंबिके भवानी॥
तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले पुनि पुनि हरषत गातु॥[2]

इस निर्भयता का आश्रय प्राप्त कर सात्विक श्रद्धा निष्ठा की प्रतीक पार्वती विश्वास के रूप भगवान् शंकर की अनुगामिनी हो, पुनः पूर्ववत् उनकी सहधर्मिणी रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए सहस्रों वर्ष धैर्य के साथ अखंड तपस्या में प्रवृत्त हो सकीं। यही श्रद्धा की परिपक्वावस्था निष्ठा का अपूर्व आदर्श है जो हिमांचल सुता पार्वती के रूप में चरितार्थ हुआ है।

वस्तुतः श्रद्धा के अपनी परिपक्वावस्था 'निष्ठा' के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से ही साधना में यथेष्ट सफलता की आशा की जा सकती है। यही श्रद्धा

१—१।८०।५–१।८१।७। २—१।८१।८–१०।

विकास-क्रम में पूर्णता की स्थिति है, जिसकी चरितार्थता प्रस्तुत ऐतिहासिक चरित्र के अंतर्गत आगे निम्नलिखित उद्धरणों में स्पष्ट होती है—

देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा॥
भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि॥
अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी॥[१]

अब पुनः विश्वास के प्रतीक शंकर के चरित्र में परोक्षता के आवरण से भी रहित विश्वास के प्रत्यक्ष रूप और उसके प्रभाव का दिग्दर्शन कीजिए।

सती के शरीर त्याग के पश्चात् शंकर वैराग्यपूर्वक विशेषरूप से एकाग्र चित्त हो भगवान् श्रीराम की आराधना और तद्विषयक सत्संग में संलग्न हुए—

जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा। तब तें सिवमन भएउ बिरागा॥
जपहिं सदा रघुनायकनामा। जहँ जहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा॥
चिदानंद सुखधाम सिव बिगत मोह मद काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम॥
कतहु मुनिन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥[२]

इस अवस्था में भी अपनी आश्रिता एवम् भक्त भवानी का उन्हें बराबर ध्यान बना ही रहा और उनके विरह में वे दुःखित भी रहे—

जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥[३]

भगवान् श्रीराम अपने भजन में उनकी अखंड प्रवृत्ति और नेम-प्रेम की दृढ़ता को देख योगमाया के आवरण से रहित अपने दिव्य अप्राकृत साक्षात्‌रूप से उनके सामने प्रगट हुए। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से प्रगट होकर—

बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥
बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्मु सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निजु नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥[४]

शंकरजी ने भी अपने इष्ट तथा आराध्य भगवान् श्रीराम के वचनों को शिरोधार्य किया—

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आएसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥[५]

१—१।७४।८-१।७५।१। २—१।७५।७-१।७६।१। ३—१।७६।२।
४—१।७६।६-१०। ५—१।७७।१-२।

श्रद्धा की प्रतीक भवानी जब श्रद्धा की पूर्ण विकसित परिपक्वावस्था प्राप्त कर 'निष्ठा' की प्रतीक पार्वती रूप में प्रतिष्ठित हो गईं तब शंकरजी ने अर्द्धांगिनी रूप में उन्हें स्वीकार किया। तत्पश्चात् परम अधिकारी उपयुक्त पात्र के रूप में पार्वतीजी ने अपने पूर्व-जन्म के संदेह-भ्रम के निवारण हेतु शंकरजी से निवेदन किया। इस समय सहज ही में शंकर उनका समाधान सफलतापूर्वक कर सके। रामचरितमानस के प्रथम सोपान बालकांड में कैलाश पर्वत पर शिव-पार्वती संवाद के अंतर्गत जो वर्णन हुआ है उससे शंकर के वचनों से पार्वती को परम संतोष प्राप्त होना स्पष्ट है—

सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥
भइ रघुपतिपद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥
पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि॥
ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ॥
नाथकृपा अब गएऊ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभुचरन प्रसादा॥[1]

यही विश्वास के साथ विकास-क्रम में भी सर्वोत्कृष्ट पूर्णता की स्थिति है।

इस प्रकार श्रीरामचरितमानस के अंतर्गत भवानी-शंकर के चरित्र में ऐतिहासिक कथा के साथ ही साथ श्रद्धा और विश्वास के विकास-क्रम का शृंखलाबद्ध आदर्श भी अंतर्निहित पाया जाता है, जैसा कि मानस के प्रारंभ में भवानी-शंकर की वंदना के श्लोक में संकेतित है—

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

१—१।११९।७-१।१२०।३।

श्रीरामबहोरी शुक्ल

रामचरितमानस और हनुमन्नाटक

(४)

रावण द्वारा ताड़ित विभीषण अपने चार मंत्रियों के साथ रावण को त्याग राम के पास पहुँचा। राम ने देखते ही उसको लंका का राज्य दे दिया। इसके बाद राम दर्भ बिछाकर समुद्र के किनारे बैठ गए। 'मानस' में यह कार्य विभीषण की मंत्रणा से हुआ है, जिसका लक्ष्मण ने विरोध किया था और कहा था कि समुद्र को सोख लीजिए। उस समय राम ने उनको समझाया था कि ऐसा ही होगा, थोड़ा धीरज रखो। परंतु नाटक में ऊपर लिखे कार्य को करने के समय ही राम ने कह दिया था कि यदि समुद्र मेरे सामने न आया तो मैं इसका जल आग्नेय अस्त्र से सोख लूँगा।[१] समुद्र ने सगर से उद्भूत होने की बात का स्मरण दिलाकर राम को उक्त कार्य से विरत करना चाहा, परंतु राम ने समुद्र सोखने के लिए ज्योंही लक्ष्मण से धनुष-बाण लाने को कहा त्योंही समुद्र ढीला पड़ गया। वह हाथ जोड़े सामने आया। उसकी आज्ञा से नल ने सेतु बनाया। उसके स्पर्श से पत्थरों को पानी पर तैरता देख हनुमान् बोल उठे—इस दुस्तर समुद्र पर पत्थर तैर रहे हैं, वे वानर वीरों को पार उतार रहे हैं। यह सब न तो पत्थरों का गुण है और न वानरों का ही। यह तो राम का प्रताप है।[२]

ऊपर लिखी बात मानस में भी षष्ठ सोपान के आरंभ में कही गई है, किंतु इसे हनुमान् ने नहीं कहा। वहाँ शिव ने पार्वती से प्रायः इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हुए पुल बाँधने का वर्णन किया है।[३] समुद्र पर सेतु बँध जाने पर श्रीराम

१—अथ दशरथपुत्रे तत्र सौमित्रिमित्रेऽप्युदगुदधितटान्ते गर्भदर्भावकीर्णे ॥
अहमिह ह निविष्टे नागतोऽग्रेतिरोषाद्यदि जलधिरनेनाप्यात्तमाग्नेयमस्त्रम् ॥
—हनु०, ७।१५।

२—हनु०, ७।१९।

३—गिरिजा रघुपति कै येह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती ॥
बाँधेउ सेतु नील नल नागर। रामकृपा जसु भएउ उजागर ॥
बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई ॥
महिमा येह न जलधि कै बरनी। पाहनगुन न कपिन्ह कै करनी ॥
श्रीरघुबीरप्रताप तें सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे रामु तजि भजहिं जाइ प्रभु आन ॥
—मानस, ६।३।६-११।

ने शंभु की स्थापना कर रामेश्वर की विधिवत् पूजा की। फिर रामेश्वर-पूजन का माहात्म्य कहा।

पुल पर चढ़कर राम ने अपने दल-बल के साथ समुद्र पार किया। वहाँ डेरा डाला। वानरों से आहत निशाचरों से रावण को वारिधि बाँधे जाने की सूचना मिली। वह घबरा गया। घबराहट छिपाने के लिए तुरंत वह अंतःपुर में चला गया। वहाँ मंदोदरी ने चरण पकड़कर उससे विनती की और अपने अहिवात के लिए राम से वैर त्यागने का अनुरोध किया। रावण ने अपने पौरुष का बखान करते हुए उसको ढारस बँधाया। फिर वह सभा में गया। वहाँ शत्रु से कैसे युद्ध किया जाय——इस पर मंत्रियों से परामर्श करना चाहा। उन्होंने 'नर कपि भालु अहार हमारा'[1] कहकर विचार करने की आवश्यकता ही न समझी। इस पर प्रहस्त मंत्रियों की ठकुरसोहाती पर बिगड़ा। रावण से बोला कि पहले राम के पास दूत भेजो, फिर सीता देकर उनसे मेल कर लो। सीता पाकर वे न लौटें तो जमकर लोहा लो। अपने पुत्र की यह बात रावण ने बिगड़कर उड़ा दी। प्रहस्त वहाँ से चला गया। उधर संध्या आई। दशानन का अखाड़ा जमा। किन्नर गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। उधर सुबेल पर्वत पर राम ने शिविर बनाया। वहाँ चंद्रोदय देख उसके विषय में बातें होती रहीं। नाचरंग में मग्न रावण के अभिमान को चूर करने के लिए राम ने एक ही वाण से रावण के छत्र मुकुट और मंदोदरी के श्रवणों के ताटंक गिरा दिए। रस में भंग होने से सभा डर गई। मंदोदरी ने राम के विश्वरूप का वर्णन करते हुए रावण को फिर समझाया कि राम से प्रेम कर लो जिससे मेरा अहिवात न जाय। रावण ने इसको भी हँसी में उड़ा दिया। रात बीतने पर दसकंध सभा में पहुँचा।

इस ओर प्रातःकाल राम ने अपने मंत्री बुलाए और पूछा कि क्या करना चाहिए। जामवंत ने सुझाया कि बालि-कुमार को दूत-रूप में रावण को समझाने के लिए भेजना ठीक होगा। राम ने अंगद से इतना ही कहा——

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥[2]

अंगद प्रभु को सिर नवाकर चल पड़े और पुर में पैठ रावण के पुत्र को मार लंकेश की सभा में पहुँचे। वहाँ अंगद ने निर्भय होकर रावण से बातें कीं। उन्होंने यह प्रण करके पाँव रोप दिया कि

जौ मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥[3]

परंतु कोई भी उसको टस से मस न कर सका। रावण को आगे बढ़ता देख अंगद बोले——

१—मानस, ६।८।९। २—मानस, ६।१७।८। ३——वही, ६।३४।९।

। मम पद गहें न तोर उवारा ॥
गहसि न रामचरन सठ जाई । सुनत फिरा मन अति सकुचाई ॥[1]

इसके पूर्व रावण ने राम की निंदा की थी। इस पर अंगद ने कटकटाकर दोनो भुजाएँ भूमि पर पटकीं। तब रावण सिंहासन से गिर पड़ा। उसके चार मुकुट अंगद के हाथ लगे। उनको अंगद ने राम के पास फेंक दिए। इस प्रकार रावण का गर्व चूर करने तथा प्रभु का सुयश सुनाने के पश्चात् अंगद राम के समीप गए। उनसे गढ़ के सब समाचार कहे। अंगद के चले जाने पर रावण विलखता हुआ महल में गया। वहाँ मंदोदरी ने अंतिम बार उसे समझाने की चेष्टा की। इसका भी कुछ फल न हुआ। रावण ने इस बार कुछ उत्तर न दिया। सवेरा होते ही वह जाकर सभा में बैठ गया।

तदनंतर राम की सेना ने चारों ओर से आक्रमण किया। पहले दिन वानरों ने ही रावण का आधा कटक संहार कर डाला।[2] इससे घबराकर रावण ने मंत्रियों से परामर्श किया। माल्यवान ने समझाया कि 'परिहरि बयरु देहु बैदेही'।[3] रावण ने उसको निकाल बाहर किया। तब मेघनाद ने युद्ध में अपना पुरुषार्थ दिखाने का आश्वासन दिया। उसके शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए। हनुमान् द्वारा लाई संजीवनी से वे सचेत हुए। फिर कुंभकर्ण को राम ने और मेघनाद को लक्ष्मण ने मारा। अंत में अत्यंत भयंकर युद्ध के बाद राम ने रावण का वध किया। विभीषण का राजतिलक हुआ। सीता बुलाई गईं। उनकी अग्नि-परीक्षा हुई। ब्रह्मा ने राम की स्तुति की। दशरथ आए। इंद्र ने प्रार्थना की। राम के आदेश से इंद्र द्वारा बरसाए अमृत से रण में मृत भालु-कपि जी उठे। तब शंभु ने आकर राम की प्रार्थना की। विभीषण के दिए पुष्कर पर चढ़कर श्रीराम लक्ष्मण, जानकी और चुने हुए यूथपों के साथ अयोध्या चले। वे भरद्वाज के आश्रम में रुके। वहाँ से भरत को समाचार देने और उनके कुशलवृत्त लेने के लिए हनुमान् भेजे गए।

यह है मानस के षष्ठ सोपान की कथा का ऊपर दिया हुआ सारांश। हनुमन्नाटक के अष्टम से लेकर चतुर्दश अंकों में वही वृत्तांत वर्णित है। अष्टम अंक में अंगद-रावण संवाद है। सुवेलाद्रि तट पर अवतीर्ण होने के अनंतर राम ने स्वयम् ही अंगद को रावण के पास यह कहने के लिए भेजा कि मेरे परोक्ष में हरी गई सीता को मुक्त कर दो नहीं तो लक्ष्मण के बाणों से कटे तुम्हारे शिरों के शोणित से दिशाएँ भर जायँगी और तुम पुत्रों के सहित यमपुर जाओगे। रावण और अंगद की बातचीत नाटक में जिस रूप में हुई है उसकी कुछ छाया मानस में देखी जाती है। नाटक में अंगद के द्वारा रावण-पुत्र के वध तथा मुकुट फेंकने और प्रण करके पैर अड़ाने की चर्चा नहीं है। रावण का मद चूर्ण करने की बात अलबत्त है।

१—वही, ६।३५।२-३। २—दे०—मानस, ६।४८।४। ३—वही, ६।४९।१।

नवम अंक में सबसे पहले मंदोदरी रावण से एकांत में राम के हाथ में सीत को सौंपने का अनुरोध करती है। रावण कहता है कि मेरे बाणों के सामने रा न ठहर सकेगा। इस पर मंदोदरी कहती है कि अकेले हनुमान् ने सारा वन औ नगर जला दिया, तब तुम कुछ न कर सके। इससे अब सीता को छोड़ दो, छो दो। इस प्रकार की बात रामचरितमानस में भी मंदोदरी ने रावण से कही है।

मंदोदरी की बातों से किंचित् डरकर रावण ने शुक और सारण को राम शिविर में पता लगाने के लिए भेजा और मंत्रियों से मंत्रणा की। विरूपाक्ष औ महोदर ने बहुत सी नीति की बातें सुनाकर सीता को लौटाने की संमति दी इसी बीच मंदोदरी ने रावण से पूछा कि मुझसे जानकी के अंग की मनोहरता क्या भेद है? रावण ने उत्तर दिया कि तुम्हारे शरीर का परिमल मछली जैसा और जानकी की देह का कमल के सदृश। तुम दोनो के रूप में कोई अं नहीं। मेरी बात का बुरा न मानना। मंदोदरी वहाँ से उठकर चली गई। वह सोच लगी कि विभीषण शत्रुपक्ष में जा मिला है, अपने कुल के विरुद्ध पापचर्चा में ल है, कुंभकर्ण सो रहा है और अभिमानी राजा लंका में कलंक में डूबा सीताभिल रूपी गहरे दलदल में फँसा है। उपर्युक्त कथानक मानस में नहीं है।

नाटक के दशम अंक के प्रारंभ और अंत का वृत्त तो मानस में है ही क और मध्य का कुछ अन्य प्रकार से कहा गया है। इसमें रावण ने सीता के सा माया से राम और लक्ष्मण के कटे शिर उपस्थित किए। सीता विलाप करती हु राम के शिर का आलिंगन करने को ही थीं कि आकाशवाणी हुई—इसे कथ न छूना। यह शिव-भक्त रावण की माया है। तुम्हारे प्रिय भूपालमौलि राम स में कभी भी नहीं मारे गए। इसके साथ दोनो शिर और रावण आकाश में गए। जानकी को सरमा ने धीरज बँधाया।

रावण पुनः अशोकवनिका पहुँचा। इस बार पहले उसने आतुरतापू सीता से अपनाए जाने की याचना की। जानकी ने उसे ठुकरा दिया। उन्हों कहा कि मेरे गले में हाथ न लगाना। इसको या तो राम के उत्पल श्यामक भुजदंड स्पर्श करेंगे अथवा तेरा कठोर कृपाण[1] और सुनो, मैं जानती हूँ कि मैं

१—विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्तेर्दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः॥
—हनु०, १०।१६।

मानस (५।९-१०) में यह प्रसंग कुछ भिन्न रूप में है। वहाँ रावण ने मंदोदरी आ के साथ जाकर सीता को फुसलाया और बाद में धमकाया भी है, यहाँ केवल फुसलाया है सीताजी ने नाटक की सीता की भाँति रावण को प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया, किंतु तिनके की ओ करके बातें की हैं। ऊपर उद्धृत श्लोक का प्रतिबिंब इन अर्द्धालियों में विद्यमान है—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥—५।१०।३-

ध्यान करते करते राम सीता हो रहे हैं, आज तेरे वंश का नाश करने के लिए मैं राम बनती हूँ। इस अंश का मानस से थोड़ा सादृश्य है।

रावण उस समय तो अपना सा मुँह लेकर चला गया, किंतु फिर आया। अब उसने दूसरी माया रची। स्वयम् राम बन गया। एक एक हाथ में रावण के पाँच पाँच शिरों के झोंटे लटकाए, नगाड़े, शंख घोड़ों की हिनहिनाहट आदि की ध्वनि से लंका कोलाहलपूर्ण करते हुए प्रविष्ट हुआ। रावण बनने को राम तो बन गया और सीता के सामने आया भी, किंतु जिस राम का नाम लेते ही परस्त्री के अपहरण का विचार नहीं उठ सकता उसका रूप धारण करने पर वह विचार मन में न रह गया।[१] उधर बनावटी राम को देख जानकी फूली न समायीं। ज्योंही वे आलिंगन के लिए बढ़ीं, देखते-देखते रावण अंतर्धान हो गया। सरमा ने जानकी से रावण की इस माया का भेद भी खोल दिया। उधर रावण अपने केलि-मंदिर में जाकर अपने आप कहने लगा——

कृतकृत्येपि रामत्वे वर्तमाने मयि स्थिते।
निरुध्यन्त्येव ताः सर्वाः पापमूलाः प्रवृत्तयः॥[२]

(अपने ही सिर काटने का राम का सा काम करके भी इस समय मेरी पहले की काममूलक सभी पापवृत्तियाँ दूर हो रही हैं)। नाटककार ने राम के चरित्र के महत्त्व का यह बहुत ही सुंदर दिग्दर्शन किया है। यह कथा मानस में नहीं है।

हनुमन्नाटक के एकादश अंक में मुख्यतया कुंभकर्ण के वध का आख्यान है। इसके पूर्व की कथा यह है——लंका से लौटे अंगद से राम ने बातचीत की और निर्देश दिया कि वानरों से रात में सावधान रहने को कहो और प्रातः युद्धारंभ होने की सूचना दो।

रावण की भेजी प्रभंजनी राक्षसी सोते राम-लक्ष्मण को मारने के लिए आई। अंगद को सजग देख वहाँ से जाने लगी। अंगद ने उसे पकड़ लिया। उसके चिल्लाने पर वानरों ने शिलाएँ लेकर लंका घेर ली। सूर्योदय होने पर रावण ने राम की सेना देखी और मंत्री महोदर से बातें कीं। उसने राम को सुबेल पर्वत पर दिखलाया, उनका प्रताप वर्णन किया, मध्य दिन में हो रहे ग्रहोत्पात सूचित किए, परंतु रावण ने उसकी बातों की अवहेलना करते हुए अपने पिछले पुरुषार्थों का उल्लेख किया। इसी बीच रावण की आँख बचाकर सरमा ने सीता को अशोकवनिका में स्थित विमान पर चढ़ा रामचंद्र को दिखलाया।

१—लङ्काभटोऽथ रघुनन्दनवेषधारी पापो जगाम पुरतो जनकात्मजायाः।
नाम्नापि यस्य कुत इच्छति तस्य रूपादन्याङ्गनापहरणे न मनः कदाचित्॥
—हनु०, १०।१९।

२—हनु०, १०।२३।

उधर रावण ने महोदर को आज्ञा दी कि मंत्रियों के साथ जाकर कुंभकर्ण को जगाओ। मंत्रियों के चिल्लाने से उसकी आँखें न खुलीं। गंधर्व यक्ष सुर सि... नारियों के गीत सुनने से जगना तो दूर वह और भी गाढ़ी नींद में सो गया।

ऊपर का समस्त वर्णन मानस में नहीं है। कुंभकर्ण को जगाने का वर्णन मानस में अवश्य है, परंतु वहाँ शक्ति की चोट से मूर्च्छित लक्ष्मण के संजीवनी द्वारा स्वस्थ हो जाने पर रावण ने उसको स्वयम् जगाया है। जगने पर मानस में कुंभकर्ण के विषय में लिखा है कि

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥[1]

नाटक में यही बात इस प्रकार वर्णित है---सोकर उठने पर मांस के पहाड़ों के समूह निगलने और तीखा आसव पीनें पर भी कुंभकर्ण न अघाया और बोला कि सुरा की गंगा और यमुना सागर के समेत पी जाऊँगा।

कुंभकर्ण ने रावण के पास जाकर उससे सीता को लौटा देने का संकेत किया। रावण ने उसकी अवज्ञा की और अपनी वीरता का बखान किया। कुंभकर्ण अपना शौर्य गाते हुए युद्ध के लिए सन्नद्ध हुआ। मानस के कुंभकर्ण ने तो उक्त बातें स्पष्ट शब्दों में कही हैं, किंतु वहाँ रावण ने उसको अनसुनी करके उसके लिए 'कोटि घटँ मद अरु महिष अनेक'[2] मँगवाकर युद्ध के लिए तैयार कराया है।

कुंभकर्ण के युद्ध का चित्रण नाटक और मानस दोनो में हुआ है। वर्णन के ढंग और रूप में कुछ अंतर अवश्य है। मानस के राम ने कुंभकर्ण की दोनो भुजाएँ काट डालीं, फिर उसके खुले मुँह को वाणों से भर दिया, शिर काट डाला और धड़ के दो खंड कर दिए। उसका शिर रावण के सामने जा गिरा। नाटक के राम के दो वाण कुंभकर्ण को लगे---एक ने उसका हृदय वेध दिया और दूसरे ने शिर काट डाला।

कुंभकर्ण के मारे जाने पर क्रुद्ध हो रावण ने मेघनाद को युद्ध के लिए भेजा। उसके वध का वर्णन नाटक के द्वादश अंक में है। मेघनाद का सामना नासीर... लक्ष्मण ने किया। मेघनाद ने अदृश्य होकर बादलों के पीछे से सुग्रीवादि पर प्रहार करना आरंभ किया। वह माया-रथ पर चढ़कर गंभीर काल-जलद की ध्वनि में गरजा,[3] वाणों की वर्षा की और राम-लक्ष्मण को नागपाश में बाँध लिया। सरमा...

१—६।६४।१। २—वही, ६।६३।१०।

३—मि०—सुग्रीवमारुतिनलाङ्गदनीलमुख्या वाष्पान्धकारजलदान्तरितं प्रचण्डम्।
तं रावणिं जलदमण्डलमास्थितं नो पश्यन्ति तान्प्रहरतिस्म स घोरवाणैः॥
—हनु०, १२।...

मायारथं समधिरुह्य नभःस्थलस्थो गम्भीरकालजलदध्वनिरुज्जगर्ज।
बाणैरपातयदहो फणिपाशबद्धै स्तौ मेरुमन्दरगिरी पविनेव शक्रः॥
—वही, १२।४।

इस प्रकार नागपाश में बँधे राम-लक्ष्मण सीता को दिखलाए। सीता विलाप करने लगीं कि क्या भार्गव, च्यवन, गौतम, कश्यप, वशिष्ठ, लोमश और कौशिक का यह वचन झूठ हो गया कि तुम सधवा रहोगी? हे राघव प्रियतम, इस समय मेरी बायीं भुजा और आँख फड़क रही हैं। क्या यह शुभ शकुन भी मिथ्या है? राम नहीं बोलते, तो वत्स लक्ष्मण तुम भी क्यों नहीं उत्तर देते? सरमा वहाँ से विमान हटा ले गई।[1] इसी समय रावण के घोर कर्म को सुनकर गरुड़ वहाँ आ पहुँचा और उसने अमृत रस गिराकर राम को जिला दिया।[2] राम के साथ ही सभी जी उठे।

रामचरितमानस में भी मेघनाद के युद्ध का प्रायः ऐसा ही वर्णन है[3], किंतु वहाँ सरमा द्वारा सीता को नागपाश में बद्ध राम-लक्ष्मण के दिखलाए जाने का उल्लेख नहीं है। मानस में भी गरुड़ राम के सहायतार्थ आए हैं, किंतु देवर्षि नारद के भेजने से वे राम के पास गए हैं। उसने माया के नागों को खाकर वानरयूथ को माया-विगत किया।[4] इस प्रकार गरुड़ के कार्य दोनो रचनाओं में भिन्न भिन्न हैं।

१—वाल्मीकि कृत रामायण, ६।४८ में रावण के आदेश से राक्षसियों द्वारा त्रिजटा के साथ पुष्पक पर सीता को ले जाकर रणस्थल में घायल और अचेत राम-लक्ष्मण के दिखलाने का वर्णन है। वहाँ भी सीता के विलाप का वर्णन है और सीता द्वारा अपने शरीर के विविध अवयवों में सधवा रहने के लक्षणों का उल्लेख कर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि इन सब के होते हुए भी राम का अंत कैसे हुआ। त्रिजटा द्वारा राम-लक्ष्मण के निष्प्राण न होने के अनेक लक्षण बतलाकर सीता को सांत्वना देने का भी वर्णन है।

२—वाल्मीकीय रामायण, ६।५० में गरुड़ द्वारा राम-लक्ष्मण के नागपाश से मुक्त तथा स्पर्श से स्वस्थ किए जाने का वर्णन है।

३— मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गएउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि भइ कपिकटकहि त्रास॥
सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना॥
डारै परसु परिघ पाषाना। लागेउ बृष्टि करैं बहु बाना॥
दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहु मघा मेघ झरि लाई॥
धरु धरु मारु सुनिअ धुनि काना। जो मारै तेहि कोउ न जाना॥
....
मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥
पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन। सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जरतन॥
पुनि रघुपति सैं जूझैं लागा। सर छाड़ै होइ लागहिं नागा॥
ब्यालपास बस भए खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥
—मानस, ६।७२।१२–७३।४, ८–११।

४—इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥
खगपति सब धरि खाए मायानाग बरूथ।
माया बिगत भए सब हरषे बानरजूथ॥—वही, ६।७४।१०–१२।

इसके बाद मेघनाद ने माया से बनाई सीता को खड्ग से काट डाला। यह देख राम मूर्च्छित हो गए। लक्ष्मण ने चंदन और कमल के मकरंद का जल उन पर छिड़का। यह वर्णन रामचरितमानस में नहीं है।

तदनंतर वह निकुंभिला पर्वत में न्यग्रोध के नीचे अभिचारसिद्धि के लिए गया। वहाँ वह अर्द्धचंद्राकार कुंड में मांस की आहुति देने लगा। हनुमान् ने यज्ञ को बीच में ही भंग कर दिया। लक्ष्मण ने मेघनाद का मुकुट सहित शिर अपने वाण से काटकर रावण के हाथों में फेंक दिया।

मानस में यह घटना यों है——राम-लक्ष्मण को नागपाश में बाँधने के बाद मेघनाद ने सेना को व्याकुल कर दिया। जामवंत उस पर झपटा। उसने त्रिशूल चलाया। उसको ही हाथ में पकड़ जामवंत ने मेघनाद की छाती में मारा। वह वर के प्रसाद से न मरा। इससे जामवंत ने उसका पैर पकड़कर उसे लंका में फेंक दिया। मूर्च्छा टूटने पर मेघनाद अपने को पिता के पास देख लज्जित हो गया। तुरंत ही गिरिवर की कंदरा में अजय यज्ञ करने के विचार से गया। विभीषग ने यह जानकर राम को परामर्श दिया कि इस यज्ञ के सिद्ध होने पर मेघनाद शीघ्र जीता न जा सकेगा। राम ने लक्ष्मण के साथ अंगदादि नाना बंदर भेजे। लक्ष्मण को आज्ञा दी कि उसे रण में मार डालना। बंदरों ने जाकर यज्ञ विध्वंस कर डाला। मेघनाद त्रिशूल लेकर झपटा। वह रामानुज के सामने पहुँचा और विकट वेष धारण कर लड़ने लगा। लक्ष्मण ने राम का प्रताप स्मरण कर वाण छोड़ा जो उसकी छाती में लगा। रामानुज कहाँ हैं, राम कहाँ है—यह कहते हुए प्राण निकल जाने पर हनुमान् उसका शव लंका के द्वार पर रख आए।

मेघनाद के मारे जाने पर हनुमन्नाटक के त्रयोदश अंक में लक्ष्मण के शक्ति लगने का वर्णन है। यह शक्ति रावण ने चलाई थी। इस अंक का वृत्त यह है—पुत्र के वध से दशों मुख लाल हो रहे रावण ने लक्ष्मण को मारने के लिए शक्ति चलाई। उसको बीच में ही पकड़ कर हनुमान् ने समुद्र में फेंक दिया। यह देख रावण ब्रह्मा को मारने चला। उन्होंने नारद को स्मरण किया। ब्रह्मा ने उनके आने पर कहा कि जब तक मारुति रणक्षेत्र में रहेंगे तब तक रावण मेरी दी हुई एक वीरघातिनी शक्ति से लक्ष्मण को न मार सकेगा और मुझे ही मार डालेगा। इसलिए किसी बहाने से पवनसुत को यहाँ से अन्यत्र ले जाओ। नारद ने वैसा ही किया। रावण ने तेज से जल रही शक्ति छोड़ी। वह लक्ष्मण की छाती फाड़ती हुई पाताल में कूर्मराज के पास प्रविष्ट हो गई। इसके बाद हनुमान् स्थानांतर से आए। लक्ष्मण के लिए विलाप करने लगे। इसी बीच हाथ में जलती हुई उल्का (मशाल) लिए विभीषण शिविर में ढूँढते हुए पहुँचा। वहाँ सभी अचेत थे; केवल जांबवान जग रहे थे। उन्होंने विभीषण से पूछा कि हनुमान् जीवित हैं कि नहीं। विभीषण ने पूछा कि आर्य ने वायुसुत पर जैसा स्नेह दिखलाया है

वैसा राम सुग्रीव या अंगद पर क्यों नहीं प्रकट किया। इसका यह उत्तर जांबवान ने दिया--उनके जीवित रहने पर सेना के बचे न रहते हुए भी वह बची हुई है, किंतु हनुमान् के मारे जाने पर जीवित रहते हुए भी हम मरे जैसे हैं।[1] तब शीघ्र ही विभीषण और जांबवान ने मारुति को राम का स्मरण करते हुए विलाप करते देखा। राम विभीषण को देख बोले--हे वत्स, तेरे मरने पर ये वानर वीर तो पर्वतों पर चले जायँगे, सीता के सहित मैं भी प्राण त्याग दूँगा, परंतु विभीषण कहाँ जायगा।[2] मेरे जीते जी, हे वत्स, तू कैसे सो रहा है। (यह सुन सब जोर-जोर से रोते हैं)। हनुमान् को धिक्कार है, जो तुम्हें छोड़कर रण से हट गया था। इस समय भाई भरत होता तो ऐसा न करता। ऐसा कह राम अपना धनुष फेंकने लगे।

यह सुन और देख अपने अपराध से लज्जित हनुमान् उछल कर राम के संमुख पहुँच कर बोले कि हे रघुपति ! सातों समुद्रों, दशों दिशाओं, सातों द्वीपों के पर्वतों तथा ब्रह्मांड भर में व्याप्त सेना के होते हुए भी राक्षस कहाँ जाकर बचेगा। इससे धनुष क्यों त्यागते हैं ?

इस पर राम ने हनुमान् से लक्ष्मण को सचेत करने को कहा। हनुमान् ने लक्ष्मण की छाती फटी देखी। हनुमान् ने प्रण किया कि क्या मैं पाताल से अमृतरस ले आऊँ, चंद्रमा को निचोड़ उससे अमृत निकाल लूँ, रावण का निवारण करूँ अथवा यमराज के पाश को ही चूर-चूर कर दूँ।[3]

१—नाटक में वाल्मीकीय रामायण, ६।७४ के १८, २० तथा २२ संख्यक श्लोक ज्यों के त्यों मिलते हैं।

२—हनु०, १३।९। यह प्रसंग मानस में नहीं है। गीतावली में केवल इसी उक्ति का समावेश राम विलाप के वर्णन के बीच किया गया है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मोपर फेरयो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता।
गिरि कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज सँघाती
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती।
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥ —६७।

३—हनु०, १३।१६। मानस में यह बात नहीं है, परंतु गीतावली में कथानक के कुछ परिवर्तन के साथ हनुमान् की यह उक्ति इससे कुछ बढ़े हुए रूप में मिलती है। जब राम की आकुलता देख जामवंत ने हनुमंत को प्रचारा तब वे बोले—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं।

राम ने सोचा कि अपने प्रण को पूरा करने में समर्थ हनुमान् प्रलय ही उपस्थित कर देगा। इससे उन्होंने कहा कि तुम लंकेश के वैद्य सुषेण को तुरंत ही लंका से ले आओ। राम के मुँह से यह सुनते ही हनुमान् पलंग समेत उस पर सो रहे सुषेण को ले आए। सो कर जगे वैद्य से राम ने तत्काल किया जानेवाला उपचार पूछा। उसने बतलाया कि रात रहते द्रुहिण शैल से विशल्यवल्ली लाई जाय।[१] यह सुनते ही राम के बुलाए वानर वीरों ने द्रुहिण गिरि जाकर लौटने की अपने अपने पराक्रम के अनुरूप अवधि बतलाई। नल ने तीन रातों में, मयंद और द्विविद ने दो रातों में, सुग्रीव और नील ने एक रात में और अंगद ने चार याम में लौट सकने को कहा। राम मारुति के मुख की ओर देखने लगे। हनुमान् बोले कि हे देव! क्षण भर ठहरिए, इन भिषक् चूड़ामणि को लंका पहुँचाकर लौट आऊँ। ऐसा कर सुषेण को लंका ले जाने के बाद हनुमान् ने राम से कहा, हे देव! आज्ञा दीजिए; सभी आपके हित के लिए उपस्थित हैं। साठ लाख योजन दूर द्रुहिण गिरि उतने समय में जाकर लौट आऊँगा जितना आग पर (अथवा तेल से जल रही बत्ती की ज्वाला से) सरसों के फूटने में लगता है।[२] राम के तथास्तु कहते ही हनुमान् अपने रुद्रस्वरूप का ध्यान कर और जानकीवल्लभ को

कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत-कुंड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं।
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं।
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥ —६८।

१—वैद्यं सुषेणमधुनैव तदानय त्वं लङ्कापतेरनुचरोपि यतो भिषक् सः।
नैवान्यथा वदति रामगिरा हनूमान्पर्य्यङ्कसुप्तमचिरेण तमानिनाय॥
सुप्तोत्थितं रघुपतिर्भिषजां वरिष्ठं पप्रच्छ तं सकरुणं तरुणोपचारम्।
स व्याजहार हिमरश्मिरुचा रजन्यां जीवत्यसौ द्रुहिणशैलविशल्यवल्ल्या॥
—हनु०, १३।१७–१८।

मानस में भी लंका से सुषेण वैद्य के लाने का प्रायः ऐसा ही वर्णन है, किंतु यह सब गीतावली में तो इसी प्रकार वर्णित है—

सुनि हनुमंत-बचन रघुबीर।
सत्य समीर-सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर।
चहिए बैद, ईस-आयसु धरि सीस कीस बलऐन।
आन्यो सदन-सहित सोवत ही जौ लौं पलक परै न।
जियै कुँवर निसि मिलै मूलिका, कीन्ही बिनय सुषेन।—६।९।

२—हनु०, १३।२०।

प्रणाम करके वेग से उड़े। अयोध्या जाकर राम का संदेश सुनाने और वहाँ का सब कुशल समाचार लाने की बात भी वे कहते गए।

उधर अयोध्या में सुमित्रा ने स्वप्न देखा कि मेरी बायीं भुजा साँप निगल रहा है। वे जग पड़ीं। कौसल्या तथा वशिष्ठ से वह अद्भुत स्वप्न सुनाया। भरत ने वशिष्ठ से शांति के लिए होम करवाया। इधर हनुमान् ने जगमगाते द्रुहिण (द्रोण) गिरि में वल्ली की खोज की। उसे न पहचानने के कारण उन्होंने अपने पिता पवन का स्मरण कर उनकी सहायता से पहाड़ ही उखाड़ लिया। उसे लेकर वे अयोध्या पहुँचे, जहाँ होम की पूर्णाहुति हो रही थी। भरत ने यह समझ कि कहीं यह वही तो नहीं है जो सुमित्रा की बायीं भुजा निगल रहा था, उन (हनुमान्) पर बाण चला दिया। भरत का बाण लगने से चिरंजीवी हनुमान् प्राण त्यागने की इच्छा करते हुए गिरि-समेत गिर पड़े। हा राम! हा लक्ष्मण! मैं कहाँ हूँ— यह उनके मुख से निकला। यह सुन सभी आश्चर्यचकित हो वहाँ पहुँचे। उनसे सीताहरण, सेतुबंधन, लक्ष्मण-शक्तिपात तथा ओषधि के लिए प्रयाण के विषय में जाना। वशिष्ठ ने ललाट में घुसा बाण निकाल लिया। हनुमान् की मूर्छा दूर हुई। तब लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम द्वारा भरत की स्तुति का स्मरण कर हनुमान् ने भरत का बाहुबल जानने के विचार से कहा कि मैं थक गया हूँ, कुमार यह पहाड़ ले जाओ। इसी बीच राम ने लक्ष्मण से जगकर शत्रु-सेना का संहार करने को कहा। यहाँ हनुमान् की बात सुनते ही भरत ने पर्वत समेत हनुमान् को बाण की नोक पर बैठाकर धनुष की डोरी खींची।[1] यह देख विस्मय से भरे हनुमान् बाण से उतर पड़े और भरत की बाहुशक्ति की प्रशंसा करते हुए उनका कुशल समाचार लेकर राम के शिविर की ओर चल पड़े। वे वहाँ शीघ्र ही जा पहुँचे। उन्हें देख सभी प्रसन्न हुए। राम बोले—इस एक उपकार के बदले मैं तुम्हें

१—रामचरितमानस में यह प्रसंग दूसरे रूप में ही प्रस्तुत किया गया है—

। पुनि कपि सन बोले बलबीरा ॥
तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता ॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥
सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरें भार चलिहि किमि बाना ॥
रामप्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥

तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहौं नाथ तुरंत।
अस कहि आयसु पाइ पद बंदि चलेउ हनुमंत ॥
भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार।
मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार ॥—६।६०।४–१२।

अपने प्राण सौंप रहा हूँ और शेष उपकारों के लिए तुम्हारा ऋणी रहूँगा।[१]

हनुमान् द्वारा गिरिराज की ओषधि का लेप किए जाते ही लक्ष्मण की मूर्छा भंग हो गई। वे धनुष-बाण उठाकर लंकापति के लिए कुपित काल के समान उठ खड़े हुए। राम ने हर्ष और पुलक के साथ उन्हें गले लगा लिया। लक्ष्मण बोले—इस चोट की पीड़ा को मैं केवल थोड़ी-सी ही जानता हूँ, पूरी तरह तो राघव ही जानते हैं। वेदना तो श्रीराम को हुई है, मैं तो घायल मात्र हुआ हूँ।[२] लक्ष्मण के शक्ति लगने का वर्णन रामचरितमानस में दो बार हुआ। पहली बार मेघनाद ने उनके ऊपर शक्ति चलाई थी, दूसरी बार रावण ने। हनुमन्नाटक में ऊपर वर्णित लक्ष्मण पर शक्ति का प्रहार भी रावण द्वारा ही हुआ था। इसका अवसर इस प्रकार आया—मेघनाद के मारे जाने पर रावण स्वयम् युद्ध के लिए चला। घमासान संग्राम छिड़ गया। वानरों ने निशाचरों की सेना विचलित कर दी। रावण के आते ही कपि-सेना भाग खड़ी हुई। लक्ष्मण आगे बढ़े। लक्ष्मण ने रावण की छाती में बाण मारे। वह अचेत हो गया। चेत आने पर उसने ब्रह्मा की दी हुई साँग छोड़ी। वह लक्ष्मण के हृदय में घुस गई। वे व्याकुल हो धरणी पर गिर पड़े। रावण ने उठाकर ले जाना चाहा, पर वे उठ न सके। हनुमान् ने यह देख उस पर प्रहार किया और उनके घूँसे की चोट ने रावण को अचेत कर दिया। हनुमान् लक्ष्मण को राम के पास ले गए। लक्ष्मण को इस दशा में देखने पर——

१—मानस में रामचंद्र ने ऐसी कोई बात नहीं की। वहाँ केवल इतना ही लिखा है—

हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥
—६।६२।१।

परंतु विनयपत्रिका में राम की इस कृतज्ञता को खोल दिया गया है। वहाँ नाटक की भावना की अभिव्यक्ति हुई है—

कपि सेवाबस भए कनोड़े, कह्यो, पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ॥—१००।

२—मानस में 'उठि बैठे लछिमनु हरषाई' (६।६२।२) ही कहा गया है, किंतु गीतावली में नाटक की ही भाँति वर्णन है। दोनो का साम्य देखिए——

ईषन्मात्रमहं वेद्मि स्फुटं यो वेत्ति राघवः। वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम्॥—१३।२८

यही बात गीतावली में कुछ विस्तार और अलंकृत रूप में यों कही गई है——

हृदय-घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सँजीवन जागि कहत यों प्रेमपुलकि बिसराय सरीरै।
मोंहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै।
सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरै।
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लषन की प्रीति कौ क्यों दीजै खीरै-नीरै॥ —६।१५।

कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता। तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता॥
सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सक्ति कराला॥
पुनि कोदंड बान गहि धाए। रिपु सन्मुख अति आतुर आए॥[1]

और पहली बार मेघनाद की चलाई शक्ति से आहत लक्ष्मण के संबंध में मानस में जो वर्णन है, उससे ऊपर लिखा हनुमन्नाटक का वृत्तांत बहुत कुछ मिलता है। मानस में इस शक्ति के प्रयोग का प्रकरण यों है—वानरी सेना ने लंकादुर्ग को दूसरे दिन घेर लिया, तब मेघनाद युद्ध के लिए निकला। उसने माया की युद्ध-क्रियाओं से वानरों को व्याकुल कर दिया। तब लक्ष्मण आगे बढ़े। उन्होंने मेघनाद का रथ और सारथी समाप्त कर दिए। मेघनाद ने देखा कि यह तो मेरे प्राण ही ले लेना चाहता है। इसलिए उसने साँगी छोड़ी। वह तेजपुंज शक्ति लक्ष्मण की छाती में लगी। वे मूर्छित हो

१—मानस, ६।८४।६-८। वाल्मीकीय रामायण (पं० रामतेज पांडेय सं०, प्र० सं०) ६।५९ के ९५-१२२ में रावण और लक्ष्मण के युद्ध का जो वर्णन है वह थोड़े में यों कहा जा सकता है—लक्ष्मण द्वारा धनुष काटे जाने पर रावण ने ब्रह्मा की दी हुई शक्ति से लक्ष्मण को अचेत कर दिया। वह लक्ष्मण को नहीं उठा सका। हनुमान् ने उसे घूँसा मारा। वह घुटने के बल गिर पड़ा और अचेत हो गया। हनुमान् लक्ष्मण को उठाकर राम के पास ले गए। लक्ष्मण ने अपने को वैष्णव तेज के ऐश्वर्य रूप से स्मरण किया। इससे उनका घाव भर गया और वे सचेत हो गए—

स कृत्तचापः शरताडितश्च मेदार्द्रगात्रो रुधिरावसिक्तः।
जग्राह शक्तिं समुदग्रशक्तिः स्वयंभुदत्तां युधि देवशत्रुः॥१०७॥

स तां विधूमानलसंनिकाशां वित्रासिनीं वानरवाहिनीनाम्।
चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः॥१०८॥

तामापतन्तीं भरतानुजोऽस्त्रैर्जघान बाणैश्च हुताग्निकल्पैः।
तथापि सा तस्य विवेश शक्तिर्बाह्वन्तरं दाशरथेर्विशालम्॥१०९॥

स शक्तिमाञ्शक्तिसमाहतः सन् मुहुः प्रजज्वाल रघुप्रवीरः।
तं विह्वलन्तं सहसाभ्युपेत्य जग्राह राजा तरसा भुजाभ्याम्॥११०॥

हिमवान्मन्दरो मेरुस्त्रैलोक्यं वा सहामरैः।
शक्यं भुजाभ्यामुद्धर्तुं न संख्ये भरतानुजः॥१११॥

अनयद्राघवाभ्याशं बाहुभ्यां परिगृह्य तम्।
वायुसूनोः सुहृत्त्वेन भक्त्या परमया च सः॥११९॥

शत्रूणामप्रकम्प्योऽपि लघुत्वमगमत्कपेः॥१२०॥

आश्वस्तश्च विशल्यश्च लक्ष्मणः शत्रुसूदनः॥१२१॥

विष्णोर्भागममीमांस्यमात्मानं प्रत्यनुस्मरन्॥१२२॥

मानस में राम के यह कहने पर जो शक्ति आकाश में चली गई कि हे तात! तुम कृतांतभक्षक सुरत्राता हो, वह वाल्मीकीय रामायण के वर्णन के अनुसार लक्ष्मण के रण में परास्त होने पर रावण के पास स्वतः ही चली गई थी—

तं समुत्सृज्य सा शक्तिः सौमित्रिं युधि दुर्जयम्॥१२०॥
रावणस्य रथे तस्मिन् स्थानं पुनरुपागता॥१२१॥

गए। मेघनाद जैसे सैकड़ों योद्धाओं ने उनको उठा ले जाना चाहा, परंतु वे किसी से न उठे। संध्या होने पर हनुमान् उनको उठा कर राम के पास ले गए। प्रभु ने बहुत दुःख किया। जामवंत ने कहा कि लंका में सुषेण वैद्य है। किसी को भेजिए जो उसको ले आए। हनुमान् लघु रूप धर कर गए। उसको तुरंत भवन समेत ले आए। सुषेण ने गिरि और औषध को बतलाया। हनुमान् उसको लेने चले। बीच में रावण के प्रेरित कालनेमि को मार कर वे शैल पर पहुँचे। औषध न पहचान सकने के कारण वे पहाड़ ही उखाड़ कर ले चले। अवधपुरी के ऊपर पहुँचने पर उनको भरत ने निशाचर समझ कर बाण से गिरा दिया। उनका परिचय पाने और राम के समाचार सुनने पर भरत पछताने लगे। उन्होंने अपने बाण पर चढ़ाकर हनुमान् को पर्वत समेत राम के पास पहुँचाना चाहा। पहले तो हनुमान् को इस पर विश्वास न हुआ, परंतु बाद में राम के प्रभाव को समझ के स्वयम् ही समय से पहुँच जाने का विश्वास दिला कर चल पड़े। इस बीच राम लक्ष्मण की दशा देखकर विलाप और प्रलाप कर रहे थे। तभी हनुमान् पहुँच गए। वैद्य ने तुरत उपाय किया। लक्ष्मण हँसते हुए उठ बैठे। कपि ने वैद्य को यथास्थान पहुँचा दिया।[१]

१—वाल्मीकीय रामायण, ६।४९ में मेघनाद के नागपाश से बद्ध हो जाने के बाद जब राम को कुछ चेत हुआ तब उन्होंने लक्ष्मण को घायल और अचेत देख कर विलाप किया है। वह विलाप मानस के उक्त विलाप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ भी गीतावली तथा हनुमन्नाटक में कथित राम की उक्तियों के समान बातें कही गई हैं।

इसके आगे वाल्मीकीय रामायण, ६।५० में सुग्रीव के श्वसुर सुषेण नामक वानरों के सेनापति ने देवासुर संग्राम में अपने देखे वृहस्पति के किए उपचार का स्मरण किया है और कहा है कि क्षीर समुद्र में चंद्र और द्रोण पर्वत पर स्थित दिव्य संजीवकरिणी और विशल्या ओषधियों को लेने के लिए वायुपुत्र जायँ। परंतु ऐसा करने का अवसर ही न आया, क्योंकि तभी गरुड़ आ गए और उनके आते ही नाग भाग गए और छूते ही राम लक्ष्मण के घाव भर गए।

वाल्मीकीय रामायण, ६।७४ में मेघनाद के उस ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का वर्णन है जिसका उल्लेख मानस में भी हुआ है। उसमें जांबवान ने हनूमान् को अचेत राम-लक्ष्मण के रक्षार्थ ऋषभ और कैलास पर्वतों के मध्य स्थित ओषधि-पर्वत भेजा। उसने वहाँ उत्पन्न मृतसंजीवनी, विशल्यकरिणी, सुवर्णकरिणी और साधनी ओषधियाँ बतलाईं और तत्काल उन्हें लाने को कहा। हनुमान् एक हजार योजन का मार्ग अतिक्रमण कर ओषधियों के समेत पर्वत ही उखाड़ लाए। राम-लक्ष्मण उन ओषधियों की गंध सूँघकर अच्छे हो गए तथा सब वानर भी स्वस्थ हो गए—

> तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ तं गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
> बभूवतुस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः ॥६।७४।७३॥

इसके बाद मानस में कुंभकर्ण तथा राम के संग्राम का और कुंभकर्ण के निधन के अनंतर मेघनाद का लक्ष्मण के हाथों निधन का वर्णन हुआ है। तब रावण और राम के युद्ध का प्रसंग उपस्थित हुआ है।

हनुमन्नाटक के चतुर्दश अंक में यह वृत्त है—लक्ष्मण के चेत आने के बाद प्रातः रावण ने राम के पास लोहिताक्ष दूत भेजा। उससे यह संदेश भेजा कि तुमने परशुराम को जीतकर जो परशु पाया है, वह मुझको दे दो तो मैं सीता को लौटा दूँगा। राम ने लोहिताक्ष से लंका का समाचार और आने का कारण पूछा। उसने सौमित्रि के जीवित होने के समाचार से राक्षसों का क्रुद्ध होना तथा रावण का उक्त संदेश सुनाया। राम ने ऐसा न करने को कहा। इसी समय देवराज ने राम के पास रथ भेजा। राम उस पर चढ़े। हनुमान् को रथध्वज के आगे बैठाया। यह सब देख लोहिताक्ष वहाँ से चलकर लंका पहुँचा। उसने रावण से हनुमान् के ध्वजा के अग्र भाग पर स्थित होने का समाचार सुनाया।

रावण ने मंदोदरी के पास जाकर उससे पूछा कि हे नीतिज्ञे! तुम्हें इन दो में से कौन सा पक्ष अंगीकार है—मैं सीता को लौटा दूँ अथवा राघव के सायकों से मरकर स्वर्ग जाऊँ। कारण अब तो सेना में अकेला मैं बचा हूँ। वह बोली अपनी बहिन की दीनता देखने, खर तथा मारीच का नाश, तालों का वेधना, सुग्रीव की मित्रता, उद्यान के विनाश और समुद्र के संतरण का वृत्तांत सुनकर भी जो विवेक नहीं हुआ था, वह अब कुल का नाश हो जाने पर कैसे आ गया है। यह सुन रावण ने मेघनाद, कुंभकर्ण तथा स्वर्ग जीतनेवाली अपनी भुजाओं को धिक्कारा कि मेरे जीते जी एक तापस ने राक्षस वीरों को मार डाला। मंदोदरी ने उसको समझाया कि शोक न करो और युद्ध के लिए रणक्षेत्र में उतरो।

रावण की दुर्बलता, घबराहट और चिंता सूचित करनेवाली ये सब भीरुतापूर्ण बातें मानस में नहीं हैं। उसमें इंद्र द्वारा रथ भेजे जाने और उस पर हर्षपूर्वक चढ़कर राम के युद्ध करने का उल्लेख अवश्य है, परंतु वह रावण के राम पर हो रहे आक्रमण के समय देवताओं के क्षोभ के कारण प्रेषित हुआ है।[१] नाटक में इंद्र ने स्वतः ही रथ भेजा है। मानस में उसकी ध्वजा पर हनुमान् के बैठाने की

इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण में ओषधि के सूँघते ही राम-लक्ष्मण दोनो के घाव भर जाने, हनुमन्नाटक में हनुमान् द्वारा उसका लेप करने पर लक्ष्मण के मूर्च्छा त्यागने और मानस में सुषेण वैद्य के उपाय से लक्ष्मण के उठ बैठने का वर्णन है। एक ही बात तीनो कृतियों में अलग-अलग ढंग से कह गई है।

१—दे०—मानस, ६।८९।१-३—

देवन्ह प्रभुहि पयादें देखा। उपजा उर अति छोभ बिसेषा॥
सुरपति निज रथु तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लै आवा॥
तेजपुंज रथ दिब्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर भूपा॥

चर्चा भी नहीं हुई। मानस में रावण और मंदोदरी की बात कई बार हुई है, किंतु कहीं भी नाटक में कहे गए ढंग की नहीं हुई। मानस की मंदोदरी ने अवश्य ही उसको राम से मेल करने के लिए बार बार कहा है, परंतु नाटक की मंदोदरी की भाँति रावण का उत्साह कभी नहीं बढ़ाया।

रावण और मंदोदरी के उपरिलिखित वार्तालाप के अनंतर नाटक में वानरों द्वारा लंका पर आक्रमण का उल्लेख है। फिर रावण ने त्रिकूटगिरि-शिखर उखाड़ कर सुग्रीव पर चलाया। वह रथ पर चढ़कर रणप्रांगण में पहुँचा। अंगद और रावण की बातचीत हुई। राम-रावण का वाग्युद्ध और लोमहर्षण संघर्ष हुआ। त्रिजटा और सरमा ने विमान पर चढ़ाकर सीता को यह युद्ध दिखलाया। मंदोदरी ने भी सुंदरियों के साथ लंका के पर्वत की चोटी पर चढ़कर इसको देखा। एक पैर पर टिके रुद्र ने समुद्र के बीच से और सभी देवताओं ने विमानों पर बैठकर आकाश से यह संग्राम देखा। अंत में राम का छोड़ा अगस्त्य का दिया ब्रह्मास्त्र रावण की छाती फाड़ता हुआ उसके प्राणों के साथ धरती में घुस गया।

रामचरितमानस में सीता, मंदोदरी और रुद्र के राम और रावण के युद्ध देखने का वर्णन नहीं है, किंतु उस में ब्रह्मादि, देवताओं, सिद्धों, मुनियों और शिव के आकाश से रणरंग देखना कहा गया है—

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥
हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रनरंगा ॥[1]

मानस के राम ने अंत में इकतीस वाणों से रावण के शिर, भुज और हृदय पर एक साथ प्रहार किया है और अन्य वाण से उसके धड़ के दो खंड कर दिए हैं।

हाहाकार करती मंदोदरी ने सुंदरियों के साथ त्रिकूट गिरि से झट उतरकर समरभूमि में महानिद्रा में सो रहे रावण को गोद में उठा लिया तथा पति के शौर्य का बखान करते हुए विलाप किया।

मानस में राम के वाणों ने मंदोदरी के पास रावण के शिर-भुज पहुँचा दिए। उन्हें देख वह मूर्च्छित हो गई। तब उसको लेकर युवतियाँ रावण के मृत शरीर के पास पहुँचीं। वहाँ वे सब विलाप करने लगीं।

नाटककार ने इसके अनंतर लक्ष्मण और वायुपुत्र द्वारा सीता को विमान में बैठाकर शीघ्र ही ले आने का उल्लेख किया है। राम ने सीता की शुद्धता को स्वीकार करते हुए भी उनको अपनाने में हिचकिचाहट दिखलाई। तब ब्रह्मा आदि आकाश से नीचे उतरे। सीता ने यह कहते हुए जल रही अग्नि में प्रवेश किया कि

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह ममाङ्गं पावकं पावक त्वं सुललितफलभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी ॥[2]

१—मानस, ६।८१।१-२। २—हनु०, १४।५४।

मानस में पहले श्रीराम ने हनुमान् को सीता को रावण-वध संबंधी वृत्तांत सुनाने और उनकी कुशलता का समाचार ले आने को भेजा। फिर सीता को लिवा लाने के लिए अंगद और विभीषण को मारुतसुत के साथ जाने को कहा। उनको वे लोग शिविका में लाए। राम के कटु वचन कहने पर सीता के कहने और राम की संकेत द्वारा दी गई अनुमति पर लक्ष्मण ने आग जलाई। उसमें प्रवेश करते समय सीता ने नाटक की सीता के प्रायः समान ही यह कहा—

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥[1]

जानकी आग से निकल आईं। राम ने सिर झुका मंदोदरी से पूछा कि क्या कहती हो? परदारा को स्पर्श न करने पर मंदोदरी ने राम की प्रशंसा की। राम ने मंदोदरी से कहा कि राक्षसियों के सहगमन में धर्म नहीं है। इससे तुम विभीषण के घर में रहकर लंका का चिरकाल तक राज्य भोगो। मानस में राम ने मंदोदरी से ऐसी कोई बात नहीं कही।

नाटक में ऊपर लिखी घटना के बाद राम ने विमान पर चढ़कर सीता को रणस्थल दिखलाया है। उन्होंने नागपाश से बाँधे जाने और लक्ष्मण के शक्ति लगने के स्थान दिखाते हुए हनुमान् के कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। फिर चंद्रोदय होने पर राम ने उसका वर्णन सीता से किया। यह सब रामचरितमानस में नहीं है।

नाटक में दूसरे दिन सबेरा होने पर विभीषण ने राम के पराक्रम की प्रशंसा की। राम ने उसी समय विभीषण का राजतिलक करके अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। सुग्रीव ने रणस्थल को दिखाते हुए उसका ऐसा वर्णन किया मानो वह अभी नया जैसा है। फिर जानकीजी सेतु देखकर विस्मित हुईं। राम अयोध्या पहुँचे। वशिष्ठ ने तुरंत ही उनको अभिषिक्त किया।

मानस के कथानक में विभीषण द्वारा राम की प्रशंसा नाटक से भिन्न रूप में हुई।[2] उसमें सुग्रीव की बात है ही नहीं। सीता को रणस्थल दिखलाने तथा दंडकवन, चित्रकूट ठहरते हुए प्रयाग पहुँचने का जैसा वर्णन मानस में हुआ है, वह नाटक में नहीं है। मानस के सातवें सोपान में राम के अयोध्या पहुँचने, भरत आदि से मिलने का वर्णन है, किंतु नाटक में नहीं है। अभिषेक के अवसर तथा रामराज्य का जो चित्रण मानस में हुआ है, वह भी नाटक में नहीं मिलता।

नाटक में राम के सिंहासन पर बैठने के बाद, अंगद का उनसे अपने पिता के मारने का समरक्षेत्र में बदला लेने की प्रतिज्ञा का उल्लेख मिलता है। इसी समय आकाशवाणी हुई कि हे राम! मथुरा में आपके पुनः अवतार लेने पर बालि व्याध

१—मानस, ६।१०९।७-८। २—६।११६।२-८।

का शरीर धारण कर आपको मारेगा। यह सुन अंगद ने लड़ने का विचार छोड़ दिया। राम की स्तुति की। फिर हनुमान् ने राम के पुरुषार्थ की प्रशंसा की। राम ने उपयुक्त आभरण देकर वानर भटों को विदा किया। सीता, लक्ष्मण और बांधवों के सहित राम ने राज्य किया।

इसके अनंतर राम द्वारा सीता के निर्वासन और सीता को त्यागने पर लक्ष्मण के विलाप का उल्लेख है। अंत में नाटककार ने राम के वैकुंठगमन करने का संकेत करके अपनी कृति समाप्त की।

रामचरितमानस में अंगद की प्रतिज्ञा और सीता के परित्याग का संकेत नहीं किया गया। उसमें राम-राज्य के प्रभाव का वर्णन करने के बाद सनकादिक राम से मिलने आए। फिर भरत को राम ने संतों और असंतों का भेद समझाया। राम ने पुरवासियों को उपदेश दिया। उनका वशिष्ठ से वार्त्तालाप हुआ। अंत में वे अमराई में गए और नारद ने उनकी स्तुति की। यहीं राम-कथा की इति समझनी चाहिए। सप्तम सोपान में इसके आगे गरुड़ और काकभुशुंडि की कथा है जिसमें राम की भक्ति का प्रतिपादन हुआ है।

इस प्रकार हमने देखा कि हनुमन्नाटक के कथानक से रामचरितमानस के वर्णन कहीं मिलते हैं, कहीं नहीं। ऐसा लगता है कि गोस्वामीजी को नाटक में कही गई सूक्तियों के साथ ही उसमें उल्लिखित जो वृत्त अच्छे लगे और कथा की रम्यता में सहायक प्रतीत हुए, उनको अपनाने में वे नहीं हिचके।

हनुमन्नाटक और रामचरितमानस के इस तुलनात्मक अध्ययन को समाप्त करने के पूर्व इन दोनों में रामचंद्र के ईश्वरत्व संबंधी साम्य का भी परिचय दे देना उपयुक्त होगा। मानस के राम के संबंध में तुलसीदास ने प्रथम सोपान के आरंभ के वंदना-प्रकरण में ही अपनी धारणा प्रकट कर दी है--

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां
वंदेहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं॥[1]

इससे स्पष्ट है कि तुलसी के राम ही परात्पर ब्रह्म हैं, जिनकी माया के वश में समस्त विश्व, ब्रह्मा आदि देवता, असुर सभी हैं और जिनके चरणों के सहारे भवसागर पार किया जाता है। मानस की कथा सुनने को काकभुशुंडि के पास भेजते समय गरुड़ से शिव ने छूटते ही कहा था--

मिलेहु गरुर मारग महुँ मोही। कवन भाँति समुझावौं तोही॥
तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥

१--१।मं० श्लो० ६।

सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई । नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ॥
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना ॥[1]

इस प्रकार मानस में जिन राम के चरित का विशद वर्णन है वे भगवान् हैं, निर्गुण, निरंजन ब्रह्म हैं और वे ही प्रेम और भक्ति के कारण कौसल्या के पुत्र हुए—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ॥[2]

इसी ईश्वरत्व का प्रतिपादन करते हुए तुलसी ने उनके नर-चरित्र का गान मानस में किया है और उनकी भक्ति की प्रेरणा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से स्थान स्थान पर दी है ।

मन क्रम बचन जनित अघ जाई । सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥[3]

तथा जो इसको

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं । ते गोपद इव भवनिधि तरहीं ॥[4]

यह है गोस्वामीजी के मतानुसार रामचरितमानस का माहात्म्य ।

मानस की भाँति कथा-प्रसंग के बीच-बीच में राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन हनुमन्नाटक में नहीं हुआ है, किंतु उसमें भी उन्हीं राम का चरित्र वर्णित है, जिनका नाम कल्याणों का निधान, कलिमल को मथन, पावनों को भी पावन करनेवाला, मोक्ष चाहनेवालों को परमपद देनेवाला तथा धर्मरूपी द्रुम को उत्पन्न करनेवाला बीज है । नाटककार कवि ने ग्रंथारंभ के मंगलाचरण में सर्वप्रथम यही कहा है—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥-१।१।

कवि ने दशरथतनय लक्ष्मणाग्रज को कलिमलपटल का ध्वंसकर्त्ता और सर्वात्मा कहकर दाशरथि राम को साक्षात् ब्रह्म माना है, इसमें संदेह नहीं—

तं रामं रावणारिं दशरथतनयं लक्ष्मणाग्र्यं गुणाढ्यं
पूज्यं प्राज्यं प्रतापावलयितजलधिं सर्वसौभाग्यसिद्धिम् ।
विद्यानन्दैककन्दं कलिमलपटलध्वंसिनं सौम्यदेवं
सर्वात्मानं नमामि त्रिभुवनशरणं प्रत्यहं निष्कलङ्कम् ॥-१।४।

रामचरितमानस की इति इस श्लोक से हुई है—

१—७।६१।३–६ । २—वही, १।१९८।० । ३—वही, ७।१२६।३ ।
४—वही, ७।१२६।६ ।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥

ऊपर जैसी रामचरितमानस की फलश्रुति कही गई है कुछ वैसी ही हनुमन्नाटक की भी महिमा इस प्रकार बखानी गई है—

रम्यं श्रीरामचन्द्रप्रबलभुजबृहत्ताण्डवं काण्डशौण्ड-
व्याप्तं ब्रह्माण्डभाण्डे रणशिरसि महानाटकं पाटवाब्धिम्।
पुण्यं भक्त्याञ्जनेयप्रविरचितमिदं यः शृणोति प्रसङ्गान्
मुक्तोऽसौ सर्वपापादरिभटविजयी रामवत्सङ्गरेषु॥

—१४।

अंत में नाटककार ने यह कह दिया कि इसमें ब्रह्म का ही वर्णन है—

चतुर्दशभिरेवाङ्कैर्भुवनानिचतुर्दश।
श्रीमहानाटकं धत्ते केवलं ब्रह्म निर्मलम्॥ —१४।९५।

इस प्रकार मानस और हनुमन्नाटक दोनो में परब्रह्म राम का ही चरित चि[त्रित] है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी दोनो रचनाओं से साम्य है।

[गो० तुलसीदासजी के अंतेवासी श्रीरामू द्विवेदी ने मानस की संस्कृत [टीका] 'प्रेमरामायण' में तुलसीदास को हनुमान् का अवतार माना है। द्विवेदीजी [ने] लिखा है कि जब कवीश्वर वाल्मीकि ने कपीश्वर हनुमान् के महानाटक की प्रशस्ति [नहीं] की तब हनुमान् ने उसे समुद्र में डुबो दिया। उन्होंने तुलसीदास के रूप में अ[वतार] लेकर देशभाषा में अपने उसी ग्रंथ को पुनः अद्भुत रूप में प्रस्तुत किया। मानस, न[ाटक] का भी काम दे रहा है और यह भी कहा जा सकता है कि वाल्मीकीय रामायण का [भी] मानस ने अधिकांश रूप में ग्रहण कर लिया है। रामू द्विवेदी रचित श्लोक है—

प्रेमरामायणं पूर्व्वं यत्कृतं वायुसूनुना
लिखित्वा नखटंकैस्तत्कटकेषु महीभृतां।
नाटकं श्रावयामास मुनिं प्राचेतसं मुदा
नाभिनंदि तदा तेन निजग्रंथविलोपनात्।
न्यक्षिपन्मारुतिःसिंधौ पर्व्वतान् गर्व्ववर्जितः
तदेव तुलसीदासरूपिणा वायुसूनुना।
सुदेश्यभाषया सर्व्वं निबद्धं पुनरद्भुतम्।

इस प्रकार दोनो कृतियों के कृतिकारों में भी साम्य है। - सं०]

पं० बलदेव उपाध्याय

गाय की आत्मकथा

[अनुसंधानात्मक निबंध प्रायः गंभीर होते हैं। उन्हें पढ़ने में सभी का मन नहीं रमता। अतः ऐसे निबंधों के प्रति पाठकों में अभिरुचि जाग्रत करने के हेतु प्रस्तुत लेख विशेष अनुरोध पर लिखा गया है।

जिस प्रकार गंगाजल से उसकी पवित्रता पृथक् नहीं की जा सकती, उसी प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति से 'गो' शब्द। इससे बने तत्सम और तद्भव शब्दों से समस्त भारतीय भाषाओं के भांडार सुसंपन्न हैं। इसके बहुतेरे पर्यायवाची प्रचलन में हैं, किंतु वे गाय की विभिन्न अवस्थाओं एवम् रूपों के द्योतक हैं, इसका बोध बहुतों को नहीं है। इस दृष्टि से यह लेख अति उपादेय है।]

मैं आज अपनी रामकहानी सुनाने के लिए उद्यत हूँ। मेरे विषय में लोगों में अनेक भ्रांतियाँ, अंधतामिस्र से भी अधिक कालुष्यमयी भ्रांतियाँ, फैली हुई हैं। उन्हीं के निराकरण के लिए मेरा यह लघु प्रयास है। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी इस आत्मकथा का प्रत्येक पाठक मेरे सच्चे स्वरूप से परिचित हो जायगा, मानवमात्र के ऊपर मेरी उपकृति की दीर्घ परंपरा के ज्ञान से वह चमत्कृत हो उठेगा, मेरी पवित्रता के रहस्य की जानकारी उसे अभिभूत कर देगी और मेरे साथ संप्रति हो रहे नृशंस बर्ताव से उसे घृणा अवश्य हो जायगी।

(१)

इस सृष्टि के साथ मेरा अटूट संबंध है। जब कभी इस भूमंडल में धार्मिक संतुलन बिगड़ जाता है, धर्म के स्थान पर अधर्म का, पुण्य के स्थान पर पाप का और सदाचार के स्थान पर कदाचार का पक्ष प्रबल हो जाता है, सर्वत्र त्राहि त्राहि का आर्तनाद नभोमंडल को चीरता हुआ संसार भर में गूँजने लगता है, तब पाप के विकट बोझ से दलित होनेवाली पृथ्वी मेरा ही रूप धारण कर जगन्नियंता सर्वशक्तिशाली भगवान् के पास पहुँचकर इस बोझ को हटाने के लिए प्रार्थना करती है। मेरी ही प्रार्थना पर भगवान् का प्राकट्य होता है, अधर्म का नाश होता है और धर्म की ध्वजा विश्व में फहराने लगती है। समस्त विश्व में मेरी व्याप्ति उस विश्वंभर की व्यापकता के समान ही माननीय है और संसार की समस्त भाषाओं में मेरा नाम विख्यात है। भाषाओं की जननी देववाणी ने मेरा जो सबसे सुंदर तथा मधुर अभिधान प्रस्तुत किया है वह है 'गौः'। गम् धातु से डोस् प्रत्यय से निष्पन्न यह नाम (गमेर्डोस्) मुझे सब नामों

से इसलिए अधिक प्यारा है कि वह मेरे गतिशील स्वरूप का परिचायक है। मान
कल्याण के लिए संतत जागरूक रहने की कथा को अपनी छाती पर रखकर चल
वाला यह नाम विश्व की समस्त भाषाओं में आज भी वर्तमान है। संस्कृत
'गो' शब्द पाश्चात्य भाषाओं में पहुँचकर कहीं 'ग' के स्थान ओष्ठ्य 'बकार'
गया है, तो कहीं वह कंठ्य 'ककार' के रूप में ही वर्तमान है। इस परिवर्तन
भीतर विद्यमान भाषाशास्त्रीय नियम के उद्घाटन का यह अवसर नहीं है, परंतु
नियम के दृष्टांतरूप शब्दों की ओर, अपनी विश्वव्याप्ति के द्योतनार्थ, संकेत कर
मैं आवश्यक समझती हूँ।

प्राचीन यूनानी तथा लातीनी भाषाओं का आपसी साम्य दोनो के एकजात
होने के कारण आश्चर्यजनक नहीं है। यूनानी भाषा में मेरी संज्ञा है--बो तथा बो
(bous) जो लातीनी में ठीक इसी प्रकार है-बोस् (bos), बोव् (bov), जि
अंग्रेजी में 'बोवाइन' विशेषण बनता है, तथा बो (bo)। आइरिश में
नाम इसी के अनुरूप 'बो' ही है। लैतिन का 'बोवी' संस्कृत के 'गावी' तथा ग्री
का 'बोउबेलस्' (boubalos) संस्कृत के 'गवलस्' (गवलः) का प्रतिरूप है। इं
जर्मनिक भाषाओं के भीतर ट्यूटानिक उपशाखा में मेरे नाम में 'ग' के स्थान
'क' की विकृति जागरूक है। जर्मन भाषा का 'कूह्' (Kuh), आर्मिनियन का
(Kov) तथा अंग्रेजी का 'काउ' (Cow) इसी परिवर्तन के द्योतक हैं। इस प्र
यूरोप की भाषाओं में कहीं मेरा नाम गकारादि है, तो कहीं ककारादि। लेटिश भा
का गुओस (guovs) स्पष्टतः गौः (ग ओ स्) का विकृत रूप है, तो प्राचं
चर्चस्लाव भाषा के 'गोवेन्दो' (govendo) शब्द में तो संस्कृत के 'गोविन्द'
विराजते हैं। भारतीय भाषाओं में तो सर्वत्र मेरे गकारादि नाम ही मिलते हैं,
वाणी के गो शब्द से साक्षात् रूप से निष्पन्न। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही
कि जिस प्रकार मैं जगत् के कल्याण के लिए भोजन तथा कृषि के साधन के
में विद्यमान हूँ, उसी प्रकार मेरा नाम सर्वत्र ही 'गौः' का अपभ्रंश होने से मेरे ग
शील रूप का ही पूर्णतः परिचायक है।

मेरा विश्व संस्कृति, विशेषतः भारतीय संस्कृति, के अभ्युदय तथा प्रसार
इतना व्यापक प्रभाव है कि उसे ठीक ठीक बतलाने के लिए मुझे बड़ा पोथा सं
करना पड़ेगा। मेरे उपासक उस व्रजनंदन 'गोपाल' की स्तुति में कृष्णभक्तों
'गोपालसहस्रनाम' की रचना कर डाली है, विष्णुभक्तों ने 'विष्णुसहस्रनाम' क
शिवभक्तों ने 'शिवसहस्रनाम' का तथा काली के भक्तों ने कादिमत तथा हादिमत
पुष्टि में ककारादि 'कालीसहस्रनाम' का और हकारादि 'कालीसहस्रनाम' का निर्मा
कर रखा है, परंतु मेरे किसी भक्त ने भी 'गोसहस्रनाम' का प्रणयन आज त
नहीं किया, इस बात से मुझे मार्मिक वेदना होती है। तो क्या मेरे नामों

माला नहीं गूँथी जा सकती ? क्या मेरे अभिधानों का इतना टोटा है कि अष्टोत्तरशतक भी नहीं बन सकता ? सहस्रनाम की तो बात ही दूर ठहरी ?

इन प्रश्नों के उत्तर में मेरा एक जवाब है--नहीं, कभी नहीं। मेरे नामों का न तो टोटा है और न मेरे नामों में सार्थकता की ही कमी है। कमी तो उन संस्कृतज्ञों की श्रद्धा में है जो वेद से लेकर पुराणों तक, इतिहास से लेकर तंत्रों तक मेरे विश्रुत कार्यकलाप को पढ़ने पर भी, अभी तक 'गोसहस्रनाम' के गुंफन में कृतकार्य नहीं हो सके हैं। तो आइये, मैं स्वयम् उन कतिपय नामों का संकेत तथा तात्पर्य अभिव्यक्त कर रही हूँ, जिससे मेरे सहस्रनाम की रचना में सामान्य भी संस्कृतज्ञ को किसी प्रकार का क्लेश उठाना न पड़े। मेरा सर्वप्राचीन तथा सर्वसुलभ नाम है--गो जिसकी व्यापकता का रहस्य मैं अभी समझा चुकी हूँ। जब मुझ में बच्चा जनने की शक्ति नहीं रहती, तब मेरी संज्ञा वशा होती है। जब मुझ में गर्भ धारण करने की शक्ति आ जाती है तब मेरा नाम होता है--उपसर्या और वृषस्यंती होकर मैथुनकार्य से संपन्न होने पर मेरा यथार्थ अभिधान होता है—संधिनी। गर्भधारण करने की स्थिति में मेरे अनेक अत्यंत रोचक नाम होते हैं। यदि मेरा गर्भ मेरे शरीर से बहकर निकल जाता है, तो मैं अवतोका कहलाती हूँ और यदि मैं अपने गर्भ का उपघात कर देती हूँ, तो मेरा नाम होता है वेहद्। प्रथम गर्भ को जब मैं धारण करती हूँ, तो पृष्ठौही मेरा ही नाम होता है। जब मेरी प्रसूति प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, तब मेरा एक विचित्र नाम होता है--समांसमीना, जो पाणिनि व्याकरण के एक विशिष्ट नियम से सिद्ध होता है। बहुत बार प्रसव होने पर मेरा अभिधान है परेष्टुका। धेनु शब्द मेरे नव प्रसूतिरूप का द्योतक है, तो 'वष्कयिणी' शब्द मेरे चिर-प्रसूता होने का संकेतक है। आप लोग जानते ही होंगे कि वष्कयिणी का दूध बड़ा ही गाढ़ा, मीठा तथा पौष्टिक होता है और 'बकेना' के नाम से काशी-मंडल की भोजपुरी में सर्वत्र प्रख्यात है ('खिलल बा बकेनवा क दूध'—भोजपुरी गीत का एक पद)। सुख से दूहे जाने पर सुव्रता, मोटा थन होने पर पीनोघ्नी और द्रोण भर दूध देने पर द्रोणक्षीरा मेरे ही सार्थक नाम हैं। यह तो लौकिक संस्कृत में मेरे नाम हैं। वैदिक संस्कृत में इससे भिन्न तथा इतर भावों के प्रदर्शक नामों की सत्ता मेरी प्राचीनता तथा दिव्यता की स्पष्ट द्योतिका है।

वैदिक साहित्य मेरे नाम तथा काम से भरा पड़ा है। उस युग में मेरे थनों में इतना प्रचुर दूध होता था कि मुझे तीन बार दूहने की आवश्यकता होती थी और इन तीनो दोहनों के विभिन्न नाम थे। प्रातःकाल का दोहन प्रातर्दोह नाम से, दोपहर से कुछ पहिले का दोहन संगव नाम से तथा सायंकालीन दोहन सायंदोह के नाम से प्रख्यात था। मेरी भिन्न दशाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रंथों के भीतर उपलब्ध होते हैं, जिनमें से कुछ का ही संकेत कर रही हूँ। सफेद गाय को

कर्की, बच्चा देनेवाली जवान गाय को अथवा एक ही बच्चा जननेवाली गाय को (सकृत्-प्रसूता) गृष्टि, दुधारी गाय को धेना अथवा धेनु, बाँझ गाय को स्तरी, धेनुष्टरी (या वशा), बच्चा देकर बाँझ होनेवाली गाय को सूतवशा कहते थे। जब अपना बछड़ा मर जाने पर दूध देने के समय नए बछड़े के लिए मुझे मनाने की आवश्यकता पड़ती, तब वैदिक लोग मुझे निवान्यवत्सा अथवा निवान्या (शतपथ, २।६।१।६), अभिमान्यवत्सा, अभिमान्या अथवा केवल वान्या (ऐतरेय ब्रा०, ७।२) नाम से पुकारते थे। सायम्-प्रातः अपने प्यारे बछड़े के लिए मेरा रंभाना वैदिक ऋषियों को इतना कर्णसुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं के लिए प्रत्युक्त अपने स्वरमधुर गायनों की तुलना इससे करने में तनिक भी सकुचाते नहीं थे--

> अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातर।
> इन्द्रं सोमस्य पीतये॥[1]

वैदिकयुग की एक मर्म-भरी बात आप लोगों से कहना चाहती हूँ। उस युग में मेरी इतनी अधिकता तथा प्रचुरता होती थी कि मेरी पहिचान के लिए मेरे कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिन्ह बनाए जाते थे तथा उन चिन्हों से लांछित होने पर मेरे लिए विभिन्न नामकरण की भी उस युग में व्यवस्था थी। ऐसे विशिष्ट चिन्ह थे--आठ का अंक, वंशी, हँसुआ तथा खंभा और उस समय मेरे नाम क्रमशः होते थे--अष्टकर्णी (ऋग्वेद, १०।६२।७), कर्करिकर्णी, दात्रकर्णी तथा स्थूणाकर्णी (मैत्रायणी संहिता, ४।२।९)। कभी कभी मेरे कान छेदे भी जाते थे (छिद्रकर्णी) तथा अथर्व के अनुसार मेरे कानों पर मिथुन का चिन्ह भी निर्दिष्ट किया जाता था, जो प्रजनन शक्ति का प्रतीक जान पड़ता है। वैदिक युग की यह विशेषता पाणिनि-युग तक खूब प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनि ने भी अपने सूत्र ६।३।११५ में ऐसे चिन्हों का उल्लेख किया है।

(२)

मानवों की पुष्टि तथा देवताओं की पूजा के निमित्त ही तो मेरा पुण्यमय जन्म हुआ है। जब सोमरस के साथ मिलाया गया मेरा रस देवों को अर्पित होकर उनके आनंदोल्लास का कारण बनता है, तब मैं अपने जीवन को धन्य मानती हूँ। देवों के काम में आना ही तो भौतिक जीवन की धन्यता की पराकाष्ठा है। मेरे जीवन के प्रत्येक कार्य पर यह बात घटित होती है। इसीलिए तो वैदिक ऋषियों ने मेरी भूरि भूरि प्रशंसा की है। भारद्वाज ऋषि के ये पावन शब्द सर्वदा स्मरणीय रहेंगे जिनमें उन्होंने मुझे देवाधिदेव इंद्र का साक्षात् प्रतिनिधि बताया है--

---

१--ऋग्वेद, ९।१२।२।

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्
गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः सजनास इन्द्र
इच्छामीद् धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥[१]

होम धेनु होने के कारण मैं प्रत्येक ऋषि को कुटिया में विराजती थी। वसिष्ठ के आश्रम में 'नंदिनी' मेरी ही वत्सतरी थी, जिसकी सेवा करने से राजा दिलीप को वंश को चलानेवाला पुत्र रघु के रूप में प्राप्त हुआ था। जमदग्नि के आश्रम में सहसा आनेवाले हैहय नरेश कार्तवीर्य की विशाल सेना की अभ्यर्थना का पवित्र तथा अद्भुत कार्य मेरी पुत्री ही ने तो निभाया था, जो जमदग्नि की होमधेनु थी। मेरी रक्षा करने में राजाओं तथा ब्राह्मणों ने अपना सर्वस्व लुटा दिया, परंतु मेरा बाल भी बाँका न होने दिया। धन्य हैं ऐसे महापुरुषों की गोभक्ति !! परंतु आज के संसार में पुराणों की ये ऐतिहासिक कहानियाँ--राजा दिलीप का नंदिनी की रक्षा के लिए अपने प्राणों के न्यौछावर का प्रसंग तथा परशुराम के द्वारा अपने पूज्य पितृदेव की होमधेनु के रक्षण के निमित्त मदांध शासकों का २१ बार पराजय—सामान्य रोचक गल्प से अधिक महत्त्वशाली नहीं मानी जातीं। इसे तो मैं भारतवर्ष का दुर्भाग्य ही मानती हूँ जो अपने प्रामाणिक इतिहास को भी काल्पनिक मानता है। पौराणिक लोग देवलोक की सर्वस्वभूता अखिल कामनाओं को पूर्ति-विधायिका 'कामधेनु' को मेरे वर्ग में मूर्धन्य मानते हैं, परंतु मेरी तो मान्यता है कि मैं और मेरी समग्र बच्चियाँ प्रत्येक 'कामधेनु' हैं। 'लक्ष्मीर्वसति गोमये' वचन के अनुसार जिसकी निकृष्ट विष्ठा में भी पूजनीया लक्ष्मी का निवास हो, उसकी धन्यता क्या कही जाय? मैं त्रैलोक्य के साम्राज्य से भी कहीं अधिक बढ़ कर हूँ। तभी तो मछुओं के द्वारा जालबद्ध च्यवन ऋषि ने त्रैलोक्य के साम्राज्य को ठुकराकर गाय को ही अपनी निष्क्रय-वस्तु मानी थी। क्या इस महाभारतीय कथा को यहाँ दुहराने की आवश्यकता है? आज के वैज्ञानिक युग में भी मेरा गोबर समस्त नवीन उर्वरकों से पृथ्वी की उर्वराशक्ति के संरक्षण में अधिक कृतकार्य हुआ है—इस तथ्य का संकेतमात्र ही गोमय में लक्ष्मी के निवास का पोषक प्रमाण है।

प्राचीन काल में विनिमय का माध्यम मैं ही थी। किसी भी देश की उन्नति व्यापार के ऊपर आश्रित रहती है और यह व्यापार विनिमय के माध्यम की अपेक्षा रखता है। सभ्यता के इतिहास में धातुज मुद्रा का ही बोलबाला है, परंतु सुदूर प्राचीनकाल में, मैं ही इन समस्त व्यावसायिक प्रक्रियाओं की साधन थी। मेरे अभाव में एक देश की वस्तु अपने ही देश में पड़ी रहकर सड़ गल जाती, दूसरे देश के प्राणियों के उपभोग में वह तनिक भी नहीं आ सकती थी। मैंने ही व्यापार को

१—ऋग्वेद, ६।२८।५।

दिशा प्रदान की, विनिमय का साधन निकाला, लेन-देन के माध्यम का रूप स्वयम् स्वीकार किया। तब कहीं जाकर सभ्यता का प्रसार हुआ। इस प्रकार आजकल के व्यापार की जननी होने का गौरव तो मुझे प्रदान किया जाना चाहिए। प्रसन्नता मुझे इसी बात की है कि अनेक भाषाएँ मेरे इस स्वरूप से परिचित हैं और अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन अपने विशिष्ट शब्दों तथा प्रयोगों के द्वारा वे आज भी कर रही हैं। चाहे पूरब हो या पश्चिम, मेरे इस उपकार की स्मृति आज भी अनेक देशों में भुलाई नहीं गई है। लातीनी भाषा का पेकुस् (pecus) शब्द मेरे ही पशुरूप के वाचक होने के साथ ही साथ 'अर्थ' का भी द्योतक है और अंग्रेजी का उसी शब्द से निष्पन्न पिक्यूनिअरी (pecuniary) शब्द आज भी धन से संबद्ध अर्थ का स्पष्टतः वाचक है।

(३)

इस विशाल विश्व में आदिम तथा सर्वश्रेष्ठ संस्कृति होने का श्रेय धारण करनेवाली भारतीय संस्कृति का मैं ही प्रतीक हूँ। मैं सरलता, शुद्धता तथा सात्विकता की मूर्ति हूँ। उस भारतीय संस्कृति की क्या कभी कल्पना की जा सकती है? जिसमें मेरा प्राधान्य नहीं, मेरा सत्कार नहीं, मेरा आदर नहीं। याद रखो, मेरी रक्षा करना एक अनबोलते पशु की रक्षा करना नहीं है, प्रत्युत वह नाना दिशाओं में मुखरित होनेवाली प्राचीन संस्कृति की रक्षा है। भारतवर्ष की पावन संस्कृति का मेरुदंड मैं ही हूँ। मेरे ही गौरव की गाथा अनेक शब्दों के द्वारा आज भी प्रकट करनेवाली देववाणी अपनी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करने में तनिक भी नहीं सकुचाती—यह मेरे परम हर्ष का विषय है।

भारत की अनेक भव्य भावनाओं का संबंध मेरे साथ निबद्ध है। वह सुंदर वेला, जिसमें शुभकार्यों का संपादन विहित है, मेरे ही नाम पर 'गोधूलि' कहलाती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस में 'गोधूलि' वेला को 'धेनुधूरि' वेला की संज्ञा दी है।[१] भगवान् रामचंद्र के विवाह की शोभायात्रा इसी मुहूर्त में आरंभ हुई थी। इसी समय मैं अपनी संतानों के साथ चरागाह से लौटती हूँ और हमारे खुरों से उठी हुई धूल पूरे वायुमंडल को धूल-धूसरित बना देती है और इसी पवित्र दृश्य के आधार पर यह संध्यावेला 'गोधूलि' के नाम से निर्दिष्ट की जाती है। मेरी धाक साहित्य में भी है। जिस समाज में सहृदयजन बैठ कर सरस-चर्चा किया करते हैं तथा आनंद उठाते हैं, वह मेरे ही नाम पर **गोष्ठी** कहलाता है। किसी विशिष्ट

१—धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल॥—१।३१२।०।

विषय के शोध के निमित्त प्रयुक्त **गवेषणा** शब्द मेरे उस रूप की सुध दिला रहा है, जब मैं परम अभिलाषाओं में मूर्धन्य मानी जाती थी। शिल्पशास्त्र भी मेरा ऋणी है। प्राचीनकाल में महलों के झरोखे मेरी ही सुभग-सुडोल आँखों के समान गोल-गोल होते थे और इसीलिए झरोखों का सामान्य अभिधान ही बन गया **गवाक्ष,** जिसका विकृत रूप हिंदी में 'गोखा' या 'मोखा' और भोजपुरी में 'मूका' आज भी व्यवहृत होता है। मेरे स्तन उन लंबे-लंबे लच्छेदार अंगूरों के लिए उपमान का काम करते हैं, जो इसी कारण **गोस्तनी द्राक्षा** के नाम से पुकारी जाती हैं। मेरे नामधारी इन द्राक्षाओं के सामने वह छोटे-छोटे गोल दानावाले अंगूर की कोई पूछ नहीं। वह तो बाजार में यों ही पड़ा रह जाता है, जब मेरे नामधारी के ऊपर माधुर्य के भक्त टूट पड़ते हैं। दूध तो मेरा ही विकार है, मानव मात्र को शक्ति प्रदान करने की शक्ति रखनेवाला दूध सामान्य रूप से मेरे ही नाम से **गोरस** कहलाता है, तब उसे औटनेवाली अंगीठी को भी **गुरसी** (गोरसी या भोजपुरी में बोरसी) कहलाने में तनिक भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। नाट्यशाला मेरी उपेक्षा नहीं कर सकती। मेरी पूँछ को ध्यान से देखो। वह आरंभ में फैलकर बड़ी होती है, परंतु धीरे धीरे परिमाण में कम होती जाती है। इस सादृश्य को लक्ष्य कर नाट्यशाला अपने एक विशिष्ट संगठन को **गोपुच्छ** के नाम से पुकारती है।

पूजा तथा उपासना के साथ मेरा अटूट संबंध है। बाबा विश्वनाथ को जिस जलपात्र से जल चढ़ाया जाता है तथा भगवान् के नाम-जप करने के लिए जिसके भीतर माला फेरी जाती है–ये दोनो ही पदार्थ मेरी लंबायमान मुखाकृति के कारण गोमुखी कहलाते हैं। भगवान् का वह नित्य लीलाधाम जहाँ वे गोपियों के साथ नित्य आनंद से बिहार किया करते हैं, मेरे ही कारण गोलोक कहलाता है। मेरे इन रूपों के विषय में वैदिक विद्वानों में मतभेद बना हुआ है। किन्हीं की मान्यता है कि ये गायें वस्तुतः पशुजातियाँ हैं और किन्ही का आग्रह है कि वे सूर्य की रश्मिरूप हैं। मेरा कहना है कि ये दोनो मत यथार्थ हैं—इन दोनो में द्वैविध्य का अवकाश नहीं है। गोलोक तो वैष्णवजनों का सर्वस्व ही ठहरा, भगवान् विष्णु का नित्य वृंदावन लोक; परंतु यह पुराण की कल्पना नहीं है, ऋग्वेद भी इस गोलोक से अपरचित नहीं है। तभी तो एक वैदिक ऋषि बहुत सींगवाली शीघ्रगामिनी गायों के निवासभूत लोक की प्राप्ति को अपने जीवन की चिर अभिलाष का पर्यवसान मानता है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ॥[1]

नाना दिशाओं से छिटकनेवाली रंगविरंगी रविरश्मियों के विचरण-क्षेत्र होने से उस विष्णु के तृतीय क्रम को 'गोलोक' मानने का कारण विद्वान् लोग भले ही मानें,

१—ऋग्वेद १।१५४।६।

परंतु यह मैं बताना चाहती हूँ कि उस उर्ध्वतम लोक में मेरा भी निवास है। यह क्यों न हो ? वह परात्पर ब्रह्म ही जब मेरे पालक होने के कारण गोपा नाम से पुकारा जाता है (विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद), तब उसके लोक से मेरा बहिष्कार कर देना कितना अन्याय है। मेरे ही रस (गोरस) के पान का परिणाम फल हुआ, गीता के ज्ञान का उपदेश। मेरे ही रक्षा करने के कारण वह नंदनंदन गोपाल तथा गोविन्द नाम धारण करता है। गोपों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण वह गोपेंद्र के नाम से पुकारा जाता है, जो संस्कृत में प्राकृत नियमानुसार विकृत होकर 'गोविंद' बन गया है।

इस प्रकार मैं भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की प्राण हूँ--उसमें जीवन फूँकनेवाली हूँ। मेरा उपकार क्या कभी भुलाया जा सकता है ?

(४)

मुझे नितांत आश्चर्य होता है कि साधारण जन की तो बात ही न्यारी है, तथाकथित पंडितजन भी हमारे स्वरूप से अपरिचित हैं और मेरे विषय में नाना प्रकार की धारणाएँ रखते हैं, जो शब्द के अज्ञान से तथा वैयक्तिक स्वार्थ के कारण आज भी प्रचलित हैं। इन्हीं में से एक भ्रांत धारणा है कि वैदिक काल में मेरा वध किया जाता था और वह भी पूजनीय अतिथियों के संबंध में। इस धारणा के पोषक कतिपय शब्द माने जाते हैं, जिनके अर्थ की नासमझी ने अनर्थ कर डाला है। ऐसा ही एक बहुशश्चर्चित शब्द 'अतिथि' के प्रसंग में प्रयुक्त 'गोघ्नः' है। व्याकरण की पद्धति से इस शब्द का अर्थ होता है—'गावो हन्यन्ते यस्मै स गोघ्नः अतिथिः।' बस इस व्युत्पत्ति पर मनचले लोगों ने कल्पना का किला ही खड़ा कर दिया है कि प्राचीन भारत में अतिथि के लिए गायें मारी जाती थीं। शिव ! शिव ! कितनी अनर्थजननी है यह कल्पना !!! मेरे साथ तो इस अर्थ में घोर कृतघ्नता है ही, साथ ही साथ संस्कृत भाषा के ज्ञान का भी तीव्र अपमान है !!! यह सत्य है कि अतिथियों के सत्कार का साधन मैं तथा मेरी पुत्रियाँ ही हुआ करती थीं जिनका ताजा दूध अतिथिजनों की पूर्ण तृप्ति का उपकरण होता था। प्राचीन काल में अतिथियों के सत्कारार्थ गायों का संग्रह करनेवाला एक विशिष्ट महीपाल अतिथिग्व नाम से इसीलिए अभिहित किया जाता था (अतिथ्यर्थं गावो यस्य असौ अतिथिग्वः) अतिथि के संग में गायों का संपर्क इससे अवश्य सिद्ध होता है। बड़ी विलक्षण बात तो यह है कि वैदिक निघंटु (२।१४) में गत्यर्थक धातुओं के बीच 'हन्' धातु आता है, परंतु वध अर्थवाले धातुओं में इसका उल्लेख सर्वथा नहीं है। 'हन्' धातु का अर्थ केवल 'हिंसा' ही नहीं है, प्रत्युत गति भी तो है (हन् हिंसागत्योः) 'हिंसा' सर्वत्र प्राणत्याग रूप भी नहीं होती, प्रत्युत 'ताड़न' या 'आहनन' अर्थ भी वह प्रकट करती है। अतिथि के उपस्थित होने पर उसे दूध पिलाने के लिए ह

लोग लाई जाती थीं (गति) तथा आने में आनाकानी करने पर हमारा ताड़न भी किया जाता था (आहनन)। यह ताड़न दूध के ही निमित्त नहीं होता था, प्रत्युत दान के लिए भी तो होता था। उस युग में अतिथि का सत्कार तथा संमान दोनो प्रकार से किया जाता था—दूध के द्वारा तथा ज्ञान के द्वारा। दोनो दशाओं में आनाकानी करने पर हमारा ताड़न संभवतः किया जाता था। 'गोघ्न' शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य इस अर्थ पर ध्यान देने पर भ्रांति कभी हो ही नहीं सकती (गां हन्ति ताडयति अतिथये दानार्थं ताडनद्वारा गमयति इति गोघ्नः अतिथिः)।

महाभारत में रंतिदेव की कथा को ठीक ठीक न जानने के कारण भी भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। जिस श्लोक ने बड़ी गड़बड़ी मचा रखी है वह यों है—

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं सदा॥[1]

विना समझे ही लोगों ने हमारी हत्या का दोष रंतिदेव के माथे मढ़ दिया। यहाँ पशुओं का निर्देश श्लोक के अंतिम चरण में है, गायों का तो नहीं। पशु-सामान्य से गो विशेष का ही अर्थ निकाला जाय, तोभी तो मेरा वध सिद्ध नहीं होता। 'वध्येते' का अर्थ है बाँधी जाती थीं, 'मारी जाती थीं' यह अर्थ नहीं, अनर्थ है। रंतिदेव महाभारत के साक्ष्य पर ही पक्का अहिंसाव्रती राजा था। महाभारत ने (अनुशासन, ११५।७२-७७) ऐसे अहिंसाव्रती राजाओं की जो सूची दी है उसमें रंतिदेव का नाम सादर उल्लिखित है 'रैवते रन्तिदेवेन .... एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्।'[2] फलतः जो स्वयम् ही अहिंसा का इतना बड़ा पुजारी था, भला वह अपने दरवाजे पर आनेवाले पूजनीय अतिथियों के लिए मेरी हत्या करेगा? रंतिदेव गौओं और वृषभों का बड़ा भारी दाता था। द्रोण पर्व में महाभारत का यह कथन क्या विश्वासयोग्य नहीं है—

सहस्रशश्च सौवर्णान् वृषभान् गोशतानुगान्।
अध्यर्धमासमददत् ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः॥[3]

एक क्षण के लिए 'वध्येते' का अर्थ हिंसन ही मान लिया जाय, तो यह भी 'हिंसन' प्राणत्याग-रूप न होकर ताडनरूप ही मानना चाहिए। 'आलभ्यन्त शतं गावः' वाक्य में 'आलभ्यन्त' का अर्थ 'मारा जाना' जो किया जाता है, वह भी सुसंगत नहीं है। 'आ' पूर्वक लभ् धातु का अर्थ सैकड़ों स्थानों पर स्पर्श करना मात्र है, 'मारना' अर्थ निकालना सरासर अन्याय है। एक-दो दृष्टांत यहाँ उपस्थित करती हूँ—

(क) ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणान् अभिवाद्य च।[4]

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा बैल की पीठ का आलंभन अर्थात् स्पर्शन अभीष्ट है।

१—वनपर्व २०८।८ २—अनुशासनपर्व, ११५।७७। ३—द्रोणपर्व, ६७।१०-११। ४—उद्योगपर्व ८३।१०।

(ख) गामालभ्य विशुध्यति ।[1]

नरकंकाल के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि का परिहार गाय को 'आलभ्य' होता है। यहाँ मनु का आशय गाय के स्पर्श से है, हिंसन से नहीं ।

(ग) विवाह संस्कार तथा उपनयन में वधू के हृदय का तथा माणवक के हृदय का क्रमशः आलंभन निर्दिष्ट है, जो हिंसन न होकर स्पर्श अर्थ का ही बोधक है—

अथास्मै हृदयमालभते ।[2]

(घ) मीमांसा दर्शन के भाष्य (१।२।१०) में शबरस्वामी ने 'आलंभन' का अर्थ 'उपयोग' किया है, 'मारण' नहीं——

अज इति अन्नं बीजं वीरुद् वा ।
तम् आलभ्य उपयुज्य प्रजाः पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः ।[3]

(ङ) 'अक्षान् यद् बभ्रून आलभे' (अथर्व, ७।११४।७) में सायण ने 'आलभे' का अर्थ स्पर्श करना ही लिखा है ।

कहाँ तक मैं गिनाऊँ ? इस शब्द के एतदर्थक प्रयोग के सैकड़ों दृष्टांत साहित्य में भरे पड़े हैं । रंतिदेव के द्वारा मेरा आलंभन इस दृष्टि से दानार्थ या सत्कारार्थ स्पर्शरूप ही है ।

एक बात मैं और कहना चाहती हूँ । वेद ने मेरे लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग किया है जो मेरे 'अहन्तव्य' रूप को ही प्रकट करता है । इसी कारण मैं अही नाम से भी पुकारी जाती हूँ (न हन्यते या सा अही) । समस्त देवता रूप होने से पूजनीय होने के कारण 'मही' मेरा ही अन्यतम अभिधान है ('मह्यते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वात् उपभोग—साधनत्वाद् वा इति मही'—देवराजकृत निघंटु व्याख्या, पृ० २४५)। वैदिक आर्यों ने, मुझे अभ्यर्थना का भाजन माना है; हिंसन का नहीं। उत्तररामचरित के 'वत्सतरी मडमडायिता' वाक्य ने भी लोगों के हृदय में संदेह का झमेला खड़ा कर दिया है। 'वत्सतरी' का वहाँ हनन नहीं हुआ था । गाय का दूध प्रायः अतिथि के कार्य में लग जाने के कारण वह वत्सतरी (बछिया) के लिए बचा नहीं होगा—इसलिए वह भूख से बिलबिलाती रही होगी। भवभूति के इस सारगर्भित वाक्य का यही अर्थ है । इसे अन्यथा मानना उचित नहीं है ।

मेरा विश्वास है कि मेरी यह रामकहानी मेरी ही जबानी सुनकर आपलोगों को विश्वास हो गया होगा कि मेरी व्यापकता विश्व के कोने कोने में अत्यंत प्राचीन काल से है तथा भारत की इस पवित्र भूमि में वेदानुयायियों के द्वारा मेरा संमान, सत्कार

१—मनु—५।८७ । २—पारस्कर गृहसू०, १।८।५ तथा २।२।१६ ।
३—शाबर भाष्य, १।२।१० ।

सदा से होता रहा है। प्राचीन भारत में कभी भी मेरा वध नहीं होता था। आजकल जैसी मेरी दुरवस्था है, वैसी प्राचीन युग में कभी नहीं थी। आप लोगों को चाहिए कि मेरी वह वैदिक पूज्य भावना पुनः जागृत करें। तथास्तु ! अपनी कथा की इति-श्री करने के पूर्व मैं इतना और कह देना चाहती हूँ कि मुझे उन आलंकारिकों की बुद्धि पर तरस आती है, जिन्होंने खट्वारूढ पंचनदीय जन (पंजाबी) के लिए मुझे ही उपमान खोज निकाला है तथा 'गौर्वाहीकः' उदाहरण में जाड्य, मान्द्य आदि दुर्बुद्धि-सूचक दोषों का मुझे आकर मान रखा है। तथ्य इससे कोसों दूर है। मेरे नाम का एक अर्थ 'वाग्देवी सरस्वती' भी तो है, जिसके स्वामी होने के कारण महात्मा तुलसीदासजी 'गोस्वामी' की प्रौढ़ पदवी से मंडित किए गए थे। फलतः बुद्धि की अधिष्ठात्री होने से मेरी यह शोधपूर्ण ज्ञानवर्धनी रामकहानी किसी भी विद्वान् आलोचक के लिए आश्चर्य का विषय न होनी चाहिए।

जयति जय जयति तुलसीस बानी।
कबिन सुखदायनी भाव अंगन भरी छरी भवसूल रसचाव खानी।
पढ़त जेहि होत नर राममारग निरत लही जग जाचना आस हानी।
लोक परलोक सुख देति निज जनन की ताप हरि लेत आनंद खानी।
पंच उपासना भाव चारौ भरी खरी सब भाँति वेदन पुरानी।
अंग मानस लिये सरजू भल भाव हिये दिये जगजीव के अभय जानी।
कहाँ लौं कहै कबि देखि तेहि बरन छबि रही रस जगत आनंद सानी।
द्विज बंदन हिये बसै सकल प्रान जहाँ बसै खसै नाहिं कभी यह नेम ठानी।

डा० माताप्रसाद गुप्त

ज्ञानदीपिका की रचना-तिथि

[हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज विवरणिकाओं में तुलसीदास छापवाली ऐसी अनेक रचनाएँ उल्लिखित हैं, जिन्हें सुप्रसिद्ध महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की कृति होने की मान्यता प्राप्त नहीं है। 'ज्ञानदीपिका' भी उन्हीं में से एक है। डा० कात्रे महोदय उसे गोस्वामीजी की ही कृति मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने प्रामाणिकता के जो साक्ष्य दिए हैं, उनमें रचनाकाल की तिथि भी एक है। वह तिथि गणनानुसार ठीक घटित नहीं होती। इसी का स्पष्टीकरण प्रस्तुत लेख का विषय है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित खोज-विवरणिकाओं में ज्ञानदीपिका की पांडुलिपियों से उद्धृत उद्धरणों में 'इकइस' पाठ किसी भी प्रति में उपलब्ध नहीं है। अतः यह पाठ विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।]

पिछले दिनों में डा० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे के दो लेख तुलसीदास की कही जानेवाली 'ज्ञानदीपका' के संबंध में प्रकाशित हुए हैं। एक है हिंदी में वो इसी शीर्षक से 'सरस्वती' के अक्तूबर तथा नवंबर, १९६२ के अंकों में निकला है तथा दूसरा है अंग्रेजी में, जो इसी शीर्षक से उस 'मुंशी इंडॉलॉजिकल फ़ेलिसिटेशन वॉल्यूस', १९६२ में निकला है, जो भारतीय विद्याभवन, बंबई से प्रकाशित है। दोनो में अंतर एक तो यह है कि हिंदी वाला लेख कुछ अधिक विस्तार से लिखा गया है, दूसरा यह है कि अंग्रेजी वाला अपेक्षाकृत अधिक संयत भाषा में है।

डा० कात्रे ने 'सरस्वती'[1] के अपने लेख में लिखा है—"मेरा विषय मुख्यतः संस्कृत, प्राचीन इतिहास-संस्कृति इ० (इत्यादि ?) है। किंतु वाङ्मयेतिहासों की विद्यमान समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखनेवाली सामग्री पुराने हस्तलेखों में मुझे नवीन दृग्गोचर होने पर उसे प्रकाश में लाने हेतु मैं कभी-कभी मराठी के तथा हिंदी के क्षेत्रों में भी अतिक्रमण करता रहता हूँ।" डा० कात्रे की यह व्यापक शोध-रुचि सराहनीय है।

डा० कात्रे के अनुसार 'ज्ञानदीपिका' तुलसीदास की एक प्रामाणिक रचना है और अन्य बातों के अतिरिक्त इसलिए है कि उसकी जो रचना-तिथि उसमें दी हुई है, वह गणना से ठीक आती है। मैंने अपने 'तुलसीदास'[2] में उसकी तिथि सं० १६३१ की आषाढ़ शुक्ल २, पुष्य, गुरुवार देते हुए तिथि को गणना से

१—पृ०, ३४०। २—तृतीय संस्करण, पृ० १३४।

अशुद्ध बताया था। डा० कात्रे को उसकी एक प्रति नागपुर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में मिली है, जिसमें तिथि सं० १६३१ के स्थान पर सं० १६२१ है, किंतु डा० कात्रे का मत है कि दोहे से आशय सं० १६२२ का निकलता है और सं० १६२२ में तिथि गणना से ठीक आती है, इसलिए रचना प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। शैली आदि के साक्ष्य से भी वे अपने मत की पुष्टि करते हैं और मेरे दिए हुए तर्कों से अपना मतभेद व्यक्त करते हैं; मैंने थोड़े से ही वाक्यों में तुलसीदास की एक ऐसी तिथियुक्त और महत्त्वपूर्ण कृति को चलता कर दिया, इसपर भी उन्हें असंतोष है।

उन्होंने तिथिवाली पंक्तियों का पाठ उक्त नागपुर की प्रति के अनुसार इस प्रकार दिया है—

संमत सोरह सै गए इकइस अधिक बिचार।
सुकल पच्छ आषाढ़ की द्वैज पुष्य गुरवार॥
ता दिन उपजी दीपिका पाँच जोति परवान।
धर्म ज्ञान अरु ब्रह्म पुनि प्रभु सरूप बिज्ञान॥

डा० कात्रे का मत है कि उद्धृत प्रथम पंक्ति के 'गए' से बाद के संवत् का आशय लेना चाहिए। प्रश्न यह है कि क्यों लेना चाहिए, क्या कवि 'गए' शब्द का प्रयोग न करके 'भए' का प्रयोग करता हुआ 'इकइस' के स्थान पर 'बाइस' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता था? डा० कात्रे तो इतिहास-संस्कृति के पंडित हैं। दो-चार उदाहरण भी वे किसी कृति से ऐसे दें, जहाँ पर तिथि देने की इस शैली का प्रयोग हुआ हो। 'संमत सोरह सै गए इकइस अधिक बिचार' का सीधा आशय है कि '१६०० संवतों के जाने के बाद २१ संवतों के और जाने का विचार कीजिए।' इससे सं० १६२१ ही बनता है।

अब आइए गणना पर। प्रश्न यह है कि सं० १६३१ में तिथि ठीक नहीं आती है, तो क्या १६२१ या १६२२ में भी तिथि ठीक आती है? डा० कात्रे ने श्री स्वामी कन्नू पिलाई के 'इंडियन एफ़िमिरस' का प्रमाण देते हुए कहा है कि सं० १६२२ में तिथि ठीक उतरती है; किंतु नीचे मैं उसी के अनुसार गत-संवत्-वर्ष-प्रणाली के अनुसार ही नहीं वर्तमान-संवत्-वर्ष प्रणाली के अनुसार भी संभव संवतों की तिथि-गणना दे रहा हूँ—

(१) तिथि, सं० १६२२ में—

२९ जून, शुक्रवार को तिथि निज आषाढ़ शुक्ला २.६८ तक थी, नक्षत्र था ८.१७ तक पुष्य।

(२) वही, सं० १६२१ में—

१० जून, शनिवार को तिथि आषाढ़ शुक्ला २.८४ तक थी, नक्षत्र था ७.६४ तक पुनर्वसु।

(३) वही, सं० १६२० में—

२२ जून, मंगलवार को तिथि आषाढ़ शुक्ला २.६९ तक थी, नक्षत्र था ८.७० तक पुष्य।

(४) वही, सं० १६३२ में—

१० जून, शुक्रवार को तिथि आषाढ़ शुक्ला २.२८ तक थी, नक्षत्र था ७.१८ तक पुनर्वसु।

(५) वही, सं० १६३१ में—

२० जून, रविवार को तिथि आषाढ़ शुक्ला २.६३ तक थी, नक्षत्र था ८.७८ तक पुष्य।

(६) वही, सं० १६३० में—

१ जुलाई, बुधवार को तिथि आषाढ़ शुक्ला २.२४ तक थी, नक्षत्र था ९.६३ तक अश्लेषा।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होगा कि १६२०, १६२१, १६२२ अथवा १६३०, १६३१, १६३२ में से किसी में भी तिथि पूरी-पूरी ठीक नहीं आती है। पता नहीं डा० कात्रे ने 'इंडियन इफिमिरस' को किस भाँति देखकर अपनी नवीन शोध की विज्ञप्ति की। इतिहास-संस्कृति के पंडित यदि ऐसी भूलें करते हैं तो आश्चर्य होना कदाचित् स्वाभाविक है।

अब उसकी वास्तविक तिथि क्या हो सकती है इसपर विचार किया जाए। आषाढ़ शुक्ला २ को गुरुवार और पुष्य नक्षत्र निम्नलिखित संवतों में आता है—

सं० १६२६ में : जून १६, गुरु० : आषाढ़ शुक्ल २.५४, नक्षत्र ८.९६ : पुष्य।
सं० १६६० में : जून ३०, गुरु० : वही, २.६०, नक्षत्र ८.११ : पुष्य।
सं० १६८७ में : जुलाई १, गुरु० : वही, १.०१, २.९३, नक्षत्र ८.३२ : पुष्य।
सं० १७०४ में : जून २४, गुरु० : वही, २.२४, नक्षत्र ८.१९ : पुष्य।
सं० १७३१ में : जून २५, गुरु० : वही, २.५६, नक्षत्र ८.४२ : पुष्य।
सं० १७५८ में : जून २६, गुरु० : वही, २.८६, नक्षत्र ८.६३ : पुष्य।
सं० १७७५ में : जून १९, गुरु० : वही, २.२०, नक्षत्र ८.५१ : पुष्य।
सं० १८०२ में : जून २०, गुरु० : वही, २.४९, नक्षत्र ८.७२ : पुष्य।
सं० १८२९ में : जुलाई २, गुरु० : वही, २.७९, नक्षत्र ८.९३ : पुष्य।
सं० १८४६ में : जून २५, गुरु० : वही, २.१४, नक्षत्र ८.८२ : पुष्य।

तिथि के दिए हुए विस्तार को देखते हुए अन्य तिथियों की अपेक्षा उपर्युक्त में किसी तिथि के वास्तविक रचना-तिथि होने की संभावना अधिक मानी जा सकती है। किंतु इन तिथियों में से सं० १६२६ या सं० १६६० की तिथि हो नहीं सकती है, क्योंकि तब संवत् दोहे में शुद्ध मिलता। शेष तिथियों में से सं० १७३१ की तिथि कदाचित् इसलिए अधिक संभव मानी जा सकती है कि नकली रचयिता ने सं० १६३१ देते हुए सोचा होगा कि उसमें भी तिथि के वे ही विस्तार दिए जा सकते थे, जो सं० १७३१ में उक्त तिथि को थे। रचना की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हैं, डॉ० कात्रे को प्राप्त प्रति के समान ही, उनमें से कोई भी विक्रमीय उन्नीसवीं शती के मध्य से पूर्व की नहीं हैं, यह भी इस प्रसंग में ज्ञातव्य है (दे० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण'—नवीन संस्करण)।

शेष तर्क जो डा० कात्रे ने दिए हैं उन पर विचार रचना का पूरा पाठ प्राप्त होने पर ही किया जा सकता है, इसलिए मैंने उन्हें लिखा कि वे मूल प्रति से की हुई अपनी प्रतिलिपि भेज सकें तो अच्छा हो। उनके विश्वविद्यालय पुस्तकालय को मैंने उक्त प्रति को ही कुछ समय के लिए भेजने को लिखा, किंतु उन्होंने पुस्तकालयाधिकारी पद से उत्तर दिया है कि प्रति विशेष महत्त्व की होने के कारण भेजी नहीं जा सकती है, और उसकी जो प्रतिलिपि उन्होंने अपने उपयोग के लिए की थी, वह ऐसी नहीं है जो मेरे लिए उपयोगी हो सके। इसलिए स्पष्ट है कि डॉ० कात्रे के शेष तर्कों पर विचार करना संप्रतिसंभव न होगा।

स्वामी श्रीविमलानंदजी

तेलुगू-साहित्य की रामायण परंपरा

[समस्त भारतीय वाङ्मय, सगुण काव्यधारा के महान् द्वय मर्यादा-पुरुषोत्तम एवम् लीलापुरुषोत्तम की महत् लीलाओं के चित्रण से समृद्धशाली हुए और हो रहे हैं। इनके चरित्रों में भारतीय संस्कृति की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से दृग्गोचर होती है। इनसे संबंधित पुष्कल साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध हैं, किंतु भाषा-भिन्नता के कारण देश के सभी अंचल के लोग उनसे लाभान्वित नहीं हो पाते। विशेषरूप से दाक्षिणात्य भाषाओं की कृतियों से उत्तरांचल के निवासी अपरिचित हैं। हिंदी में तद्विषयक प्रकाशन अनुसंधान एवम् भाषा-समृद्धि की दृष्टियों से उपादेय और महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत निबंध में तेलुगू भाषा में रचित रामकथा-साहित्य का परिचय दिया गया है।

'इस निबंध में अधिकांश प्राचीन साहित्य-ग्रंथों का ही उल्लेख किया गया है। इस सूक्ष्मतम दिग्दर्शन के द्वारा पता चल जाता है कि तेलुगू भाषा के प्राचीन साहित्य का भांडार राम संबंधी साहित्य से परिपूर्ण है। तेलुगू का न केवल प्राचीन साहित्य अपितु आधुनिक साहित्य भी रामकथा-श्रयण से पुनीत है।']

भगवान् राम और कृष्ण दोनो भारतीय जनता की भावनाओं के केंद्रविंदु हैं। भारतीय साहित्य मर्यादापुरुषोत्तम राम और लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण दोनो ओतप्रोत है। यदि भारतीय साहित्य से इन दोनो को हटा दिया जाय तो स्वरूप-शून्य या नाम मात्र का हो जायगा। भगवान् के दस अवतारों में से ये अवतार भारतीय जनता-के हृदय में व्याप्त हो चुके हैं। दोनो अपनी अलौकि लीलाओं से जनता के जीवन के निकट पहुँच गए। अतएव भारतीय जनता युगों इन दोनो विभूतियों को भूल नहीं सकी और आजतक उनका गुणगान क आ रही है।

दोनो अवतारों में भगवान् राम भारतीय जनता के इस प्रकार आकर्षणकेंद्र ब गए कि जन-हृदय से वे पृथक् नहीं किए जा सकते। भारत की जनता मर्या प्रेमी है। वेद, शास्त्र आदि जितने भी भारतीय साहित्य हैं, सबके सब मर्यादा ही विधान करते हैं। भारतीय परंपरा ही मर्यादा से पूर्ण है। क्या ईश्वर, मनुष्य, क्या कीट-पतंग सभी मर्यादा का पालन करते हैं। इस प्रकार मर्यादा अभिनिवेश रखनेवाली प्रजा अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती। राम का अवतार म

के पालन के लिए ही माना जाता है। राम में लौकिकता अधिक है, तो कृष्ण में अलौकिकता। अतः लौकिक जनता ने लौकिक पुरुष को ही अधिक पसंद किया।

राम के अवतार को लक्षित कर भारतीय भाषाओं में जितना अभूतपूर्व साहित्य निर्मित हुआ, उतना और किसी अन्य अवतार या महापुरुष को लेकर नहीं प्रस्तुत हो सका। सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि ने राम को साहित्य में अवतरित किया। वाल्मीकि की रचना रामायण ही आजतक साहित्य की प्रेरणा-स्रोत रही है। भारत की प्रत्येक भाषा का साहित्य रामकथाओं के भांडार से आपूरित है। क्या प्राचीन, क्या अर्वाचीन सभी साहित्य रामकथा से ओतप्रोत है।

तेलुगू भाषा भी, जो आर्यभाषा-परिवार से पृथक् मानी जाती है, राम-साहित्य से परिपूर्ण है। विशेषकर भगवान् राम आंध्र-प्रजा के कुलदेवता माने जाते हैं। आंध्र-साहित्य में राम संबंधी रचनाएँ अनंत हैं। प्रबंधकाव्य, शतक, नाटक, गेय-पद आदि के रूप में तेलुगू-साहित्य में रामकथा सर्वत्र व्याप्त है। आंध्र प्रदेश के राम-मंदिर तथा राम-संकीर्तन यह घोषित करते हैं कि आंध्र-हृदय रामपरक है। यद्यपि काल-प्रभाव से कवि जनों के मनोभाव परिवर्तित होते जा रहे हैं, तथापि आंध्र प्रदेश के राम-मंदिर, श्रीरामोत्सव और रामसंकीर्तन आज तक अक्षुण्ण रूप से यह घोषणा करते हैं कि तेलुगू जनता का मानस राम-भक्ति-परायण है। इस प्रकार कवि-हृदय में परिवर्तन होने पर भी साधारण जनता की मनोभावना में कुछ भी अंतर नहीं दिखाई देता। आंध्र की जनता आज भी उसी उत्साह तथा भक्ति-भाव से भगवान् की आराधना तथा गुणगान करती है, जिस प्रकार वह पहले करती थी। इस तेलुगू-साहित्य में राम-काव्य परंपरा की शृंखला अबाध रूप से चली आ रही है।

तेलुगू-साहित्य में रामकथा के प्रभाव तथा विस्तार का उल्लेख करने के पूर्व उसके उद्भव और विकास के संबंध में थोड़ी चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

तेलुगू-साहित्य का उद्भव

ई० पू० २८ से ५०० ई० तक तेलुगू-साहित्य का अज्ञात युग कहा जाता है। दुरदृष्टवशात् इस युग का साहित्य उपलब्ध नहीं है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय साहित्य निर्मित ही नहीं हुआ। वह प्राचीन साहित्य सचमुच काल-गर्भ में विलीन हो गया। प्राचीन आंध्र-साहित्य उपलब्ध न होने पर भी, आंध्र के कवियों ने जो कन्नड़-साहित्य की सेवा तथा महोपकार किया, उसका स्मरण करने से यह सिद्ध होता है कि आंध्र में अनेक महाकवि हो चुके थे। आंध्र के पूज्यपाद, आदिपंप कवि, नागार्जुन, भीम कवि आदि महाकवि ई० पाँचवीं शताब्दी से

कन्नड़ में काव्य-रचना, और लक्षण-ग्रंथों का निर्माण करते जा रहे थे। यह अ... और स्वभाव विरुद्ध है कि वे अपनी मातृभाषा का विस्मरण कर कर्णाटकी ही... गए। अतः अनुमान किया जाता है कि उन्होंने स्वभाषा तेलुगू में भी काव्य-र... अवश्य की होगी। यह भी हो सकता है कि स्वभाषा को संमान या राजाश्रय ... मिला हो, इस कारण उन्होंने कन्नड़ भाषा का सहारा लिया हो। प्राचीन क... साहित्य के निर्माता आंध्र के ही थे। तेलुगू में महाभारत के निर्माण के पश्चात् ... कन्नड़ में उसका अनुवाद हुआ। आंध्रलिपि ही कन्नड़ भाषा का भी आधार है ... वर्तमान युग में भी कन्नड़ के कवि आंध्र-कविता को ही आदर्श मानकर उ... अनुसरण करते दिखाई देते हैं। अतः समृद्ध आंध्र-भाषा में प्राचीनकाल में ... साहित्य ही नहीं था, यह कहना हास्यास्पद है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह साहित्य क्या हो गया? बौद्धमत ... होने के बाद ही देशभाषाओं का प्राबल्य बढ़ा। सर्वप्रथम बुद्ध ने यह ... समझा कि लोकभाषा से ही जनता में प्रचार किया जा सकता है। ... ईसा की प्रथम शताब्दी में जिस समय देश में सर्वत्र बौद्धमत व्याप्त हो रहा ... उस समय तेलुगू में भी देशीय कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ होगा ... तदनुसार लोकभाषा में साहित्य निर्मित हुआ होगा। दक्षिणापथ में बौद्धों से अ... जैनों का ही प्रभाव था। अतः अनुमान है कि जैन-साहित्य ही अधिकतर नि... हुआ होगा। श्रावण बेलगोला की कथाएँ, वहाँ की उत्तुंग जैन मूर्तियाँ त... ताटिपाक जेंदेवुडु यह सूचित करते हैं कि दक्षिणापथ उस समय जैनाक्रांत था। ... एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ११वीं शताब्दी के पूर्व वर्तमान आंध्र देश के शा... बौद्ध एवम् जैन थे। सातवाहन वंश बौद्ध-धर्म का बड़ा समर्थक था। धान्यक... तथा अमरावती बौद्ध-धर्म के अध्ययन-अध्यापन के प्रख्यात केंद्र थे। बहुत संभव ... कि बौद्ध एवम् जैन विचार तथा दर्शन प्रधान साहित्य का सृजन किया गया हो ... कालांतर में वे नष्ट या लुप्त हो गए हों। यह भी संभव है कि क्षेत्रीय भाषा ... अपेक्षा संस्कृत तथा प्राकृत का संमान अधिक रहा हो। पूज्यपाद के समय (चौथी ... पाँचवीं ई०) में प्राचीन आंध्र में रावण और काण्व व्याकरण थे। अतः अनुमान ... कि अन्य साहित्य भी अवश्य रहा होगा। किसी भाषा का पूर्ण विकास हो जाने ... अनंतर उसके व्याकरण की आवश्यकता होती है। अतः तेलुगू साहित्य के व्याक... का निर्माण यह सिद्ध करता है कि तेलुगू भाषा और साहित्य का विकास अ... चरमसीमा पर रहा होगा।

उपलब्ध साहित्य

वैसे तो शिलालेखों से ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में तेलुगू भाषा ... पृथक् अस्तित्व का निश्चित प्रमाण मिलता है, परंतु आजकल इसका सबसे पुरा...

साहित्यिक ग्रंथ ११वीं शताब्दी के आरंभ का महाभारत माना जाता है। यह ग्रंथ संस्कृत महाभारत का तेलुगू अनुवाद है। इसके रचयिता महाकवि नन्नय्या थे, जो पूर्वी चालुक्य वंश के राजराज नरेंद्र के आश्रित थे। राजराज नरेंद्र की आज्ञा से नन्नय्या ने महाभारत का तेलुगू में अनुवाद प्रारंभ किया। यह रचना चंपू में है, पर इसमें पद्य का ही प्राधान्य है। नन्नय्या का काव्य इतना सुविकसित है कि इसका अध्ययन करने के पश्चात् यह विश्वास ही नहीं होता कि किसी भी भाषा का यह सर्वप्रथम ग्रंथ होगा। नन्नय्या ने आदि, सभा और अरण्य पर्व के कुछ अंश मात्र की रचना की थी।

१३वीं शताब्दी में 'तिक्कन्ना' ने महाभारत को पूरा करने का बीड़ा उठाया। तिक्कन्ना कवि, योद्धा और राजनीतिक तीनो थे। उनकी गणना मध्ययुगीन दक्षिणी भारत के अत्यंत आकर्षणपूर्ण व्यक्तियों में है। 'तिक्कन्ना' को कविब्रह्म की उपाधि से विभूषित किया गया था।

यह आश्चर्य की बात है कि तिक्कन्ना ने अरण्य पर्व, जिसका कुछ अंश नन्नय्या लिख चुके थे, अपूर्ण ही छोड़ दिया और उसके आगे अन्य पर्वों की रचना की। १४ वीं शताब्दी में 'येरप्रिगडा' ने उस अवशिष्टांश को पूरा किया। महाभारत के ये तीनो कवि तेलुगू में 'कवित्रय' के नाम से अभिहित हैं। कवित्रय के बाद तेलुगू साहित्य की परंपरा अटूट है। यहाँ केवल रामकथा साहित्य का दिग्दर्शन किया जायगा। तेलुगू-साहित्य का प्रत्येक अंग अर्थात् प्रबंध काव्य, शतक, नाटक, दंडक, हरिकथा, गद्यकाव्य आदि कोई भी रामकथा से अछूते नहीं बचे। यहाँ उन्हीं में से कुछ ग्रंथों का उल्लेख किया जा रहा है।

तेलुगू-साहित्य में रामायण की रचना-परंपरा

तेलुगू की राम संबंधी काव्य-परंपरा में 'भास्कर रामायणमु' सर्वप्रथम और प्राचीन मानी जाती है। इसका रचनाकाल १३ वीं शताब्दी माना जाता है। लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि 'भास्कर रामायणमु' महाभारत से भी कुछ पूर्व की रचना है। इसके रचयिता भास्कर का समय १०२७ से १०७७ ई० तक माना जाता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के पूर्व अथवा उसके आसपास इसकी रचना हुई होगी। कुछ विद्वान् भास्कर का समय १२ वीं शती मानते हैं। भास्कर का 'हुलक्किभास्कर' भी नामांतर है।

भास्कर ने वाल्मीकि रामायण का अनुवाद किया। इसलिए वह ग्रंथ 'भास्कर रामायण' नाम से प्रसिद्ध हुआ। भास्कर का नाम ही प्रख्यात है, यद्यपि इस अनुवाद में और तीन व्यक्तियों का उल्लेख है। कहा जाता है कि भास्कर के पुत्र 'मल्लिकार्जुन भट्टारक' शिष्य 'कुमार रुद्रदेव' और मित्र 'अय्युल भट्टारक' इन चारों

महानुभावों ने अनुवाद पूरा किया। इन चारों में भास्कर श्रेष्ठ और ज्येष्ठ थे। अतः ग्रंथ उन्हीं के नाम से विख्यात हुआ। जनश्रुति चार व्यक्तियों से अनुवाद किए जाने का कारण यह बतलाती है कि भास्कर के समय में उनके आश्रयदाता महाराज के आश्रय में एक रंगनाथ नामक महाकवि रहते थे, जो भास्कर के बंधुकोटि के ही थे। दोनो में मात्सर्यभाव सहज ही था। एकदा रंगनाथ ने राजा की आज्ञा पाकर रामायण की द्विपद (देशी छंद) में रचना करना प्रारंभ किया। भास्कर ने यह सुनकर मात्सर्यवश राजा से कहा—'महाराज! आपकी प्रतिष्ठा के लिए द्विपद काव्य अनुकूल नहीं हैं। मैं प्रबंध-काव्य लिख लाऊँगा, स्वीकार कीजिए। राजा ने पहले रंगनाथ को वचन दे दिया था। अतः उनकी ही रचना को स्वीकार करने की आकांक्षा से भास्कर को यह उत्तर दिया—'आप दोनो में जो अपनी रचना को पहले उपस्थित करेगा, उसी को मैं स्वीकार करूँगा।' तबतक रंगनाथ की रचना तीन चौथाई पूरी हो चुकी थी। अतः उसके पहले पूरा करने की इच्छा से भास्कर ने पूर्वोक्त अन्य तीनो कवियों की सहायता से शीघ्र अनुवाद समाप्त कर लिया और राजा के पास ले गया। उसी समय रंगनाथ भी अपनी रचना को पूरा कर और उसे लेकर राजा की सभा में प्रस्तुत हुए। राजा ने दोनो को उपस्थित होते देख दाएँ हाथ को रंगनाथ की तरफ और बाएँ को भास्कर की ओर बढ़ाया। भास्कर ने अपनी तरफ बाएँ हाथ को बढ़ाते देख अपना अपमान समझा और क्रुद्ध होकर वे यह कहते हुए सभा से निकल पड़े कि इस महान् कृति को तुम्हारे जैसे पक्षपातपूर्ण राजा को समर्पण करने के बजाय किसी अश्वपालक को समर्पण करना कई गुना अच्छा है। यह कहकर वे सभा से बाहर निकले ही थे कि इतने में राजा के अश्वपति ने सामने आकर भास्कर को नमस्कार किया और कहा कि—'हे कवि सार्वभौम! अपनी प्रतिज्ञा को अन्यथा करना उचित नहीं।' अश्वपाल की चमत्कारिक और समयोचित बात को सुनकर भास्कर ने अपनी कृति उसी को समर्पित किया। अतः ग्रंथ के आदि में 'साहिणिमारा!' नाम से संबोधन किया गया है। 'साहिणि' देशी शब्द है जिसका अर्थ है 'अश्वपालक'। भास्कर की शैली सरल है। अर्थ के अनुसार कहीं कुछ कठिन होने पर भी स्वाभाविक सरलता लुप्त नहीं होती। कुछ विद्वान् उक्त संबोधन को भी अन्य कवि के रूप में ग्रहण कर रामायण को पंचकवि-विरचित मानते हैं।

रंगनाथ रामायणमु

इसके रचयिता 'कोन, बुद्धारेड्डी' (१३ वीं ई०) हैं। कवि ने अपने को स्वयम् 'कविलोकभोज' कहा है। इसके भी रचयिताओं के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि रंगनाथ नामक अज्ञात कवि ही इसके रचयिता हैं। अन्य विद्वानों का अनुमान है कि रंगनाथ नामक कवि ने परिस्थिति एवम् धनाभाववश अपनी रचना पर कर्ता के स्थान पर बुद्धारेड्डी का नाम कर दिया।

किंतु जनता कविवर को नहीं भूल सकी। ग्रंथ 'रंगनाथरामायण' नाम से ही विख्यात हुआ। इस संबंध में किंवदंती प्रसिद्ध है कि रेड्डि राजाओं में 'पांडुरंग बिट्ठलनाथ' नाम से प्रसिद्ध एक राजा थे। उन्होंने अपने पुत्र 'बुद्धारेड्डी' को आज्ञा दी कि वाल्मीकि रामायण का तेलुगू में द्विपद शैली में अनुवाद किया जाय, जिससे अपना नाम चिरस्थायी हो सके। पिता की आज्ञा से 'बुद्धारेड्डी' ने वैसा ही रामायण का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। किंतु पिताजी का नाम बड़ा होने से 'पांडुरंग' से 'रंग' तथा विठ्ठलनाथ' से 'नाथ' शब्द को लेकर बुद्धारेड्डी ने 'रंगनाथ' नामकरण कर दिया और इस प्रकार उसे रामायण के रचयिता के रूप में विख्याति मिली। 'रंगनाथ रामायण' की भाषा देशी शब्द बहुल, प्रवाहमयी एवम् माधुर्यपूर्ण है।

निर्वचनोत्तर रामायणमु

इसके रचयिता कविब्रह्मा तिक्कन्ना हैं, जो तेलुगू महाभारत के रचयिताओं में अन्यतम हैं। आपका जन्म १०२० ई० के आसपास माना जाता है। उन्होंने अपनी महाभारत की रचना के द्वारा तेलुगू भाषा को सजीव बनाया। वे शैली की सुकुमारता में अद्वितीय और मानव-स्वभावों के सजीव चित्रण में सिद्धहस्त थे। उनकी रचना महाभारत तेलुगू साहित्य के लिए आदर्शकृति मानी जाती है। 'निर्वचनोत्तर रामायण' नाम से ही यह पता चलता है कि यह एक पद्यात्मक काव्य है। यह ११ आश्वासात्मक (उच्छ्वासात्मक) ग्रंथ है। किंतु दुर्भाग्य से तिक्कन्ना १० ही आश्वास (अध्याय) लिख सके। शेष ११वें आश्वास को 'जयंति रामभट्ट' ने पूरा किया। महाकवि तिक्कन्ना ने तेलुगू भाषा के मर्मज्ञ होने के कारण भाव, भाषा, शैली और पात्रोचित प्रकृति वर्णनों के द्वारा तेलुगू भाषा में एक आदर्श उपस्थित किया। इसीलिए वे 'कविब्रह्मा' और 'आंध्रव्यास' माने जाते हैं।

उत्तररामायणमु

इसके रचयिता कंकंटि-पापराजु संभवतः १८वीं शताब्दी में हुए हैं। उत्तररामायण की अन्य रचनाओं में पापराजु की कृति ही उत्तम मानी जाती है। भास्कर रामायण के बाद इस तरह की रसात्मक रामायण-कृति किसी ने नहीं रची। इसकी रचना में पुष्पागिरि-तिम्म शौरि नामक अन्य कवि ने भी सहायता की। पापराजु की कविता अत्यंत श्राव्य, वीणावादन की तरह मधुर, अनर्गलधारामयी और रसपूर्ण है। कहा जाता है कि तेलुगू में महाभारत एवम् भागवत के बाद लोकप्रिय ग्रंथ यह उत्तररामायण ही है।

पापराजु कवि ही नहीं राजयोगी, अद्वैतशास्त्र में निपुण, गणितज्ञ, ज्ञानी एवम् संगीत के मर्मज्ञ भी थे। इन्होंने 'विष्णुमायाविलास' नामक यक्षगान (लोकगीत) की रचना भी की थी। उत्तररामायणमु के अनंतर वाशिष्ठ रामायणमु—ले० मडिकि संगना

(१४२०-१४५० ई०) तथा गोपीनाथ रामायणमु (यथामूल वाल्मीकि रामायणमु) ले० गोपीनाथ वेंकट कवि भी आंध्र रामायण परंपरा की प्रमुख रचनाएँ हैं।

मोल्ल रामायणमु–ले० मोल्ला (१६ वीं ई०)

'मोल्ला' तेलुगू की भावमयी कवियित्रियों में अन्यतमा हैं। इन्होंने रामायण को छोटे काव्य के रूप में लिखा है। इनकी कविता मधुर, शब्दालंकारों से परिपूर्ण तथा प्रवाहमयी वेग के साथ श्रोताओं को आकृष्ट करती है। कवियित्रियों में मोल्ला अग्रगण्या हैं। ये श्रीकृष्णदेवरायलु की समकालीना हैं।

अच्च (अच्छ) तेलुगूरामायणमु–ले० कूचिमंचि–तिम्म कवि, (१८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें केवल तेलुगू भाषा के ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, अन्य किसी भाषा के शब्द नहीं ग्रहण किए गए। यद्यपि तेलुगू भाषा संस्कृत शब्दों से गर्भित रहती है, तथापि इस महाकवि ने विशुद्ध देशी भाषा में रामायण की रचना कर अपनी कवित्व शक्ति एवम् भाषा-पाटव का अच्छा परिचय दिया है। विस्तार भय से यहाँ प्रत्येक रचना के विमर्श के लोभ का संवरण करना पड़ा। आगे सबकी विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा। प्रस्तुत लेख में केवल उन रचनाओं का, जो रामायण नाम से प्रसिद्ध हैं, उल्लेख मात्र कर देना ही अलम् होगा। तेलुगू साहित्य में रामकथा को आधार बनाकर जो साहित्य-सृजन हुआ, उससे पाठकों को विदित कराना ही इस लेख का लक्ष्य है। नीचे उल्लिखित कृतियों का रामायण की श्रृंखला कायम रखने में बहुत बड़ा योग रहा है—

अध्यात्म रामायणमु–ले० काणाद, पेद्दना सोमयाजी।
विचित्र रामायणमु–ले० वेलपूरी वेंकट कवि।
शतमुख रामायणमु–ले० लिंग कवि और गंगकवि। इसका नामांतर 'सीता-विजयमु' है।
श्रीमदांध्र आनंदरामायणमु–ले० सोमराजु, वेंकटसुब्बाराव कवि।
चंपूरामायणमु–ले० ऋग्वेद कवि वेंकटाचलपति।
बालरामायणमु–ले० वेंकटेश्वर्लु।
संग्रहरामायणमु–ले० जनमंचि, शेषाद्रिशर्मा।
श्रीकृष्णरामायणमु–ले० कविसार्वभौम श्रीपाद, कृष्णमूर्ति शास्त्री।
रामायण कल्पवृक्षमु–ले० विश्वनाथ सत्यनारायण।

श्रीमद्रामायणमु—ले० जनमंचि, शेषाद्रिशर्मा ।

गोविंद रामायणमु—ले० आत्मकूरि, गोविंदाचार्युलु ।

यथावाल्मीकीयमु (वासिष्ठरामायणमु)—ले० उचलवाड, वेकटरमण कवि ।

मानिकोंड रामायणमु—ले० मानिकोंड, सत्यनारायण ।

श्रीमदांध्रवाल्मीकि रामायणमु—ले० आंध्रवाल्मीकि वाविलिकोल्नु० सुब्बाराव ।

मोक्षगुंड रामायणमु—ले० ताल्लरि, नारायण सत्कवि ।

अध्यात्मरामायणमु—ले० कोलमुराजु, नागय्या । आदि

अब कुछ ऐसे रामायणों का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा, जिनके रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं—धर्मसार रामायणमु, सीताराम रामायणमु, स्तोत्र रामायणमु, मधु रामायणमु, श्रीमदांध्र वचन वाल्मीकिरामायणमु, विशोधित रामायणमु, आश्चर्यरामायणमु, सदाशिव रामायणमु, दंडक रामायणमु, शतकंठ रामायणमु, सहस्रकंठ रामायणमु, विमर्श रामायणमु ।

रामकथा से संबद्ध अन्य रचनाएँ

जो ग्रंथ 'रामायण' नाम से अभिहित हैं, उनका उल्लेख हो चुका । तेलुगू में इन रामायणों के अतिरिक्त रामकथा से संबद्ध अन्य साहित्य भी प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। अधोलिखित कुछ ऐसे ग्रंथों के नाम हैं, जो 'रामायण' नाम न रहने पर भी रामकथा से संबद्ध हैं—

रामाभ्युदयम्—ले०अय्यलराजु रामभद्रहु (१५३० ई०) ।

रामकथाभिराममु—ले० अनंतराजु, नन्नय्य कवि ।

श्रीरामकथामृतमु—ले०ताडेपल्लि वेंकटप्पय्य शास्त्री ।

रामचंद्रोपाख्यानमु ।

कल्पतरुवु (सुंदरकांड)—ले० वेदांत कवि ।

रामष्वराजमु—ले०भुम्भिडिराजु० मल्लनार्थ कवि ।

त्र्यर्थि काव्य

त्र्यर्थिकाव्य तेलुगू-साहित्य की अपनी विशेषता है। इस तरह की श्लेषपूर्ण रचना अन्य भारतीय भाषाओं में क्या संस्कृत-साहित्य में भी उपलब्ध नहीं है। संस्कृत में धनंजय कृत 'राघवपांडवीय' (त्र्यर्थिकाव्य) मात्र उपलब्ध है। नाम से ही पता चलता है कि इस काव्य में तीन अर्थ रहते हैं, अर्थात् प्रारंभ से अंत तक त्र्यर्थि-काव्य में तीन कथाएँ चलती हैं। एक ही प्रकार के पद्य से श्लेष के द्वारा तीनो कथापरक अर्थ निकलते हैं। श्लेषानुप्राणित मुक्त रचनाओं या कथानक के

बीच में यत्र तत्र श्लिष्ट पद्यों का रहना स्वाभाविक है। यह रीति सभी भाषाओं में दिखाई देती है। किंतु संपूर्ण काव्य ही श्लेषमय हो और तीन कथाएँ बराबर तक चलती रहें, यह कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार के श्लेषकाव्य की रचना में प्रतिभा एवम् शब्दशक्ति-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

ऐसे ही प्रतिभाशील कुछ विद्वान् तेलुगू में हो गए हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा एवम् शब्दशक्ति को परखने की क्षमता के द्वारा साहित्य में अभूतपूर्व मार्ग की स्थापना की और विद्वानों को भी चकित कर दिया। उन्हीं दो तीन कवियों की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

'राघवयादवपांडवीयमु'—ले० एलकूचि-बाल सरस्वती——ये प्रथम त्र्यर्थिकाव्य रचयिता हैं। इस काव्य में राम, यादव और पांडवों की कथाएँ एक साथ चलती हैं। बाल सरस्वती की कविता और पांडित्य दोनो एक से एक बढ़कर हैं। त्र्यर्थिकाव्य-परंपरा के जनक माने जाते हैं। इनकी अन्य रचनाएँ 'आंध्र चिंतामणि' संस्कृत की तेलुगू टीका, 'चंद्रिका परिणयमु' तथा 'मल्लभूपालीयमु' (भर्तृहरि सुभाषित का तेलुगू अनुवाद) हैं।

'यादवराघवपांडवीयमु'—ले० नेल्लूरु, वीरराघव कवि। इस काव्य में यादव, राम और पांडवों की कथाएँ एक साथ चलती हैं।

'राघवपांडवयादवीयमु'——ले० अय्यगारि वीरभद्र कवि। इसमें भी वे कथाएँ भिन्न क्रम से चलती हैं।

'रामकृष्णार्जुनीयमु'—ले० ओरुगंटि सोमशेखर कवि। इस ग्रंथ का 'नारायणीयमु' नामांतर भी है। सोमशेखरजी उभयभाषा–तेलुगू और संस्कृत के विद्वान् जाते हैं। इनकी कविता प्रौढ़ है।

द्व्यर्थि काव्य

जिस प्रकार त्र्यर्थि काव्यों में तीन कथाएँ साथ साथ चलती हैं उसी प्रकार द्व्यर्थि काव्यों में दो कथाएँ चलती हैं। द्व्यर्थि काव्यों में सर्वप्रथम 'राघवपांडवीयमु' गिना जाता है। इसके रचयिता महाकवि पिंगलि सूरन्ना (१६ वीं शती ई०)। तेलुगू-साहित्य में महाकवि तिक्कन्ना एवम् पोतन्ना के पश्चात् 'सूरन्ना' का ही महाकवियों की श्रेणी में लिया जाता है। इसमें संदेह नहीं है कि तिक्कन्ना के ऐसे प्रौढ़ कविता रचनेवाले और कोई कवि नहीं हुए हैं। सूरन्ना की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपकी कविता मृदुपदगुंफित एवम् द्राक्षापाक समन्वित है। शैली मृदुल सरल है। इतनी सरल शैली में संपूर्ण श्लेष काव्य की रचना करना दूसरों के लिए कठिन ही नहीं दुष्कर भी है।

'राघवपांडवीयमु' में रामायण एवम् महाभारत की कथा चलती है। काव्य में सरल शब्द श्लिष्ट हैं। सूरन्ना ने 'कलापूर्णोदय' और 'प्रभावती प्रद्युम्न

नामक अन्य रचनाएँ भी रचीं। इनके जैसी कल्पना-शक्ति, प्रतिभा एवम् पात्रोचित वर्णन अन्य प्रबंध कवियों में नहीं दिखाई देता। सूरन्ना शेक्सपियर के समकालीन माने जाते हैं।

शिवरामाभ्युदयमु—ले० पोड्रि पेद्य रामाभ्युड्ढ। इसमें शिव एवम् राम के चरित्र वर्णित हैं।

लंकाविजयमु—ले० पिंडिप्रोलु–लक्ष्मण कवि।

यहाँ पर केवल रामकथा से संबद्ध काव्यों का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त तेलुगू में 'हरिश्चंद्र नलोपाख्यानमु', 'शिरोष्ठ्चन्नल चरित्रमु' आदि अन्य द्व्यर्थि काव्य भी बहुत हैं।

शतकों में रामकथा वर्णन

रामकथा का वर्णन शतक शैली में भी मिलता है। शतक भी तेलुगू भाषा की एक विशिष्ट परंपरा है। संस्कृत तथा प्राकृत में भी पंचक, अष्टक, दशक, नक्षत्र माला एवम् शतक कविता की विभिन्न शैलियाँ मिलती हैं। अष्टक और शतक आदि संख्यापरक ग्रंथ हिंदी में भी हैं। शतक परंपरा तेलुगू भाषा में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक फूली फली। 'शतक' तेलुगू भाषा में एक विशेष महत्त्व रखता है।

शतक मुक्तक रचना है। इसमें प्रायः सौ पद्य रहते हैं। किसी में पद्यों की संख्या इससे अधिक भी रहती है। शतकों में साधारणतः एक ही छंद तथा टेक का निर्वाह होता है और ये विविध भावों के द्योतक होते हैं।

इनमें नीति, श्रृंगार, समाजदूषण, लोकानुभव, स्वातंत्र्यप्रियता, शांत और अद्भुत रस, ज्योतिष, वेदांत, भक्ति एवम् ज्ञान प्रधान विषय होते हैं। विभिन्न प्रकार के शतकों में भक्ति और ज्ञान प्रधान शतक ही सर्वश्रेष्ठ और रमणीय माने जाते हैं। विद्वानों का कहना है कि तेलुगू भाषा में ६०० से अधिक शतक हैं। सभी स्वतंत्र रचनाएँ तत्कालीन परिस्थितियों की द्योतक हैं। तेलुगू-साहित्य के मध्ययुग (१६५१ ई० से १८०० ई० तक) में शतकों का प्राधान्य था।

रामसंबंधी शतक

दाशरथि शतकमु—ले० कंचर्ल–गोपन्ना (भद्राचल, रामदासु)। मध्ययुग के शतक-साहित्य में 'दाशरथि शतक' सर्वोत्कृष्ट है। इसमें भक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई है। ज्ञान और वैराग्य भक्ति में लीन दिखाई पड़ते हैं। इसका एक एक पद्य भक्तिपूर्ण हृदय का प्रतिबिंब है। गोपन्ना जब 'दाशरथि' शब्द से भक्ति में विह्वल

होकर संबोधन करता है, तब मानों भगवान् राम प्रत्यक्ष होकर सामने खड़े हो जाते हैं।

रामतारक शतकमु—रामलिंगेश शतकमु—ले० आडिदमु सूर कवि। कोदंडराम शतकमु (समाजदूषण प्रधान), जयरमारमशतकमु, ओंटिमिट्ट रघुवीर शतकमु—ले० तिप्पना, (१४३३ ई०) आदि प्रमुख रामशतक हैं।

नाटकों में रामकथा

तेलुगू नाटकों का प्राथमिक रूप 'यक्षगानों' में मिलता है। 'यक्षगान' संगीत प्रधान रचना मानी जाती है। इसमें संगीत के अतिरिक्त नृत्य और अभिनय का भी समावेश रहता है। यक्षगान क्रमशः 'कठपुतली' तथा 'वीदिनाटकों' के रूप में परिणत हुए। इसके पश्चात् कथावाचकों के संसर्ग से 'हरिकथा' के रूप में परिवर्तित हुए। अंत में वे यक्षगान आज नाटक के रूप में परिणत हैं।

तेलुगू में नाटक का रचनाकाल १६वीं शताब्दी माना जाता है। प्रारंभ में संस्कृत नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत हुए। इसके पश्चात् स्वतंत्र नाटक लिखे गए। १६वीं शताब्दी के एलकूचि-बालसरस्वती ने एक जगह अपने को 'कवि समोहित रंगकौमुदी नाम नाटक विधान प्रतिष्ठा घमुडं' कहा है। अर्थात् स्वयम् को नाटक रचना में दक्ष कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि १६वीं शती से पहले ही तेलुगू में नाटक-रचना का प्रारंभ हो चुका था तथा १७वीं और १८वीं शती में वह प्रबुद्ध हुई। उन नाटकों में रामकथा अभ्यन्वित ये रचनाएँ प्रमुख हैं—'रामनाटकमु', 'सुग्रीव विजयमु', 'हनुमंतविजयमु', 'सीतापहरणमु', 'सीताकल्याणमु', 'कुशलव नाटकमु' आदि। ये प्राचीन नाटक रामसंबंधी माने जाते हैं। आधुनिक युग में भी रामकथात्मक नाटक बहुतेरे लिखे गए। आंध्र नाटक पितामह श्री वल्लारि राघवाचार्युलु का 'पादुका पट्टाभिषेकमु' अर्वाचीन नाटकों में प्रधान माना जाता है।

गीतिकाव्य में रामकथा

गीत, यति, प्रास, राग और लय से युक्त होते हैं। तेलुगू में आठ प्रकार के गीत माने जाते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० श्रीवंगूरि सुब्बारावजी ने गीतों को, कृति, कीर्तन, मंगलहारति एलपाटलु (एक प्रकार का लोकगीत), तत्वमुलु, चूर्णिका, जावली और हरिकथा आठ भागों में विभक्त किया है।

'कृति' शब्द को सुनते ही आंध्र के सूर 'त्यागराजु' प्रत्यक्ष होते हैं। त्यागराजु की कृतियाँ दाक्षिणात्य संगीत में अत्यंत प्रमुख मानी जाती हैं।

त्यागराजु

इनका जन्म १७६४ ई० में आंध्र-ब्राह्मण वंश में हुआ था। तेलुगू के तीन सुप्रसिद्ध संगीतकारों में ये अर्वाचीन और अद्वितीय हैं। कुशल संगीतकार

अन्नमाचार्य (१५वीं शती ई०) सबसे पहले हुए। १७वीं शती में महान् पद्यकार 'क्षेत्रय्या' हुए, जिनकी तुलना गीतगोविंद के रचयिता जयदेव से की जा सकती है। १८वीं शताब्दी में त्यागराजु हुए, जो आंध्र के सूर माने जाते हैं। कर्नाटकी संगीतकारों में इनका पद सर्वश्रेष्ठ है। इसमें संदेह नहीं है कि ये कर्नाटकी संगीत के आधार स्तंभ हैं। असाधारण प्रतिभाशाली संगीतकार होने के अतिरिक्त ये दार्शनिक, विद्वान्, भक्त तथा कवि भी थे। कहा जाता है कि राम के इस अनन्य भक्त ने बीस साल तक राम नाम का ९६ करोड़ जप किया। इन्होंने दस हजार कृतियों की रचना की है, जिनमें से एक कृति का अभ्यास करने में महीनो लग जाते हैं। उन सब में भगवान् राम के प्रति विनय तथा उनके गुणों का विशद् वर्णन किया गया है। उनकी कृतियाँ संगीत की ही नहीं तेलुगू साहित्य की भी शोभा हैं। तमिल प्रांत के संगीतकार आजतक त्यागराजु की कृतियों का बड़ी उत्सुकता से अभ्यास करते हैं। त्यागराजु तमिल संगीतकारों के आराध्य बन गए हैं। इनकी भक्ति भरित कृतियों को सुनने से ऐसा जान पड़ता है जैसे भगवान् राम सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं। इन्होंने कई नवीन रागों का भी आविष्कार किया है। अंत में ये सन्यासी हो गए और तमिल प्रांत 'तिरुवय्यूरु' में (१८४६ ई०) अपना शरीर छोड़ा। 'तिरुवय्यूरु' आज संगीतज्ञों का तीर्थस्थल बन गया है। त्यागराजु ने अपने इष्टदेव राम को संगीत में अवतरित किया। इनकी एक एक कृति हृदय से निकलनेवाली तथा स्वानुभूतिसूचक होती है। रामसंबंधी गीतों में त्यागराजु की कृतियाँ बेजोड़ हैं।

भद्राद्रि रामदासु

त्यागराजु के पश्चात् उतने ही परम भक्त और भगवान् राम के अनन्योपासक 'रामदासु' थे। भद्राद्रि आंध्र की अयोध्या है। रामदासु निजाम सरकार की तरफ से भद्रादि के तहसीलदार थे। उन्होंने जमाबंदी के रुपयों को खजाने में जमा न कर उलटे उन्हीं रुपयों से भद्राद्रि में एक भव्य राम-मंदिर का निर्माण कराया है। रामदासु के दाशरथि शतक का उल्लेख ऊपर हो चुका है। रामदासु ने भक्ति परवश होकर अनेक कीर्तन गाए थे। आज तक आंध्र की जनता रामदासु कृत कीर्तनों को अत्यंत आदर एवम् भक्ति भाव से गाती है। विशेषकर याचकों के लिए रामदासु के कीर्तन (गीत) संबल हैं। रामगीतकारों में रामदासु का प्रमुख स्थान है।

'अध्यात्म रामायण कीर्तनमु' नाम से एक रचना उपलब्ध है। उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। इसके गीत भी जनता में प्रसिद्ध हैं।

हरिकथा के रूप में-रामकथा

हरिकथा आंध्रप्रांत में एक विशेष सांस्कृतिक महत्त्व रखती है। नाम से ही ज्ञात होता है कि यह हरि की कथा तथा गुणगान से संबद्ध है। यह 'हरिकथा'

बंगालियों की कथा से कुछ मिलती जुलती है। हरिकथा की विशेषता एवम् विचित्रता यह है कि हरिकथा रात को आठ नव बजे उस समय प्रारंभ होती है, जब जनता अपने अपने दैनंदिन कार्यों से निवृत्त हो जाती है। क्या नागरिक क्या ग्रामीण, सबको हरिकथा आकृष्ट करती है। यह रातभर चलती रहती है और कभी कभी प्रातः सात बजे तक जम जाती है।

हरिकथावाचक गौरांग महाप्रभु की तरह नंगे बदन और गले में लंबा हार पहने रहते हैं। उनके हाथों में करताल तथा पैरों में घुँघरू बँधा रहता है। हरिकथावाचक के सहायक मृदंग और हार्मोनियम वादक होते हैं। कथावाचक खड़े होकर मधुर संगीत के द्वारा गद्य पद्यात्मक चंपू पद्धति का अनुसरण करते हुए अभिनय करते हैं। बीच बीच में वे प्रासंगिक हास्यपूर्ण एवम् रोचक अंतर्कथाओं के द्वारा श्रोतागण को मुग्ध कर अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। आंध्र के आबाल गोपाल इस हरिकथा-श्रवण में कुतूहल रखते हैं। स्त्रियों का प्रधान्य तो रहता ही है। इस हरिकथा का तेलुगू प्रांत में बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्त्व है। ये हरिकथाएँ राम के उस इतिवृत्त से कैसे अछूती रह सकती हैं, जिसने जनता के मानस को ही आत्मसात कर लिया है। रामकथा को लेकर 'हरिकथाएँ' भी अनेक रची गईं। उन्हीं हरि-कथाओं के दो चार नाम उल्लिखित किए जा रहे हैं।

यथार्थ रामायणमु (हरिकथा) इसके लेखक आदि भट्ट नारायणदासु हैं। आप विजयनगरम् के रहनेवाले थे। आप संस्कृत, तेलुगू और अंगरेजी के उद्भट विद्वान् थे। ये संस्कृत और तेलुगू में आशु कविता करने में सिद्धहस्त थे। इन्होंने अपनी अद्भुत कला एवम् भावपूर्ण अभिनय के द्वारा आंध्र जनता को चकित कर दिया था। आंध्र के हरिकथा वाचकों में ये अग्रगण्य ही नहीं सबके गुरुतुल्य एवम् आदर्श प्राय थे। हरिकथा के क्षेत्र में ये अमिट छाप छोड़ गए हैं। इनकी रचित हरिकथाओं में 'यथार्थ रामायणमु' एक है।

'संपूर्ण रामायणमु' (हरिकथा) के लेखक बालाजीदासु तथा श्री मत्संगीता-नंदरामायणमु (हरिकथा) के रचयिता कोसूरि भोगलिंगदासु हैं।

दंडकमु में रामकथा

'दंडकमु' तेलुगू साहित्य का एक प्रारूप है। 'दंडकमु' मालात्मक अनुप्रासयुक्त एक गद्यशैली है। इसमें प्रायः देवी देवताओं की स्तुति वर्णित रहती है। तेलुगू में अनेक दंडक हैं। उनमें राम दंडकमु—लेखक आडिदमु सूरन्ना, श्री रामदंडकमु-लेखक मदिन सुभद्रम्मा इत्यादि प्रमुख राम संबंधी रचनाएँ हैं।

गद्य में रामकथा

तेलुगू साहित्य के आदि कवि 'नन्नया' ही गद्य के भी जनक थे। पद्य के बाद गद्य की रचना प्रारंभ होती है, 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' तेलुगू का

आदिकाव्य 'महाभारत' चंपू ग्रंथ होने के कारण तेलुगू में गद्य आरंभ से ही विद्यमान है। नन्नया के बाद तिक्कन्ना और पोतन्ना आदि महाकवियों में गद्य की शैली प्रौढ़ है। विद्वानों का मत है कि १५ वीं शताब्दी के आरंभ में तेलुगू में पृथक् गद्य रचनाओं का उद्गम हुआ। पद्य के बाद गद्य रचना प्रारंभ हुई। गद्य भी रामकथा से अछूता नहीं रहा।

तेलुगू में, सकलवर्णनापूर्णरामायणमु—ले० रमणकवि, रामायणमु (वचनामु)—ले० तुपाकुल अनंत भूषलिङ्ग, रामायण कथा (वचन काव्यम्)—ले० कुंदर्ति, वेंकटाचल कवि (१८ वीं शती), गोपीनाथ रामायणानुकरणवचन रचना—ले० पैडिपाटि, पापय्या, रामायणवचनमु—ले० वाविल्लरामस्वामि शास्त्रुलु आदि, रामपरक गद्य काव्य लिखे गए हैं।

इस प्रकार तेलुगू साहित्य का एक प्रारूप रामकथा से ओतप्रोत है। इस लेख में अधिकांश प्राचीन साहित्य-ग्रंथों का ही उल्लेख किया गया है। इस सूक्ष्मतम दिग्दर्शन के द्वारा यह पता चल जाता है कि तेलुगू भाषा के प्राचीन साहित्य का भांडार राम संबंधी साहित्य से परिपूर्ण है, न केवल तेलुगू का प्राचीन साहित्य अपितु आधुनिक साहित्य भी रामकथाश्रयण से पुनीत है।

प्रथम श्रीतुलसी कह्यौ मानस श्रीगुरु सो लहि तिन दीन्ही बूढ़े रामदास को जनाय कै।
ताते लही रामदीन जोतषी बखाने भले जन्म भरि गाइ सब सुख सरसाय कै।
तासे लही धनीराम संत भल भाव करि ताते पायो मानदास अति सुखदाय कै।
पंडित गुलामराम तासों लही चोपराम ताको सिष्य कहै द्विज बंदन बनाय कै॥
एही परंपरा श्रीसंकर ते आजु लगि जानत सुजान जन लही भल भाव ते।
आगे जो कहैंगे भली भाव सो लहैंगे तेऊ जैसें सब गायो है तिलक करि चाव ते।
बर्तमान कासीपति ईस्वरीप्रसादसिंह तिलक बनाये सिर संतन चढावते।
ताको द्विज बंदन कहि लह्यौ लाहु उभौ लोक अत्र जो कहैंगे धन्य मानस पढ़ावते॥

श्री अगरचंद नाहटा

जैनकवि विद्याकुशल कृत राजस्थानी रामायण

[श्रीराम का महान् उज्वल चरित्र इतना रमणीय एवम् प्रभावोत्पादक रहा है कि इतर धर्मावलंबी या संप्रदायवादी भी उसके वर्णन के लोभ का संवरण न कर सके। उन्होंने अपने धर्म या संप्रदाय की मान्यताओं के अनुसार रामकथा को ढालने के यथाशक्य प्रयत्न किए हैं। चारित्रधर्म और विद्याकुशल ऐसे जैन कवि हुए हैं जिन्होंने रामकथा का आधार वाल्मीकि एवम् वशिष्ठ रामायणों से ग्रहण किया है और उन्हीं के अनुसार स्वरचना का नामकरण और विभाजन भी किया है। फिर भी वे सांप्रदायिक भावनाओं से विरत न रह सके। सेतुबंध के अवसर पर जैन-मंदिर की स्थापना तथा स्तंभन पार्श्वनाथ के प्रभाव का वर्णन करने से वे नहीं चूके। अंततोगत्वा ग्रंथ की इति भी सीता को जैन तीर्थंकर से दीक्षित कराकर ही की। यहाँ उपर्युक्त तथ्यों का उद्‌घाटन करते हुए ग्रंथ का रचना काल सं० १७९१ की विजयादशमी बतलाया गया है। प्रस्तुत लेख की आधारभूत पांडुलिपि सं० १८९२ की है।]

भारतीय जन-जीवन पर रामचरित का बड़ा प्रभाव रहा है। वाल्मीकि रामायण से लेकर अब तक देश और विदेश में रामकथा संबंधी सहस्रों ग्रंथ गद्य तथा पद्य में लिखे जा चुके हैं। ये ग्रंथ अनेक भाषाओं में और छोटे बड़े विविध रूपों में मिलते हैं। वैदिक धर्मानुयायियों में तो रामकथा विशेष आदृत रही है, पर जैन-समाज में भी इसका पर्याप्त प्रचार रहा है। प्राचीन जैन आगमों में रामकथा के सूत्र मिलते हैं। 'पउमचरियं' प्राकृत भाषा का सबसे बड़ा पहला रामकाव्य है। इसके बाद संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी-राजस्थानी, गुजराती और कन्नड़ भाषा में भी जैन-कवियों ने रामचरित लिखे हैं। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की रामकथा संबंधी अनेक रचनाओं की जानकारी तो विद्वानों को है, पर राजस्थानी और गुजराती में छोटे बड़े २५-३० रामकाव्य ऐसे हैं, जिनसे सभी लोग अवगत नहीं हैं। केशवराज की 'रामयशोरसायन' और महाकवि समय सुंदर की 'सीताराम चौपाई' रचनाएँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

रामकथा प्राचीनकाल से अत्यंत लोकप्रिय रही है। लोक-कथाओं में जिस प्रकार एक ही कथा के अनेक रूप मिलते हैं, उसी प्रकार रामकथा की बहुतेरी बातें भी विविध रूपों में कही सुनी गई हैं। वैदिक विद्वानों द्वारा प्रणीत पुराणों में ही जब रामकथा की एकरूपता स्थिर नहीं रह सकी, तो बौद्ध और जैनों की रामकथा में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। बौद्ध-जातकों तथा जैन-ग्रंथों में उपलब्ध रामकथा

के पृथक्-पृथक् दो दो रूप हैं और उनकी परंपरा भी पर्याप्त प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-प्रचलित विविध रूपांतरों पर आधारित होने के कारण उनमें अंतर आ गया है और चरित्र लेखकों ने भी अपनी रुचि व दृष्टि के अनुसार कुछ परिवर्तन कर दिए हैं। प्रस्तुत लेख में एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है, जिसमें एक राजस्थानी जैन कवि ने अपनी रामायण का आधार तो वाल्मीकि और वशिष्ठ रामायणों को माना है, पर बीच-बीच में उनकी उक्तियों में जैनप्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जैन विद्वानों के रचित अन्य समस्त रामचरित्र जैन परंपरा की रामकथा पर आधारित हैं, केवल यही एक ऐसी रचना है, जिसमें कवि ने जैन यति होते हुए भी उक्त दो महर्षियों की कृतियों को अपने काव्य का आधार बनाया है। प्रस्तुत रामायण की रचना संवत् १७९१ की विजयादशमी को राजस्थान-वर्ती सवालख (सपादलक्ष) प्रदेश के लवणसर नामक स्थान में की है। इस राजस्थानी रामायण को खरतरगच्छ के विद्वान् आनंदनिधान के शिष्य विद्याकुशल ने जैनेतर रामायण की भाँति सात कांडों में रचा है। ग्रंथ के आदि और अंत में प्रतिलिपिकार ने ग्रंथ-नाम 'रामचरित' लिखा है, परंतु ग्रंथकार ने प्रत्येक कांड के अंत में 'रामायण' नाम ही दिया है। यहाँ प्रस्तुत ग्रंथ के सातों कांडों के नामों का उल्लेख और उसमें वर्णित विषय का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है, जिसमें वाल्मीकि और वशिष्ठ रचित कथाओं से तुलना करने में सुगमता होगी।

ग्रंथ के मंगलाचरण में परमात्मा, सरस्वती तथा गुरु को नमस्कार और गुरु की आज्ञा से रामचंद्र के गुणानुवाद करने का उल्लेख इसप्रकार है—

(दूहा)

ओं नमो परमात्मने अव्यय अकलि अचिंत।
दिणयर जल कुंभा जिही व्यापक सकल अनित्त॥१॥
अमित अनादि अलेख प्रभु परम ज्योति पर धाम।
त्रिकरण शुद्ध हुइ तिणहि सूँ पहिली करूँ प्रणाम॥२॥
हंस चढ़ी उज्जल वसन कर वीणाधर ग्याँन।
शा शारद प्रणमूँ सुखद विद्या दियण प्रधाँन॥३॥
कीडी सूँ कुंजर कियो मुझ सिर धरि निज हाथ।
भाग्य उदै सदगुरु मिल्या कीधो हीन सनाथ॥४॥
गुरु सरणे आयाँ लह्यौ विधि विधि सूँ विग्याँन।
गुरु हुंता ऊरण कदे थाये शिष्य किण ग्याँन॥५॥
गुरु दिणयर गुरु उदधि सम गुरु भगवंत दयाल।
भव समुद्र मझि डूबतो काढ्यौ किय प्रतिपाल॥६॥
सीस नाम जोडै सुकर बंदूँ सदगुरु पाय।
आज्ञा तौ मुझनैं दई रामचंद्रगुण गाय॥७॥

स्वादी रस समता सहित विषई क्रोधालंग।
एता पाप कटै सुणत श्रीरामचंद्र परसंग ॥८॥
वालमीक वासिष्ठ रिष कथा कही शुभ जेह।
तिण अनुसारे रामजस कहियैं घणौ सनेह ॥९॥
जे रसिया श्रीरामकथ त्रिसिया भगवतध्यान।
परमारथ स्वारथ उभे साधक सुणसी ज्ञान ॥१०॥
ए प्रबंध सुणतां जिको ऊँघै मूढ़ अग्याँन।
बात करै सो बावलो लग्यो न गुरु त्याँ ग्यांन ॥११॥

इसके बाद चौपाई छंद में कथा का आरंभ करते हुए कवि ने कोशल देश, अयोध्यापुरी और दशरथ राजा का वर्णन कुल २१ पद्यों में किया है। जिस प्रकार अन्य राजस्थानी और गुजराती काव्य 'ढाल' बंध होते हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत रामायण ७ कांडों में विभक्त होने के साथ साथ प्रत्येक कांड में कई ढालोंवाली है। प्रत्येक ढाल के आरंभ या अंत में कुछ दोहे हैं और ढालें किसी लोकगीत या प्रसिद्ध जैन, जैनेतर गीत की चाल या देशी में है। यत्र तत्र रागिनी का नाम भी उल्लिखित है और प्रत्येक ढाल के आरंभ में वह ढाल किस लोकगीत या प्रसिद्ध गीत की चाल में गाई जानी चाहिए इसका निर्देश भी, कहीं संक्षेप में और कहीं उस गीत की एक या दो पंक्ति उद्धृत कर, किया गया है। इस ग्रंथ के प्रथम खंड में १९, द्वितीय में १४, तृतीय में १७, चतुर्थ में १३, पंचम में १३, षष्ठ में ४६ और सप्तम में १३ कुल १३५ ढालें हैं। प्रथम ढाल के २१ पद्यों में अयोध्या और दशरथ के वर्णन के पश्चात् रावण की उत्पत्ति बतलाई गई है। तीसरी ढाल के बाद 'कैकेयीवरदान' का प्रसंग प्रारंभ होता है। ९ दोहों के बाद 'श्रवण तापस' का प्रसंग है। श्रवण की मृत्यु से दुःखी होकर उसके माता-पिता दशरथ को श्राप देते हैं। तत्पश्चात् १२ वर्षों तक दुर्भिक्ष पड़ने और श्रृंगी ऋषि आदि का प्रसंग देने के बाद दशरथ के ४ पुत्रों के जन्म का वर्णन करते हुए सीता-जन्म का प्रसंग ८ वीं ढाल से प्रारंभ किया गया है। इसके बाद सीता के स्वयंवर एवम् विवाह का वर्णन है। चारों भाई (राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) विवाह करके सपत्नीक अयोध्या वापस आ जाते हैं। यहीं बालकांड की इति कर कवि ने लिखा है—

बालकांड एहि जे प्रथम कह्यौ सुगुरु सुपसाय।
श्रीआनंदनिधान गुणि शिष्य उभै सुखदाय ॥११॥
चारित्रधर्म विद्याकुशल रची चौपाई एह।
लहैं सुणैं वाँचे जिकै दिव्य निरोगी देह ॥१२॥
कविता पुहवी मेरु सम मुझ लघु पेखै वाण।
हसो मती मम वणी जाणे ज्यो विधि जाण ॥१३॥

इति श्रीरामायणे रामजन्म, धनुर्भंग, सीता पाणिग्रह प्रथम बालकाण्ड ॥ १ ॥

द्वितीय कांड के प्रारंभ में जानकीपति श्रीराम को नमस्कार कर—

प्रथम नमु पति जानकी दासरथी श्रीराम।
कौसल्यानंदन प्रभु राघव माधव नाम॥

राम के राज्यतिलक की तैयारी, कैकेयी के वरदान से राम का वनगमन तथा दशरथ की मृत्यु का वर्णन किया गया है। इस कांड की इति इस प्रकार हुई है—

चित्रकूट पर्वत सुखद राघव लक्ष्मण वास।
सुखै रहै जुत जानकी तजि मन तणौ उदास॥
बीजो कांड थयो भलो नाम अयोध्या एह।
सुणै भणै सुख ते लहै निःरोगी सुख देह॥

इति श्रीरामायणे दशरथ परलोक, रामवनवास वर्णनो नाम अयोध्याकाण्ड द्वितीयः॥२॥

तृतीय कांड में राम के दंडक वन, पंचवटी जाने, रावण की भगिनी के आने, शबरी भेंट आदि के प्रसंग वर्णित हैं। सीताहरण तक की कथा इसमें आई है। इसकी पुष्पिका यों है—

इति श्रीरामायणे सीताहरण श्रीराम पम्पासर आगमनो नाम आरण्यकांड तृतीयः॥

चतुर्थ कांड किष्किंधा में सीता की खोज का विवरण है। पुष्पिका इस भाँति है—

इति श्रीरामायणे सीतासोधन केकींधा नाम काण्ड चतुर्थ॥

पाँचवें सुंदरकांड में सेतुबंध के प्रसंग में जैन-मंदिर-स्थापन तथा स्तंभन पार्श्वनाथ के प्रभाव के वर्णन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

षष्ठ कांड लंका तो सबसे बृहत् है। इसमें राम-रावण युद्ध का वर्णन विस्तार से किया गया है। रावण-बध कर श्रीराम के अयोध्या आगमन तक के प्रसंग इसमें आए हैं। इसकी पुष्पिका है—

इति श्रीरामायणे रावणवधः राम अयोध्या आगमनो लंकाकांड षष्ठम्॥

सप्तम कांड उत्तर में श्वान सन्यासी की एक अंतर्कथा भी उल्लिखित है। धोबी के अनर्गल कथन से सीता का निर्वासन और वन में लवकुश का जन्म होना वर्णित है। फिर राम अश्वमेध यज्ञ करते हैं, जिसका घोड़ा पकड़ने के कारण श्रीराम का लवकुश से युद्ध होता है। राम की पराजय होती है। इससे वे बड़े दुःखी होते हैं। अंत में नारद पिता-पुत्र का परिचय और मिलाप करवाते हैं। सीता को वैराग्य हो जाता है। जैन तीर्थंकर मुनि सुव्रत इसी समय अयोध्या पधारते हैं और सीता उनसे दीक्षा ले लेती हैं। यह जैन-प्रभाव भी उल्लेखनीय है। अंत में राम के नगरवासियों सहित वैकुंठ पधारने का वर्णन कर काव्य समाप्त होता है।

कृति का रचनाकाल, रचनास्थान, कवि की गुरु-परंपरा आदि यथावत् यहाँ उद्धृत की जा रही है—

संवत सतरैसय इकांणवै (१७९१) आसु मास उदार।
सुदि दशमी तिथी सुरगुरु वासरै पुरण ग्रन्थ विचार ॥ १५ ॥
चौरासी गछ पुहवी परगडा खरतर गणि परमांण।
पख्य आचारिज गछ नायक भला लहीयै जुग परधान ॥ १६ ॥
श्री जिन मांणिक सूरि ना पाटवी श्रीजिनचन्द्र सूरिंद।
गुण छतीस विराजै जेह मै विजयमांन दिजंद ॥ १७ ॥
भट्टारिक मणिधारी जस घणी जिन हर्ष सुरीस।
तास प्रथम शिष्य पाठक पद धरा सुमतहंस सुजगीस ॥ १८ ॥
तत् शिष्य उवझायै पद सोभता मतिवरधन मतिवंत।
तेहना शिष्य दीपक सम जाँणीयै ब्रह्मचारी सतवंत ॥ १९ ॥
श्रीआनंदनिधान पसायलै तासु शिष्य चारितधरम।
विद्याकुशल ऊभै मिली गावीयो पांमी वँछित मरम ॥ २० ॥
देस सवालख माहैं दीपतौ लवणसरै सुख पाइ।
चैत्यालय कुंथनाथ नी सानिधै एह कह्यौ जस गाइ ॥ २१ ॥
चौपाई सरस संबंध ए रच्यौ भलै कर्‌यो सुकंठी रे गांन।
मनवंछित लीला संतति लहै कुशल मंगल कल्यांण ॥ २२ ॥
जे नर नारी इक चित प्रीति सुं सुंणै रामायण सार।
इह लोक परयव सुख लहीयै घणा कविजन करौ जी विचार ॥ २३ ॥

ईति श्रीरामायणे नगर अजोध्या उद्धारण श्रीराम महाप्रस्थान सीता दीक्षा परलोकगमनो नाम उत्तरकाण्ड सप्तम संपूर्ण ॥ श्री ॥ यति ले संवत् १८९३ का मिति कार्तिक सुदि १२ द्वादसी तिथौ रविवासरे ॥............

इसके आगे प्रति के लेखक का नामादि अंकित था जो काट दिया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरण में चारित्रधर्म और विद्याकुशल दो ग्रंथकारों के नाम उल्लिखित हैं, तथापि प्रत्येक ढाल के अंत में केवल विद्याकुशल का नाम ही आया है। अतः प्रस्तुत काव्य के प्रणेता प्रमुख रूप से विद्याकुशल ही हैं। प्रतीत होता है कि चारित्रधर्म उनके बड़े गुरुभाई थे और संभवतः उन्होंने भी ग्रंथरचना में सहायता की होगी, इसलिए उनका उल्लेख भी कर दिया गया।

कवि-परंपरा में सुमतिहंस उपाध्याय का नाम आया है। वे बहुत अच्छे कवि और विद्वान् थे। संवत् १६८६ से लेकर सं० १७२३ तक की उनकी कई रचनाएँ गद्य और पद्य दोनो में मिलती हैं। उनके शिष्य मतिवर्द्धन भी अच्छे विद्वान् थे। सं० १७३८ में उन्होंने 'गौतम पृच्छा' नामक प्राकृत-ग्रंथ की संस्कृत टीका एवम् 'देवकीरास' की रचना की। उनके शिष्य, आनंदनिधान की सं० १७२७ से १७४८ के अंतर्गत प्रणीत कई कृतियाँ प्राप्त हैं। आनंदनिधान के शिष्य चतुर्भुज हुए। उनके शिष्य जयचंद की भी एक राजस्थानी रचना वचनिका प्राप्त हुई है। इस तरह विद्याकुशल विशिष्ट विद्वान् कवि-परंपरा में हुए हैं।

'रुद्र काशिकेय'

रामबोला राम बोले
या
तुलसी की रामकहानी

[पत्रिका के लिए विशेष अनुरोध पर उपर्युक्त शीर्षक के अंतर्गत गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनवृत्त औपन्यासिक ढंग पर प्रस्तुत किया गया है। हिंदी के क्षेत्र में यह सर्वथा अभिनव प्रयास है। कल्पित पात्रों की विभिन्न बोलियों के समन्वय के कारण यह रचना अत्यंत रुचिकर और उपादेय हो गई है। उद्धृत रूपरेखा से इसमें चर्चित विषय की छाँह मिल जाती है—

प्रस्तावना—असी गंग के तीर।

बालकांड—१. तब अति रहेउँ अचेत। २. पाछिले को उपखानु। ३. सुमति हियँ हुलसी। ४. चार फल चार ही चनक को। ५. जदपि कही गुरु बारहिं बारा।

अयोध्याकांड—१. लता निहारि नवहिं तरु साखा। २. नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं। ३. भए कामबस समय बिसारी। ४. पत्नी के उपदेस। ५. अवधपुरी यह चरित प्रकासा।

अरण्यकांड—१. चित्रकूट सब दिन बसत। २. धरम तें बिरति जोग तें ग्याना। ३. तिलक देत रघुबीर। ४. असगुन अमित होहिं भयकारी। ५. तुलसी मस्तक तब नवै।

किष्किंधाकांड—१. जहँ बस संभु भवानि। २. दोख दुख देत हैं। ३. मोर न्याउ मैं पूछा साईं। ४. तजिए ताहि कोटि बैरी सम। ५. रजनी चहुँ दिसि चोर।

सुंदरकांड—१. जोरी प्रीति दृढ़ाइ। २. द्विज श्रुति बेचक। ३. सब चाहत अस होय। ४. गंग तरंग माल से। ५. घर ही सती कहावती।

लंकाकांड—१. जो पिय मानहु मोर सिखावन। २. चारु पुर बहु बिधि बना। ३. राज समाज बड़ोई छली है। ४. साँसति तुलसीदास को। ५. क्रुद्धे कृतांत समान कपि।

उत्तरकांड—१. कहाँ जाईं का करीं। २. अथए टोडर दीप। ३. नारि न मोह नारि के रूपा। ४. पाये हुते तुलसी कुरोग। ५. रामायन जिन निरमयेउ।

उपसंहार—तुलसी तज्यौ सरीर।]

प्रस्तावना

असी गंग के तीर

वाराणसी में त्रिलोचन बाजार की गल्लामंडी के प्रमुख व्यापारी शिवटहल साव ने बाँए हाथ से कमंडल में सद्यः संग्रहीत मटमैला गंगाजल अपनी दाहिनी हथेली पर उँडेला और दूकान के चबूतरे पर दो चार छींटे मार उन्होंने कमंडल तो चबूतरे पर रख दिया और फिर कमर में खोसी हुई प्रायः हाथ भर लंबी चाभी निकाल कर भुन्नासी ताला खोला। दूकान का टट्टर छप्पर पर डालने के बाद भीतर भी गंगाजल छिड़क कर ज्योंही वे गद्दी बिछाने चले त्योंही उन्हें अपने साझीदार बिस्सू साव की आवाज सुनाई पड़ी--सावजी, राम राम।

'राम राम, भैया'--सावजी ने बिस्सू की रमरमी का जवाब दिया और फिर गद्दी की सिकुड़न ठीक करने लगे। बिस्सू ने फिर कहा--कहो सावजी, कुछ सुना!

'क्या' कहते हुए सावजी ने परखी उठाई और गेहूँ के बोरे की ओर पैर बढ़ाया।

बिस्सू ने सूचना दी--'बाबाजी तो रामधाम चले।'

'कौन बाबाजी?' शिवटहल साव ने उपेक्षा से पूछा।

'अरे बाबा तुलसीदास गोसाईं, और कौन?'--बिस्सू ने कुछ इस भाव से उत्तर दिया मानो बाबाजी कहने मात्र से तुलसीदास वाचक अर्थ तत्काल ही ग्रहण न कर जैसे शिवटहल साव ने अपनी विकट बुद्धिहीनता का परिचय दिया हो।

उधर तुलसी बाबा का नाम कान में पड़ते ही शिवटहलराम के मुँह से निकला 'ऐं' और उनके हाथों से छूटकर परखी झन्नाटे की आवाज के साथ पत्थर के फर्श पर गिरी। वह खुद भी धम से धरती पर बैठ गए।

बिस्सू ने आगे बढ़कर उन्हें उठाते हुए कहा--'बैठे बैठे क्या करोगे सावजी, चलो अस्सी। आखीरी दरसन तो कर लिया जाय।'

उस दिन त्रिलोचन बाजार में सन्नाटा रहा। यहाँ आने की जगह आज व्यापारी वर्ग अस्सी घाट पर चला गया था।

विक्रमीय संवत् १६८० की श्रावण कृष्ण तृतीया के दिन शनिवार था। बादलों से धुँधले प्रभात काल में बिजली की तरह यह समाचार काशी की बिखरी हुई बस्तियों में कौंध गया कि बाबा तुलसीदास को अर्द्ध जल दिया जा रहा है। उस समय तुलसीदासजी समूची नगरी के श्रद्धा-भाजन हो गए थे। यहाँ आरंभ में उनका

जितना ही उग्र विरोध हुआ था, अब उससे कहीं अधिक लोग उनका आदर करने थे। नगर भर उन्हें अपने दुःख-सुख का साथी समझने के लिए बाध्य हो गया था। इसीलिए तुलसीविहीन काशी की कल्पना मात्र से समस्त काशीवासी जैसे सिहर उठे। अभी अभी प्रायः तीन सौ वर्ष शिवविहीन रहने के बाद जनविश्वासानुसार तुलसी के ही प्रयत्न प्रताप से ज्ञानवापी पर विश्वनाथ मंदिर के निर्माण द्वारा काशी पुनः सनाथ हुई थी। वही काशी अब तुलसीविहीन होने जा रही थी। शिवविहीन काशी की स्थिति में कम से कम यह आशा तो थी ही कि राजा दिवोदास के समय जैसे काशी से निष्कासित होने के बावजूद सदाशिव पुनः लौटे थे, वैसे ही वे फिर कैलास से काशी लौट आएँगे, परंतु तुलसीदास भी पुनः कभी परलोक से वापस लौट सकेंगे, यह कल्पना तो कोई पागल भी न कर सकता था। यही कारण था कि तुलसी की निर्वाण-वेला समीप समझकर एक बार समूचा नगर अधीर हो उठा।

× × ×

काँख तले मुसल्ला[१] दबाए, बाएँ हाथ में बधना और दाहिने हाथ में मिसवाक[२] लेकर मुँह में डाले शेख कल्लू ने मदनपुरा की मसजिद में प्रवेश किया और हौज़ की ओर चले। उन्हें देखते ही मसजिद के इमाम मुल्ला नासिर ने मुस्करा कर अपनी नुकीली दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उच्च स्वर से कहा—'हदकल्लाह!'[३]

शेखकल्लू भी मुस्कराए, बोले—'तूँ तो हमें सोगहगै[४] काफिर करार दे दिहे हौ मौलवी साहेब, लेकिन बात का है। आज तोहार तबियत बड़ी फरहर[५] देखाई दे रही है।'

'खुशी की बात ही है शेख नूरबाफ! खैर यह तो बताओ अब तुम्हारे फर्जंद[६] की सेहत[७] कैसी है।'

मुल्ला नासिर ने पूछा। उनसे किसी ने कह दिया था कि शेख कल्लू के बेटे का जलोदर रोग इतना बढ़ गया है कि अब उसका इलाज नामुमकिन है। मगर शेख कल्लू ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—

'सब तोहार इनायत है मौलवी साहेब, बस यही समझो कि ओके बचै कऽ कौनो उम्मेद नाहीं रह गई रही। बारे तुलसी साईं कऽअल्ला सुन लिहेन। न जानै

१—मुसल्ला = नमाज पढ़ने की दरी। २—मिसवाक = दातून।
३—दिल्ली के सुल्तानों की राजसभा में जब कोई मुसलमान सरदार प्रवेश करता था, तब नकीब 'बिसमिल्लाह' (शुरू करता हूँ ईश्वर के नाम से) का नारा लगाते थे और जब कोई हिंदू सामंत आता था, तो 'हदकल्लाह' (ईश्वर तुझे सही रास्ता दिखाएँ) कहते थे। ४—बिल्कुल। ५—प्रसन्न। ६—बेटा। ७—स्वास्थ्य।

कौने आबेहयात[1] क5बूटी ऊ चुनुआँ के दिहेन कि हमार 'नूरेचश्म'[2] फेर से अस्वार जाए लायक हो गवा।'

शेख कल्लू का अनपेक्षित उत्तर सुनकर मौलवी साहब का चेहरा जैसे उतर गया, मगर उस पर नकली उल्लास का आवरण डालकर अपनी फारसीदानी से शेख कल्लू को आतंकित करने के लिए उन्होंने तरन्नुम की अवतारणा की—'सनमखानए कुफ्र राहे शिकस्त अस्त।'[3]

शेख कल्लू को मौलवी साहब की बेवक्त की शहनाई न सुहाई, फिर भी उन्होंने हँसते हुए ही कहा—'कवायद के रू से[4] तो तोहार मिसरा गलत है मौलवी साहेब, राह लफ्ज के पहिले 'दर' या 'बर' जइसा कोई लफ्ज रखना जरूरी है, नाहीं तो 'राह पर' माने कैसे निकसिहै। लेकिन, ई तो बताओ कि कुफ्र क5मंदिल के कहाँ पर तोड़ रहा है। हम तो ई देख रहे हैं कि गाजी जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर पादशाह के तो अहद[5] में सैकड़न बरिस से जमीन पर लोटा भवा मंदिलो सिर उठाय लिहेन, अउर अब तो मलका नूरजहाँ क5 बोलबाला है, अउर शाह जहाँगीर खुद जदरूप गोसाईं क5 मुरीद हैं।'

इतना कहते कहते शेख कल्लू कुछ आवेश में आगए। जरा आवाज तेज करते हुए उन्होंने कहा—'सुनो मौलवी साहेब, महमूद गज़नवी और फिरोज तुगलक क5 जमाना लद गवा, जब कि सोमनाथ क5 मंदिल तोड़ा जात रहा। अब तो हज़रत अर्श आशियानी अकबर बादशाह क5कौल चल5थे—

उसके फरोगे हुस्न[6] से झमके है सबमें नूर।
शमए हरम[7] हो या कि दिया सोमनाथ का॥'

शेखजी सूफियों जैसी मस्ती में आकर गाने लगे।

बात हीं बात में बात बढ़ी। भद्रता की नक़ाब जैसे नोच कर फेंकते हुए मुल्ला नासिर गरज उठे—'देखो शेख कल्लू! बारहा तम्बीह के तौर पर हम तुमसे कह चुके कि तुम्हारी चाल-ढाल, रहन-सहन, ख्वाबो ख़याल, कुफ्रो काफिरी की ओर बढ़ते जा रहे हैं और इसकी वजह है वह अस्सीघाट वाला गोशाईं। मैंने उसके सरपरस्त काफिर जमींदार टोडर को तो ठिकाने लगवा दिया, मगर यह गोशाईं बच गया। इस शहर में यही सबसे बड़ा काफिर है। जानते हो शेख कल्लू, आज वही काफिरे आजम हमेशा के लिए दोजख़ को आबाद करने जा रहा है।'

१—अमृत। २—आँखों की रोशनी। ३—नास्तिकता का मंदिर विनाश के पथ पर है। ४—व्याकरण के अनुसार। ५—शासन काल। ६—सौंदर्य की कृपा। ७—काबे की मसजिद में जलनेवाला चिराग।

मुल्ला नासिर की तकरीर ने शेख कल्लू को बेचैन कर दिया। उसने तड़प कर पूछा--'आप तुलसी साईं की बात कह रहे हौ का'।

'हाँ हाँ तुम्हारे तुलसी गोशाईं की बात कर रहा हूँ' कहते कहते मुल्ला नासिर ने आवेश में अपनी आँखे मूँद लीं और सिद्ध मुद्रा में कहना आरंभ किया--'मैं यहीं से आँखें बंद किए ही देख रहा हूँ कि तुम्हारे गोशाईं के काफिर चेले उसे नीते ही गल्ताँन[1] कर रहे हैं और सारा शहर लबे गंग उसी तीर की ओर दौड़ा जा रहा है।'

शेख कल्लू पर उनके अभिनय का क्या प्रभाव पड़ा, यह देखने के लिए जब उन्होंने पलकें खोली तो देखा कि शेख कल्लू वहाँ नहीं हैं। उनका बधना हौज़ पर धरा है, मिसवाक धूल में लोट रही है और मुसल्ला दरवाजे पर पड़ा हुआ है।

× × × ×

भदैनी गाँव की भव्यतम इमारत में अर्थात् ईंटों की दीवार और खपरैल के छतवाले ज़मीनदार टोडर के दुमंजिले भवन की ऊपरी मंजिल पर से पूरबवाली खिड़की खोलकर टोडर के पौत्र कन्हई की नवोढ़ा पत्नी ने देखा कि तुलसी-चौरा पर जन-समुद्र उमड़ आया है। प्रतीत होता था मानो गंगासागर में गंगा के मिलन का बदला देने के लिए समुद्र ही उलट कर गंगा के पास आ गया है। वह इस जनसंकुलता पर चकित हो रही थी कि चचिया सास का कर्कश कंठस्वर उसके कर्णपुटों से टकराया। आनंदराम की प्रौढ़ा पत्नी नीचे से ही ललकार रही थी--'का हो दुलहिन, उप्पर का करऽथऊ। भला ई कउनो मेला देखै कऽ बखत हौ!' (दुलहिन, ऊपर कोठे पर क्या कर रही हो? यह भी क्या कोई तमाशा देखने का वक्त है!)।

सास की आवाज कान में पड़ते ही कन्हई की पत्नी ने खिड़की बंद कर दी। इतने में ही सास ने पुनः कहा--'का हो कन्हई बो! बहिरी हो गइलू का?' (हे कन्हई की पत्नी! तुम क्या बहिरी हो गई हो?)।

मिट्टी की सीढ़ियों से उतरते हुए कन्हईबो ने कहा--'नहीं अइया! घटवा पर बड़ी भीर हौ। अब्बो त चलके बाबा कऽ अखीरी दरसन कै लिहल जाय!' (नहीं आर्ये! घाट पर बड़ी भीड़ है। अब भी तो चल कर बाबा का अंतिम दर्शन कर लिया जाय।)।

टोडर की प्रौढ़ा पुत्रबधू ने 'बाबा' शब्द कान में पड़ते ही तुलसी के उद्देश्य से अपने हाथ जोड़ दिए और कहा--'तनी कन्हई के आ जाय दऽ।' (जरा कन्हई को आ जाने दो)।

१--डुबा रहे हैं।

सहसा 'राजा रामचंद्र की जै' के तुमुल निनाद से जैसे आकाश फट पड़ा। सास बहू दोनो ही चौंक उठीं। उन्होंने फिर कोई दूसरी बात न की। अब उन्हें कन्हई की प्रतीक्षा अनावश्यक जान पड़ी। उन्होंने अपनी अपनी चादरें उठाईं और दबे पाँव अस्सी घाट की ओर पैर बढ़ाए।

× × × ×

पार्श्ववर्ती हरिश्चंद्र घाट के डोम राजा ने आज बड़ी ही चिंता के साथ देखा कि प्रातःकाल हुए तीन घंटे हो गए, परंतु इस बीच एक भी शव महाश्मशान पर नहीं आया। रात में तीसरे पहर न जाने कहाँ से एक लावारिस सी किसी वृद्धा का मुरदा आया था, जो सूखकर लकड़ी हो गया था। शायद इसीलिए उसे लकड़ी भी काफी न दी गई थी। उसके शव-संस्कारकर्ता भी उकता कर चले गए थे, परंतु उसकी चिता अभी तक सिसक-सिसक कर जल रही थी। ऐसा 'अनर्थ' तो कभी न हुआ था कि कोई मुरदा छः घंटे तक लगातार जलता रहे।

मुँह में दातून दबाए चौधरी घंटे भर से पाषाण प्रतिमा के समान उसी चिता की ओर एक टक देख रहे थे। संभवतः उनकी समाधि इतने शीघ्र भंग न होती, परंतु उनके कानों में कुछ ऐसी खनखनाती हुई आवाज आई कि वे चौंक उठे।

'का हो चौधरी कुच्छो सुनलऽ ?'

चिरपरिचित वाणी की कर्कशता ने उन्हें सिर घुमाने के लिए विवश किया। उन्होंने उलट कर देखा कि दोहरे स्वर्णाभूषणों से लैस उनकी कादंबिनी कलेवरा गृहिणी हाथ मटका-मटका कर कुछ कह रही है और उसके हाथों के स्वर्ण-कंकण ऐसे हिल रहे हैं, मानो घनघोर घटा बिजली का पटा भाँज रही हो।

चौधरी ने मेघमंद्र स्वर में उलटे प्रश्न किया—'का भयल ?' (क्या हुआ ?) वस्तुतः उस समय चौधरी सोच रहे थे कि जब से उन्होंने जन्म लिया है, तब से एक दिन भी ऐसा न बीता कि दिन रात चौबीस घंटों में एक घंटा भी ऐसा गुजरा हो, जब कि कोई न कोई मुरदा घाट पर न आया हो। फिर सामने की चिता भी अद्भुत ही है। यह जल कर समाप्त क्यों नहीं हो रही है ? दोनो ही प्रश्नों पर विचार करते करते चौधरी का मानस मथ उठा। उनके हृदय ने प्रश्न किया—यह क्या हुआ और उनके मुँख से दो शब्द निकले—'का भयल ?'

चौधराइन ने चमक कर कहा—'कइसन अलहदी हौअऽ, तोहरे अइसन निघरघट तऽ लोक जहान में अउर दूसर केहू न होई। न जानी कहाँ कहाँ कऽ आलम अस्सी के तरफ दउड़ल जात हौ।' (तुम कैसे आलसी आदमी हो। तुम्हारे जैसा निखट्टू संसार में दूसरा नहीं। न जाने कहाँ कहाँ के आदमी अस्सी की ओर दौड़े जा रहे हैं)।

अरे त॒ऽ कुच्छो कहबो कर, का भयल?' चौधरी ने डाँट कर पूछा।

'का बताईं, तोहार बाप मरत हौवन?' (क्या बताऊँ तुम्हारे बाप मर रहे हैं) चौधराइन ने जवाब दिया।

चौधरी एक चोट खूब हँसे, फिर बोले—'मुअलो पर चौदह बरिस बाद हमार बाप फेर से मरै बदे कहाँ आ गइलन?' (मरने पर भी चौदह वर्ष बाद मेरे बाप फिर से मरने के लिए कहाँ आ गए)।

चौधराइन को हँसी नहीं आई। उसने वैसे ही गंभीरता से कहा—'तोहार ऊ बाप जेकरे असीस से तोहार जनम भैल, जेके जनम भर तूँ 'बाबू' पुकरल, जे हमार बाबा हउअन, अस्सी घाट वाले गोसाईंजी। ओनकर चलाचली हौ। चल चल आखीरी दरसन कै लिहल जाय।'

चौधरी के हृदय से विनोद का भाव तिरोहित हो गया। उनकी सारी आर्थिक चिंता छूमंतर हो गई। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि उनके शरीर में तनिक भी शक्ति नहीं रह गई है, फिर भी वे अपनी पत्नी के पीछे पीछे अस्सी की ओर चल पड़े।

× × ×

अग्निहोत्र की विधि के निर्वाह के लिए पंडित पुरुषोत्तमजी अग्निहोत्री ने जिस कामधेनु का पोषण किया था, उसने पंचगंगा घाट पर कगार से गिरकर जब गंगालाभ कर लिया, तो सहसा उन्हें तत्काल ही दूसरी गाय न मिल सकी। परंतु प्रतिदिन उन्हें सेर भर दूध की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती थी। उन्होंने अपने पड़ोसी अहीर महादेव सरदार को नित्य सेर भर दूध देने के लिए सहेज दिया।

महादेव के नौजवान बेटे गनेस को एक बार बनारस के कोतवाल का कोपभाजन बनना पड़ा था। उस समय महादेव सरदार इन्हीं पंडितजी की शरण आए थे। पंडितजी ने बाबा तुलसीदास से निवेदन किया था। तुलसीदास ने काशी के सूबेदार हाड़ाकुलभूषण बूंदीनरेश से कह कर महादेव सरदार के बेटे गणेश सरदार को मुक्ति दिलवा दी थी। अतः जितनी भक्ति भाव से महादेव पंडितजी को दूध देने लगे उसका हास्यास्पद भंडाफोड़ उस दिन हुआ, जिस दिन पंडितजी ने उससे कहा कि सरदार कल का दूध तो बिलकुल पानी ही था।

'नाहीं महाराज, भला कबौं अइसनौ हो सकऽला? दूध में केहू दूसरे कऽ हाथ लग गयल होई।'—महादेव ने बड़े ही भोलेपन से कहा।

इस पर पंडितजी कुछ झल्लाए, बोले—'दूध तो नित्य देवदत्त ही पकाता है, उसी ने कल भी पकाया था।'

देवदत्त पंडितजी का अंतेवासी था। उसे दो दिनो से हल्का-हल्का ज्वर आ रहा था। उस दिन वैद्यजी ने उससे दूध का पथ्य लेने के लिए कहा था। इसलिए दूध औटाते समम देवदत्त ने उसमें से प्रायः तीन छटाँक दूध निकाल लिया और उसमें उतना ही पानी मिला दिया था।

महादेव सरदार ने घर आकर अपनी पत्नी से पूछा--'करे आज पंडितजी दूध कऽ सिकाइत करत रहऽलन। कहीं तैं त दूध में पानी-ओनी नाहीं मिलाय देहले रहली ?'

ग्वालिन ने गर्व से उत्तर दिया--'हम समुझली कि तूँ पानी नाहीं मिलैले हउअ, तउन हम दुइ छटाँक पानी मिलाय देहली।'

'ई त तूँ बड़ा बेजायँ कइलू। हम त सेर भर पीछे आध पाव पानी पहिलेहीं मिलाय देइला।' महादेव ने सिर खुजलाते हुए कहा।

गणेश सरदार दीवार में लगी खूँटी से बँधी हुई रस्सी पकड़ कर बैठक लगा रहे थे। उन्होंने जरा दम लेकर बताया--'हम पानी भरले आवत रहली। गगरा छलक गैल, तउन छटाँक दुइ छटाँक पानी पंडितजी के दुधवौ में मिल गयल होई।'

सेर भर दूध में आध सेर से भी अधिक पानी की मिलावट महादेव की आत्मा सहन न कर सकी। उसने एक हाड़ी में प्रायः पाव भर दूध लिया और पंडितजी के यहाँ पहुँचा। उसी समय कहीं बाहर जाने के लिए शिष्य मंडली के साथ पंडितजी बाहर निकले। ठीक यात्रा के समय महादेव को दूध का पात्र लिए दरवाजे पर उपस्थित देख एक शिष्य ने कहा भी —'यात्राकाल में दुग्ध-दर्शन, यह तो भारी अपशकुन हुआ।'

पंडित पुरुषोत्तम शर्मा बोले—'गोस्वामी तुलसीदासजी का तिरोधान हो रहा है। इससे बड़ा अपशकुन और क्या होगा ? चलो जल्दी अस्सीघाट पहुँचना है।'

महादेव सरदार ने दूध की हाँड़ी वहीं पटक दी और सिर झुकाए पंडितजी के पीछे-पीछे अस्सी चले।

× × ×

अस्सी घाट पर जहाँ तुलसी का प्रसिद्ध राममंदिर है, वहाँ आज भी एक गुमटी दिखाई देती है। उन दिनो वहाँ दो गुमटियाँ थीं। वे एक पटी हुई छत द्वारा मिली हुई थीं। उस पर तुलसी के हजारों पौधे लगे हुए थे।

सावन की बढ़ी हुई गंगा छत की सतह तक पहुँच गई थीं। छत के किनारे तुलसी का एक सबसे बड़ा पौधा खड़ा था। उससे केवल एक हाँथ की दूरी पर गंगा लहरें ले रही थीं। उसी पौधे की बगल में वृद्ध तुलसीदास कुशासन पर लेटे

हुए थे। कमर के नीचे तक का भाग पानी में था। चारों ओर राम नाम का कीर्तन हो रहा था। भदैनी गाँव में भीड़ के कारण तिल रखने की भी जगह न बची थी। परंतु समस्त कोलाहल के बीच निस्तब्ध पड़े तुलसीदास का अंतर्मन इसी ऊहापोह में मग्न था कि मैं इस धराधाम पर प्रायः सौ वर्ष रहा। आखिर मेरे इतने लंबे जीवन-काल की उपलब्धि क्या है?

उक्त प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए मुमूर्षु तुलसी की स्मृति भूतकाल के अभेद्य पटल को भेद कर काल के उस अनंत पथ पर उस ओर दौड़ चली, जहाँ उनकी जन्म तिथि, दूरीसूचक पाषाण-खंड की भाँति समय की छाती में गड़ी खड़ी थी।

बालकांड

तब अति रहेउँ अचेत

वाराणसी में बारह मारुति-मंदिरों की स्थापना के लिए तुलसी मुनि ने जो संकल्प कभी किया था, वह नयपुरा में बने बारहवें मंदिर में हनुमत्-मूर्ति की स्थापना द्वारा जब उस दिन पूरा हो गया, तो समूची नगरी एक बार तुलसी बाबा के जयजयकार से गूँज उठी।

वाराणसी नगर में मृत्युंजय महादेव के मंदिर से दारानगर होते हुए जो रास्ता मैदागिन को ओर जाता है, वहाँ उस मुहल्ले की रामलीला के रामजी के बैठने के लिए जो पत्थर और चूने से बना हुआ एक सिंहासन है, वह एक प्रकार से ठीक सड़क के बीच में ही है। उसी के पास एक कुआँ भी दिखाई देता है। उस सिंहासन और कूएँ के बीच से एक रास्ता पश्चिम की ओर फूटता है, जो नवापुरा मुहल्ले में जाता है। नगर के मध्य में बसा हुआ यह मुहल्ला तुलसी के जीवन-काल में जंगल काट कर नौतोड़ भूमि के रूप में परिणत किया गया था और नगवा से लेकर वरुणा संगम तक काशी नगरी के अर्द्ध चंद्राकार रूप में घेर कर फैली हुई टोडर की विशाल जमींदारी में अंतर्भुक्त था। उसके ठीक बगल में जहाँ आजकल हरिश्चंद्र कालेज की इमारत खड़ी है, वहाँ विघ्नेश-वापी या गणेश-गड़ही थी और जहाँ आज कंपनी बाग है, वहाँ मंदाकिनी तीर्थ लहराता था।

संवत् १६६८ विक्रमीय के बसंत की उस मधुमयी संध्या वेला में गणेश-गड़ही के उत्तरी किनारे पर बनी हुई छावनी में पूर्वोलिखित कुएँ के ठीक सामने स्थित छप्परदार ओसारे में पड़ी हुई काठ की चौकी पर काला कंबल बिछाए और दाहिने हाथ को तकिए की जगह सिर के नीचे रखे गोस्वामी तुलसीदास अधलेटे

हुए कमर सीधी कर रहे थे। सामने कुछ ही दूरी पर समानांतर बिछे हुए पलंग पर मोटे गद्दे के ऊपर सूक्ष्म सूचिकार्ययुक्त लाल रंग का बिछौना था, जिसपर दो बड़ी बड़ी तकियों के सहारे बनारस के जमींनदार टोडरराय बिन देवराय ओठंगे हुए बैठे थे। आकाश से बरसे हुए अंधकार के पहले ही दौंगरे ने ज्योंही धरती को आप्लावित किया, त्योंही चौकी और पलंग के सिरहाने ठीक बीचो-बीच रखे हुए काठ के ऊँचे दीवट पर परिचारक ने एक बड़ा सा दीपक लाकर रख दिया। पास ही निर्मित हनुमान्-मंदिर पर शहनाई बज रही थी।

तुलसी और टोडर दोनो ही मौन थे। दीपक की मंद ज्योति दोनो के मुख-मंडल पर पड़ रही थी। टोडर ने उस दीपक के धुँधले प्रकाश में देखा कि गोस्वामीजी के धवल दाढ़ीयुक्त गोरे मुखमंडल पर क्लांति के साथ ही परितृप्ति और संतोष के वे चिह्न भी झलक रहे हैं, जो किसी के वदन पर उसी समय दिखाई देते हैं, जब कि उसके जीवन का कोई महान् लक्ष्य पूरा हो चुकता है।

तुलसीदास ने उस दिन, दिनभर हाड़तोड़ परिश्रम किया था। देवप्रतिमा के संस्थापक होने के नाते उस दिन उन्होंने उपवास भी कर रखा था। उनके साथ ही टोडर ने भी काफी दौड़धूप की थी, किंतु वे उतने से ही बेतरह थक गए थे। उन्हें तुलसी के समान वह उल्लास प्राप्त न हुआ था, जो बड़ी से बड़ी और कड़ी से कड़ी क्लांति तक को धो बहाता है। तुलसी की प्रसन्नता स्वाभाविक थी। काशी में द्वादश मारुति-मंदिरों की स्थापना का उनका बहुत पुराना संकल्प कितनी ही विघ्न बाधाओं के सफल निराकरण के बाद पूरा हो पाया था। मंदिर की नींव पड़ते ही पहले बनारस के कानूनगो ख्वाजा दौलतबेग ने मंदिर निर्माण में यह कह कर अड़ंगा लगाया कि जमीन खालसा है, अर्थात् खास सरकारी जमीन है, जो टोडरराय की जमींदारी में नहीं है। इसलिए विशेष शाही अनुमति बिना वहाँ मंदिर नहीं बन सकता। मंदिरों के बनाने पर सदियों से लगा हुआ प्रतिबंध जब से अकबर ने उठा दिया था, तब से साधारणतया मंदिर बनाने में कोई रोक टोक न की जाती थी, परंतु इस मामले में शाही भूमि की पख लगाकर दौलतबेग ने साधारण स्थिति को असाधारण बना दिया था। उस समय हिंदी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना बनारस के सूबेदार थे। इसलिए ख्वाजा दौलतबेग की एक न चली। तुलसी के आग्रह पर खानखाना ने वह सारी भूमि टोडर के हाथ बेंच दी, जिससे वह भूमि खालसा न रह कर टोडर की हो गई और उस पर मंदिर बनाने में कोई बाधा न रह गई। फिर भी मंदिर बनते समय सूबेदार बायजीद व्यात ने भी बाधा देने का थोड़ा प्रयत्न किया था, परंतु दिल्ली ने स्थानीय आदेश रद्द कर दिया। तब कहीं यह मंदिर बन पाया। इसीलिए गोस्वामीजी आज परम प्रसन्न और अत्यंत संतुष्ट थे। उनके संतोष से टोडर को भी संतोष हुआ।

सहसा टोडरराय के मन में एक प्रश्न उठा---आखिर इस अद्भुत व्यक्ति का जन्म कहाँ हुआ है ? यही प्रश्न पहले भी अनेक अवसरों पर उनके मन में उठा था, परंतु तुलसीदास की गुरु गंभीर मुद्रा के कारण कभी उनसे यह प्रश्न करने का वे साहस न कर सके थे। परंतु आज जो उन्होंने तुलसी को असाधारण रीति से प्रसन्न देखा तो उनसे रहा न गया और उन्होंने ऋटपट पूँछ ही तो दिया---'आज सारा देश आपको जानता है, पर कोई भी यह नहीं जानता कि आपकी जन्मभूमि कहाँ है ? यहाँ तक कि मैं भी, जिस पर आपकी इतनी कृपा रहती है, आपकी जन्मभूमि के बारे में कुछ भी नहीं जानता।'

टोडर के आकस्मिक और अनपेक्षित प्रश्न पर चौंक कर टूटी हुई डोरी के धनुष की तरह तुलसीदास चौकी पर सीधे उठ बैठे। उनके चेहरे पर भीषण भाव परिवर्तन दिखाई पड़ा, जिसे देख टोडर भी कुछ भयभीत से हो उठे। उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि तृप्ति, संतोष और उल्लास के भाव तुलसी के चेहरे से सहसा लुप्त हो गए हैं और उनकी जगह चिंता, विषाद और व्यथा की मोटी मोटी रेखाएँ बड़ी ही स्पष्टता से उभर आई हैं। वे पछताए कि मैंने यह प्रश्न किया ही क्यों, जिसके कारण इस महात्मा को इतना कष्ट हुआ ? मन ही मन उन्होंने इसे अपनी बड़ी भारी मूर्खता माना और अपनी मूर्खता पर लज्जित और दुःखी होकर वे गुमसुम सामने ही दीवार पर चिपकी हुई छिपकली को बड़े गौर से एकटक देखने लगे।

रसाल मंजरियों की सुगंधि से आमोदित वासंती वायु का एक करारा झोंका आया और दीवट पर रखा हुआ दीपक एक बार झिलमिला कर बुझ गया। सारा ओसारा अंधकार में डूब गया। इधर तुलसीदास स्मृतिसागर के अतलांतक में गोते खाने लगे।

जीवन की सभी घटनाएँ प्रकट या विलुप्त किसी न किसी रूप में मनुष्य की स्मृति में उसी प्रकार समाई रहती हैं, जैसे सभी नदियाँ किसी न किसी प्रकार समुद्र में ही विलीन होती हैं। इसीलिए किसी भी नदी के समुद्रतटीय मुहाने से चलकर कितने ही दुर्गम, अलक्ष्य और गहन गिरि वन में छिपे उसके उद्‌गम स्रोत का पता लगाया जा सकता है। संभवतः तुलसी के अंतर्मन ने भी सहज बुद्धिसंमत इसी पथ का अनुसरण किया। स्मृति-सागर के तट से उसने मेधा की पगडंडी पकड़ी और खेतों, खलिहानों में से होते हुए, छोटी बड़ी नदियों के ऊपर ही ऊपर उछलते, पहाड़ियों पर चढ़ते और घाटियों में उतरते, कीकर-पाकर, बट-पीपल, जामुन-कैथ, सीसम-साल, ताल-रसाल के विशाल वृक्षों से भरे बड़े बसे जंगलों और बेर, झरबेरी तथा मकोय के कंटीले वनों में चक्कर काटते हुए, वह ज्ञात अज्ञात पथों पर चल पड़ा।

अवध का एक गाँव। गाँव के पाँव पखारती हुई कोई पवित्र नदी। नदी के किनारे दिगंतव्यापी अमराई। अमराई के मध्य में मध्यकालीन वास्तुकला के

सभी अनुकरणीय आदर्शों से युक्त किसी भव्य भवन का खंडहर। खंडहर की बिखरी हुई लखौरिया ईंटों और टूटी फूटी दीवारों का मौन चीत्कार कि हम पर फावड़ा भी चला है और हम आग में भी भूने गए हैं।

तुलसी का अंतर्मन उसी भग्न भवन पर इस भाँति मँडराने लगा जैसे वायुयान भूमिस्पर्श के पहले हवाई अड्डे पर चक्कर लगाता है।

उसी खंडहर के कुछ दूर ईंटों का बना हुआ एक टूटा-फूटा छोटा सा मकान और उसके एक कोने में कुआँ और कुएँ के पास ही एक कोठरी, जिसमें टूटा हुआ चूल्हा, फूटा हुआ पनघड़ा, गोबर से लिपी हुई कच्ची भूमि और उस भूमि पर बिखरे हुए जले अधजले लकड़ी और उपलों के टुकड़े, जिनमें मनुष्य की भी हड्डियाँ थीं, भूतकाल में घटित किसी दुर्घटना के साक्षी थे।

उस कोठरी की ठीक बगलवाली कोठरी में ध्वस्त छत के सुगम मार्ग से तुलसीदास का अंतर्मन उतर पड़ा। वहाँ भूमिस्पर्श करते ही वह जैसे तुरंत पैदा हुए शिशु के मन के समान हो गया, जिसका ठीक ठीक अध्ययन अभी मनोविज्ञानविद् नहीं कर पाए हैं। वह सद्योजात शिशु के समान ही रो भी उठा। इसी कोठरी की भूमि स्पर्शकर वह कभी पहले भी एक दिन इसी तरह रोया था, परंतु उस समय अमृत से भरकर उसका मुँह बंद कर देनेवाली कोई देवी इस कोठरी में थी। आज वह नहीं है। अंतर्मन दोहरी चोट से और भी बिलख उठा। साथ ही उस दूध के स्वाद में उसे बड़ी कड़वाहट लगी। वह तुरंत वहाँ से उड़ा। उस भूमि से जैसे घृणा हो गई थी।

वह बड़े वेग से, जैसे किसी नगर में घर घर चक्कर लगाती हुई बिजली प्रतिक्षण उसी बिजली-घर में लौट लौट आती है, जहाँ से वह चली थी, उसी तरह तुलसीदास का अंतर्मन भी उनके पास तत्काल ही लौट आया।

तुलसीदास जैसे ग्लानि से गलने और दुःख से जलने लगे। मुँह खोले बिना ही उन्होंने कहा—'छिः छिः मातृभूमि से घृणा! यह तो माता से ही घृणा के समान है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' 'अपनी मातृभूमि से ही घृणा करनेवाला मैं अधम उसका नाम किसी को किस मुँह से बताऊँ?'

उन्होंने एक लंबी साँस लेकर आँखे खोल दीं। टोडर जिस छिपकली को इतनी तल्लीनता से निहार रहे थे, वह अंधकार में न जाने कहाँ खिसक गई थी। उसी समय तुलसी ने भर्राये हुए कंठ से कहा—'बंधु, क्षमा करो। इच्छा रहते हुए भी मैं तुम्हारी जिज्ञासा का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। मैंने उस भूमि को कभी ठीक से जाना ही नहीं। जानता भी तो कैसे भाई, तब अति रहेउँ अचेत।'

ओसारे में अंधकार देख परिचारक दूसरा दीपक ले आया। उसके प्रकाश में टोडर ने देखा कि--तुलसी की आँखों से गंगा-यमुना का प्रवाह जारी है।

टोडर के कानों में तुलसी का स्वर गूँज रहा था--'तब अति रहेउँ अचेत।'

(दो)

पाछिले को उपखानु

तुलसीदास को यों विसूरते देखकर टोडरराय को अतिशय दुःख के साथ ही अत्यंत आश्चर्य भी हुआ कि यह इस्पाती व्यक्तित्व आज इस प्रकार फूट क्यों पड़ा। तुलसी के अति संवेदनशील हृदय की तरल सहजता के परिपार्श्व में उनकी प्रचंड बौद्धिक कठोरता उनसे परिचित प्राणियों के लिए सदैव पहेली ही बनी रही। इतना तो टोडर समझ ही गए थे कि अनजान में ही उन्होंने तुलसी के हृदय के किसी सूखते हुए पुराने घाव को खरोच कर पुनः हरा कर दिया है और वह व्यथातुर होकर पुनः रिसने लगा है।

कभी कभी मौन सहानुभूति वाचाट ठकुरसुहाती की तुलना में अधिक मुखर होती है। टोडर की उसी मौन मुखर सहानुभूति का स्वर तुलसी की हृदय-वीणा के किसी सूक्ष्म तार से टकराया और उन्होंने उसकी झंकार को सुना। कुछ शांति मिली तो उन्होंने अपने को संयत किया। उत्तरीय के खूँट से उन्होंने आँखें पोंछ लीं और फिर बड़ी ही करुण मुस्कराहट के साथ कहा—'अनंत शक्ति के स्वामी तो केवल तुलसीश ही हैं, तुलसी तो जीव होने के कारण अत्यंत दुर्बल है। तुम्हीं कहो भाई, इस दुर्बल जीव-धर्म का पालन कैसे न करूँ? मुझे क्षमा करो। मैंने मित्र से कपट किया, उसके सहज-से प्रश्न का भी उत्तर न दिया। परंतु मैं विवश हूँ मित्र!'

अब टोडर के रोने की बारी थी। तुलसी की मर्मस्पर्शिनी सहृदयता ने टोडर के मन को किसी भींगे हुए वस्त्र-खंड की भाँति निचोड़ दिया था। ऐसा कस कर निचोड़ा था कि उसका सारा पानी आँखों की राह से टपाटप चूने लगा।

तुलसी ने हँसने का प्रयत्न करते हुए पूछा—'रोने क्यों लगे भाई? तुम जनि मन मैलो करौ।'

टोडर ने किसी मखाए हुए बालक की तरह सिसकते हुए कहा—'क्या आपका जीवन सदैव रहस्यमय ही बना रहेगा? उसके बारे में क्या कभी किसी को कुछ भी पता न चलेगा?'

इस बार तुलसी ठठाकर हँस पड़े। वे अपनी चौकी पर से उठे और टोडर के पलंग के पास जाकर खड़े होगए। अपना दाहिना हाथ कंधे पर रख दिया और बोझिल वातावरण को हलका बनाने के लिए अपने बाएँ हाथ से टोडर का चिबुक छूकर बोले—

'सुनो जिस बात के विषय में कोई कभी कुछ नहीं जानता, वह रहस्य होती ही नहीं। रहस्य तो उसे ही कहते हैं, जिसे बहुत ही थोड़े लोग जानते हों, दो

ही चार आदमी जानते हों, दस पाँच उसके संबंध में अनुमान लड़ाते रहते हों और शेष सभी उससे सर्वथा अनभिज्ञ हों। रहस्य कैसे बनता है, मैं तुम्हें बताता हूँ।'

तुलसी फिर हँसे, बोले—'जब तुम बच्चों की तरह रो ही रहे हो, तो बच्चों की ही एक पुरानी कहानी सुनो।'

तुलसी की बात सुन और उनके कहने का ढंग देखकर टोडर को भी हँसी आगई। तुलसी मुस्कराते हुए पुनः अपनी चौकी पर जा बैठे और कहने लगे—

'सुनो, प्राचीन काल की बात है कि रामपुर नामक एक बड़ा ही समृद्ध नगर था। उसके गढ़ के कंगूरे इतने ऊँचे थे कि सूर्य और चंद्रमा उस पर लट्टू की तरह घूमते दिखाई देते थे। कोट के चारों ओर मरुभूमि के कुएँ जैसी गहरी और किसी नदी जैसी चौड़ी खाई थी। वैभवशाली नागरिकों की अटाओं पर उनके वैभव की सूचक विविध रंग की पताकाएँ वायु में लहर-फहर कर देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर को चिढ़ाती थीं। वापी, कूप, तड़ाग, वन-बाग आदि से सुसज्जित उस नगर में जनसंख्या भी अपार थी। कैसी अपार थी, वह इतने से ही समझो कि उस नगर में नदी की ओर दो रास्ते जाते थे, एक दाहिने से और दूसरा बाएँ से। प्रातःकाल स्नानार्थियों के लिए राजाज्ञा थी कि कुलांगनाएँ दाहिने मार्ग से और वारवनिताएँ बाएँ रास्ते से नदी पर जाया करें। एक दिन की बात है कि एक बंजारा दो ऊँटो पर सिंदूर लादकर उस नगर में पहुँचा और बड़े सवेरे नदी पर जानेवाले बाएँ रास्ते पर जाकर डट गया। थोड़ी ही देर में गणिकाओं के झुंड के झुंड इतराते, मुस्कराते, इठलाते, बल खाते, परस्पर खेल-कुलेल और ठेलम-ठेल करते, दर्शकों का मन हरते नदी के घाट की ओर चले। उधर बंजारे ने आवाज लड़ाई—'चटक सेंधुर-मटक इंगुर।'

वेश्याएँ उसके पास पहुँची। सभी ने कहा कि पहले नमूना दो तब तुम्हारा सेंधुर खरीदेंगे। बात कायदे की थी। बंजारे ने एक-एक चुटकी सिंदूर नमूने में देना आरंभ किया और देखते ही देखते एक ऊँट का बोझ समाप्त होगया। सारा सिंदूर फोकट में ही उड़ गया, यह देख बेचारे बंजारे का औसान हवा हो गया। 'बनी को कैसो मोल है' कहते हुए उसने अपना करम ठोंका और अपने बनिज में लगे हुए करारे घाटे की दोहाई देने राज-द्वार पर पहुँचा। वहाँ द्वारपालों और दंडधरों ने पहले तो उसका खूब ठट्ठा उड़ाया और फिर उसे अर्द्धचंद्र देकर हटा दिया। गरीब बेचारा गरीबनेवाज को सुमिरता हुआ अपने ऊँटों की नकेल हाथ में लिए दिए राजपथ पर जा खड़ा हुआ। जब राजा की सवारी निकली तो उसने दोहाई दी। राजा ने उसका सारा हाल जानकर आदेश दिया कि वह दूसरे दिन सवेरे अपने दूसरे ऊँट पर लदा हुआ माल लेकर

नदी की ओर जानेवाले दाहिने मार्ग पर जाय। बंजारे ने उस दिन ऐसा ही किया। उस रास्ते जब कुलबधुएँ आईं, तो उनमें से प्रत्येक ने एक एक कौड़ी बंजारे के सामने रखते हुए एक एक चुटकी सिंदूर ले लिया। एक ऊँट का बोझ उस दिन भी खाली हो गया, परंतु आमदनी इतनी अधिक हुई कि उससे चार ऊँटों का बोझ सिंदूर खरीदा जा सके। हाँ, तो ऐसा था वह समृद्ध नगर!'

कहानी कहते कहते तुलसीदास जरा रुके। उन्होंने टोडर से कहा—'क्या भाई सो रहे हो क्या? अभी तो मैंने कहानी की भूमिका ही बाँधी है।'

'नहीं बाबाजी, मैं जरा बंजारे के सिंदूर की बिक्री का हिसाब समझ रहा था। अच्छा तब'—टोडर ने कहा।

हाँ, तो उस राजा के एक राजपुरोहित थे। देखो ऐसी कहानियों में सदैव राजा की दो रानियाँ बताई जाती हैं, एक जेठी और दूसरी लहुरी। लहुरी ही सदैव राजा की चहेती होती है और जेठी सदैव उपेक्षिता। सो इस कहानी में राजा को नहीं, राजपुरोहित की दो पत्नियाँ थीं। बड़ी का नाम था हुलसी और छोटी का नाम फुलसी। पति का प्रेम प्राप्त रहने के कारण फुलसी नित्य ही फूल-सी खिली रहती थी और पतिप्रेमवंचिता हुलसी माई अपना सारा हुलास अपने मन में ही दबाकर अपने भाग्य पर झंखती रहती थीं। विवाह की गाँठ जुड़ते ही उसका भाग्य फूट गया, क्योंकि नेग के लेन देन में कुछ झगड़ा हुआ। बात ही बात में करष बढ़ि आई। सो राजगुरुजी के पिताजी ने बहू को तो विदा करवा लिया, परंतु अपने पुत्र को आदेश दिया कि वह अपनी पत्नी का मुँह जन्म भर न देखे। आदेश की अनवसरता और कठोरता के कारण कहीं पुत्र विद्रोह न कर दे, इसलिए उन्होंने तत्काल ही बेटे की क्षतिपूर्ति करने के लिए उसका विवाह रचा दिया। उनको इस पतोहू का नाम था रमदेइया! परंतु अपनी बड़ी पतोहू को जलाने के लिए उन्होंने अपनी छोटी पतोहू का नाम फुलसी रख दिया और कहा 'यह फूल-सी ही है। हमारे बाबा को एक महात्मा का वरदान है कि तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक जग-द्विख्यात महापुरुष जन्म लेगा सो इसी की कोख से वह उत्पन्न होनेवाला है। उससे हमारे वंश का यश सौरभ चारों ओर फैलेगा।' कुछ दिनो बाद बूढ़े बाबा मर गए। उधर राजगुरुजी ने फुलसी के कहने पर हुलसी को घर से निकाल, नगर के किनारे एक जीर्ण-शीर्ण छोटे से घर में डाल दिया। यह करते हुए भी उन्होंने अपने पिता के आदेश का ध्यान रखा और अपनी उस पत्नी का मुँह तक न देखा। अपनी सखी तुल्य दासी मुनियाँ के साथ वह बेचारी दुखिया उसी टूटे-फूटे खंडहर-नुमा घर में रहने लगी। राजगुरु के पितामह के समय का एक सेवक घुरहू पाँड़े था। पुराना होने के कारण मालिक के मुँह लगा था। उसने एक दिन मालिक से उनके व्यवहार का प्रतिवाद किया कि दास-दासियों की भीड़ भरी रहे और उस दुखिया

की बात भी न पूछी जाय ? इस आलोचना से राजगुरुजी इतने बिगड़े कि उन्होंने घुरहू को तत्काल अपनी सेवा से मुक्त कर दिया। घुरहू हुलसी के घर के पास ही छप्पर डालकर रहने लगा। वह अपने घर खाता और हुलसी के दरवाजे पर हाजिरी बजाता।'

बच्चों की शैली में कही जाने पर भी टोडर को तुलसी की कहानी बड़ी ही रोचक प्रतीत हुई। तुलसी ने कहना जारी रखा—'परंतु मुनियाँ के मन में घुरहू की तरह संतोष न था। वह हुलसी के साथ उसके मायके से आई थी और इसीलिए वह दासी से अधिक हुलसी की सखी थी और फिर तुम तो जानते ही हो कि रसशास्त्र में सखी के क्या कर्तव्य बताए गए हैं ?'

'मंडन और शिक्षा'—टोडर ने जरा मुस्कराते हुए कहा।

'ठीक कहते हो, सो मुनियाँ बड़े हुलास से अपनी पति-परित्यक्ता हुलसी दीदी का नित्य फूलों से सिंगार करती थी। पुरोहितजी अपनी इस पत्नी को केवल पेट के लिए अन्न और शरीर के लिए साल में दो धोतियाँ ही देते थे। अतः यह पुष्पविलास मुनियाँ और घुरहू के उत्साह से ही चल पाता था। घुरहू पाँड़े नित्य सवेरे नदी-तट वाले बाजार की ओर निकल जाते थे और वहाँ दूकानदारों से झरी के नाम पर टिकुली, बिंदी, काजल, महावर, ईंगुर, सेंधुर आदि स्त्रियों की प्रसाधन सामग्री वसूल कर लाते थे और स्वामिनी की सेवा में प्रस्तुत कर देते थे। उधर मुनियाँ बड़े भोर में ही मालियों की निगाह बचाकर राजगुरु के उद्यान में घुस जाती थी और रंग-विरंगे सुंदर सुंदर फूल वहाँ से चुन लाती थी। दोपहर में गृहस्थी के कामकाज से छुट्टी पाकर वह फूल गूँथने बैठती थी। अपनी निराभरणा सखी—स्वामिनी को देखकर उसका कलेजा फट जाता था। वह स्वर्णाभरण के अभाव की पूर्ति पुष्पाभरण से करती थी। सिर से लेकर पाँव तक के लिए वह फूलों से ही कुंडल, ताटंक, हार, भुजबंध, कंकण, पाजेब, तगड़ी, किंकिनी, नूपुर आदि बनाती। नित्य ही शाम को अपनी स्वामिनी को वासकसज्जा की भाँति सजाती थी और नित्य ही प्रातःकाल उसके शाश्वत खंडिता रूप को देखकर दुःखी होने के बावजूद वह अपने दैनिक कर्तव्य में तनिक भी त्रुटि नहीं करती थी। दासी मुनियाँ अहीर थी और उसकी स्वामिनी ब्राह्मणी। परंतु सामाजिक प्रतिबंधों का सबसे बड़ा विध्वंसक हार्दिक स्नेह होता है और साहित्य-शास्त्र में तो सखी के दूती बन जाने पर भी कोई रोक नहीं, भले ही दूती के कर्तव्य सखी से भिन्न हों। सिखावन देना और सजाना यदि सखी के कर्तव्य हैं, तो विरह-निवेदन और दंपति का मिलन संघटित करना दूती की जिम्मेदारी है। क्यों टोडर भाई फिर झपकी आ गई क्या ? हुँकारी क्यों नहीं भरते ?'

सचमुच किसी छोटे बालक की भाँति ही परम प्रौढ़ जमींदार टोडरराय आँखें मूँदे कहानी के रस में आकंठ डूबे जा रहे थे। वह तुलसी के प्रश्न पर चौंके,

आँखें खोल दीं और मुस्कराते हुए जवाब दिया—'नहीं बाबाजी, भगवान् ने आपको अद्भुत शक्ति दी है। सचमुच अपनी कथा से आप आदमी को नचा सकते हो।'

'अच्छा अच्छा ठाकुर, ठकुरसुहाती रहने दो'—तुलसीदास ने हँस कर कहा और फिर अपनी खंडित कहानी का सूत्र जोड़ने लगे। 'सुनो, अब कहने में कोई हानि नहीं है। मैं तो नब्बे के फेर में पड़ ही चुका हूँ। अगले साल से सैकड़े का पेटा है।'

टोडर ने बात काटकर कहा—'बाबाजी, उसके बाद फिर इकाई है।'

'नहीं भैया, उसके बाद जीवित रहना शुद्ध बेहयाई है। अच्छा, कहानी सुनो। यह बात तो मैंने इसलिए कही कि तुम भी साठा पार कर सत्तर की कोठी में आगए हो। अतः शरदृऋतु का वर्णन करने में अब न मेरा कोई नुकसान है, न तुम्हारे ही लिए कोई खतरा। हाँ तो वह कार्तिक मास था। वनों और उपवनों में शरदानिल क्रीड़ा नहीं कर रहा था, विधिवत् उपद्रव मचा रहा था। आकाश निरभ्र और दिशाएँ प्रसन्न हो उठी थीं। पारिजात कुंज में खंजन का कूजन मधु की वर्षा करता था, सुमनों का आमोद नासिका-रंध्र में प्रविष्ट होकर हृदय को बरबस गुदगुदा देता था। सहज स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाले इन्हीं दिनों की बात है कि नित्य की भाँति उस दिन भी फूल चुनने के लिए मुनियाँ राजगुरु के उद्यान में गई। झाड़ी की ओट में छिपकर फूल चुनते-चुनते उसने सुना कि कहीं आस ही पास बगीचे के माली टहलू और फुलसी की मुँहलगी दासी झुनियाँ में कुछ बातें हो रही हैं। टहलू कह रहा था—'देखो झूना रानी! तुम मालकिन से कह देना कि अबकी टहलराम कोई भारी चिन्ह लेंगे। हाँ, बड़े लल्ला के जनम समय का वादा है।'

'घबड़ाते क्यों हो, सब मिलेगा। हाँ, यह तो बताओ कि उस बाँझिन की टहलुई मुनियाँ अब तुम्हारे पास पूछताछ करने आती है कि नहीं?'—झुनियाँ ने पूछा। त्रिलोक और त्रिकाल के समस्त पुरुषों के दंभ का लेप अपने स्वर पर चढ़ाते हुए टहलराम बोले—

'उसकी क्या मजाल जो मेरे रहते वह बगिया में पाँव भी रख सके। यहाँ आवे तो उसकी नाक ही न काट लूँ!'

क्रोध से मुनियाँ का चेहरा तमतमा उठा। वह वहाँ से बगटुट भागती हुई घर लौटी। बादलों की तरह भारी उसके चेहरे पर निगाह पड़ते ही हुलसी ने तत्काल ही समझ लिया कि मुन्नीदेई ने आज बगीचे में कोई न कोई ऐसी बात अवश्य देखी या सुनी है, जिसका संबंध मेरे हिताहित से है, सो हुलसी ने बड़े आग्रह से पूछा—'तुम मेरा ही मरा मुँह देखो जो सच सच न बताओ, तुम्हारा मुँह आज इतना भारी क्यों है?'

मुन्नीदेई ने किसी दानवी की तरह दांत किटकिटाते हुए उत्तर दिया—'... तुम्हारा बैरी ! तुम्हारी वही कसम मुझे अच्छी नहीं लगती। कहूँ क्या, छोटी रानी को एक लड़का तो पहले से ही था। आज सुन कर आ रही हूँ कि दूसरे नंदलाला भी औतार लेने जा रहे हैं।'

'यह तो बड़ी खुशी की बात है मुन्नी ! अपनी वंशवृद्धि पर तो प्रसन्न होना चाहिए'—हुलसी ने कोमल स्वर से कहा।

मुन्नी चमक कर बोली—'तुमसे जितनी खुशी मनाते बने मनाओ। मेरे ... में तो आग लग रही है, आग। हे भगवान् ! यह कैसा कुन्याव है कि जेठी ... रहे सूनी और लहुरी की भरे दूनी।'

हँसते हुए हुलसी ने मुन्नी को समझाया—'आज सवेरे ही कोई चुड़ैल तुम्हारे सिर आगई क्या, राम के नाम पर कहो तो।'

मुन्नी ने अपने स्वर को तनिक भी मंद न करते हुए कहा—'झुनियाँ मुँहझौंसी की यह औकात कि वह मुझे बाँझिन की टहलुई कहे। यह सब तेरे करम ... दोष है, लेकिन तुमको क्या कहूँ दीदी, तुम्हारे जैसी बुद्धू औरत जान-जहान में ... होगी। भगवान् ने तुम्हें इतना गुन दिया है। बिधना ने जैसे तुम्हारा तन साँचे में ढाला है। तुम्हारा रूप ऐसा है कि अँधेरे घर में उसकी जोत से उजाला हो जाता है, लेकिन भगवान् ने ऐसा भकुआ स्वामी दिया जो कँवल को छोड़कर भटकटैया का भौंरा बना हुआ है।'

हुलसी पंडित की पुत्री थी, पंडित की पतोहू थी, पंडित की पत्नी थी और स्वयं भी पंडिता थी। अतः मुन्नी की कंपित काया, उसके फड़कते अधर, स्फीत नासिका-रंध्र और उद्वेग से तमतमाए हुए उसके मुखमंडल पर दृष्टि जमाकर कुमारसंभव के मदन-दहन प्रसंग के एक वाक्य की बार बार आवृत्ति करती हुई, हाथ जोड़कर वह कहने लगी—'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति, क्रोधं प्रभो संहर संहरेति।'

अब मुन्नी को भी हँसी आगई। उसने कहा—'दीदी, अगर तुम चाहो तो त्रिलोक को अपनी मुट्ठी में कर सकती हो। मुझे तो यही अचरज होता है कि तुम अपना यह भुवनमोहन जादू पंडित भकुआजी पर क्यों नहीं चलाती ? जो हो ... मैंने तो अब प्रतिज्ञा कर ली है कि अगर मैं असल जादव की बिटिया हूँ तो साल भर के भीतर ही भतीजा खेलाऊँगी।'

हुलसी का मुखमंडल सहसा विवर्ण हो उठा। गहरी वेदना की रेखाएँ चेहरे पर उभर गईं। उसने बड़े ही दुःखभरे स्वर में कहा—'मुन्नी, तुमने ... क्या कर डाला ?' परंतु मुन्नीदेई का उत्साह भंग न हुआ। उसने चहकते हुए

कहा—'घबराती क्यों हो ? भगवान् ने चाहा तो बरस भीतर ही मैं भी सोहर गाऊँगी' और पागलों की तरह ताली पीट पीट कर मुनियाँ गाने लगी—

'झूलैं चार ललना झुलावैं रानी पलना जगत जस छावइ हो ।'

उसी दिन से फूलों के गहने गूँथने की जगह अपने विरह-निवेदन के दौत्य में विफल संघट्टन का सूक्ष्म जाल बुनने में मुन्नी व्यस्त होगई। उसने घुरहू पाँड़े को अपना मंत्री बनाया। दोनो की संमिलित मंत्रणा यह हुई कि जैसे हो सके वैसे स्वामिनी का स्वामी से मिलन कराया जाय, परंतु इस तरकीब से कि स्वामी को इसका पता न चले।

उक्त मंत्रणा के फलस्वरूप घुरहू पाँड़े रोज रोज जंगल में जाने और बनरखों से मेल बढ़ाने लगे।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह शरद्काल था। एक दिन हाँफते हाँफते बनरखों ने आकर राजा को खबर दी कि एक सिंहनी अपने नर को कहीं खोकर अत्यंत उन्मत्तावस्था में राज-जंगलों में आ निकली है। उसके कारण जंगलियों की जान तो साँसत में पड़ी ही है, जंगल के आसपास बसे गाँववाले भी अपना अपना घर छोड़कर भागे जा रहे हैं।

राजा साहब को शिकार का बड़ा शौक था और उन्हें इस बात की शिकायत भी थी कि उनके जंगलों में शिकार के नाम पर केवल हरिन और वन-वाराह ही मिलते हैं। सो सिंहिनी के आने की सूचना पर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्काल राजगुरु को बुलाकर शिकार-यात्रा का मुहूर्त पूछा। राजगुरुजी भलीभाँति जानते थे कि ज्योतिष में अनुमान का महत्त्व कम नहीं होता। सिंहिनी की बात ठहरी, कुछ ऊँच नीच हुआ तो ये कलियुगी राजा लोग साम-दाम-भेद को भुलाकर केवल दंड कराल ही जानते हैं। इसलिए उन्होंने मुहूर्त के झमेले में पड़ना उचित न समझा और तत्काल ही कह दिया—'मनोत्साहं च अंगिरा। सो महाराज, अंगिरा ऋषि ने कहा है कि जब जिस काम के लिए मन में उत्साह हो वही, उस काम का सर्वोत्तम मुहूर्त होता है। इसलिए सरकार शुभस्य शीघ्रम् करें।'

अब क्या था ? नगर में डौंडी पिटवा दी गई कि राजाजी भोर में ही शिकार खेलने जाएँगे। उसी रात मुनियाँ ने हुलसी से कहा—'दीदी मैंने वनभैरो की मानता मानी थी, सो उसको पूरा करने की साइत कल ही है। चलो न, तुम भी दर्शन कर आओ। घुरहू दद्दा भी संग चलेंगे।' हुलसी ने मुन्नी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन सवेरा हुआ। घुरहू के सिर पर एक बड़ी सी गठरी रखकर मुनियाँ हुलसी को लेकर चली। उधर राजाजी भी जंगल में पहुँचे। बेगार के लिए

प्रजाजन रात ही पकड़ लिए गए थे। उन्हीं लोगों ने जंगल में परह बाँधा। एक ओर थोड़ा रास्ता खुला छोड़ दिया गया। उसी ओर से बनरखों ने ढोल, धौंसा, नगाड़ा आदि पीटना प्रारंभ किया। मृग, वाराह, नीलगाय आदि छोटे बड़े पशु उसी खुली राह से निकलने लगे। उनमें से बहुत से मारे भी गए, परंतु सिंहिनी का दर्शन न मिला। थककर परह तोड़ने की आज्ञा दी गई।

उधर नगर से राजा की सवारी जंगल की ओर रवाना हो जाने के बाद एक बनरखा राजगुरु के घर पहुँचा। उसने उन्हें सूचना दी कि महाराज ने आपको जंगल में बुलाया है। आठ कहारों के कंधे पर पालकी लदवाकर राजगुरु उस बनरखे के साथ वन की ओर चले। क्यों भाई टोडर, तुम फिर मौन हो गए? तुलसी ने कथा का क्रम भंग करते हुए कहा।

टोडर फिर चौंके, बोले 'गोसाईंजी, साँप को अपने जादू से नचा-नचा कर उसे डंडा तो मत मारो। बस जल्दी से कहानी खत्म करो कि पता चले कि अंत में क्या हुआ?'

'यह कहानी इतनी जल्दी समाप्त होनेवाली नहीं है भाई, अच्छा सुनो'—तुलसी ने पुनः कहना आरंभ किया 'जब घुरहू पाँडे हुलसी और मुनियाँ के साथ मध्य जंगल में पहुँचे तो वहाँ एक पुराने मकान के खँडहर को देखकर उन्होंने गठरी पटक दी और कहा कि मैं थक गया हूँ। थोड़ा विश्राम कर लूँ तो चलूँ। इतने में सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ी। मुनियाँ ने हुलसी से कहा कि दीदी अब आगे चलने का काम नहीं है। हम लोग शायद जंगल में रास्ता भूल गए हैं। तुम खंडहर में चलकर बैठो और मुनियाँ ने खंडहर के भीतर एक प्रशस्त कोठरी में जिसकी दीवारों की चित्रकारी अब भी धूमिल नहीं पड़ी थी, हुलसी को ले जाकर बैठा दिया। वह कोठरी अपेक्षाकृत साफ सुथरी भी थी। वहाँ न जाने कब का चंदन की लकड़ी का बना हुआ एक पलंग भी पड़ा था। मुनियाँ ने उसे झाड़ पोंछ कर और गठरी खोल बिस्तरा निकाल उस पर बिछा दिया। इधर बाहर शेर की दहाड़ बंद हो गई और जिधर वह दहाड़ सुनाई पड़ती थी, उधर से ही एक बनरखा दबे पाँव निकल कर घुरहू के पास पहुँचा। दोनो में गुपचुप बातें हुईं। वह बनरखा चला गया और घुरहू ने अपनी छोटी सी पोटली खोलकर उसमें से नकली दाढ़ी, मूँछ, जटा और गेरुआ वस्त्र निकाला। वह मनोयोग से अपना वेश बदलने लगा।

दूसरी ओर वन-पथ पर राजगुरु की सवारी चली आ रही थी। पालकी के बोझ से चँपे हुए आठो कहार हाँफते जा रहे थे। आगे आगे साथी बनरखा पथप्रदर्शन कर रहा था। सहसा उन्हें शेर के दहाड़ने की आवाज कहीं पास ही सुनाई पड़ी। वह नाद सुनते ही कहारों के हाथ-पाँव फूल गए। उन्होंने काँपते हुए पालकी वहीं रख दी और भयभीत दृष्टि से चतुर्दिक् देखने लगे। पुनः सिंह गर्जन सुनाई पड़ा।

इस बार ऐसा जान पड़ा कि शेर इधर ही आ रहा है। अब तो साथ का बनरखा सिर पर पैर रखकर भाग चला। जानते ही हो कि पलायनवृत्ति कितनी संक्रामक होती है। सेना में एक सिपाही के भागते ही भगदड़ मच जाती है। सो कहारों ने भी बनरखे का अनुकरण किया और देखते देखते चारों ओर तितर-बितर होकर भाग गए। पालकी में बैठे राजगुरु दुर्गा का नाम स्मरण करने लगे। थोड़ी ही देर बाद उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई पालकी के चारों ओर टहल रहा है। राजगुरु साँस रोककर आहट लेने लगे। त्योंही एक तीखी दहाड़ के साथ उनकी पालकी को जोरदार धक्का लगा। राजगुरु संज्ञाशून्य होगए। धुरहू के पास से आए हुए बनरखे ने पालकी में झाँक कर राजगुरु की दशा देखी और वह तुरत ही वहाँ से दौड़ चला।

राजगुरु बड़ी देर तक संज्ञाशून्य पड़े रहे। जब ज्ञान हुआ और उन्होंने अपने आपको सकुशल पाया, तो कुछ क्षण आहट लेने के बाद उन्होंने पालकी का दर्वाजा खोला। झाँककर बाहर देखा कि संध्या का अंधकार बढ़ता ही जा रहा है। चतुर्दिक् भीषण सन्नाटा छाया हुआ है। बीच बीच में कोई वन्य पशु बोल उठता है, तो जैसे सन्नाटे की छाती चीर जाती है। आत्मरक्षा के लिए राजगुरु आकुल हो उठे और धीरे धीरे किसी सुरक्षित स्थल की शोध में चले। पूनों की तिथि होने के कारण शीघ्र ही वन में चारों ओर बड़ी ही चटकीली चाँदनी फैल गई, जिसमें समूचा जंगल माया-महल सा दृष्टिगोचर होने लगा। इसी समय राजगुरु को जान पड़ा कि कहीं पास ही कोई रमणी बड़े ही मधुर कंठ से गा रही है। उसके विरह-गीत के भाव भी बड़े ही करुण हैं। राजगुरु उस स्वर लहरी में डूब से गए। ठीक उसी समय कोई शेर पुनः दहाड़ उठा। गीत तो तत्काल बंद हो ही गया, राजगुरु अपने को बिलकुल अरक्षित अवस्था में पाकर बहुत घबड़ाए। उसी समय चाँदनी में उन्हें कुछ दूर कोई जानवर उछलता सा जान पड़ा। उस दिन राजगुरु दूसरी बार पुनः बेहोश हो गए। जब होश आया तो उन्होंने देखा कि जटाजूटधारी एक महात्मा उनके सामने खड़े कह रहे हैं—'मा भैः। तुम कौन हो? यहाँ क्यों आए हो?'

राजगुरु ने अपना परिचय दिया। महात्माजी बोले—'सब जगदंबा की माया है। तुम अपने को राजगुरु बताते हो, परंतु यह नहीं जानते कि तुम शिवजी के मणिभद्र नामक गण हो। तुमने अपनी पत्नी योगिनी मणिमेखला को अकारण ही सताया था, जिस पर महामाया ने तुम्हें शाप दिया था। तुम आज महामाया के वन में चले आए हो। इसीलिए भगवती ने तुम्हें इस संकट में डाल दिया है। तुम्हारा उद्धार तुम्हारी पत्नी मणिमेखला ही कर सकती है। देखो! वह देखो! मणिमेखला की प्रिय सखी भद्रा आ रही है। यही तुम्हें मणिमेखला के पास ले जायगी। उससे तुम अपना अपराध क्षमा करवाओ। तभी अपना अवशिष्ट

जीवन सुख शांति से बिता सकोगे और परलोक में पुनः मणिमेखला से मिल सकोगे।'

बाबाजी अभी बातें कर ही रहे थे कि भद्रा पास आगई। शरीर पर गेरुए रंग का वस्त्र, हाथ में चमचमाता त्रिशूल, लंबे बिखरे काले केशपाश के बीच में माँग में सिंदूर की मोटी सी रेखा योगिनी के व्यक्तित्व को आकर्षक बना रही थी। बाबाजी के इशारे पर योगिनी चली और योगिनी के पीछे पीछे राजगुरु मंत्रामुग्ध की भाँति चले।

दूसरे दिन सवेरा हुआ। राजगुरु की आँखें खुलीं। उन्होंने जंगल में अपने को घास के बिछौने पर पड़ा पाया। आस पास कहीं कोई भी न था। राजगुरु को प्रतीत हुआ कि उनका सिर बहुत भारी है, जिसमें किसी स्वप्न की स्मृति बोझिल होकर पड़ी है। उन्हें स्मरण आया कि रात में उन्होंने कोई बड़ा भयानक और साथ ही बड़ा रंगीला सपना देखा था। स्वप्न में वे एक योगिनी के साथ एक अत्यंत सुंदरी देवी के पास पहुँचाए गए थे। सुंदरी ने उन्हें अपना पति बताकर उनकी बड़ी सेवा की थी। उन्होंने उसे अपने हाथ की अँगूठी पहना दी थी जिस पर उनका नाम अंकित था। उसी समय उन्होंने साश्चर्य देखा कि उनके हाथ में अँगूठी और कंठ में रत्नजटित रुद्राक्ष की माला नहीं है। अपना स्वप्न उन्हें सत्य सा प्रतीत हुआ, परंतु वे कुछ निश्चय न कर सके। उसी समय उन्होंने देखा कि उनके कहार पालकी लिए आ रहे हैं। राजगुरु किसी से बोले बिना ही चुपचाप पालकी पर सवार होगए। पालकी घर की ओर चली।

उसी समय हुलसी के घर में मुनियाँ उससे कह रही थी—'देखो दीदी, अँगूठी और माला सम्हाल कर रखना। यही दिखाकर एक दिन तुम्हारे भकुआ महाराज को और भी भकुआ बनाऊँगी।'

कहानी कहते कहते तुलसी ने देखा कि टोडर सचमुच खर्राटा भर रहे हैं। तुलसी चुप हो गए। उन्होंने बड़ी ही स्नेहपूर्ण दृष्टि से प्रसुप्त टोडर को देखा, फिर धीरे से उठकर उन्होंने दीपक की लौ मंद कर दी और अपनी चौकी पर आकर ध्यानावस्थित बैठ रहे।

—क्रमशः

डा० विनयमोहन शर्मा

'मानस' में तुलसी के काव्य-सिद्धांत

[सब जानत प्रभुप्रभुता सोई । तदपि कहें बिनु रहा न कोई ॥—१।१३।१ ।

ठीक इसी प्रकार मानस के काव्य-सिद्धांतों पर भी बहुतेरे विद्वानों की कलम चल चुकी है, फिर भी उनका मन उस पर कुछ लिखे बिना नहीं मानता । यहाँ तुलसी-पूर्व के आचार्यों की काव्य-सिद्धांत संबंधी मान्यताओं के आधार पर यह पुष्ट किया गया है कि 'मानस के बालकांड में कवि ने काव्य-संबंधी जो विचार व्यक्त किए हैं, उनसे उनकी काव्य-शास्त्र में सम्यक् गति का अच्छा परिचय मिलता है ।']

तुलसीदास का जीवन-काल विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी निश्चित है। उनकी जन्म-तिथि और महाप्रयाण-तिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है।[१] गोस्वामीजी के समय तक लोक-भाषा में काव्य-रचना होने लगी थी। फिर भी संस्कृत को लोक-भाषा से अधिक गौरव विद्वत्समाज में प्राप्त था। तुलसी के पश्चात् होनेवाले हिंदी-कवि केशव को 'भाषा' में काव्य-रचना करने के कारण मन ही मन ग्लानि होती रही। प्राचीन साहित्याचार्यों ने यद्यपि नाटकों में प्राकृतों के प्रयोग को वर्जित नहीं किया था, पर महाकाव्य के लिए तो 'संस्कृत' के प्रयोग पर ही बल दिया था। दंडी अपने काव्यादर्श में कहते हैं—

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम् ।
आसेरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥

अर्थात् सर्गबंध काव्य (महाकाव्य-खंडकाव्य) की भाषा संस्कृत हो, स्कंधकछंद में निर्मित रचना प्राकृत में, आसेरादि छंदों के योग्य रचना अपभ्रंश में और नाटक की रचना में सब भाषाओं का मिश्रण हो। नाटक में पात्र-भेद से अनेक भाषाओं का प्रयोग उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक होता है। तुलसी ने अपने महाकाव्य रामचरितमानस की रचना यद्यपि (लोक) 'भाषा' (अवधी) में की है, तथापि उन्होंने उसका प्रारंभ देववाणी संस्कृत के श्लोकों से ही किया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ॥

प्रथम श्लोक में ही कवि ने सरस्वती और गणेश की वंदना के व्याज से यह ध्वनित किया है कि उसके काव्य में अक्षर और अर्थ का संघ तथा रस और छंदों

१—दे०—'गोस्वामी तुलसीदास का जन्मसंवत्', ले० श्री चंद्रशेखरमिश्र, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६३, संवत् २०१५, अंक ३-४ ।

का बाहुल्य है तथा वह 'लोक-कल्याण' के लिए निर्मित है। महाकाव्य में प्राकृत पुरुष नहीं, प्राकृतेतर (देव) पुरुष रघुनाथ की गाथा वर्णित है, जो महाकाव्य की पुरातन परंपरा के अनुरूप ही है। 'मानस' सर्ग (कांड) बद्ध तो है ही।

तुलसी ने काव्य के लिए 'कबित्त'[१] और 'भनिति'[२] शब्दों का प्रयोग किया है। काव्य के लिए इन शब्दों का प्रयोग कबसे प्रारंभ हुआ, यह विचारणीय है। अपभ्रंश की अद्दहमाण (अब्दुलरहमान) की प्रसिद्ध रचना 'संदेशरासक' में, जिसका रचना-काल विक्रम की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के मध्य अनुमाना जाता है, काव्य के अर्थ में 'कवित्त' का प्रयोग हुआ है।[३] उसके पूर्व अपभ्रंश के णयकुमारचरिउ के रचयिता पुष्पदंत ने दसवीं शताब्दी में इसी अर्थ में 'भणिउ' (भणित) का प्रयोग किया है।[४] तुलसी के बाद भी कविता के लिए 'कबित्त' प्रयुक्त हुआ है। 'बिहारी सतसई' का दोहा है—

तंत्रीनाद कबित्त-रस सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥[५]

रीतिकाल के अलमस्त कवि ठाकुर (बुंदेलखंडी) की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

'ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेलि करि जानो है।'[६]

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य के लिए 'कबित्त' और 'भणिति' का प्रचलन संस्कृतेतर भाषाओं में तुलसी के बहुत समय पूर्व से होने लगा था। हिंदी में रीतिकाल तक 'कबित्त' तो इसी अर्थ में प्रचलित रहा पर भणिति नहीं। काव्य की व्याख्या आचार्यों में विवाद का विषय रहा है। एक पक्ष 'शब्द-सौंदर्य' को, दूसरा पक्ष 'अर्थ-सौंदर्य' को और तीसरा पक्ष 'शब्द और अर्थ दोनो के सौंदर्य' को काव्य का स्वरूप प्रतिपादित करता रहा है। कालक्रमानुसार संभवतः भरत के पश्चात् भामह प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य की व्याख्या करते हुए कहा है—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्य च तद् द्विधा।'[७]

१—'निज कबित्त केहि लाग न नीका।', रामचरितमानस, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र संपादित काशिराज संस्करण, १।८।११।

२—'जे परभनिति सुनत हरषाहीं।',—वही, १।८।१२।

३—'लक्खणछंदपमुक्कं कु कवित्तं'।

४—'कइ भणिउ समं जसु जस विमलु अण्णु जि अण्णु ण धरसिररिहे।', जैन संपादित संस्करण, पृ० ४।

५—देखिए—पुस्तक भण्डार पटना का संस्करण, पृ० २४८।

६—देखिए—हिंदी-साहित्य का इतिहास, ले०—आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल, सं० २०१८ वि० का संस्करण, पृ० ३६३।

७—देखिए—काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, सूत्र १६।

भामह काव्य में शब्द और अर्थ दोनो की समान प्रतिष्ठा के पक्षपाती हैं। दंडी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' को काव्य-शरीर मानते हैं।[1] इसमें यद्यपि शब्द पर बल दिया गया है, तथापि पदावली तभी काव्य-शरीर बन सकेगी, जब उससे अभिप्रेत अर्थ की व्यंजना हो। अतः हम दंडी को शब्दकाव्यवादी नहीं मान सकते। वे भी अपने पूर्वाचार्य भामह (दंडी और भामह के समय के संबंध में यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन किसका पूर्ववर्ती है। हम भामह को ही दंडीपूर्व-आचार्य मानते हैं) का ही प्रकारांतर से समर्थन करते हैं। वामन, रुद्रट, मम्मट, आनंदवर्धन, वाग्भट, विश्वनाथ आदि काव्य में शब्द और अर्थ दोनो का समभाव निहित मानते हैं। पर विश्वनाथ[2], जगन्नाथ[3], जयदेव आदि शब्द मात्र को काव्य स्वीकारते हैं। शब्दार्थ सहित रचना को काव्य स्वीकारने वाले मम्मट उसमें दोषराहित्य और गुण की स्थिति भी आवश्यक मानते हैं। उनका समर्थन वाग्भट और विद्यानाथ की व्याख्या में भी मिलता है। तुलसी ने काव्य की अद्वैतवादी ढंग से व्याख्या की है। वे कहते हैं— 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न'[4]। वाणी अर्थात् शब्द और उसका अर्थ कथनमात्र में ही भिन्न हैं, पर क्या वास्तव में उनमें भिन्नता है। यदि 'शब्द' निरर्थक है, तो क्या वह भाषा का अंग बन सकता है? सार्थक शब्द ही भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। शब्दवादियों का कथन है कि बिना अर्थ के कोमलकांत पदावली भी श्रोता में मधुर संगीत का संचार कर हृदय को उल्लास से भर सकती है। पर निरर्थक मनोरंजन क्या काव्य का साध्य है? यदि उसका लक्ष्य मन की चित्तवृत्तियों को किसी भाव विशेष से उद्दीप्त करना है, तो केवल शब्दों की झनझनाहट मात्र से यह संभव नहीं है। अतः केवल 'शब्द' और केवल 'अर्थ' काव्य नहीं हैं। दोनो के समभाव में ही काव्य का वास्तविक रूप अंतर्हित है। तुलसी इसी से शब्द और अर्थ में द्वैत की सत्ता मानने को तत्पर नहीं हैं। निरर्थक शब्द की वे कल्पना भी नहीं करते। मम्मट के समान वे भी श्रेष्ठ काव्य में दोष की स्थिति को नहीं स्वीकारते। तभी आदिकवि वाल्मीकि की आदर्श काव्यरचना रामायण के संबंध में वे कहते हैं——

बंदौं मुनिपद कंजु रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥[5]

काव्य-प्रयोजन के संबंध में भामह का मत है कि साधु काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवम् कला में निपुणता तथा प्रीति (आनंद) और कीर्ति प्रदान

१—देखिए—काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, सूत्र १०।
२—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', साहित्यदर्पण।
३—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। ४—मानस, १।१८।११।
५—मानस, १।१४।२०।

करती है।[१] रुद्रट, कुंतक, विश्वनाथ आदि ने भामह की ही बात दोहराई है। आचार्य मम्मट ने काव्य के यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमंगलनिवारण, रसानुभवजन्य आनंद और कांतासम्मित उपदेश—ये छः प्रयोजन माने हैं। तुलसी ने 'सब कर हित' (लोक-कल्याण) और 'स्वांतःसुखाय' में पूर्ववर्ती आचार्यों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों का समावेश कर लिया है। अतः तुलसी के मत से काव्य के दो प्रयोजन हो सकते हैं–(१) आत्मानंद और (२) लोक-कल्याण।[२]

आत्मानंद कवि के संस्कार के अनुसार प्राकृत गुणगान (लौकिक भावानुभूति) या रामभक्ति (अलौकिक भावानुभूति) से प्राप्त किया जा सकता है। तुलसी कहते हैं—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥[३]

लौकिक विषयों का जब प्रतिभासंपन्न कवि वर्णन करने लगता है, तो बेचारी सरस्वती सिर धुन कर पछताने लगती है कि कहाँ मैं कुपात्र के पल्ले पड़ गई। तुलसी ने हरिपद-रस (भक्तिरस) में परिपूर्ण काव्य का निबंधन कर आत्मसुख का अनुभव किया है। यहाँ तुलसी को आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजन के अंतर्गत पुरुषार्थ चतुष्टय का विस्मरण भी नहीं हुआ। उन्होंने उनका भी स्पष्ट उल्लेख कर कहा है—

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी॥[४]

अपने महाकाव्य में वे हरिपद-रस (भक्तिरस) को अंगीरस के रूप में स्वीकार करते हैं। शेष रस उसके अंगरूप रह सकते हैं। मानसरोवर के रूपक में जहाँ उन्होंने नवरस का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने 'हरिपद रति रस बेद बखाना'[५] में तो भक्तिरस का संकेत दिया है, क्या वह (भक्तिरस) भी नवरस में संमिलित है ?[६] उनके समय तक मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी भक्ति को भाव की कोटि से ऊपर उठाकर रस-कोटि में रख चुके थे।

काव्यशिल्प—तुलसी प्रचलित भाषा को काव्य की भाषा स्वीकारते हैं। क्योंकि यह सबके हृदयंगम हो सकने के कारण सुरसरि (गंगा) के समान सबका हित कर सकती है। उनका विश्वास है कि सरल कविता का ही 'सुजान' (सहृदय) आदर करते हैं और लोक-भाषा के प्रयोग से ही सारल्य संभव है। भरत ने भी 'मृदु-ललित पदमयी गूढ़ शब्दार्थ-हीन, जनपद सुख बोध्य रचना को 'शुभकाव्य' माना

१—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥—काव्यालंकार, १।२।

२—'भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति', मानस, १। मं० श्लो० ७।
'सुरसरि सम सब कहँ हित होई।', वही, १।१४।९।

३—वही, १।११।७। ४—वही, १।३७।९। ५—वही, १।३७।१४।

६—'नव रस जप तप जोग बिरागा।' वही, १।३७।१०।

है।[1] तुलसी के समय में लोक-भाषा में महाकाव्य की रचना को पंडित-समाज महत्त्व नहीं देता था। तभी उन्होंने कहा कि मैंने भाषा में रचना की है। इसलिए भी लोग उसे हास्यास्पद समझेंगे।[2]

परंतु तुलसी के मत से काव्य में कथ्य ही प्रधान है, शिल्प नहीं। वे कहते हैं–'गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान।'[3] अर्थात् भाषा भले ही ग्राम्य हो, पर यदि उसमें सीताराम का यश वर्णित है, तो सुजान उसे गाते और सुनते हैं। फिर भी हम देखते हैं कि उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' में शिल्प की उपेक्षा नहीं की। वे लिखते हैं कि उनके काव्य में सोरठा, दोहा आदि सुंदर छंदों का विधान है और अनुपम अर्थवाली 'सुभाषा' भी है।[4] यद्यपि वे सिद्धांतस्वरूप से काव्य में ध्वनि (धुनि) वक्रोक्ति (अवरेव) और विभिन्न गुणों का होना अनिवार्य नहीं मानते, तो भी उन्होंने घोषित किया है कि उनके 'मानस' में इन सबकी अवस्थिति है[5], क्योंकि वह महाकाव्य है। भाव पर बल देने के कारण[6] तुलसी स्पष्ट ही काव्य की आतमा 'रस' मानते हैं और ध्वनि, वक्रोक्ति और गुणों को रसोत्कर्षक तत्त्व। काव्य-रस का भोक्ता कौन हो सकता है? इस पर तुलसी ने अपने विचारों को स्पष्ट किया है। वे 'सुजान', 'कबितरसिक' और संस्कारी को ही काव्य से आनंद उठाने का अधिकारी मानते हैं—

कबितरसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥[7]

वे व्यंग्य के साथ कहते हैं कि जो 'कबितरसिक' नहीं है (यहाँ 'रसिक' शब्द बड़ा अर्थव्यंजक है) और जिनका मन रामभक्ति से असंपृक्त है, वे काव्य का उपहास ही कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि काव्य को हृदयंगम करने के लिए काव्य-रसिकता की आवश्यकता है और कवि के साथ हृदय-संवाद की स्थिति प्राप्त करने के लिए 'रसिक' के मन में पूर्व संस्कार भी अपेक्षित है। मानस के बालकांड में कवि ने काव्य-संबंधी जो विचार व्यक्त किए हैं, उनसे उनकी काव्य-शास्त्र में सम्यक गति का अच्छा परिचय मिलता है।

१—मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्।
जनपदसुखबोध्यं शुभकाव्यम्॥ —नाट्यशास्त्र।

२—भाषाभनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी।'—मानस, १।९।४।

३—वही, १।१०।१८।

४—छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
—वही, १।३७।५-६।

५—द्रष्टव्य 'मानस-रूपक' प्रसंग, १।३७।८।

६—जदपि कबित रस एकौ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहि माहीं॥ —वही, १।१०।७।
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ —वही, १।११।९।

७—वही, १।९।३।

श्रीवैद्यनाथसिंह

'मानस' का प्रबंधौचित्य

[गो० तुलसीदासजी ने रामचरित के उपजीव्य ग्रंथों की सखरता एवम् दूषणों से अपने 'मानस' की रक्षा की है। आदर्शवादी होने के कारण वे नायक के मर्यादित शील स्वरूप में व्यवधान उपस्थित करनेवाले प्रसंगों को प्रायः बचा गए हैं। ऐसे प्रसंगों को जहाँ उन्होंने ग्रहण भी किया है, वहाँ अति सुंदरता तथा समुचित ढंग से उसे मोड़ दिया है। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से इसी के औचित्य का उद्घाटन प्रस्तुत निबंध में किया गया है]

तुलसीदास के अनुसार साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही रामरूप में अवतरित हुए हैं और इसी रूप में उनको जानकर कभी 'सुतविषयकरति' बन नहीं सकती है। अतः मनु वरदान माँगते हैं कि आपके प्रति मुझे सुतविषयकरति हो, चाहे इसके लिए कोई मुझे बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे। वे कहते हैं कि जैसे सर्प का जीवन मणि के अधीन और मीन का जीवन जल के अधीन है, वैसे ही मेरा जीवन तुम्हारे अधीन हो।[1] गोस्वामीजी के प्रबंध-कौशल की बलिहारी है, जो दशरथ का वात्सल्य इतने स्वाभाविक और मार्मिक ढंग से चित्रित हो सका।

गोस्वामीजी शृंगार की व्यंजना में भी काफी संयत हैं। न तो वे जगत् के मातापिता शिव पार्वती के शृंगार का वर्णन करते हैं और न सीता के नखशिख का ही प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं। पर वन में सीताहरण के पश्चात् उसकी योजना बड़े ही मर्यादित ढंग से, राम के मुँह से करा देते हैं, जहाँ काव्यरसिक रूपकातिशयोक्ति के चमत्कार और व्यतिरेक की ध्वनि से चमत्कृत रह जाते हैं और भक्तजन भगवान् की माधुर्यलीला समझकर तल्लीनता अनुभव करते हैं।

वाल्मीकीय रामायण में तो महर्षि को सीता के सतीत्व की सफाई देनी पड़ी है, पर गोस्वामीजी ने इस प्रसंग की योजना न करके भी बड़े सशक्त ढंग से सीता के सतीत्व की निर्मलता प्रदर्शित की है। शंकर के धनुष की अडिगता की उपमा 'सतीमन' से दी गई है।[2] इस धनुष को डिगाया ही नहीं अपितु तोड़ा भी राम ने। 'फलतः 'त्रिभुवनजय समेत बैदेही'[3] राम की हो गई। लंका में रावण

---

१ – सुतबिषैक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥
– मानस, १।१५१।५-६

२—डगै न संभुसरासनु कैसें। कामीबचन सतीमनु जैसें॥ —वही, १।२५१।२।

३—वही, १।२५०।५।

के भय प्रदर्शित करने पर सीता दृढ़तापूर्वक कहती हैं कि 'सो भुज कंठ कि तव असि घोरा।'[1] अपने पति के प्रति यह लोकोत्तर प्रेम देखकर रावण मन ही मन सीता को प्रणाम करता है—'मन महु चरन बंदि सुख माना'[2]।

मानस की कविता-सरिता वाले प्रकरण में भी कवि सीता के सतीत्व को उक्त सरिता के जल की अमलता एवम् अनूपमता कहता है।[3] कवितावली में तो उसने यहाँ तक कह दिया कि 'तोय-सिरोमनि सीय तजी जेहिं पावक की कलुषाई दही है'।[4]

काव्य और इतिहास में स्पष्टतः दृष्टिभेद है। इतिहास सत्य घटना को इति-वृत्तात्मक ढंग से रख देता है। रस-संचार, वृत्ति-परिष्कार और सद्यः परनिर्वृति से उसका कोई सरोकार नहीं है। अनौचित्य अथवा रसभंग की ओर भी वह मुड़कर देखने नहीं जाता और न साधारणीकरण की परवा करता है। वह उस विचारित सुस्थ के अंतर्गत जाता है, चारुत्व प्रवाह एवम् अनुभूत प्रवाह के साथ जिसका छत्तीस का संबंध है। दूसरी ओर काव्य अविचारित रमणीय है। हजार बार की देखी सुनी और समझी वस्तु इसमें आकर नई और आकर्षक लगने लगती है, जैसे वृक्ष वसंतागम में नई कोपलों से लदकर नए हो जाते हैं। काव्य का उद्देश्य होता है, वेद्यांतर स्पर्शशून्य आनंदमात्र में अवस्थिति।

जैसे तरुणी के शरीर के नेत्र, नासिकादि के अतिरिक्त उसका लावण्य अपने में एक लोकोत्तर वैभव समेटे रहता है, वैसे ही काव्य भी। यद्यपि काव्य इतिहास नहीं है, फिर भी वह इतिहास से सर्वथा पृथक् रह भी नहीं सकता, क्योंकि उसे प्रख्यात चरित्र लेना आवश्यक है, जो एकमात्र इतिहास से ही मिल सकता है। साथ ही यह भी शर्त है कि ऐतिहासिक वृत्त में कवि मनमाना तोड़-मरोड़ कर भी नहीं सकता। हाँ, एक अवस्था ऐसी अवश्य है, जिसमें इतिवृत्त में परिवर्तन करने का अधिकार कवि को दिया गया है। धीरोदात्तादि नायक के शीलस्वरूप में बट्टा लगनेवाली कोई घटना या प्रसंग हो तो कवि को चाहिए कि वह उसे हटा दे, क्योंकि उसे रखने से रसभंग हो सकता है—अनौचित्य उपस्थित हो रसास्वाद में व्याघात पैदा कर सकता है। साथ ही नायक के शीलस्वरूप में उत्कर्ष लाने के लिए वह रसानुमोदित प्रसंगों की कल्पना भी कर सकता है। पर यह सारा जोड़-तोड़ रसानुमोदित ही होना चाहिए।

कवि की इस स्वतंत्रता की थोड़ी और चर्चा अनुचित न होगी। वाल्मीकीय रामायण में रामविवासन के समय लक्ष्मण ने बड़ा उग्र रूप धारण किया है। वे

१—वही, ५।१०।४। २—वही, ३।२८।१६।
३—सतीसिरोमनि सिय गुन गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥
—वही, १।४२।७।
४—कवितावली, ७।६।१।

पितृ-वध तक करने को उद्यत हो जाते हैं। पर गोस्वामीजी अयोध्या की तत्का... परिस्थिति में, लक्ष्मण की उग्रता का प्रदर्शन उचित नहीं समझते। उनके प्रद... के लिए उन्होंने कुछ स्थान चुने हैं, यथा जनकपुर में परशुराम-संवाद में। पर ... भी लक्ष्मण ने जो कुछ किया उसे 'अनुचित कहि सबु लोगु पुकारे'[1]। राम से ... उक्त कृत्य का औचित्य सिद्ध करते नहीं बना।

'बाल दोष गुन गनहिं न साधू'[2] कह कर ही वे लक्ष्मण के अपराधों के लि... परशुराम से क्षमा याचना करते हैं। बड़ों के मुँह छोटों का लगना सामाजिक शि... के विरुद्ध है। गोस्वामीजी इसका संकेत कर देते हैं। मानस में शृंगवेरपुर ... सुमंत के विदा होते समय दशरथ के प्रति लक्ष्मण के दिल के फफोले फूटते हैं ... उस समय 'पुनि कछु लखन कही कटु बानी' इस पर 'प्रभु बरजे बड़ अनुचि... जानी' और 'सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनसँदेसु कहिअ जनि जाई'[3] कहा। लक्ष्मण के इस व्यवहार को 'लरिकाई' (लड़कपन) की संज्ञा दी ग... गोस्वामीजी यहाँ औद्धत्य या उद्दंडतावाची कोई शब्द रख सकते थे, पर पूज्य ... के प्रति वे शब्द उचित न होते।

चौदश वर्ष वन में पूरा करके राम अयोध्या को लौट रहे हैं। अयोध्या ... कुछ दूर प्रयाग में वे भरद्वाज के आश्रम पर ठहर जाते हैं और वहाँ से हनुम... को अयोध्या का हाल एवम् भरत की गतिविधि का विवरण लेने भेजते हैं। वे निर्दे... देते हैं कि तुम भरत की मुखाकृति को ध्यान से देखना। मेरे वन से लौटने ... समाचार से वे कहीं चिंतित तो नहीं हो रहे हैं आदि। पर मानस में इस प्रकार ... शंका को राम जैसे महापुरुष के हृदय में स्थान देना कवि को भावना के प्रतिकू... था। अतः इस शंका को मानसकार ने उठाकर जनक के हृदय में बैठा दिया है[4]।

वाल्मीकीय रामायण काव्य के साथ ही इतिहास भी है। इसलिए उसमें नीर... और सरस घटनाएँ भी अविकल वर्णित हैं। महर्षि ने दोषों का मार्जन करके उ... 'मंजु मनोहर मंगलकारी' बनाने की आवश्यकता नहीं समझी। वाल्मीकीय रामायण ... में सीता के परित्याग वाली कठोर घटना भी निगदित है। इसी कारण गोस्वामीजी ने उसे 'सखर' कहा है।[5]

१— मानस, १।२७६।८। २— वही, १।२७५।५। ३ — वही, २।९६।४-५।

४ — नृपहिं धीर धरि हृदय बिचारी। पठए अवध चतुर चर चारी।
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ॥
— वही, २।२७०।७-८

५—बंदौं मुनिपद कंजु रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥ —वही, १।१४।१९-२०

संभवतः गोस्वामीजी ने सीता के परित्याग वाली घटना को रस-विरोधी समझ कर ही मानस में उसे स्थान नहीं दिया है। कोमलता का उन्हें यहाँ तक ध्यान है कि भरत की विदाई के प्रसंग में वे कहते हैं कि राम-भरत का वियोग वर्णन सुनकर लोग (सहृदय सामाजिक) कवि (तुलसीदास) को कठोर समझेंगे—

बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू।[1]

शंबूक का वध[2] भी वे नहीं कराते और न राम को साकेत निजधाम ही जाने देते हैं। दोषों को ढँकने और गुणों को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति कवि में इतनी है कि वह सीता के 'मर्मवचन' का विवरण नहीं खोलता, संकेत मात्र कर देता है—

मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला।।[3]

सीता स्वयम् हरण के बाद अपनी गलती अनुभव करती हैं—

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा[4]।

इस प्रकार इतिहास का निर्वाह हो गया और औचित्य की भी रक्षा हो गई। केवल इतिवृत्त के निर्वाह से कवि का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि इतिहास से हो जाती है।[5]

इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के राम में प्राकृत मनुष्यों सी अनेक दुर्बलताएँ दिखाई पड़ती हैं, जैसे वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशिल्या के पास जाने लगे हैं, तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घनिःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है। सीता के अयोध्या में रहने के लिए समझाते समय उन्होंने कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा करना। इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न होने की जब आशंका होने लगी है, तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि कैकेयी अब सुखी होगी। पर इतिहास का यह बिंब मानसकार अपने शील-सिंधु नायक में कैसे प्रतिबिंबत देख सकता है, जिसके बारे में वह कहता है—

१—वही, २।३१७।२।

२—शंबूक एक शूद्र तपस्वी था। इसकी तपस्या के कारण जो तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध थी, रामराज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र अकालमृत्यु को प्राप्त हुआ। इसका वध कर राम ने ब्राह्मण-पुत्र को पुनर्जीवित किया था।

३—मानस, ३।२८।५। ४—वही, ३।२९ ३।

५—नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किंचित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः ॥

—ध्वन्यालोकलोचन (तारावती टीका) तृतीय उद्योत, पृ० ७९६।

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछीं। तजहिं बिषम बिषु तापस तीछीं॥[१]

यही सब तो रामचरित के उपजीव्य इतिहास की सखरता एवम् दूषण है जिसे हटाकर गोस्वामीजी ने राम के चरित को 'मधुर मनोहर मंगलकारी' बनाया है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥[२]

वे कहते हैं कि रामचरित के उपजीव्य ग्रंथ (वाल्मीकि रामायण, पुराणादि) तो समुद्र की भाँति खारे हैं। अतः समुद्र का जल जैसे अपेय है, वैसे ही वेद पुराण भी सबके उपयोग योग्य नहीं हैं। वेद और पुराणों में कितनी ही रहस्यमय कथाएँ आती हैं। यथा ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे कामोन्मत्त हो दौड़ पड़े। विषयी जन ऐसे आख्यानों से, भले ही वे आख्यान गहनतम दार्शनिक रहस्यों को व्यंजित करने वाले रूपक मात्र हों, अनर्थकारी प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकते हैं। निदान, ऐसी कुरुचि-पूर्ण घटनाओं को त्यागकर अथवा उनके दोषों का मार्जन करके गोस्वामीजी समाज के संमुख राम का चरित उपस्थित करते हैं जिसमें सबका मंगल हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[३]

१—मानस, २।२६१।८। २—वही, १।३६।३-४। ३—वही, १।१४।९।

श्रीरामेश्वरदयालु अग्रवाल

तुलसी और कंबन् के राजनीतिक विचार

[अति दीर्घकाल से रामचरित सभी भारतीय भाषाओं के महाकाव्यों का प्रमुख विषय रहा है। उनका तुलनात्मक अध्ययन अनुसंधान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। तमिल रामायण के कृती कंबन् और हिंदी रामचरितमानस के प्रणेता तुलसी में चार शताब्दियों का अंतर होते हुए भी उनके राजनीतिक विचारों में कितना साम्य है, इसी का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अंत में अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—'यद्यपि कंबन् और तुलसी का देशकालगत परिवेश बहुत कुछ भिन्न था तो भी उनके राजनीतिक विचारों में एक मूलभूत समानता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः इसका मूल भारतीय संस्कृति की समान पृष्ठभूमि में निहित है।']

राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली—

तमिल रामायण के रचयिता महाकवि कंबन् का काल १२वीं शताब्दी माना जाता है और रामचरितमानसकार गोस्वामी तुलसीदास का १६वीं शताब्दी। दोनो के काल में राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा को ईश्वर का अंश मानने का प्राचीन विश्वास भी विद्यमान था। तुलसी राजा को 'ईस अंस भव परम कृपाला।'[१] कहते हैं, किंतु अपने समय के क्रूर यवन शासकों एवम् दासमनोवृत्तिवाले विलासी राजाओं को वे ईश-अंश मानने को तैयार न थे, इसलिए उन्होंने एक शर्त लगा दी कि वह राजा 'साधु, सुजान, सुसील' होना चाहिए। तमिल के सुविख्यात नीतिग्रंथकार तिरुवल्लुवर ने भी यही बात कही है। वे कहते हैं कि 'जो राजा न्यायपूर्वक शासन करता हुआ प्रजा की रक्षा करता है, वह प्रजा द्वारा ईश्वर का रूप माना जाता है।'[२]

राजतंत्र की प्रणाली में राजा का रूप प्रायः एकाधिकारसंपन्न शासक का होता था। कुछ विद्वानों का विचार है कि रामायणकालीन राजतंत्र 'नियंत्रित राजतंत्र' था। 'नियंत्रण मंत्रिपरिषद् के द्वारा होता था, जिसका प्रधान सदस्य पुरोहित था। साथ ही 'पौर' और 'जनपद' आदि अन्यान्य समितियाँ भी होती थीं।'[३] किंतु वस्तुस्थिति यह थी कि दशरथ ने बिना किसी से पूछे अपनी वृद्धावस्था में केकय-

१—रामचरितमानस (काशिराज-संस्करण), १।२८।८। २—कुरल्, संख्या ३८८।
३—दे० कल्याण के 'रामायणांक' में प्रकाशित श्री वी० आर० रामचंद्र दीक्षित का लेख, 'रामायण के कुछ राजनीतिक सिद्धांत और शासन-संस्थाएँ'।

राजपुत्री से इस शर्त पर विवाह किया कि उसी के पुत्र को राज्य देंगे[१] और प्रजा लाख चाहने पर भी राम-वनवास को न रोक सकी। वह केवल अपनी विवशता का प्रदर्शन करके ही रह गई—

कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥[२]

इस एकतंत्र प्रणाली में अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करना भी राजा के ही हाथ में था—

जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।[३]
जेहि पितु देइ राजु सो लहई।[४]

इस शासन-व्यवस्था को 'नियंत्रित राजतंत्र' कहने के पक्षपाती यह दलील देते हैं कि दशरथ ने पंचों की सलाह से राम का यौवराज्याभिषेक निश्चित किया—

जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहि टीका॥[५]

किंतु विचारणीय बात यह है कि उन्हीं दशरथ ने उन पंचों की सम्मति की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत वचन को ही अधिक महत्त्व दिया। अतः डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास का यह मत सर्वथा ठीक जँचता है कि 'सभा की अनुमति बहुत कुछ औपचारिक होती थी···राजा का निर्णय ही अंतिम होता था।'[६] वस्तुतः राजा पर प्रजा का दबाव नैतिक ही था, वैधानिक नहीं।

इन राजाओं की निरंकुशता का निकृष्टतम रूप उनकी कामुकता में निहित था। दशरथ कैकेयी की इच्छामात्र से किसी भी प्राणी का वध कराने, किसी रंक को राजा बनाने या किसी राजा को देश-निकाला देने आदि को तैयार हैं, क्योंकि उन्होंने सब कुछ कैकेयी के वश में कर रक्खा है—

प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥[७]

कंबन् ने इस राजतंत्रात्मक शासन की भी दो कोटियाँ निर्धारित की हैं—

१. नल्लरसु— वह जिसमें धर्म का सहारा लिया जाय।

२. वल्लरसु—वह जो एकमात्र बल-प्रयोग पर ही आधारित हो।

प्रथम कोटि के शासन में प्रजा को अपनी बात कहने का अधिकार रहता था, फिर चाहे राजा उसे माने या न माने। जब जनक ने सुकुमार राम से शिव-धनुष तोड़ने को कहा तो जनकपुर की प्रजा ने उन्हें 'मूर्ख' तक कह दिया—

१—वाल्मीकि रामायण, २।१०७।३ (चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा वाला संस्करण)।
२—मानस, २।७६।५। ३—वही, २।१७४।३। ४—वही, २।२०६।३।
५—वही, २।५।४। ६—रामायणकालीन समाज, पृ० २७२।
७—मानस, २।२६।५।

मन्नवर् उलर् कोलो मति केट्टार ।[1]

अर्थात् ऐसा मूर्ख राजा भी कोई होगा क्या ?

इसी प्रकार राम के वनवास की बात जान अयोध्या की प्रजा दशरथ की आलोचना करती है—'कैकयराजपुत्री पर अत्यधिक आसक्ति के कारण राजा (दशरथ) की मति मारी गई है।'[2] इस प्रकार जनता अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करती थी।

किंतु द्वितीय कोटि के शासन में कोई व्यक्ति मुँह खोलने तक का साहस नहीं कर सकता था। रावण का इतना आतंक था कि उसे कोई सच्चा समाचार देते भी लोगों को डर लगता था। शूर्पणखा स्वयम् रावण के विषय में कहती है कि 'वह दशमुख इतना क्रोधी है कि यदि कोई जाकर उससे कहे कि तुम्हारी बहिन की नाक कट गई है, तो वह कहनेवाले की जीभ काट ले।'[3] इतना ही नहीं अपितु इंद्रजीत की मृत्यु का समाचार लानेवाले दूतों को वह मार ही डालता है।[4]

ऐसे अनीतिपरायण अत्याचारी के शासन में अपना मत प्रकट करने का दुःसाहस भला कर ही कौन सकता था ?

आदर्श राजा के गुण—

कंबन् को अपने पूर्ववर्ती राजनीति-विचारकों की जो विचार-परंपरा प्राप्त हुई थी, उसमें राजा को ईश्वर का रूप बताने के अतिरिक्त उसे प्रजा का प्राण और प्रजा को उसका शरीर बताया गया था—

नेल्लुम् उयिरन्रे, नीरुम् उयिरन्रे, मन्नन्
उयिर्त्ते मलर्दलै उलगम्।—(पुरनानूरु)

अर्थात्, अन्न प्राण नहीं है, जल भी प्राण नहीं है, राजा ही प्रजा को जीवित रखनेवाला प्राण है।

कंबन् से कुछ ही समय पूर्व के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार सेक्किलार् तथा कंबन् के समकालीन ओट्टनकूत्तर् भी ऐसा ही सोचते थे। किंतु कंबन् ने इस विचार-सरणि को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने राजा को न तो ईश्वर का रूप माना और न प्रजा का प्राण, अपितु इससे ठीक उल्टा दृष्टिकोण उपस्थित किया कि प्रजा ही वास्तव में प्राण है और राजा है शरीर। शरीर की उपयोगिता है प्राण की रक्षा में, इसी प्रकार राजा की उपयोगिता है प्रजा की रक्षा एवम् संवर्धन में।[5] सारांश यह कि राजा प्रजा के लिए है, प्रजा राजा के लिए नहीं।

१—कंब रामा०, १।१२।८। २—वही, २।४।१०७। ३—वही, ३।५।१२५। ४—वही, ६।२८।५। ५—वही, २।२।१७।

तुलसी का दृष्टिकोण भी इससे भिन्न नहीं। वे राजा का यह नैतिक दायित्व मानते हैं कि वह प्रजा को प्राण-समान समझे—

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥[1]

यही नहीं, अपितु जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह अवश्य ही नरकगामी होता है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥[2]

तुलसी को राजा की निरंकुशता को नियंत्रित करना सर्वाधिक आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने स्पष्टतया कहा है कि राजा को नृपनय (राजनीति) के साथ लोकमत (प्रजा के मत) और साधुमत (सदाचारी विद्वानों के मत) का समन्वय करके तदनुकूल आचरण करना चाहिए—

करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥[3]

राजनीति के अनुकूल परामर्श यदि मंत्रिगण देते थे, तो साधुमत का प्रतिनिधित्व गुरु वशिष्ठ जैसे निःस्पृह और ज्ञानी महात्मा करते थे तथा लोकमत के प्रकाशन के लिए 'पौर' और 'जनपद' समितियाँ थीं। राम, चित्रकूट की सभा के अवसर पर, भरत को गुरु तथा मंत्रियों आदि की सम्मति से ही राज्य-कार्य चलाने का बारंबार आदेश देते हैं। भरत स्वयम् भी उसी बात को ग्राह्य मानते हैं, जो गुरु, मंत्रियों तथा प्रजा को अभिमत हो—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव संमत सब ही का॥[4]

कंबन् का मत भी इससे भिन्न नहीं। वे राजा के लिए मंत्रिपरिषद् की सम्मति से शासन करना नितांत वांछनीय मानते हैं और कहते हैं कि कोई राजा चाहे त्रिदेव के सदृश ही शक्तिशाली क्यों न हो उसे मंत्रियों के परामर्श के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।[5] किंतु उन्होंने साधुमत या लोकमत का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

तुलसी ने नृपनय, लोकमत और साधुमत का भी मूलाधार निगम (वेद) को बताया है। जब तक कोई बात वेदानुकूल (या धर्मानुकूल) न हो, ग्राह्य नहीं मानी जा सकती। इसीलिए तुलसी ने राजा में धर्मशीलता का गुण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ठहराया है—

कहौं साचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू॥[6]

१—मानस, २।१७१।४। २—वही, २।७१।६। ३—वही, २।२५७।१०।
४—वही, २।१७६।१। ५—कं० रा०, २।२।१५। ६—मानस, २।१७८।१।

तुलसी के अनुसार राजनीति के चारों अंगों (साम, दाम, दंड और भेद) का आधार भी धर्म ही है।[1] रावण धर्म से च्युत हो गया था, इसलिए इन चारों गुणों ने उसे त्याग दिया था।

कंबन् ने भी राजा द्वारा धर्मपालन पर सर्वाधिक बल दिया है और इसका बार बार उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि 'राजा को धर्म का त्याग कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म का अंत जीवन का अंत है।'[2] अन्यत्र वे कहते हैं कि 'यदि राजा धर्म और करुणा पर सचमुच दृढ़ रहे तो उसे अन्य किसी यज्ञ की आवश्यकता ही क्या है ?'[3] उनके अनुसार 'संपन्नता और निर्धनता पुण्य और पाप के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है, इसलिए राजा को चाहिए कि पुण्य को छोड़ पाप को न ग्रहण करे।'[4]

तुलसीदासजी ने उत्तम राजा का लक्षण बड़ी विदग्धतापूर्वक एक दोहे में इस प्रकार बताया है—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा-भागबस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥[5]

अर्थात् नीति-निपुण राजा माली, सूर्य और किसान के सदृश प्रजा का पोषण, संवर्धन, दुष्टों का दलन आदि कर राज्य को निष्कंटक बनाता है तथा कदाचार का उन्मूलन कर सदाचार का प्रस्तार करता है।

प्रजा का पोषण राजा को किस प्रकार करना चाहिए इसके संबंध में गोस्वामीजी कहते हैं—

मुखिआ मुखु सो चाहिअइ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥[6]

जिस प्रकार मुख शरीर के विभिन्न अंगों की आवश्यकताओं के अनुरूप पोषक पदार्थों को उचित परिमाण में ग्रहण कर विवेकपूर्वक समस्त शरीर के पोषण का कारण बनता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के विभिन्न वर्गों का विवेकपूर्वक पालन करना चाहिए।

अंधकार दूर करने के अतिरिक्त सूर्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वह जब पृथ्वी के विभिन्न जलाशयों से जल खींचता है, तब किसी को पता नहीं चलता, किंतु जब वही जल मेघ के रूप में पृथ्वी पर बरसता है, तो सारा संसार प्रसन्न हो उठता है। इसी प्रकार राजा की कर प्रणाली भी ऐसी अप्रत्यक्ष होनी

१—वही, ६।३८।९-१२। २—कं० रा०, ४।९।१४। ३—वही, २।२।१७।
४—वही, ४।९।१५। ५—दोहावली, ५०७ (तुलसी-ग्रंथावली, द्वि० भाग, ना०प्र० सभा, काशी)। ६—मानस, २।३१४।९-१०।

चाहिए कि प्रजा को कर का भार जरा भी पता न चले, किंतु जब वही धन प्रजा के कार्यों में व्यय हो तो सबको उसका लाभ अनुभूत हो—

बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा-सुभाग ते भूप भानु सो होइ॥[1]

महाभारत में ऐसे धर्मशील राजाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका आय-व्यय का खाता बराबर रहता था, जितना धन वे प्रजा से कर-रूप में लेते थे, सारा-का-सारा उसी के हितार्थ व्यय कर देते थे। ये राजा थे—श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु। जब एक बार महर्षि अगस्त्य धन की इच्छा से इन राजाओं के पास गए, तो इनके आय-व्यय के खाते को बराबर देख उन्होंने इनसे कुछ भी लेना उचित न समझा।[2]

तुलसी ने जिस प्रकार माली, भानु और किसान के उदाहरणों द्वारा राजा के प्रजापालन का स्वरूप स्पष्ट किया है, उसी प्रकार कंबन् ने भी शरीर, माता और कृषक के उदाहरणों द्वारा अपना मंतव्य व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

१—जिस तत्परता से शरीर प्राणों की रक्षा करता है,[3]

२—जिस प्रेम और आत्मोसर्ग के भाव से माता अपनी संतान का पालन-पोषण करती है[4] तथा

३—जिस तन्मयता से कोई निर्धन कृषक अपने एकमात्र छोटे-से खेत की देखभाल करता है, उसी तत्परता, प्रेम और तन्मयता से राजा अपनी प्रजा का पालन करे।'[5]

तुलसी उसी राजनीति को आदर्श मानते हैं, जो साम और दान पर आधारित हो, दंड और भेद के प्रयोग की आवश्यकता जिसे न्यूनतम पड़े। राम की राजनीति इसी प्रकार की थी।

कंबन् भी साम नीति के प्रयोग पर ही विशेष बल देते हैं। वे कहते हैं कि 'राजा में धर्म, चित्त की सात्विकता और दयारूपी गुण होने चाहिएँ। उसे किसी के प्रति शत्रुता न रखनी चाहिए। इससे दूसरों के चित्त से भी वैरभाव जाता रहेगा और युद्ध समाप्त हो जायँगे।[6] अन्यत्र वे कहते हैं कि 'समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम रखना राजा का परम वांछनीय गुण है।'[7]

१—दोहा०, ५०८। २—दे० महाभारत, वनपर्व, अध्याय ९८ (गीताप्रेस संस्करण)।
३—कं० रा०, १।४।१०। ४—वही, ४।९।१३। ५—वही, १।४।१...
६—कं० रा०, २।२।११-१३। ७—वही, २।२।१६।

इसका यह आशय नहीं कि आवश्यकता पड़ने पर भी दंड का प्रयोग न किया जाय। सच तो यह है कि कुछ लोग दंड की भाषा को छोड़कर अन्य कोई भाषा समझते ही नहीं, इसलिए 'सठ सन विनय, कुटिल सन प्रीती'[१] व्यर्थ है। उनके लिए तो दंड की एकमात्र उपाय है--

काटेंहि पइ कदली फरै कोटि जतन कोउ सीच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेंहि पइ नव नीच॥[२]

सुराज का एक प्रमुख लक्षण यह भी है कि उसमें दुष्टों का उत्पात नहीं रहता—

अर्क जवास पात बिनु भएऊ। जस सुराज खल उद्यम गएऊ॥[३]

इसीलिए कंबन् का भी मत है कि 'दुष्ट को धर्मानुकूल दंड अवश्य होना चाहिए।'[४] वे राजा दशरथ को 'दुष्टों के लिए व्याधि-सदृश (पीड़ादायक)'[५] बताते हैं।

यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि श्रेष्ठ नरेश दंड का प्रयोग अंतिम उपाय के रूप में ही बहुत विवेकपूर्वक करते थे, किंतु निकृष्ट राजा उसी को अपनी राजनीति का प्रधान आधार बनाए रहते थे। अपने समकालीन शासकों में तुलसी ने इसी गर्हित प्रवृत्ति को लक्षित किया था—

गोंड़ गँवार नृपाल महि यमन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥[६]

मानस में भी वे इस बात की पुष्टि करते हैं—

नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥[७]

तुलसी ने ऐसे पापपरायण शासकों का सजीव चित्रण रावण के रूप में किया है तथा उसका मूलोच्छेद करनेवाले मर्यादापुरुषोत्तम राम को आदर्श राजा और उनके राज्य को आदर्श राज्य के रूप में उपस्थित कर युग-युग से शासकों के अत्याचारों से म्रियमाण मानवता को नवजीवन का अमृत-संदेश सुनाया है।

अतः डा० रामरतन भटनागर का यह कथन ठीक है कि उन्होंने (तुलसी ने) रावण-राज्य को इस्लामी राज्य के पर्याय में खड़ा किया है। उनके राम अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अप्रतिहत प्रतिरोध के प्रतीक बन गए हैं। रामराज्य का लोकमंगल-विधान तुलसी की राजतंत्र-कल्पना का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है।'[८]*

१—मानस, ५।५८।२। २—वही, ५।५८।९-१०। ३—वही, ४।१५।३।
४—कं० रा०, ४।९।१३। ५—वही, १।४।४। ६—दोहा०, ५५९।
७—मानस, ७।१०१।६। ८—तुलसी-साहित्य की भूमिका, द्वि० सं०—पृ० २३०।

*तुलसी और कंबन् में मिलनेवाले राजा विषयक इन समान विचारों के अतिरिक्त, कंबन् ने राजा के कुछ अन्य आवश्यक गुण इस प्रकार बतलाए हैं—

राजा को सत्यशील एवम् विवेकी मंत्रियों तथा सदाचारी और पराक्रमी सेनापतियों के साथ मधुर संबंध रखना चाहिए, किंतु उनसे अति निकटता या अति दूरी न रखनी चाहिए।—४।९।१।

आदर्श राज्य की कल्पना—

कंबन् ने एक स्थान पर एक ही पद्य में बड़ी खूबी से अपने आदर्श राज्य के स्वरूप एवम् उसके प्रभाव का वर्णन किया है—

'(मनु) नीति का अनुसरण करनेवाले, उचित स्थान पर क्रोध दिखानेवाले, (जितना उनका) प्राप्य है उतना कर उगाहनेवाले, (प्रजा के धन का) लोभ न करनेवाले, दयावान् तथा प्रजा द्वारा प्रशंसित राजा के द्वारा शासित पृथ्वी पाप-भार से मुक्त हो जाती है।'[1]

कंबन् ने आदर्श राजा की कल्पना दशरथ के रूप में की है, और तुलसी ने राम के रूप में। कंबन् का महाकाव्य वस्तुतः रामराज्याभिषेक के साथ ही समाप्त हो जाता है, इसलिए उसमें राम-राज्य के वर्णन का प्रसंग ही नहीं उठता। उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि 'राम को जब राजमुकुट पहनाया गया तो त्रिलोकवासियों को ऐसा लगा मानों वह उन्हीं को पहनाया गया हो।'[2]

इससे कंबन् ने प्रजा के आत्यंतिक हर्ष का सूचन करने के साथ-साथ उस हर्ष का कारण भी ध्वनित कर दिया। राम को राज्य मिलना ऐसा ही था, जैसे शासन-सूत्र का मानों प्रजा के हाथ में आना, क्योंकि राम एक आदर्श जनतांत्रिक नरेश थे। जिन राम ने एक नगण्य प्रजा के अल्पमत की आलोचना पर अपनी प्राणाधिका पत्नी तक को निष्कासित कर दिया, उनका शासन, राजतंत्र तो क्या, स्वयम् प्रजातंत्र का भी आदर्श है और आज तक स्वप्न ही बना हुआ है।

अस्तु इस इंगित के द्वारा यद्यपि कंबन् ने रामराज्य की एक झलक तो दिखा दी, किंतु अपने आदर्श राज्य का सविस्तर वर्णन उन्होंने दशरथ द्वारा शासित कोशल के वर्णन में ही किया है। कंबन् और तुलसी में दीख पड़नेवाले इस अंतर का

उसे भावगोपन-कला में दक्ष होना चाहिए। किसी शत्रु के साथ अंदर-अंदर शत्रुता का भाव रखते हुए भी बाहर से उसे हँसमुख और मिष्टभाषी बने रहना चाहिए। —४।९।८।

उसे राज्य की रक्षा सदा बहुत सजगतापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि संसार में ऐसा कोई नहीं, जिसके साथ शत्रुता, मित्रता या उदासीनता रखनेवाले लोग न हों। —४।९।९।

किसी को बलहीन जानकर दुःख नहीं देना चाहिए, क्योंकि कभी कभी अत्यधिक क्षुद्र व्यक्ति भी घोर अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है। —४।९।११।

राजा को द्यूत आदि व्यसनों से बचना चाहिए, क्योंकि ये व्यसन अन्य दोषों को प्राप्त कराने में कारण बनते हैं। —२।२।१२।

राजा को सदाचारनिरत एवम् तुलाकंटकवत् निष्पक्ष होना चाहिए।—२।२।९।

स्त्रियाँ समस्त अनर्थों की जड़ हैं, इसलिए राजा को उनमें अधिक आसक्ति से बचना चाहिए। —२।२।२१।

१—कं० रा०, १।२।१९। २—वही, ६।३८।४०।

कारण कदाचित् उनकी समसामयिक परिस्थितियों के अंतर में निहित है। कंबन् चोलनरेश कुलोतुंग तृतीय[1] के काल में हुए थे, जो कि अत्यधिक समृद्धि और वैभव का युग था। उस समय दक्षिण में विदेशियों और विधर्मियों का नाम तक कोई न जानता था। तुलसी अकबर और जहाँगीर जैसे यवन शासकों के समकालीन थे। हिंदुओं के लिए यवनकाल अत्यधिक उत्पीड़न और अपमान का काल रहा है। फलतः जब कि कंबन् ने एक आदर्श राज्य के चित्रण से ही अपने काव्य का आरंभ किया है, तब तुलसी को अत्याचारी रावण के विध्वंस के उपरांत ही भविष्य में वैसे राज्य की स्थापना की संभावना दीख पड़ी, जो सर्वथा स्वाभाविक है।

आदर्श राज्य कैसा हो इसके संबंध में तिरुवल्लुवर् कहते हैं—

तळ्ळा विळैयुळुम् तक्कारुम् ताळविळाच् चेल्वरुम् सेर्वदु नाडु।[2]

अर्थात्, जिस देश में उपज की कमी न हो तथा जहाँ सदाचारी जन एवम् अक्षीण संपत्तिवाले लोग निवास करते हों वही वस्तुतः देश है।

इस दृष्टि से देखें तो वर्तमान भारत पतन की सीमा तक पहुँचा हुआ दीख पड़ता है, किंतु दशरथ या राम द्वारा शासित कोशल देश उपज, धन एवम् सदाचार तीनो से भरा-पूरा था। इस अंतर का कारण क्या है? भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही यह विश्वास रहा है कि धर्मात्मा राजा के शासन में संसार की संपूर्ण समृद्धियाँ स्वतः आ उपस्थित होती हैं। तिरुवल्लुवर् इसी विश्वास की पुष्टि करते हुए कहते हैं—'न्यायी राजा के राज्य में वर्षा एवम् अनाज की कभी कमी नहीं होती।'[3] किंतु 'अन्यायी राजा के शासन में मेघ समय पर वर्षा नहीं करते तथा गायों का दूध कम हो जाता है।'[4]

इसीलिए तुलसी ने अपने समकालीन अधार्मिक शासकों के शासन से उत्पन्न दुरवस्था का चित्रण करते हुए कहा है--

देव न बरषै धरनी बए न जामहिं धान।[5]

दूसरी ओर धर्मशील राजा के राज्य में—

भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई॥
सब दुःख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी॥[6]

जब प्रतापभानु के शासन में ही ऐसी सुखद स्थिति थी, तो फिर आदर्श राजा राम के राज्य की जो प्रशंसा की जाय थोड़ी है। तुलसी ने बड़े उत्साह से रामराज्य

१—शासन-काल ११७८ ई० से १२१८ ई० तक। २—कुरल्, ७३१।
३—वही, ५४५। ४—कुरल्, ५५९-५६०।
५—मानस, ७।१०१।१४। ६—वही, १।१५५।१-२।

का वर्णन किया है। उसकी समृद्धि का मूल कारण कवि ने आरंभ में ही एक पंक्ति में इस प्रकार कह दिया है—

बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई ॥[1]

वास्तव में किसी राज्य में अशांति का मूलकारण है विषमता। जब तक किसी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विविध प्रकार की चौड़ी खाइयाँ और विषमताएँ रहेंगी, तब तक समाज में एकता और सद्भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। आज भारतीय समाज जो इतना खंडित और बिखरा हुआ दीखता है, उसका कारण है यही विषमता। गोस्वामीजी ने जहाँ कहीं भी किसी धर्मशील राजा के राज्य का वर्णन किया है, वहाँ सबसे पहले इस विषमता का ही लोप दिखाया है। उदाहरणार्थ, राजा जनक के राज्य में सबके घर राजा के प्रासाद जैसे ही थे—

नृपगृह सरिस सदन सब केरे।[2]

अतः आदर्श राजा राम के राज्य में विषमता का रहना भला क्योंकर संभव था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लक्षनहीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत घूनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥[3]

फलतः प्रजा में पारस्परिक सद्भाव और प्रेम था। सब लोग धर्माचरण करते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता थीं, पुरुष एकपत्नीव्रतधारी थे। सब उदार और परोपकारी थे। इसलिए मेघ समय पर वर्षा करते थे, नदियाँ निरंतर सुस्वादु जल लाती थीं, सागर मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता था, वृक्ष खूब फलते-फूलते थे, धरती धन-धान्य से भरपूर थी और पर्वतों में मणिरत्नों की खानें प्रकट हो गई थीं। पशु-पक्षी परस्पर का सहज वैर भूल सानंद विचरते थे।

राम प्रजा में सदाचार की प्रवृत्ति बनाए रखने का इतना ध्यान रखते थे कि प्रजा को समय समय पर बुलाकर स्वयम् मानवजीवन के चरम लक्ष्य का बोध कराते थे।[4]

प्रजा को किसी की भी न्यायोचित आलोचना करने का पूरा अधिकार था। राम प्रजा से कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥
नहि अनीति नहि कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सोहाई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥[5]

१—वही, ७।२०।८। २—वही, १।२१४।३। ३—वही, ७।२१।६-८।
४—वही, ७।४३, ४४। ५—वही, ७।४३।३-४, ६।

फलतः धर्मराज्य का चरम फल जनता को मिलना स्वाभाविक था—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहि काहुहि ब्यापा॥
अल्प मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
रामभगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी॥[1]

क्या आश्चर्य कि राम-राज्य भारतीय जनता का युग-युग से आदर्श रहा है।

कंबन् ने भी दशरथ के राज्य का बड़ा भव्य वर्णन किया है, जिसमें उपर्युक्त चित्रण से बहुत-कुछ समानता मिलती है। उनके वर्णन का सार इस प्रकार है—

'उस देश में बड़ी बड़ी नावें विदेशों से अनंत निधियाँ लाती थीं, धरती अपार सस्यराशि देती थी, खानें श्रेष्ठ रत्न देती थीं और प्रजा के विभिन्न कुल उन्हें दुर्लभ सदाचार की शिक्षा देते थे।

वहाँ कहीं कोई पापकृत्य नहीं था। अतः किसी की अकालमृत्यु नहीं होती थी, लोगों की चित्तवृत्ति सात्विक थी, इसलिए उनके मन में क्रोध (और तज्जन्य वैर) उत्पन्न नहीं होता था, वहाँ के निवासी धर्मकृत्यों को छोड़ अन्य प्रकार के कृत्य नहीं करते थे, इसलिए प्रजा का अभ्युदय छोड़ पराभव कभी नहीं होता था।

उस देश में दान का महत्त्व किसी को ज्ञात न था, क्योंकि कोई दरिद्री (और इसलिए याचक) न था, पराक्रम का महत्त्व नहीं था, क्योंकि कोई शत्रु न था, सत्यभाषण का महत्त्व नहीं था, क्योंकि कोई असत्यभाषी न था, पांडित्य का महत्त्व नहीं था, क्योंकि कोई अपंडित न था।

वहाँ के निवासियों के शील के कारण उनका शारीरिक सौंदर्य स्थिर रहता था (अर्थात् आंतरिक सौंदर्य के कारण वाह्य सौंदर्य भी स्थिरता प्राप्त करता था), सत्यभाषण के कारण नीति स्थिर रहती थी, स्त्रियों में (सबके प्रति) सद्भाव होने के कारण धर्म स्थिर रहता था और उन स्त्रियों के पातिव्रत्य के कारण समय समय पर वर्षा होती थी।'[2]

'दशरथ के शासन में (अतिवृष्टि आदि दैवी बाधाएँ न होने से) नदियाँ बिना अपना मार्ग बदले निरंतर प्रवाहित होती थीं। पशु-पक्षी सहज वैर भूल सानंद विचरते थे।'[3]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि यद्यपि कंबन् और तुलसी का देशकालगत परिवेश बहुत कुछ भिन्न था, तो भी उनके राजनीतिक विचारों में एक मूलभूत समानता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः इसका मूल भारतीय संस्कृति की समान पृष्ठभूमि में निहित है।

१—वही, ७।२१।१, ५, ४। २—कं० रा०, १।२ ३८-३९, ५३, ५९।
३—वही, १।४।६।

श्रीकृपानारायणमिश्र

'रामचरितमानस' और 'पैराडाइज लॉस्ट': एक तुलनात्मक विवेचन

[विभिन्न देश, काल, धर्म, जाति और संस्कृति के वातावरण में पोषित मानव-मस्तिष्क की चिंतन-प्रक्रिया एवम् स्वानुभूति की अभिव्यक्ति में साहश्य का होना आश्चर्य का विषय है। दो भिन्न-भिन्न विद्वानों की कृतियों में समान भाव अथवा शब्दावली को देखकर, किसी ठोस प्रमाण के अभाव में, सहसा यह कह देना संगत नहीं है कि उनमें से एक दूसरे की अनुकृति है। तुलसी और मिल्टन दोनो के अध्येता इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं। उक्त कथन के संदर्भ में तुलसी और मिल्टन का तुलनात्मक विवेचन कर देने के लिए इस निबंध के लेखक महोदय से आग्रह किया गया था। उन्होंने उसे प्रस्तुत करते हुए उपसंहार में कहा है—

'इस तुलनात्मक विवेचन में मैंने दोनो महाकवियों के विषय-प्रतिपादन, काव्य-दर्शन एवम् भाषा-चयन की समानताओं का यहाँ प्रकाशन किया है। उनमें विषमताएँ भी अनेक और विविध प्रकार की हैं। दोनो के व्यक्तित्व, मानसिक गुण तथा राजनीतिक विचारों में भी पर्याप्त वैषम्य है। यहाँ लक्ष्य वैषम्य-विवेचन न होकर, साम्य प्रतिपादन ही रहा है। इससे इन दोनो महाकवियों के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी।']

प्रसिद्ध काव्य-समीक्षक मैथ्यू अर्नल्ड का मत है कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान एवम् सर्वोत्तम विचारों को जानना तथा प्रचारित करना ही समीक्षा का निष्पक्ष लक्ष्य होना चाहिए। एतदर्थ तुलनात्मक समीक्षा की आवश्यकता एवम् उपादेयता पर उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। अंग्रेजी साहित्य के सही मूल्यांकन के लिए उन्होंने ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच साहित्य के अध्ययन को अत्यंत उपादेय बताया है।[१] तुलनात्मक विवेचन साहित्यिक मूल्यांकन का प्राण है। किसी कवि या काव्य ग्रंथ का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है, जब उसे विश्व के कुछ महान् कवियों या काव्य-ग्रंथों की तुलना में निष्पक्षतया रखा एवम् परखा जाय। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आज, जब विज्ञान ने इस विशाल विश्व को एक कुटुंब सा बना दिया है, विश्व-साहित्य के महानतम काव्यग्रंथों का तुलनात्मक विवेचन और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। विभिन्न देशों के राष्ट्रीय महाकाव्यों के तुलनात्मक मूल्यांकन से विश्व-

१—देखिये डॉ० द्विवेदी और डॉ० राय द्वारा लिखित, (मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित) 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म', पृष्ठ—३२२-२३।

बंधुत्व एवम् पारस्परिक सद्भाव का विकास होगा तथा विभिन्न देशों के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवम् नैतिक मूल्यों के समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। आज की दुनियाँ इस बात की माँग करती है कि सभी देश एक दूसरे के धार्मिक, नैतिक एवम् सांस्कृतिक विचारों को निष्पक्ष रूप से सीखें और समझें। इससे विश्व के एकीकरण में अपूर्व सहायता मिलेगी। तुलनात्मक समीक्षा के इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत निबंध लिखा गया है। आशा है, इससे इन दोनो महाकाव्यों के धार्मिक एवम् काव्यशास्त्रीय विचारों को समझने में सहायता मिलेगी।

रामचरितमानस और अंग्रेजी महाकवि जॉन मिल्टन के पैराडाइज लॉस्ट नामक महाकाव्य के विषय-प्रतिपादन, काव्यदर्शन एवम् शैली-विधान में आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। भिन्न भिन्न जलवायु वाले देशों में उत्पन्न, भिन्न भिन्न सांस्कृतिक एवम् सामाजिक परिस्थितियों तथा विचार धाराओं में पले हुए तथा भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी, इन दो महाकवियों के विषय-प्रतिपादन, काव्यदर्शन एवम् जीवनदर्शन की यह आश्चर्यजनक समानता इस बात को प्रमाणित करती है कि महान् काव्य देश, जाति एवम् धर्म की सीमाओं से बाँधा नहीं जा सकता। ऐसा महान् काव्य इस बात को भी प्रमाणित करता है कि मानव-हृदय सभी देशों और जातियों में प्रायः एक सा ही है। अतः हृदय की रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति मात्र होने से सभी साहित्यों में एक विचित्र प्रकार की एकरूपता दिखाई पड़ती है। सभी देशों की काव्यधाराएँ समानगति से प्रायः समान दिशाओं में प्रवाहित होती सी दीख पड़ती हैं। विश्व-साहित्य की इस एकरूपता और समानता के पीछे मानव-हृदय की मूलभूत एकता प्रतिबिंबित होती है। रामचरितमानस और पैराडाइज लॉस्ट, ऐसे महान् काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो देशकाल के बंधनों से स्वतंत्र होता है। ऐसा काव्य देशगत होता हुआ भी सर्वदेशीय हुआ करता है, जातिगत होता हुआ भी सर्वजातीय हुआ करता है, धर्मगत होता हुआ भी सर्वधर्मा हुआ करता है, सम-सामयिक होता हुआ भी सर्वकालीन हुआ करता है। जहाँ तक धर्म एवम् राष्ट्रीयता का प्रश्न है, जॉन मिल्टन पूर्णतया अंग्रेजी कवि हैं और पैराडाइज लॉस्ट निश्चित रूप से ईसाई महाकाव्य है। महान् आलोचक जॉन बेली ने ठीक ही लिखा है कि 'मिल्टन सचमुच पक्के अंग्रेज हैं और वे अंग्रेज के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते हैं...लेकिन उनकी आत्मा और उनका मस्तिष्क विभिन्न भाषाओं के ज्ञान और आंतरिक अनुभव से इस प्रकार समृद्ध एवम् संवर्द्धित हैं कि वे राष्ट्रीय सीमाओं से बाँधे नहीं जा सकते। वे अपने द्वीप से आगे बढ़ जाते हैं, यहाँ तक कि यूरोप से भी आगे बढ़ जाते हैं...और एक प्रकार से पैराडाइज लॉस्ट सभी काव्यग्रंथों से अधिक सार्वभौम एवम् सार्वजनीन काव्य है।'[1] यह बात प्रायः सभी महान्

१—मिल्टन (द होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ० २०-२१।

कवियों एवम् काव्यग्रंथों के संबंध में कही जा सकती है। भारतीय कवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् की प्रशंसा जर्मनी में हुई। बिना ज़ाति, धर्म, समय या संप्रदाय का ख्याल किए, शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन आजकल दुनियाँ के प्रत्येक देश में होता है। राजनीतिक एवम् धार्मिक विचार भी महान् काव्य के आस्वादन एवम् अध्ययन में बाधक नहीं हो पाते। रूस एक साम्यवादी देश है, जो परंपरावाद का कट्टर विरोधी, क्रांतिकारी विचारों का पोषक तथा प्रचारक है। राष्ट्रीयता वहाँ इतनी अधिक है कि रूसी लोग अंग्रेजी भाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे देश रूस में रामचरितमानस का समादर आश्चर्यजनक है। वहाँ रामलीलाएँ प्रारंभ हो गई हैं तथा 'मानस' के कथानकों पर नाटक अभिनीत किए जाने लगे हैं। 'मानस' जैसे परंपरावादी, पुराणपोषक एवम् आध्यात्मिक काव्यग्रंथ का, रूस जैसे परंपरा विरोधी, पुराणविध्वंसक एवम् भौतिकवादी देश में इस प्रकार का विचित्र समादर देखकर यही कहना पड़ता है कि महान् काव्य के सामने देशगत, जातिगत तथा राजनीतिक विचार भी प्रभावहीन हो जाते हैं। ये विचार महान् काव्य के रसास्वादन एवम् अध्ययन में बाधा डालने में पूर्णतया असमर्थ पाए जाते हैं। पैराडाइज लॉस्ट एक अंग्रेज द्वारा लिखा हुआ ईसाई महाकाव्य होते हुए भी सर्वकालिक एवम् सर्वधर्मा है। रामचरितमानस हिंदूधर्म एवम् हिंदू संस्कृति से ओतप्रोत एवम् परंपरावादी काव्यग्रंथ होता हुआ भी आज के वैज्ञानिक एवम् भौतिकवादी मानव को 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का अमर संदेश देता है। एक भारतीय भक्त द्वारा 'स्वांतः सुखाय' लिखा गया यह महाकाव्य विश्व के सभी देशों, सभी धर्मों एवम् संप्रदायों के लोगों को मानवता एवम् ईश्वर के ऐश्वर्य का कल्याणकारी संदेश देता है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥[1]
मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[2]

इन महाकाव्यों में जो भी समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनमें एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। ये दोनो काव्यग्रंथ साधारण कवियों द्वारा नहीं लिखे गए हैं, अपितु सर्वशास्त्र पारंगत, सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न एवम् अनुभवसिद्ध महापुरुषों के आजन्म अध्ययन, मनन एवम् अध्यवसाय के स्वाभाविक परिणाम हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि गोस्वामीजी को संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकांड पांडित्य के साथ ही साथ समसामयिक भाषाओं और प्रांतीय बोलियों का पूर्ण ज्ञान था। व्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि के साथ साथ उर्दू फारसी के प्रायः सभी प्रचलित शब्दों का व्यावहारिक ज्ञान उन्हें पूर्णतया प्रा

१—मानस, ७। फलश्रुति श्लो०, २। २—वही, १।१०।११।

था। 'नाना पुराण निगमागम' के पूर्ण ज्ञाता होने के साथ ही साथ वे काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भी थे। ठीक इसी प्रकार जॉन मिल्टन भी ग्रीक तथा लैटिन जैसी प्राचीन भाषाओं के पूर्ण पंडित होते हुए भी समसामयिक अंग्रेजी, इटैलियन तथा फ्रेंच साहित्यों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अपना सारा जीवन इन देशों के साहित्यों एवम् पुराणों के अध्ययन एवम् मनन में लगा दिया था। जिस प्रकार गोस्वामीजी ने भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक केंद्रों की यात्राएँ की थीं और भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोगों के स्वभाव एवम् रहन-सहन का अध्ययन किया था, ठीक उसी प्रकार जॉन मिल्टन ने भी यूनान, इटली, सिसिली, रोम और फ्रांस के विभिन्न नगरों एवम् दर्शनीय स्थलों की यात्रा की थी और वहाँ के सामाजिक एवम् सांस्कृतिक विचारों को समझने का भरसक प्रयास किया था। गोस्वामीजी की भाँति जॉन मिल्टन ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों के शब्दों, व्यवहारों एवम् सामाजिक विचारों का 'पैराडाइज लॉस्ट' में सफल सामंजस्य स्थापित किया है। जिस प्रकार रामचरित-मानस अवधी में लिखा हुआ होने पर भी पूरी भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, वैसे ही पैराडाइज लॉस्ट अंग्रेजी में एवम् इंगलैण्ड में लिखा हुआ होकर भी संपूर्ण यूरोपीय संस्कृति का प्रतिनिधि महाकाव्य सा लगता है। मैथ्यू अर्नल्ड ने सलाह दी है कि जो लोग ग्रीक और लैटिन पढ़ना नहीं जानते, उन्हें इन भाषाओं की महिमा एवम् सुंदरता को समझने के लिए अनुवादों को न पढ़कर, पैराडाइज लॉस्ट को पढ़ना चाहिए। ये दोनों महाकाव्य इन महाकवियों की प्रौढ़तम रचनाएँ हैं, जिनमें इनके शास्त्रीय ज्ञान एवम् व्यावहारिक अनुभव का अपूर्व संगम दृष्टिगोचर होता है। गद्य और पद्य में बहुत कुछ लिख चुकने के बाद मिल्टन ने जीवन के उत्तरार्द्ध में पैराडाइज लॉस्ट की रचना की थी, जब उनका अनुभव पूर्णतया परिपक्व हो चुका था तथा भाषा-प्रयोग अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। गोस्वामीजी के संबंध में भी यही बात चरितार्थ होती है। शास्त्रीय पांडित्य, व्यावहारिक अनुभव, एवम् कलात्मक गुणों का अपूर्व समन्वय इन महाकाव्यों को 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का अनुपम प्रतिष्ठान सा बना देता है। इनका सौंदर्य क्षणे-क्षणे नवीनता प्राप्त करता रहता है। कहा भी गया है—

ए थिंग ऑव् ब्यूटी इज ए ज्वाय फॉर ऍवर
इट्स लेवलीनेस इनक्रीजेज; इट विल् नेवर
पास इन टू नथिंग्नेस।[1]

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।[2]

गोस्वामी तुलसीदास और जॉन मिल्टन के काव्यदर्शन की समानता और भी आश्चर्यजनक एवम् हृदयावर्जक है। इन दोनो महाकवियों ने कविता को ईश्वरीय देन माना है तथा उसे अत्यंत गौरव प्रदान किया है। जॉन वेली ने लिखा है कि

१—जॉन कीट्स, इंडिमियन १।१। २—माघ, शिशुपालवधम्।

'मिल्टन के काव्य को पढ़ने का तात्पर्य इस बात को निश्चित रूप से जानना है कि काव्य-कला एक तुच्छ वस्तु नहीं है, एक मनोरंजन का साधन मात्र नहीं है, अपितु एक अत्यंत गौरवपूर्ण एवम् महान् वस्तु है।'[१] संसार की तुच्छ एवम् तत्वहीन बातों को काव्य का विषय बनाना कविता का अपमान करना है। उन्होंने अपने समसामयिक 'कैवेलियर' कवियों की गंदी, तत्वहीन तथा शृंगारपरक कविताओं की निंदा की है।[२] उनका स्पष्ट मत है कि महान् काव्य की विषयवस्तु भी महान् होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कवि का व्यक्तित्व भी उदात्त एवम् महान् होना चाहिए। तपस्या, स्वाध्याय एवम् संयम एक महान् कवि बनने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। मिल्टन ने विद्यार्थी जीवन से ही तपस्या और संयम का जीवन बिताया था। उन्होंने अनवरत अध्यवसाय एवम् अव्यभिचारिणी श्रद्धा से यूनानी, इटैलियन, लैटिन तथा हिब्रू काव्यग्रंथों और धर्मग्रंथों का स्वाध्याय किया था। जॉन मिल्टन का स्वाध्याय एवम् संयमपूर्ण जीवन आधुनिक कवियों के लिए अनुकरणीय है। गोस्वामीजी की भाँति गृहत्यागी संत न होते हुए भी जॉन मिल्टन अत्यंत उदात्त और पवित्र व्यक्तित्व के महाकवि थे। उनका स्पष्ट मत था कि "कविता एक ईश्वरीय वरदान है और उसका उपयोग ईश्वर के गुणगान एवम् समाज में सद्गुण तथा सदाचार के प्रचार के लिए ही होना चाहिए। सर्वशक्तिमान् ईश्वर के कारुण्य एवम् ऐश्वर्य का गुणगान ही काव्य-कला का लक्ष्य होना चाहिए।[३] इन्हीं आदर्शों को ध्यान में रखकर उन्होंने पैराडाइज लॉस्ट का निर्माण किया था। ईश्वर की सत्ता एवम् महत्ता के साथ ही साथ उनके सहज कारुण्य का वरिष्ठ समर्थन करना ही पैराडाइज लॉस्ट का प्रतिपाद्य है।[४] आलोचक प्रवर प्रो० सौरत ने ठीक ही

१—'टु लिव् विद् मिल्टन इज नेसेसरिली टु लर्न दैट् द आर्ट ऑव् पोयट्री इज् नो ट्रिवियलिटी, नो मीयर एम्यूजमन्ट बट् ए हार्ड एण्ड ग्रेट थिंग।'
—जॉन बेली, मिल्टन (आ० यु० प्रे०) पृष्ठ-११।

२—'पोयम्ज़ दैट वेयर रेज़्ड "फ्राम द हीट ऑव् यूथ आर द वेपर्स ऑव् वाइन, लाइक दैट व्हिच फ़्लोज़ ऐट वेस्ट फ्राम द पेन ऑव् सम वल्गर एमोरिस्ट"" वेयर इन हिज आइज् ट्रेचरी टु द पोयट्स वकेशन।'
—मार्क पेट्टिशन, मिल्टन, (इ० एम० एल०), पृष्ठ १८७।

३—'पोयटिकल पावर्स आर द इन्स्पायर्ड गिफ्ट ऑव् गाड रेयरली वेस्टोड""टु इम्ब्रीड एण्ड चेरिश इन ए ग्रेट पिपुल् द सीड्ज ऑव् वर्च्यू एण्ड पब्लिक सिविलिटी""टु सेलिब्रेट इन लाफ्टी एण्ड ग्लोरियस हिम्ज द थ्रोन एण्ड इक्वीपेज ऑव् गाड्ज आलमाइटिनेस्।'
—मार्क पेट्टिशन, मिल्टन (इंगलिशमेन ऑव् लेटर्स)' पृष्ठ १८७।

४—आइ मे अस्सर्ट इटरनल प्राविडेन्स
एण्ड जस्टीफाइ द वेज ऑव् गाड टु मेन।
—पैराडाइज लॉस्ट, १।२५-२६।

द पोयटिकल वर्क्स ऑव् मिल्टन (आ० यू० प्रे०)।

कहा है कि "पैराडाइज लॉस्ट ईश्वर के समर्थन में लिखा गया एक महान् 'पैम्फ्लेट' है।"[१] गोस्वामी तुलसीदासजी के विचार मिल्टन के इन विचारों से अक्षरशः मिल जाते हैं। काव्य के लक्ष्य एवम् प्रयोजन संबंधी उनके विचार मिल्टन के उपर्युक्त विचारों से कितना साम्य रखते हैं यह बात उनकी कुछ पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगी—

भगतिहेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥[२]
भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥[३]

गोस्वामीजी के अनुसार कविता कवि के अंतःकरण को शुद्ध करनेवाली एवम् लोककल्याणकारिणी होनी चाहिए। 'स्वांतःसुखाय' एवम् 'स्वांतस्तमःशांतये' लिखा गया होने पर भी रामचरितमानस वस्तुतः विश्वकल्याण की दृष्टि से ही लिखा गया है। जनकल्याण की भावना गोस्वामीजी को सदा प्रेरणा देती रही है। लोकमंगल और जनकल्याण ही इसका लक्ष्य है—

मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[४]
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[५]
बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलिकलुष बिभंजनि।[६]
जगमंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥[७]

इन दोनो महाकवियों के 'काव्य के प्रयोजन' संबंधी विचारों में साम्य तो है ही साथ ही साथ 'काव्य के हेतु' संबंधी विचार भी बिल्कुल एक जैसे हैं। ये दोनो महाकवि काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी अपनी 'पंडिताई' के बल पर काव्य-रचना का दावा नहीं करते। मिल्टन को अपने अध्ययन एवम् अनुभव पर पूरा गर्व था। फिर भी उन्होंने ईश्वराराधन एवम् दैवी कृपा से ही काव्यशक्ति प्राप्त होने की बात कही है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि स्वर्ग की काव्यदेवी यूरैनिया स्वप्न में उनके पास आती हैं और उन्हें प्रेरणा प्रदान करती हैं। वे ही उन्हें 'डिक्टेट' करती हैं।[८] सर्वशक्तिमान् ईश्वर से वे प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें ऐसा आंतरिक

१—प्रो० सौरत, मिल्टन, मैन एण्ड थिंकर, पृष्ठ २५।
२—मानस, १।११।४-७। ३—वही, १०।३-४।
४—वही, १।१०।११। ५—वही, १।१४।९। ६—वही, १।३१।५। ७—वही, १।३२।२-५।
८—'माइ सेलेशल पैट्रनेस हू डेन्स
हर नाइटली विजिटेशंस, अनइम्प्लोर्ड
एण्ड डिक्टेट्स टु मी स्लम्बरिंग, आर
इन्स्पायर्स ईजी माइ अनप्रिमेडिटेटेड वर्स।'
—द पोयटिकल वर्क्स ऑव मिल्टन, (आ० यू० प्रे०) पैराडाइज लॉस्ट, ९।२०-२५।

ज्ञानचक्षु प्रदान करें, जिससे वे अतींद्रिय वस्तुओं का भी दर्शन एवम् वर्णन कर सकें।[1] यह स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् भी सदा से काव्यशक्ति को ईश्वरीय देन मानते रहे हैं—

स हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येषः भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः॥[2]

उनकी यह धारणा रही है कि जिस पर ईश्वरीय दया हो जाती है, वह सर्वज्ञ एवम् सर्वसमर्थ हो जाता है। ईश्वर की अनुकंपा ऐसी है—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।[3]

जिससे वाल्मीकि एक क्षण में कवि हो गए और उनका शोक श्लोक बनकर निकल पड़ा, बालक ध्रुव भगवान् की शक्ति के कारण काव्यमयी स्तुति करने लगा। भगवान् की प्रेरणा ही काव्य का हेतु है। ईश्वर ही हमारी भावनाओं को जगाता है तथा हमें वाणी प्रदान करता है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।[4]

गोस्वामीजी ने भी इसी ईश्वरीय दया के बल पर मानस की कथा कहने का साहस किया। उन्हें भी आशुतोष भगवान् शंकर ने स्वप्न में 'मानस' का पूरा 'प्लैन' समझाया था तथा उसे 'भाषा' में लिखने का आदेश दिया था। मारुतिनंदन की सहायता से भगवान् शंकर के 'गाइडेन्स' में लिखा गया रामचरितमानस सर्वत्र प्रेरणामय है। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है कि राम की प्रेरणा एवम् शंकर के आशीर्वाद के फलस्वरूप 'मानस' का निर्माण हुआ है—

संभुप्रसाद सुमति हिअँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥[5]
भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती॥[6]
सपनेहु साचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥[7]

जॉन मिल्टन की ही भाँति गोस्वामीजी ने भी ईश्वरीय शक्तियों के समर्थ संरक्षण में रामचरितमानस की रचना की। उन्होंने अँग्रेजी महाकवि के ही जैसे ईश्वर की सत्ता एवम् महत्ता का प्रतिपादन करना ही अपना लक्ष्य रखा। रामचरितमानस का प्रतिपाद्य क्या है? इस संबंध में आलोचक भले ही अस्पष्ट हों, परंतु

१—'दैट आइ मे सी एण्ड टेल
आव् थिंग्ज इनविजिबुल टु मार्टल साइट।'—वही, ३।५४-५५।
२—महिम भट्ट, व्यक्ति विवेक, २।११८।
३—मानस, १। मं० दो० २।१। ४—श्रीमद्भागवत महापुराण, ४।९।६।
५—मानस, १।३६।१। ६—वही, १।१५।९। ७—वही, १।१५।१२-१३।

गोस्वामीजी पूर्णतया स्पष्ट हैं। उन्होंने बार बार स्पष्ट शब्दों में अपना प्रतिपाद्य हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने को महाकवि नहीं कहा है। वे अपने को बड़ा भारी पंडित या शास्त्रज्ञ नहीं दिखलाना चाहते। रामचरितमानस किसी भी गुण प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा गया है। आचार्य केशवदास की भाँति गोस्वामीजी काव्यकला या छंद-निर्माण पटुता का नमूना नहीं पेश करते। वे केवल 'राम की कथा' कहना चाहते हैं—

> निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी॥[1]
> भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगलकरनी॥[2]
> कबि न होऊँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं॥[3]
> एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपतिकथा सुहाई॥[4]

इस कथा का प्रतिपाद्य भी उन्हीं के शब्दों में देखना अधिक युक्तियुक्त होगा—

> जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥[5]

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी का रामचरितमानस आद्योपांत 'प्रभु की प्रभुता' का प्रतिपादन करता है। इस 'मानस' में 'रघुपतिमहिमा' रूपी 'अगाध' जल भरा पड़ा है। जो इस अगाध जल में डुबकी लगाते हैं, उनके 'त्रिविध ताप' मिट जाते हैं।

इस प्रकार के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामचरितमानस एवम् पैराडाइज लास्ट का प्रतिपाद्य एक ही है, किंतु उनके प्रतिपादन में कुछ अंतर है। तुलसी के राम मिल्टन के 'गाड' से अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आते हैं। मिल्टन ने निर्गुण सगुण के विवाद को समझाना चाहा है अवश्य, परंतु वे इस काम में उतने सफल नहीं हो सके हैं, जितने गोस्वामीजी। मिल्टन भी उसी शंका का समाधान करना चाहते हैं, जो सती ने उठायी थी—

> ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
> सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥[6]

परंतु 'जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें'[7] के इस विवाद को हल करने में जॉन मिल्टन पूर्णतया सफल नहीं हो सके। मिल्टन के ईश्वर भी सर्वशक्तिसंपन्न हैं। वे एक क्षण में दूसरा संसार निर्मित कर सकते हैं। एक मनुष्य से असंख्य मनुष्यों का निर्माण कर सकते हैं।[8] वे सर्वशक्तिमान्, विकारहीन, प्रकाश स्वरूप, अनंत

१—वही, १।३१।४। २—वही, १।१०।१०। ३—वही, १।१२।९। ४—वही, १।१४।११।
५—वही, ७।६१।६। ६—वही, १।५०।०। ७—वही, १।११६।३।
८—'इन ए मोमेन्ट विल क्रियेट
ऐनदर वर्ल्ड आउट ऑव् वन मैन ए रेस
आव् मेन इन्यूमरेबुल।'
—पैराडाइज लॉस्ट—७।१५४-५६।

एवम् अमर हैं।[१] वे संपूर्ण विश्व के कर्त्ता एवम् भर्त्ता हैं। इन सब बातों से गोस्वामीजी की पूर्ण सहमति है। मिल्टन के ईश्वर सगुण होने पर ईश्वर के पुत्र (सन ऑव् गाड) के नाम से पुकारे जाते हैं। ये सगुण ईश्वर ही होली स्पिरिट (माया) की सहायता से संसार का निर्माण करते हैं। इन सब बातों का वर्णन मिल्टन ने किया अवश्य है, परंतु उनके विचार पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। इधर, गोस्वामीजी ने आधिकारिक रूप से कहा है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥[२]

गोस्वामीजी के राम पूर्ण ब्रह्म होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भी कर्ता हैं। वे सर्वांतर्यामी सर्वद्रष्टा एवम् सर्वशास्ता हैं। फिर भी जब वे मानव बन जाते हैं तो बंदरों को अपना मंत्री और सेनापति बनाते हैं तथा भालुओं से रणनीति पर विचार-विमर्श करते हैं। वे बिना दूतों की सहायता के सीतान्वेषण नहीं कर पाते। वे साधारण मनुष्यों की भाँति लंका पर विजय प्राप्त करने के लिए शंकर की पूजा करते हैं तथा साधारण सैनिक की तरह 'प्रिजनर ऑव् वार' बन जाते हैं। यह है उनकी मानवता, परंतु इस मानवता के पीछे उनकी प्रभुता छिपी रहती है, जिसका संकेत गोस्वामीजी बार-बार करते हैं।

ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन पैराडाइज लॉस्ट और रामचरितमानस दोनो में है। मार्ग एक ही है, सिर्फ पहुँच का अंतर है। गोस्वामीजी का तात्विक विवेचन सभी दृष्टियों से पूर्ण एवम् परिष्कृत है। उनके समाधान स्पष्ट एवम् सरल हैं। मिल्टन की पहुँच उतनी गहरी नहीं है। फिर भी उनका प्रयास महान् है और प्रतिपादन प्रक्रिया मौलिक है। दोनो महाकवियों ने अपने अपने सामर्थ्य एवम् अध्ययनानुभव के अनुसार ईश्वर के ऐश्वर्य का प्रतिपादन किया है।

जिस प्रकार रामचरितमानस भारतीय संस्कृति एवम् हिंदू धर्म का प्रतिनिधि ग्रंथ है, ठीक उसी प्रकार पैराडाइज लॉस्ट भी ईसाई धर्म का प्रतिनिधि ग्रंथ है। दोनो ग्रंथों को पर्याप्त संमान एवम् लोकप्रियता मिली है। पैराडाइज लॉस्ट 'दूसरी बाइबिल' कहा जाता है। दोनो महाकाव्य जीवन के विविध अनुभवों के अक्षय भांडार हैं तथा काव्यकला के चरमोत्कर्ष के भव्य निदर्शन हैं। दोनो महाकाव्यों में नायकों के ही साथ साथ प्रतिनायकों का चरित्र-चित्रण भी बड़ी भावुकता एवम् निष्पक्षता के

१—'दी फादर फर्स्ट दे संग, आमनी पोटेन्ट,
इम्म्यूटेबुल, इम्मार्टल, इनफाइनाइट,
इटर्नल किंग! दी आथर ऑव् आल बींग
फाउन्टेन आव् लाइट।'
—वही, ३।७२-७५।

२—मानस, १।११६।१-२।

साथ किया गया है। पैराडाइज लॉस्ट का प्रतिनायक अपने शारीरिक पराक्रम एवम् मानसिक साहस के लिए बेजोड़ है। वह स्वाभिमान एवम् गर्व का अवतार है। उसके पतन का मूल कारण उसका गर्व है। गर्व के अतिरिक्त काम, क्रोध तथा लोभ भी उसके व्यक्तित्व के प्रधान अंग हैं। 'मानस' का रावण भी बहुत कुछ ऐसा ही है। रावण भी मायावी है और जिस लोक में चाहे जा सकता है। वह सभी शास्त्रों एवम् पुराणों का प्रकांड पंडित है। ब्रह्मा स्वयम् उसके घर आकर 'वेद' पढ़ाते हैं। वह शिव का अनन्य भक्त है, जो अपना शिर तक हवन कर चुका है। और राजनीति-कुशलता, कूटनीति एवम् रणनीति का पक्का मर्मज्ञ है। वह सोने के राजप्रासाद में रहता है तथा देवताओं द्वारा अपनी सेवा कराता है। उसे अपने और अपने परिवार पर अत्यधिक गर्व है।

पैराडाइज लॉस्ट के प्रतिनायक शैतान की भाँति रावण भी सर्वशक्तिमान् ईश्वर के साथ वैर करता है। दोनो बुरी तरह मुँह की खाते हैं। इन दोनो का पतन इनके गर्व एवम् अधर्म का स्वाभाविक परिणाम है। इनके पतन द्वारा अधर्म पर धर्म की विजय, असत्य पर सत्य की विजय एवम् अज्ञान पर ज्ञान की विजय है। शैतान और रावण के अत्याचारों से मानव को बचाने के लिए स्वयम् ईश्वर को आना पड़ता है। मिल्टन और गोस्वामी तुलसीदास दोनो ने अपने प्रतिनायकों के चरित्र-चित्रण में काफी कुशलता एवम् सहानुभूति के प्रदर्शन किए हैं। कहा जा सकता है कि प्रतिनायकों के विशाल एवम् भयावह व्यक्तित्व के कारण भी इन दोनो महाकाव्यों का सौंदर्य एवम् गौरव बढ़ गया है।

अंत में दो बातें इन कवियों के भाषा-चयन एवम् शब्दविधान के संबंध में कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये दोनो महाकवि विविध भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन दोनो के भाषा प्रयोग में भी आश्चर्यजनक समानता है। इन दोनो ने अपने युग की सर्वोन्नत एवम् सर्वसमादृत भाषा का परित्याग करके 'देशभाषा' का प्रयोग किया। जॉन मिल्टन के जमाने में अंग्रेजी के विकास का प्रयास चल रहा था। उस समय लैटिन विद्वानों की भाषा थी, जिसका पूरे यूरोप महाद्वीप में सर्वत्र समादर था। लैटिन की तुलना में अंग्रेजी एक असभ्य एवम् अविकसित भाषा थी, जिसका कोई विशेष संमान न था। जिस प्रकार आजकल अपने देश में अंग्रेजी संमान एवम् 'पोजीशन' की भाषा समझी जाती है और उसी में लिखने और बोलने में गौरव समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार जॉन मिल्टन के समय लैटिन गौरव की भाषा थी। लैटिन की तुलना में अंग्रेजी का ठीक वही स्थान था, जो अपने यहाँ अंग्रेजी की तुलना में हिंदी का है। ऐसी दशा में जॉन मिल्टन ने जो सबसे गौरवपूर्ण कार्य किया वह यह है कि उसने लैटिन को छोड़कर अपनी देश भाषा में लिखने का निश्चय किया। वह लैटिन का सफल कवि भी हो चुका था। उसकी लैटिन कविताओं की पर्याप्त प्रशंसा भी हो चुकी थी।

फिर भी उसने अपनी देश भाषा के लिए लैटिन का परित्याग कर दिया। भारत के अंग्रेजी प्रेमियों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए। उनका यह भाषा-प्रेम सदा अनुकरणीय रहेगा। भाषा चयन संबंधी ठीक ऐसी ही समस्या गोस्वामीजी के सामने भी थी। संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी उन्होंने 'जनभाषा' के लिए 'देववाणी' जैसी समर्थ भाषा का लोभ छोड़ा। इसके लिए उनका विरोध भी हुआ। वेदों और पुराणों की पवित्र बातों को 'भाषा' में लिखने के कारण उन्हें कट्टर संस्कृत विद्वानों का कोपभाजन भी बनना पड़ा था। उनकी बड़ी निंदा की गई थी। परंतु वे अपने प्रण पर अडिग रहे और उन्होंने 'भाषा' में ही 'मानस' का निर्माण किया।

इन दोनो महाकवियों ने जिस भाषा में लिखना प्रारंभ किया उसे सब प्रकार से सुंदर एवम् समर्थ बनाने का प्रयास किया। जॉन मिल्टन ने ग्रीक, लैटिन और इटैलियन भाषाओं की अच्छाइयों और विशेषताओं को अँग्रेजी भाषा में भरसक पहुँचाने का प्रयास किया। उसने असमर्थ भाषा को सर्व समर्थ बनाया, उसके दारिद्र्य को दूर किया तथा उसके सौंदर्य को बढ़ाया। ग्रीक और लैटिन शब्दों के प्रयोग की एक ऐसी परिपाटी चलाई कि अंग्रेजी भाषा का शब्द-भांडार एवम् अभिव्यक्ति-सामर्थ्य बढ़ गया। उनके महाकाव्य में अँग्रेजी भी एक पूर्ण समर्थ एवम् रमणीयार्थ प्रतिपादक भाषा बन गई। ठीक ऐसा ही प्रयास गोस्वामीजी ने अपनी 'भाषा' के निर्माण एवम् विकास के लिए किया। संस्कृत के तत्सम शब्दों से लेकर प्रांतीय बोलियों, यहाँ तक कि उर्दू, फारसी के भी शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने 'जायसी की अवधी' को एक समर्थ भाषा बनाया। उनके राम 'साहब' बन गए और वे अपने राम के 'गुलाम'। आज हिंदी के विकास की बात चल रही है। कोई उसे संस्कृत की ओर खीचना चाहते हैं, तो कोई उर्दू की तरफ। इस स्थिति में गोस्वामीजी के भाषा-प्रयोग से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। गोस्वामीजी की 'भाषा-नीति' ही हिंदी के विकास में सफल एवम् समर्थ हो सकती है।

इस तुलनात्मक विवेचन में मैंने दोनो महाकवियों के विषय-प्रतिपादन काव्य-दर्शन एवम् भाषा-चयन की समानताओं का यहाँ प्रकाशन किया है। उनमें विषमताएँ भी अनेक और विविध प्रकार की हैं। व्यक्तित्व, मानसिक गुण तथा राजनीतिक विचारों में भी दोनो में पर्याप्त वैषम्य है। यहाँ लक्ष्य वैषम्य विवेचन न होकर साम्य प्रतिपादन ही रहा है। आशा है, इससे इन दोनो महाकवियों के विचारों को समझने में सहायता मिलेगी।

डा० कन्हैयालाल सहल

'सत्य क्रिया' और रामचरितमानस

[सत्य की अपरिमित शक्ति के गुणानुवाद से संपूर्ण भारतीय वाङ्मय ओतप्रोत है। वांछित अपौरुषेय कार्य की सिद्धि के निमित्त 'सत्य क्रिया' के प्रयोग का प्रचलन भारत में वैदिकयुग से ही चला आ रहा है। यहाँ 'सत्य क्रिया' के तात्पर्य का उद्‌घाटन, उदाहरण एवम् उद्धरण देकर किया गया है। सत्य की साक्षी तथा सत्य क्रिया का प्रयोग मानस में बहुत्र है। उदाहरणस्वरूप उनमें से केवल एक प्रसंग यहाँ उद्धृत है।]

'सत्य क्रिया' वार्ता-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य उस विधि-विहित सत्योक्ति से है, जिसमें किसी आज्ञा, दृढ़ निश्चय अथवा प्रार्थना का सन्निवेश इस दृष्टि से किया जाता है कि ऐसा करने से कर्ता के उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ, कोई शिकारी किसी ऋषि से प्रश्न करता है कि अमुक अप्सरा को कैसे पकड़ा जा सकता है, ऋषि उत्तर देता है कि अप्सराएँ सत्य वचन से ही पकड़ी जा सकती हैं और उस स्थिति में उनमें अदृश्य होने की शक्ति नहीं रह जाती। ऋषि की बात मानकर शिकारी उस अप्सरा विशेष से कहता है—

'तुम राजा द्रुम की सुंदर दुहिता हो। यदि यह बात सत्य है, तो तुम ठहर जाओ और अपने आपको आबद्ध समझो; यदि यह सत्य है कि तुम द्रुम राजा की पुत्री हो और उसी ने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, तो हे मनोहरे! यहाँ से एक कदम भी आगे न बढ़ो।'

शिकारी की इस सत्योक्ति से वह अप्सरा तत्काल ही वहीं ठहर जाती है, एक इंच भी आगे नहीं बढ़ पाती तथा अदृश्य होने की उसकी शक्ति भी जाती रहती है। जिस अप्सरा को लक्ष्य करके सत्य वचन कहा जाता है, उसी पर उसका प्रभाव पड़ता है, उसके साथ की अन्य अप्सराएँ वायु में विलीन होकर अदृश्य हो जाती हैं।

कर्ता की उद्देश्य-सिद्धि के लिए केवल एक सत्य पर्याप्त होता है, चाहे वह कितने ही सामान्य स्तर का क्यों न हो। ऊपर दिए हुए उदाहरण में शिकारी का अप्सरा के संबंध में यह कथन कि तुम द्रुम राजा की लड़की हो, यह एक साधारण सा सत्य है, किंतु फिर भी इस वचन से कर्ता को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि जो सत्य कथन करता है, वह नियमतः कोई सद्‌गुण संपन्न व्यक्ति होता है और दोषों से मुक्त रहता है। कर्तव्य को छोड़कर वह अकर्तव्य की ओर पद-निक्षेप नहीं करता। सत्य की शक्ति के साथ साथ कभी कभी भलाई, पुण्य अथवा देवों आदि की असाधारण शक्ति का उल्लेख भी दृष्टिगोचर होता है। किंतु इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सत्य अपनी प्रभविष्णुता के लिए उक्त अन्य शक्तियों पर आश्रित रहता है। सच तो यह है कि सत्य स्वतः एक महती शक्ति है, जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। सत्य से वर्षा की जा सकती है, सत्य से आग बुझाई

जा सकती है, सत्य से विष का प्रभाव भी जाता रहता है। विश्व में ऐसा कोई कार्य नहीं जो सत्य के बल से संपन्न न हो सके। देव, दनुज, गंधर्व, मानव, सभी सचराचर सत्य का अनुसरण करते हैं।[1]

'सत्य क्रिया' नामक मूल अभिप्राय कितना प्राचीन है, इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। श्री ए० वेंकट सुब्बिआ ने हिसाब लगाकर बताया है कि ऋग्वेद में ही 'सत्यक्रिया' का ५४ स्थलों पर उल्लेख हुआ है।

अथर्ववेद के 'कृणोमि सत्यं' (४।१८।१) तथा ऋग्वेद के 'विश्वानि सत्याहि राश्चकार' (५।४५।७) आदि द्वारा 'सत्य क्रिया' नामकरण की सार्थकता सहज ही सिद्ध हो जाती है। साहित्य में प्रयुक्त 'सच्च किरिया' भी 'सत्य क्रिया' का ही रूपांतर है।

केवल ऋग्वेद में ही नहीं, रामायण, महाभारत, देवीभागवत तथा रघुवंश आदि अनेक ग्रंथों में सत्य क्रिया के प्रचुर उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस से 'सत्य क्रिया' का एक उदाहरण लीजिए—

संजीवनी बूटी वाले पर्वत-खंड को लेकर हनुमान् जब आकाश-मार्ग द्वारा उड़े चले जा रहे थे, भरत ने उन्हें एक विशालकाय राक्षस समझ कर उन पर बिना फलक का एक बाण चलाया, जिससे हनुमान् पर्वत सहित नीचे गिर पड़े। भरत ने हनुमान् को पहचाना तो वे बहुत व्याकुल हुए। हनुमान् को जगाने की बहुत चेष्टा की गई, किंतु उनकी मूर्च्छा भंग न हुई। अंत में नेत्रों में जल भर कर भरत ने कहा—

जौं मोरें मन बच अरु काया। प्रीति रामपद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥[2]

अर्थात् यदि श्रीराम के चरण-कमलों में मन-वचन-शरीर से मेरी कपट रहित प्रीति है और यदि श्रीरामचंद्रजी मुझ पर अनुकूल हैं, तो हनुमान् की श्रम-जन्य पीड़ा दूर हो जाय। यह सुनते ही 'अयोध्यापति श्रीराम की जय हो, जय हो' कहते हुए हनुमान् उठ बैठे।

उक्त प्रसंग से इस बात का भी पता चलता है कि साधारणतः सत्य क्रिया का आश्रय उसी समय लिया जाता है, जब अन्य उपाय विफल हो जाते हैं। सामान्यतः यदि गर्भित वाक्यों से सत्य क्रिया का श्रीगणेश किया जाता है।

वाल्मीकि ने यथार्थ ही कहा था 'सत्यमेवेश्वरो लोके। धर्मः सत्ये प्रतिष्ठितः।' अर्थात् सत्य ही ईश्वर है और धर्म सत्य में ही प्रतिष्ठित रहता है। सत्य के बल पर ही स्थित रहा जा सकता है तथा सत्य में जितनी दृढ़ता है, जितनी धारण करने की शक्ति है, वह अन्य किसी वस्तु में नहीं। सत्य की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसके लिए नेति नेति ही कहना पड़ता है।

१—द्रष्टव्य—डब्ल्यू० बर्लिंगम : 'द ऐक्ट ऑव् ट्रुथ' (जे० आर० ए० एस०, जुलाई १९५७, पृ० ४२९)। २—मानस, ६।५९।६-८।

श्रीविष्णुकांत शास्त्री

विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा

[संक्षेप में इस लेख का विषय और प्रतिपाद्य है—

'प्रस्तुत संदर्भ में क्रिया से वे कर्म, साधन अभिप्रेत हैं, जो साधक को भगवत्प्राप्ति करा सकें। सवाल है कि क्या भगवत्प्राप्ति क्रिया साध्य है?'

'उनका (तुलसीदास का) सुचिंतित मत है कि भवबंधन से छूटने के लिए योग, यज्ञ, जप-तप, तीर्थ, वैराग्य आदि उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे हाथी को बाँधने के लिए धूल की रस्सी बँटना।'

' राम नाम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन का सहारा लेने के लिए वे तैयार नहीं हैं, अर्थात् असंदिग्ध रूप से वे क्रिया की तुलना में कृपा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं ?'

' सारांश यही है कि तुलसी के मतानुसार मानव के चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति की सिद्धि के लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है, केवल उसकी अपनी क्रियाएँ इसके लिए नितांत अक्षम हैं।']

मानव अपना चरम पुरुषार्थ क्या केवल अपनी क्रियाओं से प्राप्त कर सकता है या उसके लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है? क्या क्रिया और कृपा पूर्णतः निरपेक्ष हैं या एक को दूसरे की अपेक्षा भी है? क्रिया और कृपा के स्वरूप क्या हैं, हेतु क्या हैं, परिणाम क्या हैं? इन सब प्रश्नों से पुरुषार्थ कामी व्यक्ति भी निस्तार नहीं पा सकता। जब गंभीरता से ये प्रश्न उठें, तब समझना चाहिए कि सतह की चमक दमक से समाधान न होने के कारण गहरे पैठने का उपक्रम हो रहा है। व्यक्ति का मन साधना के मध्य जिन समस्याओं और ऊहापोहों से गुजरता है, उन सब का प्रतिफलन विनयपत्रिका में हुआ है, साथ ही तुलसी की शास्त्र और स्वानुभव उभय सिद्धवाणी उनके समाधान के निर्देश भी करती चली है। अतः विनयपत्रिका के आधार पर इन प्रश्नों पर विचार करना निश्चय ही कल्याणकारक होगा।

विनयपत्रिका में ऐसे बहुत से कथन मिलते हैं, जिनसे लगता है कि तुलसीदास यह भी मानते थे कि अपनी करनी······क्रिया से भवसागर पार किया जा सकता है। करनी के बिगड़ जाने के कारण ही भय होता है कि प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और अनंत जन्मों तक भवाटवी में भटकना पड़ेगा।

जो कछु कहिय करिय भवसागर, तरिय बत्सपद जैसे।
रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद सुख पाइय कैसे॥[1]

१—विनय०, ११८।

कथनी और करनी में अंतर होने के कारण ही भगवच्चरणारविंदों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसी पद में पंक्तियाँ आती हैं कि जो अखिलजीववत्सल, निर्मत्सर चरणकमल अनुरागी एवम् अतिशय निज-पर त्यागी हैं, वे धीरमति श्रीरघुवीर को प्रिय हैं। स्पष्टतः ये धीरमति अपने शुभकर्मों के कारण ही भगवान् की प्रियता प्राप्त कर सके हैं। तुलसी ने स्थान स्थान पर अपनी क्रिया-हीनता तथा साधना-हीनता के लिए शोक भी प्रकट किया है और उसी के चलते उन्हें अपने परिणाम के लिए भय भी होता है। अवश्य ही भवरोग के अनुकूल उपचार न करने के लिए वे अपने को ही दोषी मानते हैं, प्रभुरूपी वैद्य को नहीं—

मैं हरि साधन करै न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोस कहा दिरमानी ॥[1]

केवल रोग के अनुकूल चिकित्सा ही नहीं की गई होती तो भी संभवतः इतना परिताप न होता, किंतु स्थिति तो यह है कि आचरण उसके नितांत प्रतिकूल हुए हैं—

निजकरनी बिपरीत देखि मोहि समुझि महा भय लागै।[2]

यह भय इसलिए और अधिक होता है कि इन खोटे आचरणों के चलते प्रभु से विनती करने का भी साहस नहीं हो पाता। भला जब जानबूझकर हरि को द्रवित करनेवाले साधनों को छोड़कर विपत्तिजाल में पड़नेवाले आचरण किए जायँ, भवतारक परहित करने के स्थान पर अकारण ही दूसरों के सुख देखकर ईर्ष्या से जला जाय तो कौन सा मुँह लेकर विनती की जा सकती है—

कौन जतन बिनती करिए।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिए॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठ परिहरिए।
जातें बिपति-जाल निसि दिन दुख तेहि पथ अनुसरिए॥
जानत हूँ मन बचन कर्म परहित कीन्हें तरिए।
सो बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिए॥[3]

इन उद्धरणों से ध्वनित होता है कि तुलसीदास यह मानते थे कि परहित आदि शुभकर्मों से व्यक्ति तर सकता है या अनुकूल साधनों से प्रभु को द्रवित कर सकता है।

दूसरी तरफ ऐसे बहुत से पद भी मिलते हैं, जिनमें व्यक्ति के अपने समस्त प्रयासों को दुःखदूरीकरण में असमर्थ मानकर एकमात्र प्रभु की कृपा को ही व्यक्ति के कल्याण-साधन और दुःख-निवारण के लिए सक्षम माना गया है। बहुत भटकने के बाद तुलसी समझ सके हैं कि प्रभु कृपा के बिना माया छूट ही नहीं सकती—

१—वही, १२२। २—वही, ११९। ३—वही, १८६।

अस कछु समुझि परत, रघुराया !
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ॥[1]

यद्यपि यह प्रपंच मिथ्या है, तथापि जब तक तुम्हारी कृपा नहीं होती तब तक यह सत्य भासता है; हे हरि इस भारी भ्रम को क्यों नहीं दूर कर देते ?[2] वे इस निश्चय पर पहुँच चुके हैं—

जब कब रामकृपा दुख जाई । तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥[3]
हरनि एक अघ-असुर-जालिका । तुलसिदास प्रभुकृपा-कालिका ॥[4]

यह निश्चय ही पूर्वकथित साधनों की सार्थकता के अनुकूल नहीं पड़ता । ऊपरी दृष्टि से लगनेवाले इस विरोधाभास के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है कि तुलसी की क्रिया और कृपा संबंधी धारणाओं को समझ लिया जाय ।

क्रिया का साधारण अर्थ है कुछ किया जाना—कर्म, व्यापार, चेष्टा, साधन, उपकरण आदि । प्रस्तुत संदर्भ में क्रिया से वे कर्म, साधन अभिप्रेत हैं, जो साधक को भगवत्प्राप्ति करा सकें । प्रश्न है कि क्या भगवत्प्राप्ति क्रिया साध्य है ? अद्वैतवादी ज्ञानी या योगी का उत्तर होगा हाँ, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से वे स्वयम् कर्ता हैं, उनके अलावा और कोई है ही नहीं, तब कौन किस पर कृपा करेगा । उन्हें अपनी ही साधना से माया के आवरण को छिन्न कर प्रत्यगात्मा या अंतःस्थित ईश्वर को उपलब्ध कर लेना है । गुरुकृपा आदि वस्तुतः आत्मकृपा ही है । अतः शंकराचार्य स्व-प्रयत्न की प्रधानता निरूपित करते हुए कहते हैं—

अविद्या कामकर्मादि पाशबन्धं विमोचितुम् ।
कःशक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥[5]

अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मादि के जाल के बंधनों को सौ करोड़ कल्पों में भी अपने सिवा और कौन खोल सकता है ? इसी तरह महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के साधनपाद में क्रियायोग और उसका फल बताते हुए कहा गया है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः । समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥[6]

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूपी क्रियायोग समाधि की सिद्धि करनेवाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है । तुलसीदास पारमार्थिक दृष्टि से भले ही अद्वैतवाद मानते हों (इस विषय पर विद्वानों में गहरा मतभेद है), किंतु सर्वजन संमत है कि अपनी साधनिक दृष्टि से वे द्वैत मानकर चले हैं । परिणाम स्वरूप वे अपने ही साधनों पर भरोसा नहीं रखते । देश और काल के विचार से भी उन्हें निश्चय हो चुका था—

१—वही, १२३ । २—वही, १२० । ३—वही, १२७ । ४—वही, १२८ ।
५—विवेक चूडामणि, ५७ । ६—पातंजल योग दर्शन, २।१-२ ।

जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलि मति बिकल, न कछु निरुपाधी।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥[१]

एक तो कलि के कारण मति विकल है, अतः जप, तप, तीर्थ, योग, समाधि आदि साधन निर्विघ्न नहीं रह गए हैं। अपने प्रयत्न से पुण्यों के करते रहने पर भी पाप तो चुकते नहीं, वे तो रक्तबीज के समान बढ़ते ही जाते हैं। अतः उनका सुचिंतित मत है कि भवबंधन से छूटने के लिए योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, वैराग्य आदि उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे हाथी को बाँधने के लिए धूल की रस्सी बँटना।[२] यह विचार उनके साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यक्त हुआ है। हाँ, रामनाम पर उनका अटूट विश्वास है। घोर भवसागर में पार लगानेवाली एकमात्र नौका राम नाम ही है। उससे ऋद्धि-सिद्धि भी मिलती है और मुक्ति-भक्ति भी—

एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि, रे!
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि, रे![३]

तुलसीदास नाम को नामी से भी बड़ा मानते हैं। अतः नामनिष्ठा उनके लिए साधनमात्र नहीं, साध्य भी है। वैसे यदि कोई उनसे तर्क करने लगे, तो वैष्णव विनयशीलता के अनुरूप ही वे स्वीकार कर लेंगे कि ज्ञान, भक्ति आदि सभी साधन सत्य हैं, किंतु उनके मन में यही भरोसा है कि हरिकृपा से ही भ्रम मिट सकता है—

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥[४]

यह बिल्कुल तय है कि रामनाम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन का सहारा लेने के लिए वे तैयार नहीं हैं, अर्थात् असंदिग्ध रूप से वे क्रिया की तुलना में कृपा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

इसी जगह कार्य सिद्धांत संबंधी तुलसी की मान्यता पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। सामान्य तौर पर तुलसीदास को कर्मसिद्धांत स्वीकार्य है। जीव अपने कर्मों के फलस्वरूप ही आवागमन के चक्र में पड़ता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है—

तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं॥
तातें परबस पर्‌यो अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे॥[५]

उस पर भी प्रभु गर्भावस्था में भी कर्मजाल से घिरे मनुष्य का भी साथ नहीं छोड़ते, उसका प्रतिपालन करते हैं, उसे ज्ञान भी देते हैं—

तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ज्ञान तोहिं दीन्हों॥[६]

१—विनय० १२८। २—वही, १२९। ३—वही, ६६। ४—वही, ११६।
५—वही, ३।१३६। ६—वही, ४।१३६।

यह शरीर अपने कर्मों के फलस्वरूप ही हमें मिला है—

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मंद मोल बिनु डोला रे ![1]

और हमारे पूर्व कर्म बलपूर्वक हमें नाना विषयों में आसक्त कर देते हैं। तुलसी प्रभु से प्रार्थना यही करते हैं कि हमारे कर्म हमें कहीं भी क्यों न ले जाएँ, वे हमारे ऊपर स्नेह करना न छोड़ें—

कुटिल करम लै जाय मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाँड़िए कमठ-अंड की नाईं ॥[2]

स्वीकृति श्रीरामचरितमानस के गुह लक्ष्मण संवाद में लक्ष्मण द्वारा भी कराई गई है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥[3]

इस स्वीकृति के दो परिणाम विचारणीय हैं, एक तो यही कि यदि अपने कर्मों का फलभोग अकाट्य सिद्धांत है तो अनंत जन्मों के कर्मों का फल भोगते रहने के सिवाय चारा ही क्या है, दूसरे तब तो सत्कर्मरूपी साधनों की मुख्यता स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि हमारे पुण्यकर्म ही हमारा कल्याण कर सकते हैं। तुलसीदास इन दोनो परिणामों को स्वीकार नहीं करते। वे व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनो ही स्तरों पर आपत्ति करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर उन्हें अपनी असमर्थता के कारण यह असंभव लगता है कि वे (या कोई भी सामान्य जीव, तुलसीदास असामान्य होते हुए भी अपने को परम सामान्य मानते हैं) अपने थोड़े से पुण्यरूपी नाखूनों से पाप वन के वृक्ष समूहों को काट सकेंगे। उनके एक एक क्षण के मन, वाणी और कर्म के पापों की गिनती करने में असंख्य शेष सारदा एवम् वेद हार जाएँगे—

जौं पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
तौ क्यों कटत सुकृत-नख तें मोपै बिटप-बृंद अघ-बन के ॥
कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के।
हारहिं अमित सेष सारद स्नुति गिनत एक एक छन के ॥[4]

फिर उनका यह भी विश्वास है कि कराल कलिकाल ने रामनाम को छोड़कर समस्त साधनों को निष्प्रभ कर दिया है, जिससे आगे से ही कठिन कर्म मार्ग और कठिन हो गया है—

तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते ?[5]

सैद्धांतिक स्तर पर कर्म को वे भक्ति या ज्ञान के समकक्ष नहीं मानते, यद्यपि निष्काम कर्म को वे इन दोनो का सहायक अवश्य मानते हैं। उन्होंने कर्म को कीच

१—वही, १८९। २—वही, १०३। ३—मानस, २।९२।४।
४—विनय०, ९६। ५—वही, ९७।

मानते हुए लिखा है कि अनेक जन्मों के कर्म-कीच से सना चित्त विमल विवेक के जल से ही शुद्ध हो सकता है—

जनम अनेक किए नाना बिधि करम-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो ॥[1]

और यह विवेक हरि एवम् गुरु की करुणा के बिना नहीं हो सकता—

तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ॥[2]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि कर्म से ही कर्मबंधन से छुटकारा पाने की चेष्टा मल से मल को धोने के समान निष्फल है। यह वैसी ही बात है, जैसे कोई प्यासा गंगाजी को छोड़कर अपनी प्यास बुझाने के लिए बार बार आकाश को निचोड़ता फिरे—

करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो।[3]

और अनंत जन्मों के कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, यह भी उन्हें मान्य नहीं है। उनका सिद्धांत है कि प्रभु की शरण में जाते ही अनंतकोटि पूर्व-जन्मों के संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। मानस में उन्होंने श्रीराम से कहलाया है कि—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहि तबही ॥[4]

यही बात विनयपत्रिका में प्रभु के करकमलों की छाया की याचना करते हुए इस प्रकार कही गई है—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप, ताप, माया।
निसि बासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥[5]

जैसे गीता में कहा गया है कि ज्ञानाग्नि से समस्त पूर्व कर्म दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही तुलसी का विश्वास है कि आर्त होकर पुकारने से प्रभु समस्त दुःखों को (कर्म-बंधन के दुःख को भी) दग्ध कर देते हैं—

जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत तब तिन्हके दुखदाहे।[6]

गीता के कर्मयोग के अनुसार क्रियमाण निष्काम कर्म तो लिप्त नहीं होता, किंतु स्खलन होने पर पवित्र श्रीमानों के या योगियों के कुल में जन्म लेना पड़ता है। तुलसी की धारणा है कि शरणागति के समय प्रभु समस्त पूर्व जन्मों के पापों को नष्ट कर देते हैं और यदि शरणागति के अनंतर भी भक्त से चूक हो जाए तो

१—वही, ८८। २—वही, ११५। ३—वही, २४५।
४—मानस०, ५।४४।२। ५—विनय०, १३८। ६—वही, १४५।

उसे अनदेखा कर उसके हृदय के भाव को देखते हैं। सरल प्रकृति होने के कारण उन्हें अपने गुण, शत्रुओं के द्वारा किए गए अपकार, सेवकों के दोष और दिए हुए दान की याद ही नहीं रहती।[१] विभीषण सुग्रीव का उदाहरण इस संदर्भ में उन्होंने अनेक बार दिया है। भक्त के शरणोत्तर पापों के बारे में गोस्वामीजी के अनुसार प्रभु का सिद्धांत यही है—

रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥[२]

प्रारब्ध भोग को धैर्यपूर्वक सहना ही भक्त का कर्तव्य है। इस प्रकार कर्म-सिद्धांत और कृपा-सिद्धांत के टकराने पर वे कृपा-सिद्धांत की महत्ता अभ्रांत रूप से प्रतिपादित करते हैं।

वास्तव में कर्म-सिद्धांत, प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और न्यायनिष्ठा पर आधारित है। प्रभु सब के कर्मों को जानते हैं, कर्मों के अनुसार अनुग्रह-निग्रह करने में समर्थ हैं और जैसे को तैसा फल देने में नीर क्षीर विवेकी हैं। इस सिद्धांत में हृदय की उपेक्षा है। इसके चलते ईश्वर जड़ नियमों की समष्टिमात्र रह जाता है, चैतन्य और सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रभु के लिए यह स्थिति भक्ति मार्गियों को स्वीकार नहीं। वे उसे केवल न्यायी ही नहीं परम कृपालु और दयासागर भी मानते हैं। वे भक्तों के अपराधों को क्षमा भी कर सकते हैं। तुलसी के लिए यह कृपा-सिद्धांत अमोघ है।

कृपा प्रभु का वह भाव विशेष है, जिसके परिणामस्वरूप वे अधीन जनो के पापों को नष्ट कर उन्हें अपनी शरण में ले लेते हैं। श्री भगवद्गुण दर्पण के अनुसार—

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी॥
स्व सामर्थ्यानुसन्धानाधीनः कालुष्यनाशनः।
हार्दो भावो विशेषो यः कृपा सा जागदीश्वरी॥[३]

अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही परम समर्थ हूँ, ऐसी सामर्थ्यानुसंधाना कृपा ही पारमेश्वरी कृपा कहलाती है। वह जागदीश्वरी कृपा सामर्थ्यानुसंधान द्वारा अधीन जनो के पापों का नाश करनेवाला प्रीत्यात्मक भाव विशेष है। इसी के कारण प्रभु में अनुकंपा और करुणा का उदय होता है। अनुकंपा में आश्रित भक्तों को सुख प्राप्त कराने की एवम् उनके समस्त मनोरथों को पूर्ण करने की इच्छा होती है और करुणा में आश्रित की विपत्ति से अत्यंत द्रवित होकर दुखित होना और उसकी विपत्ति-निवारण के लिए त्वरा विह्वल होने का भाव रहता है। तुलसी ने आर्त

१—वही, ४२। २—मानस, १।२९।५।
३ – गो० श्रीकान्तशरण कृत 'प्रपत्ति रहस्य' में उद्धृत, पृष्ठ ३७३।

भाव से बारबार प्रभु की कृपा एवम् करुणा की याचना की है। उनका चित्त चातक-शावक के समान कृपा सुधारूपी जलदान, स्नेह-स्वाति-जल के लिए लालायित है—

कृपासुधा जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो।
स्वाति-सनेह-सलिल सुख चाहत चित-चातक को पोतो॥[1]

अत्यंत विनीत होकर वे प्रभु से पूछते हैं कि जिस कृपा से व्याध, गज अजामिल आदि अनेक खल तरे, उसी कृपा से क्या तुम मुझे भी उनके समान मानकर तारोगे, योनियों एवम् जन्मों में जो मैंने बहुत प्रकार के दुष्कर्म किए हैं, मेरे इन अधम आचरणों को क्या तुम भुला दोगे। भक्त हृदय की कातर जिज्ञासा है—

कबहुँ रघुबंस-मनि सो कृपा करहुगे?[2]

तुलसीदास का निश्चित मत है कि भक्ति कृपा साध्य ही है, क्रिया साध्य नहीं। श्रीराम की भक्ति सत्संगति के बिना नहीं हो सकती। सत्संगति तभी मिलती है, जब राम द्रवित होते हैं, कृपा करते हैं, साधु-संगति से मद, मोह, लोभ आदि दूर होते हैं। द्वैत-भावना नष्ट होती है और राम के चरणों में लौ लगती है, देह जनित विकार नष्ट होते हैं और निज स्वरूप में अनुराग होता है। उसके अनंतर अनेक सद्गुणों का आधान होता है एवम् हरिकृपा से सदा सुख की प्राप्ति होती है।[3] इस प्रकार चरम पूर्णत्व की उपलब्धि के आदि और अंत में हरि-कृपा ही है। कृपा करने के लिए अपनत्व की भावना ही यथेष्ट है। प्रभु अपना मानलें बस, फिर भक्त की त्रुटियों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। भक्त इसी अपनत्व की दुहाई देकर कहता है—

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितैहो।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि! अवगुन अमित बितैहो॥[4]

और उसका दृढ़ विश्वास है कि मैं जैसा हूँ, वैसा ही मुझे वे अपना लेंगे। क्योंकि शरण में आए हुए, पापी से पापी व्यक्ति को वे अंगीकार कर लेते हैं—

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद-कमल माथ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ॥[5]

आश्वासन की यह अभयवाणी समस्त पापियों, पतितों एवम् अधर्मों के लिए है, क्योंकि पापहरण करने के कारण ही वे हरि हैं, पतितों को पवित्र करने के फलस्वरूप ही वे पतितपावन हैं और अधर्मों का उद्धार करने के चलते ही वे अधम-उधारन हैं। यह भी समझ रखना चाहिए कि कृपा का अर्थ सदाचार का विरोध या उसकी उपेक्षा नहीं है। वस्तुतः इस आश्वासन के द्वारा सहज ही मन के कलुष को दूर कर उसमें प्रभु के शील की प्रतिष्ठा होती है।

१—विनय०, १६१। २—वही, २११। ३—वही, १३६। ४—वही, २७०। ५—वही, ८४।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि कृपाकांक्षी कुछ न करें। क्रिया और कृपा के सिद्धांतों का समाहार करने के लिए तुलसीदास ने यह मार्ग निकाला है कि भक्त अपनी ओर से अपने प्रेम के नेम का निर्वाह करता जाए, इसके अतिरिक्त जो कुछ करणीय है, वह प्रभु के ऊपर छोड़ दे। कायिकी और वाचिकी क्रिया का मूल मानसी क्रिया है। सर्वप्रथम भक्त अपने मन में दृढ़ संकल्प करे कि अबतक तो जीवन नष्ट हुआ सो हुआ पर अब नष्ट नहीं करूँगा। अवश्य ही इस संकल्प के मूल में भी रामकृपा ही है, किंतु उसके साथ साथ यह चेतन संकल्प भी अवश्य है कि भवनिशा के बीत जाने पर, जाग जाने पर अब नहीं सोऊँगा। मन मधुकर को श्रीराम के पद-कमलों में बसा दूँगा।[१] जानकीजीवन श्रीराम के ऊपर न्यौछावर हो जाऊँगा और उनके चरणों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। अपनी समस्त इंद्रियो को राममय कर दूँगा और प्रभु को ही अपना समस्त दायित्व सौंप दूँगा।[२] इसके बदले प्रभु से कुछ नहीं चाहूँगा। न मोक्ष, न बुद्धि, न संपत्ति, न रिद्धि-सिद्धि, न विपुल बड़ाई ही, केवल यही याचना करूँगा कि राम के चरणों में अनुदिन अहेतुक अनुराग बढ़ता जाए।[३] एक बार यह नेम लेने पर फिर इस एकांगी दुर्गम मार्ग पर चलना आरंभ कर क्षण क्षण छाया में विश्राम करने की दुर्बलता छोड़ देनी चाहिए। स्मरण रखना चाहिए कि अपना भला अपनी ओर से अपने नेम को निर्विघ्न निभाने से ही हो सकता है—

> एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं।
> तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं॥[४]

यह नेम और कुछ नहीं राम घनश्याम के लिए पपीहा बनने का तुलसी का प्रेम-प्रण है।

> देहि मा ! मोहि प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनस्याम, तुलसी पपीहा।[५]

चातक की ही भाँति एकांगी प्रेम करना ही तुलसी का भी आदर्श है। भले ही बादल ठीक समय पर बरसे या जन्मभर उदासीन रहे, तो भी उसी की आशा में रहना एकांगी प्रेम है। ऐसा प्रेम प्रेमपात्र की कठोरता और उपेक्षा से भी मरता नहीं और दृढ़ होता जाता है। ऐसे घनिष्ठ प्रेम के चलते प्रभु के शील का आधान भक्त में स्वतः होता जाता है और उसकी समस्त दुर्वासनाएँ छूटती जाती हैं। राम की रीति को जाने बिना लोग वृथा ही अनेक साधनों में पचते मरते हैं। अतः उनकी रीति को जानकर निश्छल भाव से उनकी शरण में जाना कल्याण का निश्चित मार्ग है। कृपा प्राप्त जनों की रहनी इस बात को एक दम स्पष्ट कर देती है कि कृपा से सदाचार की पराकाष्ठा का जीवन में उतरना संभव है। तुलसीदासजी

१—वही, १०५। २—वही, १०४। ३—वही, १०३। ४—वही, ६५।
५—वही, १५।

का मनोराज्य है कि कभी इस प्रकार भी रहूँगा, कृपालु श्रीरघुनाथ की कृपा से संतों का स्वभाव ग्रहण करूँगा। यथालाभ संतुष्ट रहकर किसी से कुछ नहीं मागूँगा, परहित में निरंतर लगा रहूँगा और मनसा वाचा कर्मणा इस नियम को निभाऊँगा। दुःसह कठोर वचनों को सुनकर भी उनकी आग में नहीं जलूँगा, मान का त्याग कर शीतल मन से सम व्यवहार करूँगा और दूसरों के गुण ही कहूँगा, दोष नहीं। देह जनित चिंता को छोड़कर दुःख सुख को समबुद्धि से सहूँगा। हे प्रभु इसी पथ पर रहकर मैं अविचल हरिभक्ति प्राप्त करूँगा।[१] भगवान् की प्राप्ति में जिन साधनों को वे सहायक मानते हैं, उनका उल्लेख संक्षेप में 'जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु'[२] पद में करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् को भजना चाहो तो हे मन! विषय विकारों को त्यागकर संसार सार रूपी प्रभु को भजो और अभी भी जो मैं कहता हूँ वही करो। शम, संतोष, अति विमल विचार और सत्संगति इन चार का दृढ़तापूर्वक अवलंबन करो और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष आदि का निश्शेष रूप से त्याग करो। कानों में हरिकथा, मुख में रामनाम और हृदय में हरि को धारण करो, उनकी शिरसा वंदना करो, उनकी सेवा करो तथा उनका अनुसरण करो। नेत्रों से चराचर जगत्‌रूपी कृपा-समुद्र श्रीराम को प्रत्यक्ष करो। यही भक्ति वैराग्य ज्ञान है, यही हरि को संतुष्ट करनेवाला शुभ व्रत है, इसका आचरण करो। इस शिवमार्ग पर चलते हुए स्वप्न में भी डर नहीं रह जाता। साफ है कि कृपाकांक्षी भक्त को तुलसीदास अपनी ओर से जिस एकांगी प्रेम नेम और व्रत का उपदेश देते हैं, वे सदाचार के नितांत अनुकूल हैं और क्रिया की महत्त्वपूर्ण सहयोगी भूमिका को स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

किंतु तुलसीदास यह भी जानते हैं कि इन क्रियाओं से प्रभु की कृपा होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। कृपा से प्रभु पूर्ण स्वतंत्र हैं, वे अहेतुकी हैं, साधन होने पर भी संभव, उनके होने पर भी न होना संभव और न होने पर भी होना संभव है। कृपा, साधन संपन्नों की तुलना में, दीन हीन पर अधिक होती है, भक्तों की यही मान्यता है। तुलसी भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार राम की बड़ाई ही यही है कि वे अमीरों, समर्थों की उपेक्षा कर गरीबों पर अधिकतर कृपा करते हैं। देवगण साधन करते करते थक जाते हैं, उन्हें तो स्वप्न में भी दर्शन नहीं देते, किंतु केवट, कुटिल, कपि, भालू, राक्षस आदि को भाई बना लेते हैं।[३] तुलसी को भय है कि वे गरीबी भी नहीं अपना सके हैं, अतः उनकी प्रार्थना है—

> नाथ गरीबनिवाज़ हैं, मैं गही न गरीबी।
> तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी॥[४]

१—वही, १७२। २—वही, २०५। ३—वही, १६५।
४—वही, १४८।

प्रभु आप अपनी ओर से जो कर सकें करलें। यह अपनी ओर से का सिद्धांत तुलसी ने भक्त और भगवान् दोनो पर लागू किया है। भक्त अपनी ओर से उपर्युक्त साधनों में जो बन पड़े निष्ठापूर्वक करे, किंतु उन सब साधनों को करते हुए भी यही समझे कि उसने कुछ नहीं किया। तभी वह प्रभु से कह सकेगा कि मेरे आचरणों की ओर नहीं अपने नामप्रताप, गुण, प्रण, स्वभाव की ओर देखकर मेरे ऊपर कृपा करो। तुलसी ने बारबार कहा है—

जौं चित चढ़ै नाम-महिमा निज गुन-गन पावन पन के।
तौ तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के।[1]
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौं गति मन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।[2]
जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं।
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहिं सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं।
नाथकृपा भवसिंधु धेनुपद सम जिय जानि सिरावौं।[3]

'अपनी ओर देख कर प्रभु कृपा करते हैं' कहने का अर्थ ही है कि वे अहेतुकी कृपा करते हैं। तुलसी ने स्पष्ट कहा भी है—

बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार मायातारनं।[4]
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरौ सकल भवभीर।[5]

इसी भूमिका पर तुलसी कहते हैं कि प्रभु आप तो बिना सेवा, गुण, सामर्थ्य के ही दीन शरणागतों को निहाल कर देते हैं, अतः उसी भाव से मुझे भी अपना लीजिए, मेरा मनोवांछित दान मुझे दीजिये—

सेवा बिनु, गुन-बिहीन दीनता सुनाए।
जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए॥
तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू! चकोर मोहिं कीजै॥[6]

प्रभु की कृपा की अभिलाषा दिनोंदिन तीव्र होती जाती है, क्योंकि वही एक मात्र संबल है। तुलसी को यह भी समझ में नहीं आता कि वे प्रभु की कृपा को प्राप्त करने के लिए क्या करें, कहाँ जाएँ। वे देखते हैं कि एक तरफ तो पांडव हैं, जिनकी उत्पत्ति की कथा सुन-सुन कर सत्पथ डर गया था, गर्भगत परीक्षित हैं, जो कुछ भी साधन करने में नितांत असमर्थ थे, अजामिल, गणिका आदि जैसे पापी

१—वही, ९६। २—वही, ९०। ३—वही, १४२। ४—वही, ९।१३६। ५—वही, १४४। ६—वही, ८०।

हैं, दूसरी तरफ राजा नृग जैसे पुण्यात्मा हैं, दैत्य नमुचि जैसे समर्थ हैं, जो अजर अमर थे, वज्र से भी अवध्य थे। किंतु प्रभु की कृपा पांडवों, परीक्षित, अजामिल आदि पर ही हुई। अतः स्वाभाविक रूप से तुलसी कह उठते हैं--

> केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तो न जानि पर्‍यो।
> तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खर्‍यौ॥[1]

किस आचरण से प्रभु प्रसन्न होते हैं, यह जैसे जानना असंभव है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे किस समय प्रसन्न होंगे। अतः भक्त यही कर सकता है--

> नाथ-कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।
> होइ धौं केहि काल दीनदयालु जानि न जाति॥[2]

कृपा के लिए खड़े खड़े पंथ जोहना आलस्य या अभिमान का द्योतक नहीं है। तुलसीदास इसी पद में आगे लिखते हैं कि मैंने तो सद्गुणों, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि श्रेष्ठ साधनों का सहारा लेना ही चाहा था, किंतु कलि के पापों और दुर्गुणों को देखकर वे विकल होकर भाग गए। अत्यंत अनीति और कुरीति होने के कारण पृथ्वी सूर्य से भी अधिक तपने लगी है, कहाँ जाऊँ, मेरे लिए कोई स्थान ही नहीं है, मेरी मति विकल हो गई है, अब स्वयम् अपने सहित कोई मेरा अपना नहीं रहा। इस कठिन परिस्थिति में हे पिता! तुलसी की सफल धान की खेती को सूखने से बचाने के लिए श्यामघन की भाँति आप ही उसे कृपापूर्वक सींच दीजिए। स्पष्ट है कि यह कृपा का पंथ दिन रात देखते हुए खड़े रहना उस असहाय असमर्थ मार्जार-किशोर की भाँति है, जो पड़ा पड़ा सोचता रहता है कि माँ आए तो जहाँ ले जाना हो स्वयम् अपने मुँह से पकड़ कर, उठाकर ले जाए। पं० रामकिंकरजी उपाध्याय इसमें चतुराई देखते हैं और समझते हैं—'गोस्वामीजी ने बड़े व्यंग्य भरे शब्दों में भगवान् राम से कहा कि प्रभु अगर आपकी कृपा के आने का मार्ग निश्चित होता तो मैं चल पड़ता, पर आपकी कृपा न जाने किन किन रास्तों से चलकर आ जाया करती है। अतः नाथ कृपा ही को पंथ चितवत हौं दिन रात, अब मैंने निर्णय कर लिया है कि जाओ मत कहीं, यहीं चौराहे पर बैठे रहो। तो अब आपकी कृपा जिस मार्ग से चलकर आएगी, उसी मार्ग में हमें प्राप्त हो जाएगी। अगर आप यह बता दीजिए कि आपने अपनी कृपा का मार्ग निर्धारित कर दिया है या आप ऐसे करेंगे तो चलूँ उसी मार्ग पर।'[3] किंतु पूरे पद के प्रसंग में यह अर्थ ठीक नहीं लगता। इस अर्थ में उद्धृत पंक्ति में संभवतः भूल से दीन शब्द छूट गया है और वह शब्द भी इस अर्थ का निषेध करता है। यह सच है कि गोस्वामीजी

१—वही, २३९। २—वही, २२१।
३—'चातक चतुर राम श्यामघन के', पृ० ११३।

ने सुतीक्ष्णजी जैसे समर्थ भक्तों की प्रेम लपेटी अटपटी चतुराई पर प्रभु को रीझते भी चित्रित किया है, किंतु अपने को उन्होंने इसका अधिकारी कभी नहीं माना। अपने लिए तो वे विनयपत्रिका में यही लिखते हैं—

यहाँ को सयानप अयानप सहस सम, सूधौ सत भाय कहे मिटति मलीनता।[1]

राम के दरबार में की गई चतुराई सहस्रों अज्ञान के बराबर है, सीधे सच्चे भाव से कहने से ही मलिनता मिट जाती है। हमें तो यही लगता है कि सब तरफ से निराश होकर अत्यंत आर्त भाव से प्रभुनिर्भरता को ग्रहण करने की, उनकी ही इच्छा को सर्वोपरि मान लेने की, यह विनीत स्वीकृति है। यह प्रतीक्षा कितनी करुण है। ज्यों ज्यों विलंब होता है, त्यों त्यों भक्त की आर्ति बढ़ती जाती है। कभी वह विनय करता है—

तुलसी की तेरे ही बनाए, बलि बनैगी। प्रभु की बिलंब-अंब दोष दुख जनैगी॥[2]

विलंब रूपी माँ से दोष दुःख के अतिरिक्त और क्या उत्पन्न हो सकता है? विरह की छटपटाहट से बड़ा दुःख और क्या हो सकता है और कलिकाल तो ताक में है ही, प्रभु की ढील होते ही वह भक्त को दोष-कोष बना देगा, उससे उत्पन्न दुःख और भी भयंकर होंगे। कभी मान भरे शब्दों में पूछ उठता है—

कृपा सोधौं कहाँ बिसारी राम?
जेहि करुना सुनि श्रवन दीन-दुख धावत हौ तजि धाम॥[3]

कभी अत्यधिक अधीर होकर प्रभु के द्वार पर धरना देकर प्रभु की ही शपथ कर बैठ जाता है कि बिना प्रभु के अपनाए मैं उठूँगा ही नहीं। बाल्हठ करते हुए कहता है—

हौं मचला लै छाँड़िहौं जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिए बलि, बिलंब न कीजिए, जात गलानि गर्‌यो हौं॥
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइए तुलसिहिं कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं॥[4]

प्रभु कृपा करके अपना लें प्रकट नहीं तो मन में ही सही, यह आग्रह भी जीवन-अवधि को अत्यंत निकट देखकर छूट जाता है। तब यही बात रह जाती है कि जैसे और बहुत से पतित साधनों के बिना ही केवल तुमसे किसी न किसी प्रकार संबंधित होने के कारण तर गए, वैसे ही मुझे भी कृपा, कोप, सहजभाव धोखे से या तिरछे भाव से ही सही, जो आपको अच्छी लगे ऐसी किसी भी दृष्टि से देखकर शीघ्र ही अपना लीजिए, लेकिन अब और ढील नहीं सही जाती—

१—विनय०, २६२। २—वही, १७९। ३—वही, ९३। ४—वही, २६७।

बहुत पतित भव-निधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे।
कृपा, कोप, सति भाय हूँ, धोखेहुँ, तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे।
जौं चितवनि सौंधी लगै चितइए सवेरे।
तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।[1]

इस आर्ति से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि तुलसीदास को प्रभु-कृपा नहीं प्राप्त थी। बात बिलकुल उलटी है। उन्हें भरपूर कृपा प्राप्त थी। इसलिए इतनी प्रखर आर्ति का वे अनुभव करते थे। सीधी सी बात है, जो जितना अंतरंग है, जिसका प्रेम जितना प्रगाढ़ होता है, वह उतनी ही उत्कट विरह-वेदना का अनुभव करता है, वियोग में तो करता ही है, भक्तों की भावना के अनुसार मिलन में भी पलकांतर, यहाँ तक कि प्रत्यक्ष विरह का भी अनुभव करता है। तुलसीदास की इस आर्ति के पीछे भी उनकी वही प्रेम-तृषा है, जिसका बढ़ना ही वे अच्छा समझते हैं, क्योंकि उसके घटने से तो प्रेम की मर्यादा ही भंग हो जाएगी। वैसे तुलसीदास ने विनयपत्रिका में ही अपने ऊपर प्रभु की कृपा के कई संकेत दिए हैं। समाज-हित के लिए कलि पर अंकुश रखने की तुलसीदास की प्रार्थना प्रभु ने स्वीकार की थी—

बिनती सुनि सानंद हेरि हंसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-बिजई है॥[2]

व्यक्तिगत रूप से भी तुलसीदास को चित्रकूट में भगवान् की कृपा की अनुभूति हुई थी, इसके सांकेतिक उल्लेख उन्होंने कई स्थलों पर किए हैं—

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करि सो।[3]

प्रभु की कृपा से तुलसी का भला हुआ है और वे उसी प्रकार निश्चिंत हैं, जैसे माता-पिता के राज में बालक, ऐसा भी उन्होंने कहा है—

मोको भलो रामनाम सुरतरु सों, रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के॥[4]

इतना ही नहीं वे राम की कृपा प्राप्त करके बैर से भयभीत नहीं होते, क्योंकि भक्त का तो कोई बाल बाँका नहीं कर सकता—

जोपै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै?
होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै॥
... ...
हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै?
तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥[5]

१—वही, २७३। २—वही, १३९। ३—वही, २६४। ४—वही, २२५।
५—वही, १३७।

तुलसीदास के इन अनुभवों से यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार प्रभु की कृपा भक्त को परितृप्त, शोकरहित और निर्भय बना देती है। अपने ऊपर चरम कृपा का अनुभव करके ही तुलसीदास लिख सके थे कि उनकी विनयपत्रिका प्रभु ने स्वीकार करली—

> कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
> बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।[1]

आरंभ में उठाए हुए प्रश्नों का इस पूरे विवेचन से जो समाधान निकलता है, उसका सारांश यही है कि तुलसी के मतानुसार मानव के चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति की सिद्धि के लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है, केवल उसकी अपनी क्रियाएँ इसके लिए नितांत अक्षम हैं। कृपा क्रिया से पूर्णतः स्वतंत्र है, किंतु अपने भले के लिए भक्त को अपनी ओर से अपने नेम का निर्विघ्न पालन करना चाहिए और भगवान् से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे उसके आचरण की ओर देखकर नहीं, अपने नाम प्रताप गुण स्वभाव की ओर ···एक शब्द में अपनी ओर देखकर उस पर कृपा करें। इस सिद्धांत से कृपा की पूर्ण स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण रहती है और उसमें क्रिया का भी समाहार हो जाता है।

१—वही, २७९।

डा० वचनदेवकुमार

विनयपत्रिका का एक पद

['विनयपत्रिका' गो० तुलसीदासजी की सबसे प्रौढ़ साहित्यिक कृति है। यहाँ उसके एक पद की भक्ति-दर्शन परक व्याख्या करते हुए साहित्य, संगीत और कला विषयक विशेषताओं का पांडित्यपूर्ण उद्‌घाटन किया गया है। इससे उक्त सभी क्षेत्रों में कवि के सम्यक् ज्ञान एवम् व्यापक प्रतिभा का बोध सरलता से हो जाता है।]

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जलप्रबाह, सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥

—विनयपत्रिका, १६७।

प्रस्तुत पद में महाकवि तुलसीदास ने भक्ति-तत्व पर सम्यक् प्रकाश विकीर्ण किया है। उनका कथन है कि रघुपति की भक्ति करने में बड़ी कठिनाई है। भक्ति के विषय में कुछ कह देना बड़ा सरल है, लेकिन उसका संपादन उतना ही जटिल है। जो कोई जिस कला में निष्णात है, उसके लिए वही कला सुलभ एवम् सुखप्रद है। उदाहरण स्वरूप मछली तो सुरसरिधार के समक्ष चली जाती है, लेकिन भीमकाय गजराज उस प्रवाह में ठहर नहीं पाते, बह जाते हैं। पुनः कहते हैं कि यदि धूलि में शर्कराकण मिल जाय तो बल-प्रयोग द्वारा उसका बिलगाना असंभव है, लेकिन छोटी-सी रसज्ञ पिपीलिका बिना श्रम के उन्हें चुन लेती है। इसके अनंतर वे भक्ति-योग की प्रक्रिया पर विचार करते हैं। संसार के सकल संबंधों के ममतारूपी तागों को बटोरकर, अज्ञानरूपी निद्रा का त्यागकर जो सोता है, वही द्वैतभाव से मुक्त महायोगी परमात्मा के परमपद की आनंदानुभूति प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में न शोक रहता है न मोह, न हर्ष और न भय ही। दिन-रात का भय भी तिरोहित हो जाता है और देश-काल की सीमा भी लुप्त हो जाती है। किंतु जबतक इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती, तबतक संशय का पूर्णतया उच्छेद नहीं होता।

इस सामान्य अर्थ पर दृष्टिपात करने से कुछ प्रश्न बार-बार उठते हैं। ज्ञान का पंथ तो 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'[1] है ही। इसलिए सूरदास सुलभ भक्ति की महिमा गाते अघाते नहीं। अष्टछाप के दूसरे कवि परमानंददास ने भी कहा है कि इन सारे मार्गों की कष्ट साधना में शरीर को क्यों कष्ट देते हो, हरिभजन का सरल मार्ग तो सर्वसिद्ध है ही—

हरि के भजन में सब बात।
ज्ञान कर्म सो कठिन करि कत देत हो दुःख गातु॥

भक्ति-योग पर विचार करते हुए स्वामी विवेकानंद ने लिखा है—"भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे अंतिम उद्देश्य (ईश्वर) की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है।"[2] स्वयम् भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि सारे धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। जब उनकी शरण में जाने अर्थात् भक्ति में इतने प्रत्यूह हैं, तो भला उनकी शरण में कोई कैसे जायगा? श्रीमद्भागवत में व्यासजी ने भक्ति की सुगमता पर प्रकाश डालते हुए प्रह्लाद के मुख से कहलाया है कि अपने हृदय में आकाश के समान अवस्थित परमात्मा की उपासना में विशेष प्रयास ही क्या है?[3] स्वयम् महाकवि तुलसीदास ने भक्ति-पंथ को राजडगरसों माना है, जिसमें वक्रता, घुमाव, मोड़ आदि कुछ नहीं। यह तो बड़ा सरल मार्ग है। उसके लिए कुछ प्रयास अपेक्षित नहीं। भक्ति के लिए न योग चाहिए, न यज्ञ, न जप, न तप, न उपवास।[4] तो फिर यहाँ इस पद के द्वारा भक्ति की कठिनता की ओर ध्यान आकृष्ट करने का क्या तात्पर्य है? क्या राजपथ पर ऐसे बहुत आगए हैं, भीड़ अत्यधिक बढ़ गई है और इसलिए उनको भयभीत करने के लिए उन्होंने ऐसा लिखा है? पुनः जो जिस कला में निपुण है, उसके लिए वह कला बड़ी सुगम तथा सुखदायिनी हुआ करती है। यहाँ गोस्वामीजी का लक्ष्य किस ओर है? क्या मछली और चींटी ही इनके लक्ष्य हैं या इन दोनो अप्रस्तुतों के माध्यम से वे किसी गूढ़ तत्व का निर्देश करना चाहते हैं? अखिल दृश्यों को हृदयस्थ करने का रहस्य क्या है? निद्रा तजकर सोने में कौन-सी विलक्षणता है? द्वैत वियोगी कौन-सा रस अनुभूत करता है? आदि-आदि बहुत सी जिज्ञासाएँ पाठकों के मन को विक्षुब्ध कर देती हैं। शब्द इतने सरल कि कोश की आवश्यकता नहीं होती, अर्थ इतने जटिल कि लाख सर खुजलाने पर भी कुछ स्पष्ट नहीं होता।

महाकवि तुलसी ने विनयपत्रिका के सरल प्रतीत होनेवाले पदों में अपने चिंतन के सार को इस प्रकार समाविष्ट किया है कि इसका मर्मोद्घाटन एक कठिन साधन

१—कठो०, १।३।१४। २—भक्तियोग, पृष्ठ ६।
३—कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदिछिद्रवत्सतः। —भागवत, ७।७।३८।
४—कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
—मानस, उत्तरकांड, ४६।१।

ही है। सर्वप्रथम हम उपर्युक्त जिज्ञासाओं पर जरा विचार करें। भक्तों के लिए कुछ गुण अपेक्षित हैं, जैसे—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥[1]

अर्थात् भक्तों को सरल स्वभाववाला, कुटिलता से परे, परम संतोषी, वैर-विग्रह से मुक्त, विषय सुखों को तृणवत् समझनेवाला होना चाहिए, किंतु इसका निर्वाह कितना कठिन है, यह कोई करनेवाला अनुभवी साधक ही बतला सकता है। 'जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरलपन।'[2] लेकिन हाँ! जो जिस कला में पारंगत होते हैं, उनके लिए वही कला अत्यंत आसान मालूम पड़ती है। भक्ति कई प्रकार की कही गई है और उनके कर्ता भी कई प्रकार के हैं। मुख्यतया भक्ति के तीन भेद हैं—१. नवधा, २. प्रेमा और ३. परा।

नवधा भक्ति में बाह्य विधानों के द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है। इंद्रियधारी जीवों को इंद्रियों के स्वामी भगवान् की शरण में जाना चाहिए। 'हृषिकैश्च हृषिकेशवसेवनं भक्तिरुच्यते।'[3] इस नवधा भक्ति के नौ भेद हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, पादसेवन और आत्म-निवेदन।[4] श्रवण, कीर्तनादि के द्वारा इंद्रियाँ भगवान् की ओर प्रेरित की जाती हैं। इंद्रियाँ विषय-ग्रहण में निपुण हैं, इसलिए स्वयम् परमात्मा को ही अपना आलंबन बनाकर अपनी समग्र इंद्रियों को उनकी ओर उन्मुख करना चाहिए। इंद्रियों के लिए इससे सुलभ और हितकर कुछ हो ही नहीं सकता। हठयोग आदि अन्य पद्धतियाँ इंद्रियों के लिए बड़ी दुस्साध्य पड़ेंगी। अतः इसी नवधा भक्ति के द्वारा सुगमतापूर्वक ईश्वरार्चन की प्रेरणा कवि देता है। विषय प्रवृत्त इंद्रियाँ जीवों को पतन की ओर ले जाती हैं। अतः इससे मुक्ति का उपाय क्या है? इसलिए कविवर मछली का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। मछली जल-प्रवाह के साथ नीचे की ओर भी जाती है, और ऊपर की ओर भी। वह सन्मुख प्रवाह में बहती नहीं, वरन् लहरों को धक्का देकर, लाँघकर, उछलकर ऊपर की ओर चली जाती है। मन तथा इंद्रियाँ ही मछली हैं। विषयरत मन विनाश की ओर जाता है, जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है। अन्यत्र विनयपत्रिका में ही कवि ने लिखा कि विषय-रूपी जल से मन-रूपी मीन एक पल के लिए भी विमुख नहीं होता, इसलिए जीव दारुण विपत्ति सहता हुआ अनेकानेक योनियों में भटकता है।[5] इसलिए जीवों को विषय-प्रवाह से भक्ति के लिए ईश्वर-संबंधी दिव्य विषय प्रवाह के संमुख अपने को कर देना चाहिए, तभी ऊर्ध्व-गति संभव है।

१—वही, ७।४६।२,४६।५। २—सुमित्रानंदन पंत, 'गुंजन'। ३—नारदपाञ्चरात्र। ४—भागवतपुराण ७।५।२३। ५—विनयपत्रिका, १०२।

इसलिए परमपिता परमेश्वर को अपना चरम लक्ष्य मान लेने पर अमर्यादित विषय-प्रवाह का दर्प दलित हो जाता है। जीव मीनवत् तुच्छ हुआ तो क्या? वह भी भगवद्विषयानुरक्त है न? किंतु जो भगवान् विषयासक्त नहीं हैं, उन शक्तिशालियों का भी इस प्रवाह के समक्ष कुछ चलता नहीं। वे हाथी जैसे जीव भी बहा लिए जाते हैं। उनके बह जाने का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने इस प्रकार की भक्ति का अभ्यास नहीं किया, केवल वे अपनी स्थूलता पर ही गर्व करते रहे। यह जलप्रवाह गर्हित-कदर्थित नहीं, क्योंकि यह जागतिक विषयों के कल्मष से दूषित नहीं हुआ, वरन् यह रामभक्ति से पूत भागीरथी है। गीता में भी भगवान् ने कहा है कि मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा जो आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन कहते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव ही में रमण करते हैं, उन ध्यान, लगन तथा प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तों को, वह तत्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरे ही को प्राप्त होते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥[१]

अब दूसरे दृष्टांत पर ध्यान दें। इसके द्वारा प्रेमा भक्ति का निदर्शन अभीप्सित है। नारद मुनि ने भक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—'भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम को कहते हैं। वह अमृतरूपा है।'[२] अमृतरूपा यह इसलिए कही गई कि इसके द्वारा वासना का मूलोच्छेद हो जाता है, जो वासना मृत्युमय संसार का मूल कारण है। प्रेमी भक्त भगवान् के प्रेम की उमंगों में अहर्निश तल्लीन रहता है। 'सोवत, जागत, सपनवस, रस, रिस, चैन, कुचैन' में उस घनश्याम की सुरति बिसराई नहीं जाती। यह सकल संसार ही शुष्क मरुभूमि की भाँति है। माता, पिता, दारा, सुत आदि के प्रति सारे राग ही सिकताकण की तरह हैं। इसी में भगवान् की वत्सलता, अनुकंपा, करुणा तथा सुशीलता आदि गुण-रूपी शर्कराकण मिले हुए हैं। ईश्वर ने ही हमारा गर्भवास में दस महीने तक पालन किया,[३] फिर जन्म ग्रहण के अनंतर माता-पिता के रूप में पोषण भी किया।[४] जो जीव बिलकुल अज्ञ था उसे ज्ञान दिया, जो दुष्ट था उसे शील प्रदान किया।[५] उन्हीं से सारे संबंध स्फुरित होते हैं।[६] वे ही माता, पिता, गुरु आदि

१—गीता, १०।९, १०।

२—'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च'
— नारद-भक्ति-सूत्र।

३—विनयपत्रिका, १७। ४—वही, १६१। ५—वही, १७१। ६—वही, १९०।

हैं। इनको ध्यान में रखने से उनके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। इसलिए जो प्रेमी-भक्त हैं, वे ईश्वर के गुणों को जानते हैं और इस अपार संसार में भी रस ग्रहण कर सदा आनंदमग्न रहा करते हैं। ऐसे भक्त सफरी की तरह चपल-चटुल नहीं होते, वरन् ईषत् धीर गंभीर हुआ करते हैं। इनका कार्य प्रवाहारोह नहीं, वरन् रससंचयन है। ऐसे भक्त बड़े रसज्ञ हुआ करते हैं और इसलिए नवधा-भक्ति करनेवाले भक्त इनकी समता नहीं कर सकते। सिक्ताकण से शर्कराकण बिलगाना पिपीलिका के लिए बड़े कौतुक की बात है। इसके लिए बल-प्रयोग की बिलकुल आवश्यकता नहीं। लेकिन योगियों को इसके विपरीत कृच्छ्रसाधना करनी पड़ती है। सर्वप्रथम कुंडलिनी को जाग्रत कर फिर उसे ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों से भ्रमण कराया, विभिन्न चक्रो को भेदन किया और तब कुछ उपलब्ध हुआ। योगसाधक, जिसके लिए लंबी चौड़ी भूमिका बाँधकर भी कुछ प्राप्त कर नहीं पाता, उसे सहज ही पिपीलिका की तरह का भक्त प्राप्त कर लेता है। यह प्रेमा-भक्ति अति सुगम है और इसका जो रहस्य जानता है, वह ईश्वरीय आनंद की अनुभूति करता है। भक्तवर बैजनाथजी ने इसे संतृप्ति दशा बतलाई है—

> साधन शून्य लिए शरणागत नैन रंगे अनुराग नसा है।
> भूतल व्योम जलानिल पावक भीतर बाहर रूप बसा है॥
> चित्त बिना हम बुद्धिमयी मधु ज्यों मखिया मन जाई फँसा है।
> बैजसुनाथ सदा रस एकहि या बिधि सो संतृप्त-दसा है॥

आगे के चरण में कवि ने पराभक्ति का लक्षण निरूपित किया है। शांडिल्य-भक्ति-सूत्र में कहा गया है कि 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही पराभक्ति है। प्रेमाभक्ति में जब प्रगाढ़ता आ जाती है तब पराभक्ति कहलाती है। स्मरण, कीर्तन, वंदन, पाद-सेवन आदि से प्रेम उत्पन्न होता है (नवधा), पुनः अभ्यास द्वारा शनैः शनैः पुष्ट होता चलता है (प्रेमाभक्ति) और अंत में यही पुष्ट प्रेम उत्कृष्टता, तल्लीनता एवम् अनन्यता की शुद्ध भाव भूमि पर पहुँच कर पराभक्ति की आख्या प्राप्त करता है। इसलिए यदा कदा प्रेमा और परा भक्ति की क्षितिज-रेखा का निर्णयन बड़ा कठिन हो जाता है। इस पराभक्ति की अवस्था का आकलन रामचरितमानस में गोस्वामी ने बड़े मार्मिक रूप में किया है। जब भक्त-शिरोमणि सुतीक्ष्ण ने सुना कि वन में भगवान् राम का पदार्पण हुआ है, तो वे उनके दर्शनार्थ दौड़ गए। भवबंधन से विमुक्त करनेवाले प्रभु आज अपने मुखारविंद का दर्शन देंगे, इसकी कल्पना कर सुतीक्ष्णजी मन-ही-मन मुग्ध हो गए। उन्हें न दिशा-विदिशा का ज्ञान रहा और न पथ का भान रहा। वे कौन हैं तथा कहाँ जा रहे हैं? इसकी सुधि एकदम नहीं रही। उनकी एतादृश अवस्था देखकर भगवान् उनके हृदय में ही प्रकट हुए। हृदय-मध्य प्रभु के दर्शन पाकर सुतीक्ष्णजी मध्यमार्ग में अचल होकर बैठ गए। उनका शरीर पुलकभार से

पनसफल के समान कंटकित हो गया। तब भी रघुवीर उनके पास चले आए और अपने भक्त की प्रेम-दशा देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। भगवान् ने उन्हें बहुत प्रकार से जगाया, पर मुनि नहीं[1] जागे। वे सुध-बुध सब कुछ खो चुके थे। उन्हीं के प्रेमानंद में तल्लीन थे। ध्यानसुख के मार्ग में किसी प्रकार का आघात-व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ और इसलिए मुनि अविचल पड़े रहे।

ठीक इसी पराभक्ति का निरूपण अगली पंक्तियों में हुआ है। जरा इन वाक्य-खंडों पर ध्यान दें—"सकल हृदय-निज उदर मेलि', 'निद्रा तजि सोवै द्वैत वियोगी' तथा 'अनुभवै परम सुख"। सांसारिक अविरल दृश्यों से वीतराग होना ही दृश्यों को उदर में मेलना है। सृष्टि के सभी बिखरे प्रेम का वास्तविक केंद्र भगवान् की ओर ही है। अतः उनकी सभी प्रीति-प्रतीति भगवान् की ओर नियोजित कर देना ही सकल दृश्यों को उदरस्थ करना है। एक पद में कवि ने कहा है कि इस शरीर की जितनी प्रीति, प्रतीति और नातेदारी है, वे सब ओर से सिमटकर आपकी ओर हो जायँ।[2] जगत् तो भगवान् का शरीर है। चराचर जगत् नियाम्य और श्री रामचंद्रजी नियामक हैं। अतः जगत् के द्वारा होनेवाले सारे कार्य भगवान् की प्रेरणा से हुए हैं और इसलिए संसार के प्रति व्यक्त होनेवाले सारे प्रेम इन्हीं को अर्पित होने चाहिएँ। इसलिए रामचरितमानस में भगवान् ने विभीषण से कहा कि जननी, जनक-बंधु, सुत, दारा, तन, धन, भवन, सुहृद, परिवार आदि सबके ममत्व रूपी तागे को बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बनाकर उसके द्वारा जो अपने मन को मेरे चरणों में बाँध देता है, ऐसा सज्जन ही मेरे अंतस्तल में बसता है।[3] मतलब यह हुआ कि सांसारिक संबंधों का ईश्वरार्पण ही दृश्यों को उदरस्थ करना है।

अब जरा निद्रा त्यागने पर विचार करें। सुत, वित, दारा, भवन आदि की ममता अँधेरी रात के समान है। 'ममता तरुन तमी अँधियारी'[4] रात में देहाभिमान करना शयन है। यथा—

मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥[5]

विषयों से वैराग्य करके देहाभिमान त्यागना ही जागनाहै —

१—मानस, ३।१०। २—विनय० १०३।
३—जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
—मानस, ५।४८।४,५।
४—वही, ५।४७।३। ५—वही, २।९३।२-३।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा॥[१]

यही विषय का त्याग करना, निद्रा का त्याग करना है।

अगर विषय-वासना से बुद्धि कलुषित नहीं हो, तो द्वैत-बुद्धि के कारण ही 'अयं निजः परोवेति' की स्थिति होती है। जब ज्ञात चराचर जगत् के क्रिया-कलाप भगवान् के ही क्रिया-कलाप हैं, तो शत्रु, मित्र एवम् मध्यस्थ—ये तीन भेद करके किसी को सर्प की तरह छोड़ देना, किसी को स्वर्ण की तरह ग्रहण करना तथा किसी को तृण की तरह उपेक्षणीय समझना तो व्यर्थ ही है। द्वैत-बुद्धि के कारण नाना प्रकार से संसृति दुःख, संशय-दुःख सहने पड़ते हैं।[२]

जब मनुष्य द्वैत-भाव से मुक्त हो गया, चिंताविरहित हो गया, तब वह चैन की निद्रा में सोएगा। प्रगाढ़ निद्रा में जगत् के नानात्व की स्मृति नहीं रहती। इस अवस्था में भक्त योगी ईश्वरानंद में तल्लीन रहता है। इस परम पद-प्राप्ति का आनंद अनिर्वचनीय है, अकथ है। सारी कामना जब समाप्त हो गई, तब मनुष्य अमर हो जाता है और इसी शरीर में ब्रह्मानंद का साक्षात् भोक्ता होता है।[३]

इस परमानंद की अवस्था को योगियों की तुरीयावस्था ही समझिए। योगी जब पूर्णतया चित्तवृत्ति का निरोध कर, उस अदृष्ट आराध्य से संबंध जोड़ता है, तो वह इसी स्थिति में आ जाता है और अपने को आनंद की अजस्र धारा में निमज्जित पाता है। इस अवस्था में शोक मोह का आवरण नहीं रहता, क्योंकि नानात्व-दृष्टि समाप्त हो चुकी है।

इस समय साधक इतना तदाकार हो जाता है कि शोक मोहादि विकारों की छाया भी उसके चित्त-प्रदेश में नहीं रह जाती।[४] यहाँ तक कि स्वशरीर की भी सुधि नहीं रहती। इसलिए भगवान् में आसक्त प्रह्लाद जी सर्प-दंशन के बाद भी उसकी पीड़ा से अनभिज्ञ रह जाते हैं।[५] फिर जब शरीर की ही सुधि नहीं रही तो दिवस-रात्रि, देश और काल का भेद स्वतः तिरोहित हो गया। लेकिन जबतक मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त न कर ले तब तक भगवत्-प्राप्ति में शंशय बना रहता है। संशय का उच्छेद आवश्यक है, क्योंकि संशयात्मा का तो विनाश ही होता है।

विनयपत्रिका आद्यंत भक्ति रस से ओत-प्रोत है। कवि का हृदय सर्वत्र दलित द्राक्षा की तरह द्रवित हो उठा है। यदि तात्पर्य निर्णय के छह तत्वों पर विचार

१—वही, २।९३।४-५। २—विनय०, १२४। ३—कठोपनिषद्।

४—यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥—ईशोपनिषद्, ७।

५—स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसुस्थितः॥—विष्णुपुराण, १।१७।३९।

करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की सर्वोपरि महत्ता किस प्रकार सिद्ध की गई है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति इन्हीं के द्वारा कहा जा सकता है कि किसी कवि का क्या अभीष्ट था। कवि या लेखक अर्थवाद के द्वारा अपने विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है, जिससे कि दूसरे भी उस ओर प्रवृत्त हों। उपपत्ति के द्वारा विपक्ष का खंडन किया जाता है और स्वमत का मंडन।

चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते हैं।[1] योग किसी प्रकार का हो, चाहे हठयोग, मंत्रयोग, राजयोग या लययोग, भक्तियोग के समक्ष सभी तुच्छ हैं। इस भक्ति योग का आनंद सर्वोपरि है। इस योग में 'रस गगन गुफा में अजर झरै' के अजस्र आनंद से कम आनंद की उपलब्धि नहीं होती। फिर अन्य मार्गों में घर द्वार परित्यक्त करना पड़ता है, जटा-जूट बाँधना पड़ता है; यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम आदि न मालूम कितने गोरखधंधे अपनाने पड़ते हैं, किंतु नवधा भक्ति करनेवाले भक्त सांसारिक प्रवाह में बहते हुए भी भगवान् का ध्यान कर सकते हैं। पात्रों की योग्यता, सक्षमता के आधार पर तीनो प्रकार की भक्ति तीन प्रकार के उपासकों के लिए वांछनीय है। तीनो प्रकार की भक्ति से उपासकों के त्रिविध ताप दूर होते हैं। नवधा भक्ति से आध्यात्मिक ताप, प्रेम लक्षणा भक्ति से आधि-भौतिक ताप तथा परा भक्ति से आधिदैविक ताप दूर होते हैं। प्रह्लाद ने भगवान् की प्रेमा भक्ति की, तो हिरण्यकशिपु की यातना से मुक्त हुए, भरत ने प्रेमा भक्ति की तो दैव कुचक्र से उत्पन्न मनस्ताप से मुक्त हुए, अवधवासियों ने सगुण रूप भगवान् की आराधना की तो अल्प निधन, रोग, दारिद्र्य आदि से अस्पृष्ट रहे। यही अर्थवाद हुआ।

अब उपपत्ति पर विचार करें। तुच्छ सफरी और पिपीलिका जैसे जीव भी भक्ति के द्वारा ईश्वर-संधान में सफल हो सकते हैं। किंतु योगबल के दंभी महाशक्ति वाले भी भगवान् की भक्ति पाने में असमर्थ हैं। समर्थ योगी की उपमा बलवान् हाथी से अन्यत्र भी दी गई है। महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है कि हे राजन्! जैसे निर्बल मनुष्य जल-स्रोत के द्वारा बह जाता है, वैसे ही निर्बल योगी भी अवश होकर विषय प्रवाह में बह जाता है। जैसे बलवान् हाथी महास्रोत को तुच्छ समझकर अनायास ही रुद्ध करने में समर्थ होता है, वैसे ही योगबल प्राप्त कर योगी बहुत बड़े विषय प्रवाह से युद्ध करता है।[2] किंतु यहाँ

१—पातंजल योगसूत्र।

२—दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः।
बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः।
तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः।
तद्वद्योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून्।
—महाभारत, शान्तिपर्व, ३००।२२-२३।

पर गोस्वामीजी ने बड़े-बड़े योगियों का विषय-प्रवाह में बह जाना ही सिद्ध किया है। योग-मार्ग का खंडन ही उनका लक्ष्य है। जिस किसी ने भक्ति-पंथ के रहस्य को समझ लिया है, उसके लिए परमात्मा के वरद पद का आनंद प्राप्त कर लेना बड़ा सरल है।

विनयपत्रिका के टीकाकार श्रीबैजनाथ भट्ट ने विनय की सात भूमिकाएँ मानी हैं। वस्तुतः संपूर्ण विनय-साहित्य को इन सात भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये सात हैं—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण।

यह पद विचारण की भूमिका से लिखित है, जिसमें सिद्धांत निरूपण ही कवि का मुख्य ध्येय है। 'केसव कहि न जाय का कहिए' पद भी इसी कोटि में रखा जाता है।

प्रपत्ति की दृष्टि से इस पद का अध्ययन किया जाय तो उसके कोई न कोई भेद भी इसमें निहित मिलेंगे। भक्ति और प्रपत्ति में थोड़ा अंतर है। भक्ति साधन-रूपा है और प्रपत्ति साध्य-रूपा। प्रपत्ति में भक्त अपने को भगवान् का शरणागत समझता है। जब शरणागत हो गया तो उसपर प्रभु की अनुकंपा होगी ही। भला द्वार पर आए की खातिर कौन नहीं करता है? नारदपाञ्चरात्र का प्रपत्ति-संबंधी एक श्लोक इस प्रकार है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

अर्थात् आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का त्याग, भगवान् की रक्षा पर विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिवेदन तथा कार्पण्य ये ही छः प्रपत्ति के अंग हैं। इस पद में ऊपर से तो कार्पण्य नहीं झलकता, लेकिन सफरी और पिपीलिका—इन दो उपमानों पर ध्यान दें तो जीव की दीनता का रूप स्पष्टतः लक्षित हो जाता है। ईश्वर के समक्ष इस जीव का कोई अस्तित्व नहीं। उसकी विराटता के समक्ष मनुष्य या भक्त चींटी के तुल्य है। इसलिए चींटी का प्रयोग कर गोस्वामीजी ने अपना कार्पण्य प्रकट किया है।

तुलसी का अप्रस्तुत विधान बड़ा व्यापक एवम् विविध है। कभी कभी पर्युषित अप्रस्तुतों के अनावश्यक आम्रेडनवश पाठकों का मन ऊबने लगता है। किंतु इस पद में ऐसा दोषारोपण संभव नहीं। 'जो जेहि कला . . . . बहै गज भारी' में तथा 'ज्यों सर्करा . . . . बिनु प्रयास ही पावै' में दृष्टांत अलंकार है, क्योंकि उपमेयों, उपमानों तथा उनके साधारण धर्मों का परस्पर बिंब प्रतिबिंब भाव परिलक्षित हो रहा है। अनुप्रास प्रत्येक पंक्ति में है, अतः उसकी चर्चा निरर्थक है, भले कहीं

वृत्यनुप्रास है, कहीं छेकानुप्रास। 'निद्रा तजि जोगी सोवै' में आपाततः विरोध मालूम पड़ता है। इसलिए यहाँ विरोधाभास अलंकार मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं मालूम पड़ती।

विषय के अनुकूल भाषा का निर्वाह बड़ा आवश्यक है।[1] उत्कृष्ट भाषा में शब्दचयन पर ध्यान नहीं रखने से रचना का सौंदर्य विनष्ट हो जाता है। त्रिलोक-बिहारी, सगुणलीलावपुष, मूर्तिविग्रह, परमपावन, मंगलमय विभु के मंदिर में प्रविष्ट कर उनकी इबादत करना हमारा धर्म है या मैंने पिताजी को सैल्यूट किया आदि वाक्यों में प्रयुक्त विजातीय शब्द 'इबादत' और 'सैल्यूट' एकाएक धक्का दे देते हैं। विनोद व्यंग्य की भाषा और दर्शन के सिद्धांतनिरूपण की भाषा एक प्रकार की हो नहीं सकती। इस पद में भक्ति के गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन किया गया है। इसलिए कवि ने जान-बूझकर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया। सुगम, अपार, जल, प्रवाह, सुरसरि, सर्करा, सिकता, पिपीलिका, सकल, दृश्य, निज, उदर, निद्रा, परम, सुख, हरिपद, द्वैत-वियोगी, भय मोह, दिवस, काल आदि। जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का थोड़ा रूप बदला गया है, वहाँ पर भी छंद और सांगीतिकता को ध्यान में रखकर ही। सूक्ष्म को सूच्छम, अतिशय को अतिसय, शोक को सोक, दशा को दसा, निर्मूल को निरमूल करने के पीछे एक ही उद्देश्य है कि श्रुति-पेशलता द्विगुणित हो जाय। इस पद में एक भी देशज या विदेशज शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

शब्द योजना पर विचार कर लेने के पश्चात् ध्वनि पर विचार करें। वाच्य से अधिक उत्कर्षक, चारुता-प्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।[2] उत्तमोत्तम काव्य से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की विवक्षा की जाती है। इस पद की अंतिम पंक्तियों में 'तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं' में अर्थांतर संक्रमित वाच्य-ध्वनि है—जब तक मिथ्या ज्ञान का लोप नहीं होता, तब तक रघुपति की भक्ति सुलभ नहीं होती।

यह पद लयात्मक छंद में विरचित है। इसलिए कोई आवश्यक नहीं कि इसकी प्रत्येक पंक्ति मात्रिक छंद के नियमानुसार रचित हो। लेकिन कवि ने इस पद को मात्रिक वृत्त के अनुशासन में ही रखा है—

४				४				४				४		
।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	
र	घु	प	ति	भ	ग	ति	क	र	त	क	ठि	ना	ई।	= १६ मात्राएँ

१—'इस्टाइल मस्ट फॉलो द थिंकनेस ऑव् थॉट्स।'

२—चारुतोत्कर्षनिबन्धता हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।

—आनन्दवर्धन, 'ध्वन्यालोक'

६ ८ ८ ६
I I I I I I I I S I S I S S I I I I I I S S
कहत सुगम। करनी अपार। जानै सोइ जेहि। बनि आई। = २८ मात्राएँ

६ ८ ८ ६
I I I I S S I I S I I I I I I I I S I I S S
जो जेहि कला। कुसल ताकहँ। सोइ सुलभ सदा। सुखकारी। = २८ मात्राएँ

६ ८ ८ ६
I I S I I I I I I I S I I I I S I S I I S S
सफरी सन। मुख जल प्रवाह। सुरसरि बहै। गज भारी। = २८ मात्राएँ

इस प्रकार मात्रागणन और विभाजन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि टेक सोलह मात्राओं वाले पादाकुलक का एक चरण है, क्योंकि चार-चार मात्राओं के चतुष्कल बन जाते हैं और अवशिष्ट नौ पंक्तियाँ सार छंद की हैं, जिसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राओं और अंत में कर्ण का रहना अनिवार्य है।

यह संपूर्ण पद सोलह मात्रिक चौताल में बद्ध है। टेक के बाद की पंक्ति और अंतरा की सभी पंक्तियों के आदि और अंत में दो-दो मात्राओं की अभाव-पूर्ति आलाप, मीड़ या प्लुत-उच्चारण के द्वारा दी जा सकती है। गेयता के लिए बड़ा गुण मेरी दृष्टि में यही है कि उच्चारित वर्ण-मात्राओं और ताल-मात्राओं में थोड़ा अंतर अवश्य हो। मात्राओं की कुछ कमी जबतक नहीं रहेगी तबतक गायक अपने कौशल-प्रदर्शन में असमर्थ ही रहेगा या अत्यधिक कष्ट का अनुभव करेगा। गेयता-सौकर्य की दृष्टि से प्रस्तुत पद का छंदोविधान बड़ा उपयुक्त है। इस कथन की पुष्टि के लिए एक बात और कही जा सकती है कि यदि अंतरा की पंक्तियाँ त्रिभंगी, या पद्मावती छंद में होतीं तो गायन का यह सौंदर्य कब न विनष्ट हो गया होता।

छंद के साथ लगे हाथ संगीत-तत्त्व पर विचार कर लें। विनयपत्रिका के करीब-करीब मैंने दस-ग्यारह संस्करण देखे हैं और सारे संस्करणों में इस पद के ऊपर सोरठ राग लिखा है। संगीत शास्त्र की दृष्टि से सोरठ राग की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

सोरठ राग

राग—सोरठ	वर्जित स्वर—ग, ध आरोह में
थाट—खमाज	आरोह—सारे, मपनि सां
जाति—औडव-संपूर्ण	अवरोह—सांरे, निध, मपध, मरेनिसा
वादी रे,—संवादी ध	
स्वर—दोनो नि	समय—रात्रि द्वितीय प्रहर

वैसे तो यह पद सोरठ राग में बद्ध है, लेकिन गायक अपनी योग्यता और कुशलता के अनुसार राग परिवर्त्तित भी कर सकता है। हाँ! इस राग में गाया जाना शायद कवि को अभिप्रेत रहा होगा। राग को मुख्यतया तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—कोमल, शुद्ध और तीव्र। कोमल रागों के द्वारा भक्ति और करुणा के भाव अत्यधिक प्रेषणीय होते हैं। सोरठ राग कोमल राग ही है। अतः भक्तिरस की निष्पत्ति के लिए उस राग का चयन बड़ा उपयुक्त प्रतीत होता है। एक बात और ध्यातव्य है कि शास्त्रकारों ने प्रत्येक राग के गायन का समय भी निश्चित किया है। यह तत्व सर्वथा मनोवैज्ञानिक भी है कि हर घड़ी हमारी मनः-स्थिति एक धरातल पर नहीं होती। सोरठ राग के गाने का समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

समय और पद के भाव के संबंध पर थोड़ा ध्यान दें। कवि प्रातःकाल से सायंकाल तक जीव और जगत् की विभिन्न हलचलों, कर्ष-विकर्ष, राग-विरागों के बीच युद्ध करता चलता है। उषाकालीन सूर्य की अरुणाभ रश्मियाँ जब कोमल कोंपलों के कमनीय कपोलों पर आशा एवम् नवजागरण का नवसंदेश अंकित कर देती हैं, तो उस समय रात्रिकालीन शांति-क्लांति से मुक्त व्यक्ति भी जीवन की नई प्रभा से प्रोद्भासित हो उठता है। किंतु पुनः दिनभर की व्यस्तता और क्लिन्नता के कारण, उस समय अपने पर खेद होता है, जब वह रात्रि के समय बिछावन पर जाता है। जिसको उसने दिवस के आरंभ में बड़ा सुगम समझा था, उसे रात्रि आते-आते बड़ा कठिन मानने लगता है। तुलसी को इस तथ्य का ज्ञान हो गया है कि जिस भक्ति के कथारूप को उसने बड़ा सरल समझा था, उसका क्रियात्मक रूप उतना सरल नहीं। कवि की मनोवृत्ति से राग के समय-निर्धारण का संबंध भी बड़ी आसानी से बैठ जाता है। हम प्रायः इस पद की कुछ सूक्ष्मताओं पर अति संक्षेप में विचार कर चुके हैं। एक प्रमुख तत्व बचा रह जाता है। किसी भी उत्कृष्ट कविता के लिए भाव-धर्मिता और संगीत-धर्मिता के साथ-साथ चित्र-धर्मिता की अवस्थिति भी आवश्यक है। कविता के द्वारा 'बिंब-विधान' नहीं हुआ तो कवि की अक्षमता सिद्ध होती है। दार्शनिक सूत्रों और कविता में यही तो पार्थक्य है कि जिन सिद्धांतों को दार्शनिक पाठक के मस्तिष्क में बैठा नहीं पाता, कवि पाठक के मस्तिष्क पर उसका चित्र खींच देता है। तुलसी के इस पद में भी कई चित्र बनते हैं, मानस-फलक पर।

पहला चित्र—आगे लहराती गंगा की दुग्ध-धवल जलधारा। धाराओं पर सुनहली मछलियाँ क्रीड़ा कर रही हैं—एक नहीं, अनेक। बीच-बीच में एक दो आबनूस या अलकतरे के रंग के हाथी उतरा रहे हैं। बिलकुल स्वच्छ धवल पृष्ठभूमि या कैनभस पर सुनहले और काले रंगों के मिश्रण से बने चित्र कल्पना

की आँखों को बड़ी तृप्ति प्रदान करते हैं। वर्णों के इस सामंजस्य ने चित्र की मनोहारिता में चार चाँद लगा दिए हैं।

दूसरा चित्र—सामने सिकता का पारावार, जैसे अनंत तक सीपी के चूर्ण या चाँदी के पाउडर बिखेर दिए गए हों। उसपर काली-काली स्याही के छींटों जैसी असंख्य अध्यवसायी चींटियाँ चली जा रही हैं। हिमगिरि के रजत शिखरों पर काली वन-गायों का दृश्य जो दूर से लक्षित होता है—ऐसी ही कुछ आकृति मानस पर बनती है।

नीचे की पंक्तियों में चित्रात्मकता है, लेकिन बड़ी दुरूह, बड़ी दूरारूढ़। महाकवि कीट्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लामिया' में लिखा हैं—'ऑल चार्म्स फ्लाइ ऐट द टच ऑव् कोल्ड फिलॉसोफी' दर्शन के शीत-स्पर्श से सुषमाएँ तिरोहित हो जाती हैं। कविता में अत्यधिक दार्शनिक गुत्थियों के सन्निवेश के कारण काव्यास्वाद में बड़ी बाधा उपस्थित होती है। पाठक दर्शन के कूप में पड़कर काव्य के वास्तविक आनंद से वंचित रह जाता है। यद्यपि तुलसी के पदों में दार्शनिकता का पर्याप्त सन्निवेश है, लेकिन काव्य की मनोहारिता कभी भी विनष्ट नहीं होती। 'विनयपत्रिका' का एक-एक पद अपनी भक्ति-भावना, रस-पेशलता, अलंकारिता आदि गुणों का समवाय है, जिसका एक छोटा उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

'श्रीमुग्ध'

श्रीरामचरितमानस और योग

['योग' शब्द अनेकार्थवाची है। गीता में भी यह विविध अर्थों में प्रयुक्त है, किंतु 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०) ही उसमें विवक्षित समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कर्म करने की विशेष प्रकार की कुशलता, साधन या युक्ति 'योग' है। अधुना 'योग' शब्द प्राणायाम आदि साधनों से चित्तवृत्तियों या इंद्रियों को निग्रह करने अथवा पातंजल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

श्रीरामचरितमानस ऐसा अलौकिक महासागर है, जिसमें डुबकी लगानेवाले को यथावांछित की उपलब्धि अवश्य होती है। जो जिस दृष्टि से इसका मंथन करता है, उसे वही इसमें दिखाई देता है। साधक की दृष्टि से अध्ययन करने पर इसमें योग विषयक जो तत्व दृष्टिगोचर हुए, उन्हीं का उद्‌घाटन प्रस्तुत निबंध में किया गया है। यह मानस-अध्ययन की नई दिशा की ओर इंगित करता है। अतः महत्त्वपूर्ण है।]

गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत श्रीरामचरितमानस भक्तिप्रधान एक महान् एवम् अनुपम कृति है। प्रस्तुत लेख में उसके योग विषयक तत्वों के उद्‌घाटन का प्रयास किया गया है। कहाँ महान् तत्वज्ञ कर्मठ योगी गोस्वामी तुलसीदासजी कृत सर्व-दर्शन संपन्न मानस और कहाँ सामान्य विद्या बुद्धि वाला मैं भोगी। मेरे लिए उसमें निहित योग-तत्व का विमर्श हास्यापद ही है। फिर भी—

जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान॥ —मानस, १।१।०।

के अनुसार मैं चेष्टा तो कर ही सकता हूँ।

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। इसका एक अर्थ अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति भी है। पातंजल योग-दर्शन में 'योगः समाधिः' कथित है, जो समाधि अर्थ को अभिव्यक्त करता है। सामान्य रूप से इसका अर्थ 'जोड़ना', 'युक्त करना' प्रचलित है। प्राचीन साहित्य में 'योग' शब्द अनेक प्रकार से व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। परंतु इसके आध्यात्मिक अर्थ में क्रिया-भेद होने पर भी मूल अर्थ में समानता है। जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग, चंद्र और सूर्य का मिलन, शिव और शक्ति का सामरस्य, चित्तवृत्ति का निरोधादि किसी भी प्रकार से कोई लक्षण किया जाय, इसके मूल में विशेष भेद का अवकाश नहीं है।

योगवाशिष्ठ में कुंडलिनी शक्ति की जागृत अवस्था प्राप्त होने पर उसके द्वारा उपलब्ध होनेवाली सिद्धियों का वर्णन आया है। कुंडलिनी शरीर के मर्मस्थान में होती है। इसका रूप अर्ध ओंकार या चक्र के आकार का है। यह ठंड के भय से कुंडली मारकर सुप्त सर्पिणी के सदृश सुषुप्त रहती है। इसके भीतर होनेवाला वीणा का सा स्पंदन एक पराशक्ति है, जो प्राणीमात्र की परम शक्ति और उन्हें गति देनेवाली है। पाँचो ज्ञानेंद्रियों का बीज यही कुंडलिनी है और वह बीज प्राण के द्वारा संचालित होता है। यह उर्ध्वमुखी है। जागृत होने पर इसका प्रभाव अपने स्थान नाभि-प्रदेश से प्रवहमान होकर हृत्कमल और हृत्कमल से मूर्धन्यस्थान ब्रह्मरंध्र को प्राप्त होता है। नैत्यिक संध्योपासन में प्राणायाम के द्वारा इसी में उद्बोधन करने की क्रिया निहित है। योगिजन इसका पूर्ण उद्बोधन उस अवस्था में मानते हैं, जब साधक पूरक प्राणायाम के द्वारा प्राण को शरीर से द्वादश अंगुल दूर स्थित करने की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति के सुदृढ़ होने पर योगी को अणिमादि अष्ट सिद्धियां तथा मनोभव या मनोजव नाम की सप्तदश उपसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। फिर भी ब्रह्म से वह दूर ही माना जाता है। ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए योगी इस कुंडलिनी को भष्मीभूत कर धूम्र रूप से आकाश में विलीन करता है, जहाँ उस ब्रह्म से उसका संयोग होता हैं, जो शब्द रूप में संपूर्ण आकाश में व्याप्त है। ऐसी स्थिति में पहुँच जाने पर योगी स्वयम् सत् चित् आनंद है, परम आत्मन् हैं। दृश्य अदृश्य का वही कारण है। वह विवर्त है। रज्जु में अब उसे सर्प की भ्रांति नहीं होती। वह अत्यंत सूक्ष्म और सर्वव्यापी है। वह पूर्णस्वरूप सच्चिदानंद है। चैतन्य होने से वही चित् हैं, आनंदमय होने से आनंद है। वह समान भाव से सब में व्याप्त है। वही अमृत है। वही शब्द है। वही अक्षर है।

परंतु इसके लिए विवेक, विराग, यम-नियम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, गुरु और समाधि की आवश्यकता होती है। इतना होने पर तब शब्द ज्ञान की प्राप्ति होती है।

योग-साहित्य में शब्द-योग या वाग्-योग प्रणाली का जो उल्लेख प्राप्त होता है, उसमें 'शब्द' को प्रधान मानकर साधक साधना करता है। 'शब्द ही ब्रह्म हैं' यही उसका सिद्धांत होता है। उपनिषद्कार का भी यही कथन है—

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।[१]
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है और इस अक्षर को जान लेने पर मनोवांछित की उपलब्धि सहज ही सुलभ हो जाती है।

इस शब्द-रहस्य को तुलसीदासजी ने जान लिया था, अतः उन्होंने सर्वप्रथम वर्ण (अक्षर) को ही प्रधानता दी—

१—कठो०, अ०, १।२।१६।

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ॥[1]

अब इसका वैशिष्ट्य देखिए। यह अनुष्टुप् छंद है। आदि कवि वाल्मीकि ने भी अपनी रचना का श्रीगणेश इसी अनुष्टुप् छंद से ही किया था--

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेक मवधीः काममोहितम् ॥[2]

लघु-गुरु के भेद से अनुष्टुप् छंद के आठ भेद होते हैं और योग को भी अष्टांग कहा गया है। अनुष्टुप् चार चरणों का होता है, जिसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं, इस प्रकार उसमें बत्तीस वर्ण होते हैं। अष्टांग योग के भी एक-एक के चार-चार भेद होकर बत्तीस भेद बनते हैं। अस्तु।

गोस्वामीजी उस विनायक की वंदना करते हैं, जो परब्रह्म हैं, अक्षर रूप हैं और मंगल के कर्ता हैं। अर्थसमूह को लेकर छंद रस-रूप बनता है, जिसे शक्तिरूपा वाणी प्रगट करती हैं। 'विनायक' का पर्यायवाची 'गणाधिप' है— 'विनायको विघ्नराज द्वैमातुर गणाधिपः'[3] ब्रह्मवैवर्तपुराण में गणाधिप को परंब्रह्म की संज्ञा दी गई है—

ज्ञानार्थवाचको गश्चणश्च निर्वाणवाचकः ।
तयोरीशं परंब्रह्म तं गणेशं प्रणामाम्यहम् ॥

इतनी अर्थपूर्ण सुंदर भावानुभूति योगी-हृदय ही को हो सकती है।

वर्ण के साथ वर्ण का योग होने पर शब्द बनता है। शब्द से वाक्, वाक् से अर्थ, अर्थ से ज्ञान, ज्ञान से स्थिरता और स्थिरता से समाधि प्राप्त होती है। अतः ज्ञानयोग को सर्वश्रेष्ठ योग माना गया है।

परम श्रद्धेय पं० गोपीनाथजी कविराज का कथन है कि 'जिन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय और उसकी सांप्रदायिक प्राचीन व्याख्या का अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योग की बात अवश्य ज्ञात होगी।' उनका मत है कि जिसने एक शब्द भी साध लिया है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं हैं, वह पूर्ण है और सर्वशक्ति संपन्न है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराज इस शब्द-भेद को लेकर व्यंग्य करते हैं—"नहि नहि रक्षति 'डुकृञ्' करणे।" तात्पर्य यह है कि जब तक वास्तविक शब्द को सिद्ध न कर लोगे 'डुकृञ्' तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ रहेगा।

१—मानस, मं० श्लो० १। २—वाल्मीकि रामायण, १।२।१५।
३—अमरकोष, स्वर्ग वर्ग, श्लो० ३८।

गोस्वामीजी ने इस सत्य को पा लिया था। इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम शब्दों को अपनाया। शब्द थे—'श्री रा म च रि त मा न स'। इनमें नौ वर्ण और बाहर मात्राएँ हैं। 'श्री' सीता का रूप है, जो स्वरशक्त्यनुसार शक्ति है, माया है। 'राम' ब्रह्म हैं। माया और ब्रह्म का चरित्र जहाँ जाना जा सके वह केंद्र है 'मानस', अंतरात्मा। तुलसीदासजी जब 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी' (१।१२०।६।) और माया ब्रह्म दोनो को संमिलित कर यह कहते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥[1]

तब उनका योगत्व स्पष्ट हो जाता है।

माया और ब्रह्म के भेद को सिद्ध योगी ही जान सकता है, सामान्य साधक की बुद्धि के वह परे है। योग का मार्ग अति कठिन है। इसलिए गोस्वामीजी निर्देश करते हैं—

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरं॥[2]

अर्थात् श्रीशंकर जैसा दृढ़ विश्वास, जो हलाहल पान करते समय उनमें था और भवानी सदृश श्रद्धा, जो जन्मजन्मांतर में उन्होंने दर्शायी, होने पर ही सिद्धजन ईश्वर का दर्शन पा सकते हैं। अन्यथा श्रद्धा और विश्वास के अभाव में योगमार्ग पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। योगमार्ग में पग-पग पर आनेवाली कठिनाइयों से गुरु ही उबार सकता है, अतः गोस्वामीजी गुरु का निर्देश करते हैं—

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं।[3]

यों तो महर्षि मार्कंडेय, दत्तात्रेय, पतंजलि, वसिष्ठ आदि की गणना भी योगशास्त्र के कर्ताओं में की गई है, किंतु भारतीय प्राचीन योग-साहित्य में भगवान् शंकर को ही योग का आदि प्रवर्तक माना गया है—

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥[4]

आदि श्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः। गुरु रूप में शंकर की वंदना करने का गोस्वामीजी का अभिप्राय योगमार्ग ही प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि आगे की यह पंक्ति स्पष्टरूप से करती है—

यमाश्रितो हि वक्रोपि चंद्रः सर्वत्र वंद्यते।[5]

१—मानस, १।८।१-२। २—वही, १। मं० श्लो० २। ३—वही, १। मं० श्लो० ३। ४—हठयोग, १।१। ५—मानस, १। मं० श्लो० ३।

'यम' शब्द यहाँ संख्यावाचक है, जिसका अर्थ है दो। अर्थात् जिस राजयोग के लिए शंकर की वंदना की गई है, वह दो के आधीन है—ह (सूर्य) और ठ (चंद्र)। गोरखनाथ ने अपनी 'सिद्ध-सिद्धांत पद्धति' में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है —

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगोनिगद्यते॥

योगमार्ग वक्र है। इसे 'क्षुरस्य धारा' कहकर जाना है। गोस्वामीजी ने भी स्पष्ट कह दिया है—

ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहि बारा॥[1]

यहाँ वक्रता को दोष नहीं, गुण माना है। जिस प्रकार वक्र चंद्र निरंतर वृद्धि की ओर अग्रसर होता हुआ पूर्णिमा को पूर्णता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधक भी कठिनाइयों को पार करते हुए पूर्णत्व में परिणत हो जाता है। अर्थालंकार के द्वारा गोस्वामीजी ने इस स्थल पर 'गागर में सागर' भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है। इसलिए तुलसीदासजी ने, वक्र होते हुए भी योग को ही वन्द्य माना है। योग वंदना के योग्य है ही, किंतु उसके आदि प्रवर्तक शंकर गुरु रूप में वंद्य के भी वंद्य हैं। 'आगम सार' ने गुरु शब्द को ही शंकर माना है—

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारः शिव इत्युक्त स्त्रितयात्मा गुरुः परः॥

योग मार्ग में प्रवेश पाने के लिए गुरु करना अत्यंत आवश्यक है—

गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिञ्च शाश्वतीम्॥

गोस्वामीजी जहाँ योग, योग के प्रवर्तक भगवान् शंकर और गुरु की वंदना करते हैं, वहाँ योगानंद में विचरण करनेवालों को भी नहीं भूलते—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥[2]

ब्रह्ममय राम और मायारूपी श्रीसीताजी के गुण-समूह रूपी पवित्र वन में विचरण करनेवाले कवीश्वर श्रीवाल्मीकि और कपीश्वर श्रीहनुमान्‌जी की मैं वंदना करता हूँ, क्योंकि उन्हें ही यह विशिष्ट ज्ञान गम्य है।

'गुण' शब्द से उनका अभिप्राय त्रिगुण सत्-रज-तम और 'ग्राम' शब्द से संपूर्ण तत्वों से है। माया ब्रह्म का यही मिश्रित विज्ञान है, जिस पर अधिकार

१—मानस, ७।११९।१। २—वही, १। मं० श्लो० ४।

प्राप्त करना श्रेष्ठ योगी के लिए आवश्यक है। श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अध्याय २५ के प्रथम श्लोक से २६वें तक इसका उत्तम विवेचन है। मानस में इनका विवेचन किस भाँति किया गया है, संप्रति इसका उद्‌घाटन लेख के कलेवर वृद्धि के भय से यहाँ नहीं किया गया है। यथावसर पृथक् से उस पर विचार किया जायगा।

कपीश्वर श्रीवाल्मीकि ने स्वयम् ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लिया था, अतः उनके विषय में गोस्वामीजी ने विशेष चर्चा नहीं की है। किंतु कपीश्वर श्रीहनुमान् के अभिसाधनारत होने से योग की अलौकिक शक्तियों का संचालन उनके द्वारा होने की बात कही गई है। प्रसंगोल्लेख के द्वारा बात स्पष्ट हो जायगी।

सुग्रीव के इस अनुरोध से कि 'धरि बटुरूप देखु तैं जाई',[१] तुरत ही 'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ'[२] से इसका परिचय किष्किंधाकांड के आरंभ में ही मिल जाता है। निमेष मात्र में रूप-परिवर्तन की सामर्थ्य उच्च सिद्धि प्राप्त योगी को ही होती है। महाभारत में कथित है—

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते।[३]

अर्थात् योगी अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर सकता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्ण खंड में वर्णित पच्चीस सिद्धियों के अंतर्गत 'मनोजव' नाम की यह सिद्धि होती है। मानस में कपीश्वर के रूप-परिवर्तन का प्रसंग कई बार आया है। गोस्वामीजी ने उनमें जिन गुणों का आरोप किया है, वे सिद्धों में ही होते हैं। ऋक्षेश जांबवान ने हनुमान्‌जी को यह कह कर संबोधित किया—

पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥[४]

इसमें प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द का विशेष महत्त्व एवम् प्रयोजन है। इसके पूर्व चतुर्थ सोपान के मंगलाचरण में भी हनुमान्‌जी को 'विज्ञानधामावुभौ' कह चुके हैं और अन्यत्र भी कहा है। प्राचीन योग-साहित्य के अनुसार योगिजन के पास सिद्धियाँ तो होती ही थीं, साथ ही वे विज्ञान-निपुण भी होते थे। विज्ञान के अनेक भेद थे, जिनमें सूर्यविज्ञान, चंद्रविज्ञान, नक्षत्र या तारा विज्ञान, वायुविज्ञान आदि मुख्य माने जाते थे। अर्वाचीन योगियों को भी इनकी जानकारी होती है। अस्तु, ऋक्षराज का आगे इतना कहना था कि—

कवन सो काजु कठिन जग माहीं। जो नहि तात होइ तुम्ह पाहीं॥[५]

हनुमान्‌जी 'सुनतहि भएउ पर्वताकारा'[६]। साधारण छोटे मोटे पर्वत के सदृश नहीं—

कनकबरन तन तेज बिराजा। मानहु अपर गिरिन्ह कर राजा॥[७]

१—मानस, ४।१।४। २—वही, ४।१।६। ३—महाभारत, अश्वमेधिक पर्वान्तिर्गत, अनुगीता पर्व, १९।२५, गीता प्रेस। ४—मानस, ४।३०।४। ५—वही, ४।३०।५। ६—वही, ४।३०।६। ७—वही, ४।३०।७।

अर्थात् उनका स्वर्णवर्णवाला परम तेजस्वी विशाल शरीर इस प्रकार सुशोभित था, मानों दूसरे गिरिराज ही हों। यहाँ गोस्वामीजी ने 'महिमा' नामक सिद्धि का प्रदर्शन किया है। इसका अधिकारी पाँच भूत और पचीस उपभूत पर विजय प्राप्त करनेवाला सिद्ध योगी ही हो सकता है। पातंजल योगदर्शन, तृतीय विभूतिपाद के छियालिसवें सूत्र—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्।

में भूतजयी योगी को शारीरिक ऐश्वर्य का प्राप्त होना सिद्ध किया गया है।

प्राचीनकाल से यह प्रणाली चली आ रही है कि जब दो समान सिद्धियों के अधिकारियों का साक्षात्कार होता है, तब वे परीक्षार्थ अपनी अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करते हैं। सुरसा और हनुमान्‌जी के मिलन के अवसर पर इस प्रकार की शक्ति-परीक्षा का चित्र उपस्थित किया गया है—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥[1]

यहाँ पर 'महिमा' और 'लघिमा' दोनो प्रकार की सिद्धियों का दिग्दर्शन है। सुरसा हनुमान्‌जी की परीक्षा लेने के लिए भेजी गई थी। परीक्षा लेने के पश्चात् सुरसा को कहना पड़ा—

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा॥[2]

'मरम' शब्द का अर्थ होता है भेद। यहाँ उसका तात्पर्य विशेष यौगिक सिद्धियों से है, जिसका शुद्ध रूप से परिचय समुद्र के ऊपर आकाश गमन करते हुए प्राप्त होता है। पातंजल योगदर्शन में उल्लिखित है—

कायाकाशयोस्संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।[3]

'कायः पञ्चभौतिकं शरीरं'। पंचभौतिक शरीर 'काया' कहलाती है। मानस में भी शरीर को पंचतत्वों से बना बतलाया है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥[4]

भोजवृत्ति में कथित है कि 'तस्याकाशेनावकाशदायकेन यः सम्बन्धः' उसका अवकाशदायक जो आकाश उससे जो संबंध है, 'तत्र संयमं विधाय' उसमें संयम करके, 'लघूनि तूलादौ समापत्तिं तन्मयीं भावलक्षणाञ्च विधाय' हलकी रूई आदि में समापति अर्थात् तन्मयी भाव रूप करके, 'प्राप्नोति लघुभावो योगी' अति लघुत्व को योगी प्राप्त होकर, 'प्रथमं यथारुचिजले संचरन्क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन संचरमाणः' पहिले इच्छापूर्वक जल के ऊपर विचरणकर क्रम से अर्णनभि तंतु अर्थात् मकड़ी के

१—वही, ५।२।९-१०। २—वही, ५।२।१२। ३—विभूतिपाद, ४२।
४—मानस, ४।११।४।

तंतुओं से उत्पन्न जाले के सहारे विचरण करता हुआ, 'आदित्यरश्मिभिश्च विहरन्यथेष्ट-माकाशेन गच्छति' इसके बाद सूर्य-रश्मियों के साथ विचरण करता हुआ इच्छापूर्वक आकाश में गमन करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हनुमान्‌जी को सिद्धियाँ प्राप्त थीं।

उन्होंने लंका में प्रवेश करते समय 'अणिमा' नामक सिद्धि का प्रयोग किया था—'मसक समान रूप कपि धरी'[1]। 'अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः' अर्थात् परमाणु के समान सूक्ष्मरूप होना 'अणिमा' सिद्धि कहलाती है। मसक के समान हो जाना तो साधारण बात है, इस सिद्धि के द्वारा तो अणु-परमाणु में अपने को परिवर्तित किया जा सकता है। गोस्वामीजी ने—

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥[2]

कहकर 'खेचरी' मुद्रा का चित्रण अति सुंदरता से किया है। 'खेचरी' मुद्रा हठयोग की एक विशेष मुद्रा है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।[3]

अर्थात् तालु के समीप जो ऊर्ध्व छिद्र है, उसमें जिह्वा का प्रवेश कराना 'खेचरी' मुद्रा की क्रिया है। इस सिद्धि का गुण और लाभ इस प्रकार वर्णित है—

उर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित्॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥
इन्धनानि यथा वह्नि स्तलवर्ती च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति॥[4]

अर्थात् तालु के ऊपर के छिद्र में जीभ को स्थिर करके जो योगी चंद्रामृत का पान करता है, वह योग का ज्ञाता पक्षभर में मृत्यु को जीत लेता है, यह निश्चित है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। जिस योगी का शरीर सदा चंद्रकला रूप अमृत से पूर्ण रहता है, तक्षक सर्प द्वारा डसे जाने पर भी उसके शरीर में विष की लहर नहीं चढ़ती। जैसे अग्नि काष्ठादि ईंधन को और दीपक तेल तथा बत्ती को नहीं त्यागते, वैसे ही जीवात्मा सोमकलापूर्ण शरीर को नहीं त्यागता। इसके संबंध में आगे यहाँ तक कहा है—

चुम्बन्ती यदि लंविकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्ध सदृशी मध्वाज्य तुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शास्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥[5]

१—मानस, ५।४।१। २—वही, ५।५।२। ३—हठयोग, प्र० ३।४८।
४—वही, ३।४४-४६। ५—वही, ३।५०।

अर्थात् सोमकलामृत का स्यंदन करनेवाली और लवण मरिच आदि कटु, इमली आदि अम्ल तथा दूध के सदृश मधु घृत इनके समान अनेक रस को यदि जिह्वा बार बार इस तालु के छिद्र में प्रवेश करके पान करे तो उस मनुष्य की व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अंत, संमुख आए अस्त्र का निवारण तो हो ही जाता है, साथ ही अणिमा आदि अष्ट सिद्धि जैसा अमरत्व एवम् सिद्धरूप अंगनाओं का आकर्षण सहज ही सुलभ हो जाता है। ऐसे सिद्धों को न अग्नि जला सकती है और न वायु उड़ाकर ही ले जा सकती है।

लंकिनी ने हनुमान् को अधिकारी जानकर ही गुप्तभाषा का प्रयोग किया था। लंकादहन के समय उनचास प्रकार की वायु चल रही थी, किंतु हनुमान्‌जी अपनी तीव्र गति से कार्य में रत थे। अग्नि की कोटि-कोटि कराल लाल-लाल लपटें चारों ओर से झपट रही थीं, किंतु इनका स्पर्श तक न कर पाती थीं।

यहाँ पर शंका की जा सकती है कि जब हनुमान्‌जी को सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं और वे महान् योगी थे, तब गोस्वामीजी ने उनके लिए 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग बारंबार क्यों किया ? इसका सरलतापूर्वक यों समाधान किया जा सकता है कि जो जीव ईश्वर के शुद्ध सत्वात्मक धाम में स्थिति नहीं प्राप्त कर पाते, वे मायातीत होते हुए भी महामाया के अधीन रहते हैं। आगम शास्त्र इन्हीं जीवों को 'विज्ञानी' या 'विज्ञानाकल' कहता है। 'विज्ञान' शब्द-प्रयोग में गोस्वामीजी का यही आशय प्रतीत होता है।

यह सर्वविदित ही है कि गोस्वामीजी ने भगवान् राम को ब्रह्म और श्रीसीताजी को माया का रूप माना है--

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभां॥—१।मं० श्लो० ५।

इसका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, पालन और संहार ये तीनो कार्य माया के वशवर्त्ती हैं। यहाँ सीताजी को कर्त्री माना है और उन्हें क्लेशों को हरण करनेवाली तथा संपूर्ण कल्याणों को करनेवाली रामवल्लभा कह कर नमस्कार किया है। यह तो माया को ही सीताजी के रूप में स्वीकार करना है। श्रीराम के लिए तो उन्होंने स्पष्ट लिखा है--

वंदेहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं॥—१।मं० श्लो० ६।

श्रीहनुमान्‌जी इस भेद को भलीभाँति जानते थे और 'श्रीसीताराम' को अपना इष्ट मानते थे जो--

परं ब्रह्म परं तत्वं परं ज्ञानं परं तपः। परं बीजं परं क्षेत्रं परं कारणकारणं॥
है।

यह सब योग की वस्तु है, जिसका प्राप्ति-स्थान श्रीरामचरितमानस है।

श्रीअरुणकुमार शर्मा

रामायण में तांत्रिक दृष्टि

[प्रस्तुत निबंध में तंत्रशास्त्र के आधार पर यह कहा गया है कि 'एक ही बीज से संपुट महाकाव्य एकमात्र तुलसीकृत रामायण ही है।'

'तुलसीकृत रामायण के आरंभ में 'व' और अंत में भी 'व' है। फलस्वरूप रामायण बीज संपुट काव्य है। इसका बालकांड पुराणों पर आधारित है। तुलसीदास ने पुराणों के अतिरिक्त वेद और उपनिषदों के अनेक मंत्रों और श्लोकों का ज्यों का त्यों रूपांतर कर दिया है। तंत्र की उच्च साधनाओं और अनुष्ठानों के आरंभ में कलश-पूजन विधि के अंतर्गत अग्नि, सूर्य और चंद्र का पूजन किया जाता है। तुलसीदास ने अपनी वंदना के प्रसंग में इन तीनो देवताओं के नाम लिए हैं।'

'रामायण में 'पराश्रद्धा' निरूपित है। सच तो यह है कि आज जितने धर्म हैं, जितनी उपासनाएँ हैं, वे सब किसी न किसी रूप में तांत्रिक भित्ति पर आधारित हैं।']

तांत्रिक विचारधारा के अनुसार ऋषि, देवता और पितृ ये तीनो ईश्वर के कार्यकर्ता प्रतिनिधि हैं। इन्हीं तीनो प्रतिनिधियों के द्वारा स्थूल जगत् में समय समय पर महापुरुषों, युगपुरुषों एवम् दिव्य विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है तथा समयानुसार महाकाव्यों, स्तोत्रों एवम् पुराणों की रचना होती है। एवमेव ऋषियों में अध्यात्म-शक्ति की प्रधानता, देवताओं में अधिदैव-शक्ति की प्रधानता और पितरों में अधिभूत-शक्ति की प्रधानता है। ये तीनो शक्तियाँ क्रमशः ज्ञानशक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के नाम से तंत्र में प्रचलित हैं।

प्रत्येक धर्म के धर्मग्रंथों में जिनका संबंध ईश्वर से है—ये तीनो प्रकार की शक्तियाँ विविध रूपों में रहती हैं। प्रथम ज्ञानमयी सृष्टि होती है। तत्पश्चात् इच्छा-सृष्टि और फिर दोनो के समन्वय से स्थूल-सृष्टि का प्रारंभ होता है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ अथवा वस्तु और प्राणी की एक सूक्ष्म सत्ता होती है, जिसे हम काल्पनिक या इच्छा की सत्ता भी कहते हैं। उस सत्ता का एक ज्ञानरूप होता है। ये तीनो प्रकार की सृष्टि एक दूसरे पर पूर्णतया अवलंबित है। ईश्वर के उपर्युक्त तीनो प्रतिनिधियों को जब कभी अपनी सृष्टि में किसी कार्य विशेष के संपादन की आवश्यकता का अथवा सृष्टि-क्रम में व्यतिक्रम का बोध होता है, उस अवस्था में उसकी पूर्ति के लिए वे अपने मंडल से विशेष योग्य और सर्वशक्तिसंपन्न आत्मा को स्थूल जगत् में प्रेषित करते हैं। वस्तुतः स्थूल जगत् एक ऐसा माध्यम

है, जो ज्ञानमय है और सूक्ष्म-जगत् के प्रभावों और विशेष उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने में समर्थ है। एवमेव जो आत्मा स्थूल जगत् में अवतरित होती है, वह अपने मंडल की प्रधान शक्ति और तत्व विशेष को लेकर आती है।

ऋषियों के द्वारा प्रेषित उनके मंडल से जिस आत्मा का स्थूल जगत् में प्रादुर्भाव होता है, उसमें ईश्वरीय अंश प्रचुर मात्रा में होता है, क्योंकि ऋषिमंडल, ब्रह्ममंडल के बिलकुल समीप है। अब तक राम और कृष्ण के रूप में केवल दो महान् आत्माएँ ऋषिमंडल से स्थूल जगत् में अवतरित हुई हैं। स्थूल जगत् में इनको अवतरित होने के पूर्व उनके कार्यक्षेत्र का निर्माण दैवी जगत् के प्रतिनिधियों द्वारा हुआ था और निर्माण के हेतु दैवी मंडल के योग्य आत्माओं को स्थूल जगत् में स्थूल रूप भी धारण करना पड़ा था। यह रहस्य अत्यंत गंभीर है। विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, वह स्वयम् स्थूल रूप ग्रहण नहीं करता, वरन् दैवी जगत् अथवा ऋषि-जगत् की दिव्य आत्माओं को अपने अंश विशेष से युक्त करता है, जो अपने मंडल के प्रतिनिधि की प्रेरणा से यथासमय स्थूल जगत् में अवतरित होकर उनके कार्य का विधिवत् संपादन करते हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करने के पूर्व यह भी ज्ञातव्य है कि पितृगण या उनके मंडल की आत्माएँ स्थूल जगत् में अवतरित नहीं होतीं। अधिकांश पितृगण स्वयम् अपना कार्य संपन्न करते हैं और इसके लिए उन्हें अवतार नहीं लेना पड़ता। प्रश्न यह है कि बिना स्थूल रूप ग्रहण किए कार्यसिद्धि संभव कैसे होती है? एवमेव इस प्रश्न का उत्तर तंत्रशास्त्र के पास अति सुंदर और प्रामाणिक है। पितृगण साधारण प्रकार के स्त्री पुरुष के योग से उत्पन्न जीवात्मा द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ होते हैं। जीवात्मा मूर्ख है, विद्वान् है अथवा निम्न जाति का है या उच्च जाति का है, योग्य है या अयोग्य है, इससे पितृगणों का कोई संबंध नहीं। वे तो केवल अपना कार्य-संपादन करना जानते हैं। वे अपना कार्य मुख्यतः दो प्रकार से पूर्ण करते हैं—जीवात्मा में स्वयम् प्रवेश कर या उसको समयानुकूल प्रेरणा देकर। साधारण लोगों में अकस्मात् कवित्व बुद्धि का संचार हो जाना, सहसा ज्ञान विशेष का प्रादुर्भाव हो जाना और परम वैराग्य का उदय होना आदि पितृगणों की ही एकमात्र प्रेरणा से संभव है। कभी कभी योग्य नेतृत्व की प्रतिभा भी पितृगणों की कृपा से प्राप्त होती है। अस्तुः

काल, देश और पात्र के अनुसार पितृगण अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए ऋषि और दैवत मंडल की भी सहायता लिया करते हैं। किंतु यह सहायता उच्च कोटि के कार्य-संपादन के लिए ही ली जाती है। संसार के परम कल्याण के लिए, देवताओं की स्वार्थ-सिद्धि के लिए और सृष्टि के अभावों की पूर्ति के लिए जब ऋषि मंडल से महान् और परम दिव्य आत्माओं का ईश्वर के कल्याणमय अंश के साथ भूतल पर स्थूल रूप में आगमन होता है, उस समय पितृगणों की प्रेरणा से कुछ

ऐसी दिव्य विभूतियाँ भूतल पर प्रत्यक्ष हो जाती हैं, जो अपनी प्रतिभा एवम् प्रखर ज्ञान के द्वारा उस महान् युग-पुरुष के दिव्य चरित्रों को लिपिबद्ध कर युग युग के लिए अमर कर देती हैं। वे दिव्य विभूतियाँ जन्म नहीं लेतीं, बल्कि पितृगणों की सहायता से बनाई जाती है। उनका निर्माण लौकिक उपकरणों से ही होता है। जब उनसे विशेष चरित्र का वर्णन करवाना होता है, तो पितृगण ऋषि-मंडल से विशेषरूप से सहायता लेते हैं। एवमेव इस प्रकार ऋषि-मंडल की सहायता प्राप्त चरित्र-लेखक उस महान् युग-पुरुष के साथ अमर हो जाता है। ब्रह्मांड, पिंड, नाद, विंदु और अक्षरमय, ये पाँच प्रकार के ग्रंथ हैं। ब्रह्मांडरूपी व्यापक ग्रंथ, पिंड, नाद, विंदु में क्रमशः व्यक्त होता हुआ अंत में अक्षरमय ग्रंथ में स्थायित्व ग्रहण करता है। ऐसे ग्रंथों के पाँच प्रकार हैं। उन पाँचों प्रकारों के लेखक भी अलग अलग और ऋषि-मंडल और दैवत-मंडल के विशेष कृपापात्र होते हैं। सूर्यमंडल की प्रखर और दिव्य रश्मियों के योग से ऋषि-मंडल की प्रेरणा उनको बराबर प्राप्त होती रहती है। उनकी लेखनी के द्वारा शब्द रूप में वही भाव व्यक्त होता है, जो मंडलों के अधिष्ठाताओं का अपना भाव होता है। कभी परिस्थितिवश ऋषि और देवगण स्वयम् मानवरूप ग्रहण कर अक्षरमय ग्रंथ का जगत् के कल्याणार्थ निर्माण करते हैं।

एवमेव तांत्रिक दृष्टिकोण से दिव्य पुरुषों और उनके महान् चरित्रों के दिव्य विभूति संपन्न लेखकों के अवतार के विषय में जो विचार-सरणी यहाँ प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि स्थूल जगत् का अत्यंत सूक्ष्म और आध्यात्मिक संबंध ही नहीं बल्कि उसका संचालन-सूत्र भी ऋषि-मंडल और दैवत-मंडलों के हाथ में है। दिव्य महापुरुषों का आविर्भाव तथा योग्य प्रतिभा संपन्न महाकाव्य के प्रवर्तकों का जन्म उन्हीं के सतत् प्रयत्न से होता है। ऐसे प्रवर्तकों अथवा लेखकों के रूप में वे स्वयम् या उनको प्रेरणा देकर विशेष ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के हेतु वे महाकाव्य, स्तोत्र, पटल के रूप में महापुरुषों, महात्माओं, दिव्य-आत्माओं के चरित्र और महिमा को जनसाधारण में व्यक्त करते हैं। मानवरूप में स्वयम् अवतरित होनेवाले ऋषि या देवता प्रथम श्रेणी के लेखक हैं और जो ऋतंभरा बुद्धि से युक्त होकर लेखन कार्य करते हैं, वे दूसरे प्रकार के लेखक हैं। एवमेव इन दोनो प्रकार के लेखकों के द्वारा मंत्रद्रष्टाओं का भी प्राकट्य हो जाता है। इनके द्वारा भी आर्षज्ञान का मौलिक तत्व नूतन आकार में प्रकट होता है। अतएव वेद, पुराण में मंत्रद्रष्टा और महाकाव्यों के रचयिता इन्हीं श्रेणियों में हैं। जब ब्रह्म के अंश को ग्रहण कर महान् दिव्य आत्मा का प्रादुर्भाव युगपुरुष के रूप में होता है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते पुत्रा ह्यस्य हरयः शता दश॥

उस समय अथवा कालांतर में वाल्मीकि और तुलसी जैसे योग्य विभूतियों का

जन्म होना आवश्यक है। ये योग्य विभूतियाँ ही युगपुरुषों को वर्तमान में जीवित रखने की शक्ति रखती हैं। सच तो यह है कि वाल्मीकि और उसके बाद तुलसी न होते तो आज 'राम' को कौन जानता? और इसी प्रकार यदि 'रामायण' का अस्तित्व न होता, तो वाल्मीकि और तुलसी का नाम युग से संबंधित न होता। अस्तु प्रत्येक युगपुरुष और प्रत्येक आर्ष ग्रंथों का अवलोकन मैंने तांत्रिक दृष्टि से किया है। पाँच प्रकार के ग्रंथों में प्रथम जो ब्रह्मांड ग्रंथ है वह अपौरुषेय है, अनादि है। इसमें ज्ञान, ज्ञान के विषय, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान के साधन समान भाव में और एक ही रूप में स्थित हैं। इसलिए ब्रह्मांड ग्रंथ को त्रिरूप प्रदान कर 'वेद' की संज्ञा दी गई है। वेद स्वयम् ब्रह्म स्वरूप हैं। इसलिए उन्हें 'वेद ब्रह्म' भी कहा गया है। तात्पर्य यह कि ब्रह्म के 'ज्ञान' रूप--जो अपने तीन रूपों अथवा भावों में प्रकट होते हैं—वही 'वेद' हैं। एवमेव ब्रह्म, विद्या और वेद इन तीनो शब्दों का एक ही अर्थ है। वेद त्रय के रूप में, विद्या त्रय के रूप में और ब्रह्म त्रय के रूप में एक ही ब्रह्म भाषित हो रहा है। यही त्रिसूची भाव है।

ब्रह्मत्रय, त्रयीविद्या और त्रयो वेदाः के द्वारा प्रथम सूक्ष्म वाक् का रूप ग्रहण करता है। इस रूप ग्रहण की पृष्ठभूमि में ब्रह्म का एक मात्र उद्देश्य ज्ञान के द्वारा जीव को परम मुक्ति लाभ कराना है। जब वह 'ज्ञान' अक्षर ग्रंथ का रूप ग्रहण करता है, तो उसका अभिव्यक्तिकरण दिव्य युगपुरुषों के अलौकिक एवम् सांसारिक चरित्रों के आधार पर अथवा उनकी महिमा की शुभ आधार शिला पर महाकाव्य, स्तोत्र, पटल, मंत्र और वीजाक्षरों के रूप में होता है। इसीलिए महाकाव्यों के श्रवण, पूजन एवम् अध्ययन से ब्रह्म ज्ञान की सहज प्राप्ति और मुक्ति लाभ बतलाया गया है।

एवमेव सूक्ष्म वाक् के द्वारा—जीव मुक्तिकरण के लिए व्यक्त ज्ञान ही दूसरे शब्द में 'तंत्र' है। उस व्यक्त ज्ञान का जो विषय है, जो आधार है और जो उसका उद्देश्य है, वे सब 'तंत्र' के अंतर्गत हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानरूपी ब्रह्मत्रय को अभिव्यक्त करनेवाले आधारभूत जो महाकाव्य हैं, वे भी एक प्रकार से 'तंत्र' ही हैं, क्योंकि उसके द्वारा मुक्तिलाभ संभव है।

हम जिसे 'महाकाव्य' कहते हैं, वे सभी 'ज्ञान' के द्वारा मुक्ति दिलानेवाले नहीं हैं। तांत्रिक दृष्टि से महाकाव्यों में वाल्मीकिकृत रामायण, तुलसीकृत रामायण और पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण एवम् श्रीमद्देवीभागवत पुराण ही मुक्तिदाता हैं।

दोनो रामायणों के रचयिता ऋतंभरा बुद्धि अथवा वाणी से युक्त योगी और दिव्य ज्ञानी थे। इसी प्रकार दोनो महापुराणों के रचयिता के रूप में स्वयम् ऋषि थे। एवमेव युग पुरुष राम के अवतार लेने के पूर्व ऋषियों से प्रेरित होकर वाल्मीकि और बाद में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ था।

राम के अवतार के पूर्व ही उनके चरित्रों की गाथा महाकाव्य के रूप में वाल्मीकि के द्वारा प्रत्यक्ष हुई। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर अंश से

युक्त दिव्य युगपुरुषों और महान् विभूतियों के चरित्र की रूपरेखा ऋषि-मंडल में रहती है, जो कालांतर में अक्षर ग्रंथ के रूप में व्यक्त होती है।

निश्चय ही वेदत्रय और विद्यात्रय का मुक्तिदायक ज्ञान महाकाव्यों और पुराणों में ही अभिव्यक्त माना गया है। ऐसे तो हमारे सामने तथोक्त दो रामायण और दो महापुराण ही इस समय ऐसे हैं, जिनके आदि और अंत में मुक्ति, मुक्तिदायक परम मंगलमय 'तत्व वीजों' का योग है, किंतु एक ही 'वीज' में संपुट महाकाव्य एकमात्र तुलसीकृत रामायण ही है। इससे इस रामायण की महानता स्पष्ट होती है। तंत्र में 'व' 'स' 'ल' 'त' और 'म' कल्याणकारी और मुक्तिदायक तत्व-वीज माने गए हैं। तुलसीकृत रामायण के आरंभ में 'व' और अंत में भी 'व' है। फलस्वरूप रामायण वीज संपुट काव्य है। इसका बालकांड पुराणों पर आधारित है। तुलसीदास ने पुराणों के अतिरिक्त वेद और उपनिषदों के अनेक मंत्रों और श्लोकों का ज्यों का त्यों रूपांतर कर दिया है। तंत्र की उच्च साधनाओं और अनुष्ठानों के आरंभ में कलश-पूजन विधि के अंतर्गत अग्नि, सूर्य और चंद्र का पूजन किया जाता है। तुलसीदास ने वंदना के प्रसंग में इन तीन देवताओं के नाम लिए हैं--

बंदौं नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥[1]

तांत्रिक साधना में 'गायत्री' का स्थान सर्वोपरि है। 'गायत्री' के द्वारा ही तंत्र की विविध साधनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। गायत्री एकमात्र वेदों की शक्ति हैं, सनातनी हैं। शक्ति को जब सीमा में बाँधा जाता है, तो वह सीमा छंद कहलाती है। सीमा अथवा छंद के अंतर्गत जो वर्ण तत्व होते हैं, वे अपनी छंद-शक्ति को ही प्रकट करते हैं। वेद की शक्ति गायत्री के छंद को गायत्री-छंद कहा गया है। इस गायत्री-छंद में केवल देवीभागवत का प्रथम श्लोक है।

जिस प्रकार व्यास ने गायत्री प्रतिपाद्य सत्य परतत्व से भागवत का प्रारंभ कर और भागवत-प्रतिपाद्य तत्व कृष्ण को ठहराकर द्वादश स्कंधात्मक भागवत को गायत्रीतत्व प्रदिपादन में ही समाप्त किया है, अर्थात् गायत्री के दो अक्षरों का व्याख्यान एक एक स्कंध में किया है—

'सत्यं परं धीमहि' इत्यत्र धीमहीति गायत्र्या प्रारम्भेण च गायत्र्याख्यब्रह्मविद्या-रूपमेतत्पुराणम् ॥[2]

उसी प्रकार वाल्मीकि ने तत्पद से रामायण का प्रारंभ किया। रामायण के प्रतिपाद्य-तत्व राम हैं। अस्तु वेदांत शास्त्र में अनेक अर्थों का निरूपण होने पर भी प्रधान तीन अर्थ माने जाते हैं—प्रथम 'परतत्व' दूसरा 'साधन' और तीसरा 'फल'। ये तीनो विषय तंत्रशास्त्र के हैं। एवमेव वेदांतदर्शन ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं।

१—१।१९।१। २—श्रीमद्भागवत श्रीधरी टीका १।१।१।

दो में ब्रह्मस्वरूप निरूपण, तीसरे में साधन निरूपण और चौथे में फल निरूपण है। प्रथम अध्याय समन्वयाध्याय कहलाता है। इन चारों प्रकार के निरूपणों को चरित्र रूप में रामायण में निबद्ध किया गया है। रामायण के प्रतिपाद्यार्थ १८ माने गए हैं। अस्तुः

गायत्री छंद में २४ अक्षर हैं। इन्हीं २४ अक्षरों के आधार पर रामायण के २४ हजार श्लोक हैं। गायत्री के प्रथमाक्षर से रामायण का आरंभ और अंतिम अक्षर से समाप्ति हुई है। तंत्र में इसे 'गायत्री संपुट' कहते हैं। देखिए रामायण के प्रारंभिक श्लोक 'तपस्स्वाध्यायनिरतम्' में तकार आद्याक्षर है। गायत्री का अंतिम अक्षर भी 'त्' है। वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड के ११०वें सर्ग के अंत में जहाँ कि रामायण की कथा समाप्त होती है, यह श्लोक है—

ततःसमागतान् सर्वान् स्थाप्य लोकगुरुर्दिवि।
जगाम त्रिदशैः सार्धं सदा हृष्टैर्दिवं महत्॥२८॥

जिसके अंत में 'त्' है। एवमेव प्रत्येक हजारवें श्लोक के अंत में गायत्री के अक्षर क्रम से पड़े हुए हैं। गायत्री मंत्र में जगत् कारणभूत सविता—परमात्मा के तेजोमय स्वरूप की उपासना का वर्णन है। वेदरूपी परमज्ञान की शक्तिभूता सनातनी गायत्री शक्ति स्वयम् सीता के रूप में परमात्मा के तेजोमय स्वरूप 'राम' के साथ विद्यमान हैं। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो महाकवियों ने उपासनाभूमि में सीता और राम को समान दृष्टि से देखा है। शिव और शक्ति के प्रति समान भक्ति होना ही वास्तविक उपासना है। श्रद्धा और विश्वास, ये दो 'भक्ति' के प्रमुख आधार हैं। श्रद्धा तभी होती है जब कि मानव इस इंद्रियातीत तत्व के लिए कुछ सांसारिक वस्तुओं को यज्ञ, दान, तप इत्यादि के द्वारा त्याग देने को प्रस्तुत हो जाता है। यह श्रद्धा यज्ञ से संबद्ध है। यह सगुणोपासना भूमि की राजसी श्रद्धा की श्रेणी में हैं। पात्रों के अनुसार श्रद्धा को हम तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—सात्विक श्रद्धा, राजसी श्रद्धा और तामसी श्रद्धा। भय से उत्पन्न श्रद्धा तामसी, स्वार्थ से उत्पन्न श्रद्धा राजसी तथा फल की इच्छा से रहित कर्तव्यभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्विक कही गई है। किंतु इन तीनो से भी ऊपर 'पराश्रद्धा' मानी जाती है। रामायण में 'पराश्रद्धा' ही निरूपित है। इस प्रकार की श्रद्धा का पात्र मानवातीत, संसारातीत परमतत्व है, जो किसी ऐहिक या देव सुख की प्राप्ति का उपाय मात्र नहीं है। पराश्रद्धा ही यथार्थ श्रद्धा है। इसका पात्र अक्षर, अनादि, अव्यय, शाश्वत, सर्वातीत परमतत्व है। सच पूछा जाय तो उपर्युक्त तीनो प्रकार की श्रद्धा भी इस परम पात्र की ओर मानव को अग्रसर होने का संकेत करती हैं। किंतु मोह में पड़कर मनुष्य संसार में ही फँसा रहता है और श्रद्धा परमतत्व को प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए अव्यक्त परम-तत्व व्यक्तरूप धारण करता है, जिससे व्यक्तरूपी अव्यक्त पर ऐहिक मानव की श्रद्धा केंद्रित हो। परब्रह्म के अंश को राम के रूप में जगत् में अवतीर्ण होने के पीछे यही एकमात्र उद्देश्य था, शेष सब भूमिका मात्र। एवमेव जब विश्वास अपनी सीमा का

अतिक्रमण कर जाता है, तो 'श्रद्धा' 'श्रद्धा स्वभावजा' और 'योयच्छ्रद्धः स एव सः' हो जाती है। यही आगे चलकर 'पराश्रद्धा' अथवा यथार्थ श्रद्धा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसकी भी एक सीमा है। अतः इस सीमा का अतिक्रमण तभी होता है, जब श्रद्धा करनेवाला श्रद्धापात्र तथा स्वयम् श्रद्धा एकाकार हो जाते हैं। यह एकाकार भाव ही मनुष्य को इष्टदेव के साक्षात्कार का ज्ञान कराता है। वह समझ लेता है कि उसने पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस पूर्वावस्था में उसका विश्वास 'शिव' है और 'श्रद्धा' उस शिव की पराशक्ति है। एवमेव मानस में श्रद्धा और विश्वास के रूप में हमें 'भवानीशंकरौ' के दर्शन होते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि तुलसी की भक्ति सगुण के धरातल पर निर्गुण की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। सच तो यह है कि सगुण की पराकाष्ठा निर्गुण में है और जब निर्गुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, उस समय साधक की उपासना के श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, प्रेम, भाव और भावना आदि उपकरण इष्टरूप हो जाते हैं।

तांत्रिक उपासना का भी यही चरम प्राप्तव्य है। सच तो यह है कि आज जितने धर्म हैं, जितनी उपासनाएँ हैं, वे सब किसी न किसी रूप में तांत्रिक भित्ति पर आधारित हैं। हम उन्हें उससे पृथक् नहीं समझ सकते। इतना ही नहीं विविध धर्मों के अंतर्गत जितने उपास्य देवता हैं, उन सबका रूप और भाव भी तांत्रिक है।

रामायण में उपास्य देवता 'राम' हैं। उनका नाम ही 'वीजमय' है। 'राम' तीन अक्षरों का शब्द है—र+अ+म। 'र' अग्निवीज है, 'अ' सूर्यवीज है और 'म' चंद्रवीज है। अतः 'राम' मंत्र में सूर्य अग्नि और चंद्र इन तीनो के वीज हैं, जिनकी कौल मार्ग में पूजा होती है। अब 'राम' में निहित वीजों के आधार पर यंत्र का भी रूप देखिए। अग्नि पाँच प्रकार की है और उसमें पाँच तत्व हैं। सूर्य में १५ और चंद्र में १५ तत्व हैं। ये १५ तत्व ही १५ वर्ण हैं। इस प्रकार सूर्य, चंद्र और अग्नि की तत्व संख्याओं का योग ३५ होता है। तुलसी कृत रामशलाका प्रश्नावली का जो यंत्र है, उसका निर्माण भी १५ कोष्टकों को ऊपर और १५ कोष्टकों को बगल में रखकर हुआ है। एवमेव तांत्रिक दृष्टिकोण से पैंतीस संख्यायें कोष्ठकों में विभाजित होकर जिस स्वरूप का आविर्भाव करती हैं, वह 'राम' यंत्र है। पैंतीस हजार राम-मंत्र का जप यंत्र पर करने से वह सिद्ध हो जाता है। सिद्धि की अवस्था में जिस उद्देश्य को लेकर राम-मंत्र का ३५ हजार जप किया जायगा, वह उद्देश्य निश्चय ही पूर्ण होगा।

इस प्रकार जितने भी उपास्य देवता हैं, उन सबका पाँच रूप है—ज्ञानरूप, सूक्ष्मरूप, स्थूलरूप (प्रतिमा), मंत्ररूप और यंत्ररूप। तंत्र में इन पाँच स्वरूपों की उपासना को 'पंचांगी उपासना' कहते हैं। वस्तुतः जब तक किसी देवता की पंचांगी उपासना नहीं होती है, तब तक वह उपासना, उपासना की परिभाषा के अंतर्गत नहीं मानी जाती।

डा० ज्ञानवती त्रिवेदी

तुलसीदास की माता

['गोस्वामीजी बाल्यावस्था से ही मातापिता के सहज वात्सल्य से वंचित रहे। परंतु उनके काव्य में मातापिता के जिस स्नेह का, विशेष रूप से माता के ममत्व का जो मार्मिक रूप एवम् मातृत्व का जो उदात्त स्वरूप अंकित हुआ है, उसे देखकर जिज्ञासा होती है कि क्या वह उनकी कोरी कल्पना का प्रासाद और व्यक्तिगत अनुभूति में एकदम अछूता है ? यदि यह संभव नहीं, तो क्या कवि ने सौभाग्यवश किसी ऐसी माता के ममतापूर्ण वात्सल्य की अनुभूति कर ली थी, जिसके फलस्वरूप वह काव्य में उसके पुनीत एवम् उदात्त रूप की छवि उतारने में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर सका है।' प्रस्तुत निबंध में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।]

गोस्वामी तुलसीदास का जीवनवृत्त विद्वानों के अनुसंधान का विषय बना हुआ है। अभी तक उसका पूर्ण एवम् प्रामाणिक रूप निर्धारित नहीं हो सका है। वहिर्साक्ष्य संबंधी सामग्री इतिहास के आँकड़ों एवम् बुद्धिवाद के तर्कों की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरी नहीं उतरती। उसमें से चमत्कार का अंश अलग कर देने पर जो कुछ बच रहता है, उसके आधार पर उनकी जीवनी की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करना संभव नहीं है। अतः साक्ष्य के आधार पर निर्धारित स्थापनाओं में भी विद्वानों में मतभेद है। परंतु कवि ने यत्र-तत्र अपनी बाल्यावस्था के संबंध में जो उल्लेख किए हैं, उनके आधार पर इसमें किसी को संदेह नहीं कि उन्हें शैशव में ही माता और कुछ काल पश्चात् पिता से वियुक्त होना पड़ा था।

साहित्य समाज का दर्पण होता है तो कवि समाज का प्रतिनिधि। समाज की छाया कवि के व्यक्तित्व में छनकर ही काव्य तक पहुँचती है। फलतः वह कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों के रंग में रंग कर ही उसमें प्रतिबिंबित होती है। यह रंग सूक्ष्म होने के कारण उसमें सहज ही उद्भासित नहीं होता।

तुलसीदास के व्यक्तित्व की असामान्यता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का विश्लेषण एवम् काव्य में उसकी छाया का अन्वेषण, उनके काव्य-प्रेमियों के लिए भी एक रुचिकर विषय है। हमें यहाँ उसके एक अंग पर ही विचार करना इष्ट है और वह है उनकी मातृहीनता।

इसे सभी स्वीकार करते हैं कि गोस्वामीजी बाल्यावस्था से ही माता-पिता के सहज वात्सल्य से वंचित रहे। परंतु उनके काव्य में माता-पिता के जिस स्नेह का, विशेष रूप से माता के ममत्व का जो मार्मिक रूप एवम् मातृत्व का जो उदात्त

स्वरूप अंकित हुआ है, उसे देखकर जिज्ञासा होती है कि क्या वह उनकी कोरी कल्पना का प्रासाद और व्यक्तिगत अनुभूति से एकदम अछूता है? यदि यह संभव नहीं, तो क्या कवि ने सौभाग्यवश किसी ऐसी माता के ममतापूर्ण वात्सल्य की अनुभूति कर ली थी, जिसके फलस्वरूप वह काव्य में उसके पुनीत एवम् उदात्त रूप की छबि उतारने में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर सका है?

कवि के आत्मोल्लेखों में यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है कि उसके भावुक हृदय में उस अभाव की हूक बराबर ही रही है। भगवान् राम के प्रति उसकी जो करुण पुकार 'विनय' में है तथा शिव और हनुमान् के आगे जो गुहार 'कवितावली' में लगाई गई है, वह इसमें संदेह के लिए किंचित् भी अवकाश नहीं रहने देती कि तुलसी ने मातृहीनता को अपने जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझा था। परंतु इस अभाव की पूर्ति के लिए आश्रय खोजनेवाले उनके संतप्त हृदय ने अंत में कभी उसे प्राप्त भी कर लिया था। जीवन के निराशाजन्य अंधकारपूर्ण पथ में भटकते हुए जो दुर्दशा हुई उसका किंचित् परिचय—

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ।[1]

में भलीभाँति मिल जाता है। इस द्वार-द्वार के चक्कर में जो कुछ बीती उसका लेखा भी विनय और कवितावाली में बहुत कुछ उपलब्ध है, परंतु अंत में ऐसा द्वार भी मिला, जहाँ पहुँचकर कोई खाली हाथ लौटता आज तक देखा सुना नहीं गया।

पहले के दरवाजों पर तो 'चार चनक' ही चार फलों से प्रतीत होते थे, पर यहाँ आकर चारों फल भी 'चार चनक' से तुच्छ सिद्ध होगए। कारण भूख का रूप ही बदल गया और पुकार हुई—

द्वार हौं भोर ही को आज।
× × ×
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीबनेवाज।
पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज॥[2]

सर्व विदित है कि भूख लगने पर माँ की ही याद आती है और उसके स्नेह से सिक्त भोजन से जो संतोष प्राप्त होता है, वह अन्य किसी के हाथों द्वारा प्राप्त भोजन से नहीं। इस द्वार पर याचित इष्ट भोजन तो भरपेट मिला ही इन 'बाहों' की छाया में वह दृढ़ आश्रय भी सर्वदा के लिए प्राप्त हो गया, जिसके बल पर 'जनम का यह भिखारी' भी कभी मौका पड़ने पर दर्प से ललकार उठा—

का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को।[3]

१—विनय०, २७५।१। २—वही, २१९।१, ९-१०। ३—कविता०, ७।१०७।

इस द्वार की उपलब्धि तुलसी की ही नहीं उनके काव्य-रसिकों की भी युग-युग तक अक्षय निधि बनी रहेगी। अब देखना यह है कि यहाँ पहुँचने पर 'मातृहीनता' का अभिशाप, जो वरदान में परिणत हो गया और रामनाम के प्रताप से 'रामबोला' को 'माय-बाप' राम के वात्सल्य की जो छाया मिली, वह उसके काव्य को किस प्रकार आलोकित कर रही है।

तुलसीदास अपने काव्य में कहीं सीता से 'मातु' या 'अंब', तो कहीं राम से 'बाप', 'माय-बाप' या 'माय' कहकर विविध प्रकार से निवेदन करते हैं। अतः पहले यह देख लेना ठीक होगा कि सीता तथा राम के माता एवम् पिता रूप की उनकी भावना क्या है? सीता के वात्सल्य की किंचित् झलक 'गीतावली' में 'लवकुश' के प्रसंग में मिलती है। हाँ, जगज्जननी के नाते हनुमान् अथवा भरत को आशीर्वाद देते हुए उनके मातृहृदय का परिचय अवश्य मिलता है। भरत के प्रति उनका प्रेमातिरेक मौन द्वारा व्यक्त होता है और 'मगन सनेह देहसुधि नाहीं'[१] की अवस्था हो जाती है। हनुमान् के प्रति उनके वात्सल्य के दर्शन अशोकवाटिका में होते हैं।

भक्तों पर राम की कृपा के स्वरूप का गुणगान सर्वत्र है तथा उनके चरित में बराबर इसके दर्शन होते हैं। जिस भाव से द्रवीभूत हो वे भक्तों से प्रेम और उनपर कृपा करते हैं, उसे भी तुलसीदास ने सुस्पष्ट कर दिया है। अपने परम प्रिय काकभुशुंडि एवम् नारद से राम ने अपनी भक्त वत्सलता का जो रहस्य प्रकट किया है, वह बड़े महत्त्व का है। प्रस्तुत विषय से उसका घनिष्ट संबंध है। काकभुशुंडि के मोहग्रस्त होने पर उन्हें 'रघुपति प्रेरित' माया व्याप गई। फलतः उन्हें प्रभु के परम रूप का बोध हुआ और अविरल विशुद्ध भक्ति का वरदान देते हुए भगवान् ने उनसे कहा—

मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहि तोहि।[२]

तथा उन्हें आदेश दिया—

मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥[३]

उन्होंने अपनी भक्तवत्सलता का सिद्धांत विस्तार से समझाते हुए कहा—

निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥[४]

तदनंतर उन्हें समझाया कि मेरी माया संभव दृष्टि में मुझे मनुष्य सर्वाधिक भाते हैं। उनमें द्विज, द्विजों में श्रुतिधारी, उनमें 'निगम धर्म अनुसारी', उनमें विरक्त और ज्ञानी और ज्ञानी से भी अधिक मुझे विज्ञानी प्रिय हैं। परंतु—

१—मानस, २।२४१।५। २—वही, ७।८५।९। ३—वही, ७।८५।११-१२।
४—वही, ७।८६।२।

तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचौ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥[1]

प्रभु की इस वाणी का प्रत्येक शब्द गंभीरता पूर्वक मनन करने योग्य है। उन्होंने इतनी दृढ़तापूर्वक कहीं अपने सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया। वे काक को सावधान कर पुनः कहते हैं—

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥
एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बज्ञ धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितुभगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥[2]

प्रमाणित हो गया कि सब भाँति अयाने, परंतु मन-वचन-कर्म से शरणागत भक्त से भगवान् पितातुल्य प्रेम करते हैं। इतना ही नहीं, वह पिता के प्रगाढ़तम वात्सल्य का भी अधिकारी हो सकता है। इसीसे अंत में काक को यह आदेश मिलता है—

अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।[3]

इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं रहा कि सभी सेवकों पर प्रेम होते हुए भी उन्हें वही सेवक पुत्र-तुल्य प्राणप्रिय होता है, जो सबका भरोसा छोड़कर एकमात्र उन्हीं की शरण गहता है। ऐसे पुत्र प्रेमी प्रभु जब उसकी हित-चिंता में लीन होते हैं, तब माया-कटक के प्रबल सेनानियों से उसकी रक्षा करने के लिए वे शक्तिरूपिणी माता का भाव धारण करते हैं। उनके इस भाव का स्पष्टीकरण काकभुशुंडि ने गरुड़ से किया है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ता तें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसुतन ब्रन होई गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुःख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधिनास हित जननी गनइ न सो सिसुपीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास अैसे प्रभुहि कस न भजसि भ्रम त्यागि॥[4]

१—वही, ७।८६।७-१०। २—वही, ७।८६।११-८७।५। ३—वही, ७।८७।१२।
४—वही, ७।७४।५-१२।

अंतिम पंक्ति में तुलसीदास का श्रोता के प्रति आदेश स्मरणीय है। 'ऐसे प्रभुहि' का संकेत—'जो प्रभु मातृ स्नेह प्रदान करते हैं'—स्पष्ट है।

स्वयम् भगवान् ने अपने इस प्रबल प्रेम का रहस्य अपने परम प्रिय भक्त नारदमुनि के समक्ष भी खोला है—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरु गाई॥
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहि पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥[1]

यहाँ भी 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा' वाले भक्तों के प्रति ही प्रभु के मातृ-स्नेह की अभिव्यक्ति है। शिशु की रक्षा में तत्पर माता की भाँति ममता करनेवाले प्रभु के इस प्रेम के लिए कौन भक्त लालायित न हो उठेगा? जन्म से ही माता के मधुर वात्सल्य और बालकाल से ही पिता की भी वात्सल्यपूर्ण छाया से वंचित तुलसीदास के इस भाव के भूखे हृदय ने निश्चय ही इसी प्रेम की प्राप्ति में अपने जीवन के इस अभाव की पूर्ति एवम् संतोष की अनुभूति की होगी। उनका सा भक्त सेवक स्वामी की इन घोषणाओं और उनके प्रेम के इस रूप की उपेक्षा करे, यह असंभव है। निदान, उनके हृदय में यही कामना बनी रही कि मुझे 'सिसु' को भी भक्तवत्सल इसी भाव से अपना लें। उनकी दीनता, निराश्रयता, निरवलंबता, प्रेमातुरता और प्रभु-प्रेम प्राप्ति की आकुलता के दर्शन उनकी रचनाओं में सर्वत्र होते हैं। 'कवितावली' के उत्तरकांड और 'विनयपत्रिका' में तो उन्होंने अपना हृदय विशेषरूप से खोलकर रख दिया है। उनका इष्ट यही है कि प्रभु के वचनानुसार समस्त संसार का भरोसा और आशा का त्याग कर एकमात्र उन्हीं के शरणागत अनन्य सेवक बनें, जिससे उन्हें ही माता-पिता के रूप में प्राप्त कर उनके स्नेह भाजन बन सकें। राम के प्रति उनके अनन्य प्रेम की भावना पग-पग पर व्यक्त हुई है। प्रसिद्ध दोहा है—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥[2]

विनयपत्रिका में कहा गया है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥[3]

१—वही, ३।४३।४-९। २—दोहावली, २७७। ३—विनय०, २२६।१, ९-१०।

यहीं नहीं अन्यत्र भी महाकवि ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने भी 'परिहरि आस भरोस सब'[१] शिशु की भावना से प्रभु की शरण गही है। इसी प्रीति के कारण उन्हें प्रतीति भी हो सकी है कि वे प्रभु के वचनानुसार उनके 'बालक सुत' होने के अधिकारी हैं। इसी भावावेश में वे राम को 'बाप', 'माय', 'माय-बाप' तथा सीता को 'मातु' या 'अंबु' कहकर पुकार उठते हैं।

राजा राम के दरबार में प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' में बारंबार प्रभु और स्वामी की पुकार है, परंतु उसे पेश करते हुए अंत में बालक की ही भावना सजग होकर बोल उठती है--

बिनयपत्रिका दीन की, बापु! आपु ही बाँचो।[२]

अन्यत्र भी 'बाप' का संबोधन है। कलि की कुचाल से रक्षा की प्रार्थना करते हुए निवेदन होता है—

नाम के प्रताप, बाप! आजु लौं निबाही नीके,
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजानु है॥
× × × ×
तुलसी की, बलि, बार बार ही सँभार कीबी,
जद्यपि कृपानिधान सदा सावधानु है॥[३]

यद्यपि यहाँ 'कृपानिधान' को बाप के साथ 'स्वामी' भी कहा गया है, तथापि 'सदा सावधानु' के विशेषण और 'बार बार ही सँभार कीबी' के आग्रह में बाप का नाता प्रत्यक्ष झलक रहा है।

भक्त की भावना है कि सेवकों के लिए प्रभु 'माई-बाप' तुल्य सदा सुगम हैं। इसी से अपने मन से उसका आग्रह है--

ऐसेउ साहब की सेवा सों होत चोर, रे?
आपनी न बूझि, ना कहे को राढ़ रोर, रे?
मुनि-मन-अगम, सुगम, माइ बाप सो!
कृपासिंधु, सहज सखा, सनेही आप सो॥[४]

तुलसीदास ने सीता को माता के रूप में ही देखा है। उन्हें 'स्वामिनी' और 'साहिबिनी' भी कहा है, किंतु उनसे व्यक्तिगत रूप में जहाँ विशेष याचना करनी है, वहाँ यही कहते हैं—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।[५]

अथवा—

कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।[६]

१—मानस, ७।८७।१२। २—विनय०, २७७।५। ३—कवितावली, ७।८०।
४—विनय०, ७१।१-४। ५—वही, ४१।१। ६—वही, ४२।१।

इसके साथ यह भावना भी अत्यंत स्वाभाविक है कि 'माय-बाप' भी मुझे अपना लें। मैं तो बार-बार कहता हूँ 'मैं तुम्हारा ही हूँ।' पर वे भी तो एक बार कहे दें—'तू मेरा है।' यही आतुरता इस निवेदन में प्रत्यक्ष है—

वेष बिराग को, राग भरो मनु, माय ! कहौं सतिभाव हौं तोसों।
तेरे ही नाथ को नाम लै बेचिहौं पातकी पामर प्राननि पोसों॥
एते बड़े अपराधी अघी कहँ, तैं कहु अंबु को मेरो तु मोसों॥ [1]
बस, माँ ! एकबार कह दे 'तू मेरा है।'

यही आर्त विनय राम से भी है—

'तूँ गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिए कृपालु ! तुलसिदास मेरो॥[2]

भक्त के सर्वस्व प्रभु भले ही स्वामी, सखा, गुरु अथवा बंधु के रूप में किसी के सहायक हों, तुलसीदास पिता से आगे बढ़कर उनका मातृ सुलभ वात्सल्य प्राप्त करने के अभिलाषी हैं। अतः निवेदन करते हैं—

करिय सँभार, कोसलराय !
और ठौर, न और गति, अवलंब नाम बिहाय।
बूझि अपनी, आपनौ हित आप बाप न माय।
राम राउर नाम गुरु सुर स्वामि सखा सहाय॥[3]

कलियुग का प्रहार हो रहा है। रक्षा के लिए पुकार है। भक्त का निवेदन है कि हे राम ! आपका नाम भक्तों का सर्वस्व है। उनका गुरु, स्वामी, सखा, सहायक सभी कुछ वही है। मुझे भी आपका नाम छोड़ न और कहीं ठौर है, न और मेरी कहीं गति ही है। मेरी समझ में तो यही आता है कि मेरे हित के लिए आप 'बाप' ही नहीं 'माय' भी हैं। अतः सब प्रकार से मेरी रक्षा का भार आप ही पर है। यह 'बालक सुत सम दास अमानी' का आग्रह है। उस कलियुग की शिकायत हो रही है, जो राम-राज्य में कुछ बिगाड़ न सका और अब प्रभु ('बाप') सेवकों से बदला चुका रहा है। विनय बाल-स्वभाव के अनुरूप ही है कि यदि आप इसे मना नहीं करते तो हनुमान्‌जी से ही कहिए वही उसे डराएँ। उनको देखते ही वह घबराकर भाग जाएगा—

निकट बोलि न बरजिए बलि जाउँ हनिय न हाय।
देखिहैं हनुमान गोमुख नाहरनि के न्याय॥
अरुन मुख भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष कषाय।
बीर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय॥[4]

विनय का प्रभाव अनुकूल होता है। प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं—

१—कविता०, ७।१३७। २—विनय०, ७८। ३—वही, २२०। ४—वही।

बिनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचन के कहि भाय।
भली कही कह्यो लखन हूँ हँसि, बने सकल बनाय।
दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन-सदन बधाय॥
मिटे संकट सोच पोच प्रपंच पाप-निकाय।
पेखि प्रीति प्रतीति जन पर अगुन अनघ अमाय॥
दास तुलसी कहत मुनिगन, 'जयति जय उरगाय'॥[1]

प्रभु लक्ष्मण को तुलसी के वचनों के भाव समझाकर हँसते हैं। यहाँ कौन सा विशेष भाव है, जिसे समझाने की आवश्यकता है? कलियुग का अत्याचार तो लक्ष्मण भी समझ ही रहे हैं। तुलसीदास की भाषा में कोई ऐसी क्लिष्टता भी नहीं कि उसके भाव लक्ष्मण से समझाकर कहना पड़े। कवि के निवेदन में कहा गया कि आप माता हैं और इसी से गूढ़ संकेत किया गया कि फिर अपने मातृ-तुल्य स्नेह की जो विशेषता नारद से समझा चुके हैं, वह कहाँ गई? बालक की रक्षा अग्नि और सर्पादि से करने की आपकी स्वभावगत वह आतुरता इस समय कहाँ है, जब कि आपके 'सिसु' सेवकों पर कलियुग का प्रहार हो रहा है? यही 'बचन के भाय' हैं, जिन्हें समझकर प्रभु विहँस पड़े और लक्ष्मण को भी समझाया कि देखो यह व्यंग्य है तुलसीदास का। लक्ष्मण भी हँसकर कहने लगे—'ठीक ही तो कहा।' बस तुलसीदास की बन गई। प्रभु ने दीन की दाद क्या दी, संत समाज में बधाइयाँ बजने लगीं। सारे संकट और सोच समाप्त हो गए। भक्त पर भगवान् की ऐसी पवित्र और निष्कपट प्रीति एवम् प्रतीति देकर मुनिगण भगवान् का जयजयकार करने लगे।

तुलसीदास ने यहाँ संदेह के लिए स्थान नहीं रहने दिया कि उनकी यह भावना भगवान् को प्रिय हुई। जब प्रभु ने भक्त को 'बालक सुत' के रूप में अंगीकार कर लिया तो भय ही क्या? उसने डंके की चोट घोषित किया कि उसे किसी नर की चिंता नहीं, क्योंकि जगत्पति तक उसकी गति हो गई है—

जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की।[2]

ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ उन्होंने राम के बल पर अपनी पूर्ण निश्चितता प्रकट की है। वे राम से उनकी सौंगध खाकर कहते हैं कि मुझे अपनी नहीं, तुम्हारी चिंता है। तुम्हारी प्रतिज्ञा बनी रहे और विरद में कलंक न लगे, इसीलिए मैंने तुमसे कलियुग से रक्षा करने की पुकार की है। तुम 'माय-बाप' होकर भी रक्षा न कर सके तो? निवेदन है—

सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप,
माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तो थोरी ही है, सुधरैगी बिगरियो,
बलि, राम रावरी सौं रही रावरी चहत॥[3]

१—वही। २—कविता०, ७।२७। ३—विनय०, २९६।

मेरी प्रतिष्ठा थोड़ी ही है, बिगड़ेगी भी तो कभी सुधरेगी ही। पर, तुम्हारी प्रतिष्ठा बनी रहे, यही चाहता हूँ। सच कहता हूँ, इस चिंता का कारण यही है कि तुम्ही मेरे माँ बाप हो। 'बालक सुत सम दास अमानी' का निवेदन स्वाभाविक है। माता-पिता की प्रतिष्ठा की चिंता किस सुपुत्र को न होगी?

सौंदर्य तथा प्रेम दोनो की शोभा नित्य नूतन रहने में है। अतः सेवक का यह प्रेम-भाव भी नित्य नवीन भाव तरंगों में तरंगित होता रहता है, और नए-नए रूप धारण करता है। माता के दुलार का अभ्यस्त बालक बात-बात में उससे झगड़ता है, रोता है, हठ करता है और जो चाहता है लेकर ही रहता है। तुलसीदास की भी कभी-कभी वही स्थिति हो जाती है। सुग्रीव और विभीषण की 'कुचाल' और 'करतूत' को तरह देनेवाले 'बाप' से तुलसी क्यों न झगड़ें? उन दोनो ने तो बालक सुत के समान समर्पण नहीं किया, फिर भी उनके साथ यह पक्षपात क्यों? किस निर्भीकता से अपनी खीझ व्यक्त की जा रही है—

बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै, बलि,
तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को॥[1]

भले ही 'घरजायउ' अथवा 'घर जायो' पर विद्वान् झगड़ते रहें, हमें उससे प्रयोजन नहीं। हमें तो देखना है उस खीझ को जो और भी तीखे रूप में प्रकट हो, ढिठाई का रूप धारण कर रही है—

परम पुनीत संत कोमलचित तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध गनिकहिं तारेहु? कछु रही सगाई॥[2]

निश्चय ही यहाँ भरत-चरित में कठोर सेवकधर्म की व्याख्या करनेवाले 'गुलाम' तुलसीदास के सेवकधर्म का निर्वाह नहीं, 'माय-बाप' कहनेवाले तुलसीदास (रामबोला) का बालहठ है कि मुझे भी तारना ही होगा, नहीं तो अजामिल, व्याध और गणिका को क्यों तारा? क्या उनसे तुम्हारा कुछ सगापन था? आज अपने अधिकार का दावा करनेवाला 'बालक सुत' किसी प्रकार का पक्षपात सहन नहीं कर सकता।

प्रत्यक्ष है कि माता-पिता के ममत्व के भूखे भावुक भक्त को जब राम-कृपा का सहारा मिला और संसार को त्याग एकमात्र उन्हीं का भरोसा किया, तब उसने उन्हीं में अपने इस अभाव की पूर्ति देखी और उन्हीं के कृपापूर्ण स्नेह में माता-पिता का प्रेम चरितार्थ होते पाया। माता के इस दिव्य रूप की अनुभूति के परिणाम-स्वरूप माता का दिव्य आदर्श 'मानस' में प्रतिष्ठित हो सका।

१—कविता०, ७।१२२। २—विनय०, ११२।

डा० अणिमासिंह

मैथिली लोकगीतों में श्रीराम

[सामान्य जन अंतस् से उद्भूत और शास्त्रीय विधि-विधान से उन्मुक्त, सुख-दुःख के मार्मिक अवसरों पर समाज में गायी जानेवाली मुक्तक रचनाएँ 'लोकगीत' नाम से अभिहित होती हैं। समाज विशेष के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए वे उपयोगी एवम् महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीराम पुरुषोत्तम थे। अतः लौकिक व्यवहार के प्रत्येक अवसर पर उनके चरित्र की गाथाका प्रयोग निर्द्वंद्व रूप से किया जाता है, पारलौकिक व्यवहार में परब्रह्म परमात्मा रूप से उन्हीं की भक्ति विहित है। भारतीय जीवन एवम् वाङ्मय राममय है। भारत की सभी भाषाओं के लोकगीत उनकी गाथा से ओतप्रोत हैं।

प्रस्तुत लेख में 'लोकगीत' की व्याख्या तथा मैथिली लोकगीतों का विशद् परिचय देते हुए विदुषी लेखिका इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि 'आज भौतिकतावाद के घोर तिमिर से लोगों की दृष्टि आछन्न है। लोकगीत रूपी महासागर से उत्थित रत्नों की ज्योति से ही उनकी दृष्टि खुल सकती है और राम के लोकादर्श की ओर वे उन्मुख हो सकते हैं।' यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यहाँ उद्धृत गीतों के पाठ 'भूमिहारी' जान पड़ते हैं, ब्राह्मण-समाज के पाठ से उनमें कुछ अंतर है।]

मिथिला में बोली जानेवाली भाषा को मैथिली कहते हैं। वृहद् विष्णु-पुराण के अनुसार हिमालय से गंगा और कौशिकी से गंडक तक की भूमि मिथिला के नाम से आख्यात थी।[1] उत्तरी बिहार और दक्षिणी नेपाल (नेपाल की तराई) के लोगों की भाषा मैथिली है। इस प्रकार दो करोड़ से अधिक लोगों की भाषा मैथिली है।

मिथिला ने भारतीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने की जो महत् साधना की है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैदिक काल से ही मिथिला प्राचीन विद्या के केंद्र के रूप में प्रख्यात थी। यहाँ उच्च वर्णों की तो बात ही क्या निम्न श्रेणी के लोग भी ज्ञान की विभूति से वंचित नहीं थे। महाभारत में वर्णित धर्म-व्याध-कथा इस बात का प्रमाण है। भारतीय दर्शनों में चार दर्शन-शास्त्रों का उद्गम-स्थल मिथिला ही है। मिथिला की विभूतियों में गार्गी, मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य,

---

१—गंगा बहथि जनिक दक्षिण दिशि पूर्व कौशिकी धारा।
पश्चिम बहथि गंडकी उत्तर हिमवत बल बिस्तारा॥

गौतम, कपिल, कणाद, उदयन, मंडन, भारती, प्रभाकर, उदयनाचार्य, पक्षधर और गंगेश आदि यशस्वी विद्वान् हो गए हैं। यहाँ वेद की यजुर्वेद-संहिता की रचना हुई, जिसमें प्रख्यात ईशावास्योपनिषद् अंतर्भुक्त है तथा जो वेदांत-दर्शन की नींव है। यहीं मंडन मिश्र की धर्मपत्नी ने जगद्गुरु शंकराचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। अपनी सुदृढ़ता के कारण मिथिला की दार्शनिक और सांस्कृतिक धारा काल के क्रूर आघातों का तिरस्कार करती हुई आज भी जीवित और गतिशील रूप में प्रवहमान है।

मैथिल-संस्कृति की परंपरानुगत धारा को अक्षुण्ण रखनेवाला एक सशक्त साधन है—लोकगीत। मिथिला के लोकगीतों में वहाँ की समग्र सांस्कृतिक चेतना का सुस्पष्ट और सजीव चित्र विद्यमान है। इस दृष्टि से मैथिली लोकगीतों का अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है। लोकगीतों को हम समाज का निर्मलतम दर्पण मान सकते हैं। शिष्ट साहित्य में अंतरतम की अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति खुलकर नहीं हो पाती। प्रतिष्ठित कविगण सामाजिक कोप अथवा कटु आलोचना के भय से बहुधा अपने नैसर्गिक भावों को अभिव्यक्त करने में हिचकते हैं। किंतु लोकगीतकारों के सामने किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। उनकी वाणी पहाड़ी नदियों की तरह वेग और निर्भयता से निकल पड़ती है। लोकगीतों में निस्संकोच भाव से सुख-दुःख, राग-द्वेष, जय-पराजय अथवा हास-उल्लास का वर्णन मिलता है। इनमें हमें गृहस्थ-जीवन के विविध रूपों की झाँकी मिलती है। इनमें जन-मानस की आशा, आकांक्षाओं और स्वप्न की रंगीनियों के सजीव चित्र अंकित होते हैं। इनके रचयिता कौन हैं और इनकी रचना-तिथि क्या है, इसका पता प्रायः किसी को नहीं रहता। अपनी रचना न होने पर भी व्यक्ति इसे बड़ी आतुरता और ललक के साथ अपनाता है, क्योंकि वह उसमें अपने ही भावों की प्रतिच्छबि पाता है। वह भूल जाता है कि वह दूसरे की रचना गा रहा है। भावों की तन्मयता में झूमकर जब वह गाने लगता है, तो अपने पराए का और सभी प्रकार का भेद-भाव भूल जाता है। वह लोक-मानस का एक अखंड अंग बन जाता है। मानस के निर्मल जल के ऊपर उठनेवाली एक तरंग जिस प्रकार समस्त सरोवर में छा जाती है, उसी प्रकार जन-मानस के किसी अज्ञात कोने में उठनेवाली लोकगीत की लहर समग्र जन-मानस को आलोड़ित, प्रभावित और चमत्कृत कर देती है।

सामान्यतः विधिवत् लोकगीत सीखने की किसी को आवश्यकता नहीं होती। साथ ही उसके सीखने या सिखाने के लिए विद्यालय या शिक्षक नहीं होते। किस प्रकार इनकी रचना होती है, कैसे इन्हें स्मरण रखा जा सकता है अथवा कैसे स्वर

तालादि सीखना पड़ता है, इसके लिए विधिवत् कोई प्रणाली नहीं होती। कुतूहल और आनंद के वशीभूत होकर लोग केवल कानों से सुनकर ही इन्हें सीख लेते हैं। इसमें उनकी सहज प्रवृत्ति का रागात्मक योग होता है। ये लोकगीत जन-मन के विस्तृत नभ-मंडल में हलके सतरंगे बादलों की तरह थिरकते फिरते हैं। धरती की तृष्णा-निवारण के लिए जिस प्रकार सरस जलद जल बरसते हैं, उसी प्रकार सर्वजन हृदय में रसोद्रेक होने से इनका सहज विकास होने लगता है। जिस समाज में रस-परिवेषण करने का दायित्व लोक-साहित्य का है, उस समाज में उसके समालोचकों का नितांत अभाव है। ग्रहणीय समझने पर समग्र समाज ही लोकगीत का ग्रहण करता और वर्जनीय समझने पर संपूर्ण समाज ही त्याग करता है। व्यक्तिगत या वर्ग-गत दृष्टि-भंगी का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

धर्म और दर्शन ने भारतीय जन-जीवन के कण-कण को किस प्रकार रस-सिक्त कर दिया है, इसका सुंदर निदर्शन मैथिली लोकगीतों के अध्ययन द्वारा प्रस्तुत हो सकता है। इन गीतों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है, मानो रागात्मक वृत्तियों के उद्गम, विकास और अभिव्यंजन के नियम में भी मंगल-विधायिनी धार्मिक अनुचेतना का ही परोक्ष संस्पर्श रहता हो।

सरस और कलात्मक गीतों के माध्यम से जीवन के गंभीर तत्वों के परिवेषण की कला मैथिली की अपनी विशेषता है। मैथिली में जीवन-जिज्ञासा सर्वत्र दर्शन-शास्त्र का ही रूप नहीं धारण कर लेती, वह प्रायः सहज भाव से गीति-काव्य के रूप में परिणत हो जाती है। लोकगीतों के माध्यम से बहुधा जीवन की समस्त चिंतन-धाराओं की अभिव्यक्ति हो जाती है। फलतः मैथिली लोकगीतों के परिचय में मिथिला के समग्र जन-जीवन का परिचय मिल जाता है।

मानव-प्रकृति ऐसी है कि दुःख, संकट, विवशता और कातरता के क्षणों में मनुष्य महत्तर शक्ति का आह्वान करता है तथा ग्लानि एवम् अनुताप के क्षणों में वह भगवान् को संबोधित कर आत्म-निवेदन करता है, किंतु मिथिला के लोकगीतों की विशेषता यह है कि उसमें हर्ष, उल्लास और उन्माद की तो बात ही क्या व्यंग्य-विनोद के क्षणों में भी भगवज्जीवन के साथ अभिन्नता की अनुभूति की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

सीता और राम का जीवन अध्यात्मोन्मुख लोक-जीवन का अद्वितीय और चरमोत्कृष्ट प्रतीक है। उनके जीवन में लोकाकर्षण के सारे तत्व सन्निहित हैं। पुनः मिथिला जगज्जननी सीता की जन्मभूमि तथा भगवान् राम की ससुराल है। इसलिए निसर्गतः यहाँ के अधिवासियों के मन में सीता और राम के प्रति विशेष आकर्षण है। लोक-जन-जीवन में सीता और राम का यह आकर्षण इतना प्रबल हो उठा है कि लोक-गीतकार को हर पुरुष के जीवन में राम के जीवन की और हर नारी के जीवन में

सीता के जीवन की समानता दिखाई देती है। जीवन के प्रत्येक मार्मिक अवसर पर हर्ष और विषाद के क्षणों में मानो राम और सीता के जीवन के ही हर्ष और विषाद की अनुभूति की जाती है। यहाँ कतिपय उदाहरणों द्वारा जीवन के कुछ विशिष्ट मार्मिक अवसरों पर गाए जानेवाले लोकगीतों में राम-भावना का निदर्शन कराया जा रहा है। आरंभ से लेकर अंत तक हिंदुओं के जीवन में साधारणतः ये अवसर विशेष उल्लेख योग्य हैं—जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह तथा आकस्मिक सुख-दुःख और मरण। इन सभी अवसरों पर गाए जानेवाले लोकगीतों में जन-जीवन के साथ राम की तदाकारता के सुंदर उदाहरण मिलते हैं।

मिथिलांचल में जन्म से लेकर मृत्यु के पूर्व तक मानव-जीवन के प्रत्येक संस्कार के अवसर पर मधुर गीत गाए जाते हैं। जन्म के अवसर पर गाए जानेवाले गीतों को सोहर कहते हैं। सोहर एक विशेष प्रकार का छंद होता है, जिसमें आनंद, उल्लास और मधुर वेदना का अद्भुत संमिश्रण होता है। शिशु के जन्म की संभावना के साथ ही मिथिला का प्रत्येक आँगन मधुर सोहरों से गूँज उठता है। राजा दशरथ के घर संतान होने की संभावना दिखाई पड़ रही है। पुत्रोत्पत्ति की संभावना से राजा फूले नहीं समा रहे हैं। वे सारी अयोध्या को इस खुशी में लुटा देना चाहते हैं—

सुंदर नग्र अजोध्या अरिपुर पाटन रे,
जहाँ बसथु राजा दशरथ तहाँ कौसल्या रानी रे।
कौन नछत्र केस फोलल कौन नहैलहुँ रे,
कौन नछत्र से सुतलन्हि से रहली गरभ सँ रे।
अष्टमी नक्षत्र केस फोलल नवमी नहैलहुँ रे,
दशमी नत्त्रत्र सुतलहुँ से रहलहुँ गरभ सँ रे।
सेर जोखि सोनमा लुटाएब पसेरी जोखि रुपवा रे,
सौंसे अजोध्या लुटाएब किछु नहि राखब रे॥

तंत्र-मंत्र और जड़ी-बूटियों में स्त्रियों का अगाध विश्वास होता है। राजा दशरथ से कहकर कौशल्या पुत्र-रत्न की प्राप्ति के लिए उत्तर देश से जड़ी मँगाकर मगह की 'सिलौट' (शिला) पर पीस कर पीना चाहती हैं। कौशल्या और सुमित्रा तो 'बट्टा' भर पी लेती हैं, किंतु बेचारी कैकेयी को सिलौट धोकर पीना पड़ता है।

हँसि हँसि पूछथि कौसिल्या रानी सुनू राजा दसरथ रे,
ललना संतति थिक बर बस्तु कि जौं घर संपति रे।
घर पछुअरवा मे हजमा तोहि मोरा हितबंधु रे,
ललना आनि देइ उतर क जड़िया मगह सिलोटिया रे।
पीसै बैसली कौसिल्या रानी और सुमित्रा रानी रे,
ललना पाछु से गेली केकयी रानी हमरो के चाहिय रे।

बट्टा भरि पीलनि कौसिल्या रानी और सुमित्रा रानी रे,
ललना सिलौट धोई पीलन्हि केकयी रानी रहलन्हि गर्भ सँ रे॥

गोस्वामी तुलसीदास ने सामाजिक आदर्श निरूपण के लिए कैकेयी को दोषमुक्त करने की बड़ी चेष्टा की है, किंतु मिथिला के लोक-जीवन में कैकेयी को क्षमा नहीं मिल सकी। वे एक सामान्य सौत के रूप में चित्रित हुई हैं। राम के जन्मोत्सव पर राजा दशरथ सर्वस्व लुटा देना चाहते हैं। कैकेयी को यह सहन नहीं होता। वे आकर वारण करती हैं—

हाथी लुटायब हथसारहि घोड़ा घोड़सारहि रे ललना,
लुटायब सगरौ अजोध्या किछु नहि राखब रे ललना।
घर से बोलू केकयी रानी सुनू राजा दसरथ रे ललना,
बूझि सूझि संपति लुटायब हमहू गरभ सँ रे ललना॥

राम-जन्म के अवसर पर केवल पिता दशरथ ही आनंदातिरेक से अयोध्या लुटा रहे हों ऐसा नहीं है, समस्त अयोध्यावासी अपना सर्वस्व लुटाना चहते हैं—

भूमि अवतार महाप्रभु राजिव-लोचन रे,
अवध नगर दुखमोचन हरषित जग भरि रे,
जगत हरषित कुसुम बरषित गगन जय-जय होय रे,
रंक नाचै शंख बाजै नसत दुख मोरा आजि रे।
कियो लुटावै हाथ कंगना कियो लुटावै अभरन रे,
कियो लुटावै राज अजोध्या मंदिल सोहर होइ रे॥

कहीं-कहीं सीता और राम को सामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सीता गर्भवती हैं। गर्भावस्था-कालीन कष्ट के मूल में वे पति को ही समझती हैं। इसके लिए पति के प्रति उनके मन में घोर आक्रोश है। वे उसे दंडित भी करना चाहती हैं। वे पिता को भी कोसती हैं। किंतु अंत में पुत्र पाकर सारी पीड़ाओं को भूल जाती हैं तथा उसकी वितृष्णा फिर से प्रेम और आभार में परिणत हो जाती है—

घर सँ रामचंद निकलल धनि मुँह निरेखय रे।
ललना रे धनि जी के छै कि गरभ कि मुँह पियरायल रे।
पहिले दरदिया गुरुजी बाँचू कि आओरी गुरुजी बाँचू रे।
ललना रे फेरो ने करब ऐसन काज पलंगिया भिर ने जायब रे।
किये कैलै बाबा बियाह ससुरवा घर के देलनि रे।
ललना रे रहितौं बारि कुमारि होरिलवा कहाँ पवितौं रे।
एहि रे औसर पिया के पवितौं जुलुफिया धर घिसियबितउँ रे।
ललना रे पियाजी के बान्हि मरबितउँ दरदिया फलने पबितउँ रे।

एक मास बितल दोसर मास आओरो तेसर मास रे।
ललना रे नवे मास होरिला जनम लेल महल उठै सोहर रे।
भल कैलनि बियाह कैलनि ससुर घर के देलनि रे।
ललना रे रहितउँ ने बारि कुमारि होरिल कहाँ पबितउँ रे।
एहि अवसर पिया के पबितउँ चुटकिया चूमा लितउँ रे।
ललना रे गले गले लितउँ एक बारी बरिसिये दिन पर होयत रे॥

हिंदुओं में साधारणतः जन्म का केश नहीं रखा जाता। अतः प्रथम बार केश कटाते समय विशेष आनंद-उत्सव मनाया जाता है और इसी को 'मुंडन' या 'मूड़न' कहते हैं। पुत्र का ही मूड़न विशेष उत्सव के साथ संपन्न किया जाता है। विशेष शुभ दिन देखकर तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में मूड़न का दिन निश्चित होता है।

इस प्रकार उत्सवों के लिए स्त्रियाँ जिस चाव और अधीरता से दिन गिनती हैं, उस तरह संभवतः पुरुष नहीं। अतः स्त्रियाँ घर के पुरुषों से बार-बार पूछती रहती हैं—

भमरी पूछय भमरा सँ हे कहिया हैत बसंत
फूलत कचनार कली।
ऐहब अमा पूछथि फलना बाबा सँ
हे कहिया हैत सुदिन
करब जग मूड़न हे॥

बालक राम के केश जमीन पर लोटने लगे हैं। अब मूड़न अवश्य हो जाना चाहिए। पुरोहित की बुलाहट हुई, मुंडन के लिए शुभ दिन देखने के लिए आग्रह किया गया—

रानी कौसिल्या गेली ओ घर राजा से बिचारथि रे।
ललना बालक अति सुकुमार भुइआँ लोटू लापटि रे।
आवथु पुरोहित पंडित पोथिया संग नेने रे।
ललना गुनि देथु बबुआ के दिन करब जग मूड़न रे॥

मूड़न के लिए माता-पिता से भी अधिक चिंता स्वयम् पुत्र को है। वह खुलकर कुछ बोलता नहीं, केवल रूठा हुआ है—

मूड़न करथि रघुनंदन अउर पसारल रे।
आहे फलना बाबा फलना आमा अगुरौली बालक परिबोधल रे॥

माता-पिता वस्त्रादि से पुत्र को प्रसन्न करना चाहते हैं, किंतु पुत्र इन वस्तुओं से क्यों मानने लगा?—

पाट पटंबर लए बोधल बोधल नै मानय रे।
आहे मुहमा तोहे पिउसी की की माँगब हे॥

अंत में बालक अपने मन की बात कहता है—

नहि लेब पाट पटंबर नहि लेब अभरन रे।
आहे पियर वस्त्र एक पहिरब केश परिछल रे॥

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की मनौतियाँ मनाती हैं। कोई प्रयाग में मूड़न करवाना चाहती है तो कोई बैजनाथधाम में—

कहमा लपचि बढ़ाओल कहमा मुड़ाओल हे।
कौन देव होयता सहाय लालजी के मूड़न हे।
अवधपुर लपचि बढ़ाओल प्रयाग मुड़ाओल हे।
सिवनाथ होयता सहाय रामजी के मुंडन हे॥

मूड़न के समय बच्चे को आशीर्वाद के साथ विभिन्न प्रकार का उपहार भी दिया जाता है—

कौने रानी औंठी मुनरिया कि कौने रानी अभरन हे।
कौने रानी देलनि ग्रिमलहार कि लालजी के मुंडन हे।
कैकयी रानी औंठी मुनरिया कि सुमित्रा रानी अभरन हे।
कौसल्या रानी ग्रिमलहार कि लालजी के मुंडन हे॥

सवर्ण हिंदुओं में जन्म-संस्कार तथा मुंडन के बाद ही यज्ञोपवीत संस्कार होता है। बालक पाँचवें, सातवें, नवें अथवा किसी विषम वर्ष में उपवीत धारण करता है। उपनयन का दिन निश्चित होने के बाद से ही गीत प्रारंभ हो जाते हैं—

धन धन भाग कौसिल्या जाहि कुल राम जन्म लेल हे।
जीवन जन्म सुफल भेल अँगना माड़ब भेल हे॥

बालक अब बिना उपनयन के 'बेमत' होकर डगर डगर घूमने लगा है। अत: उसका उपनयन अब होना ही चाहिए—

सोना के पिंजरा गढ़ावितौं रूप झाप झाँपितौं हे।
ताहि झापै झाँपब से फलना बरुआ बेमत भेल हे।
बरुआ बेमत भेल राति नगर बुलू हे॥

राम के उपनयन के लिए जो मंडप बनाया गया, उसकी शोभा देखते ही बनती है—

लाल पियर इहो माड़ब हरियर छारल हे।
ओ तऽ देखैत सोहावन हे॥

उपनयन-काल में बालक राम की शोभा ही कुछ निराली है—

डाँड़ में पियर धोती गले चदरिया सोभै।
देखिते सोहावन लागे सुनिते मनभावन लागे॥

उपनयन के अवसर पर नए चूल्हे पर खीर बनाने की परिपाटी है। कौशल्या भी इस परिपाटी के अनुसार खीर बना रही हैं, किंतु उनका चूल्हा साधारण चूल्हा नहीं है—

सोना के चुल्ही गढ़ाओल रूपा के उभकुन हे।
खरही के आँच पजारल झुरमुट जारन हे॥

जनेऊ का सूत विशेष पवित्रता से काता जाता है। राम के जनेऊ के उपलक्ष्य में कौशल्या माता सूत कात रही हैं—

कौन बाबा जयताह निकुंज बन,
लओताह पलास दंड हे।
आहे कौन अमा कहतीह जनउआ सूत,
चरखा रन-रन बाजय रे।
दसरथ बाबा जयताह निकुंजबन,
लओताह पलास दंड रे।
कौसल्या अमा कटतीह जनउआ सूत,
चरखा रन-रन बाजय रे॥

संस्कारों में सर्वाधिक मार्मिक और महत्त्वपूर्ण विवाह-संस्कार को ही माना जा सकता है। उसका मुख्यतम अंश वेदोच्चारण के साथ अग्नि को साक्षी रखकर पाणि-ग्रहण तथा सप्तपदी है। किंतु भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न भिन्न स्थानों पर कई प्रकार की विशिष्ट रीतियाँ और विधियाँ प्रचलित हो गई हैं। इन विधियों को भी आज विवाह का अनिवार्य अंग-सा मान लिया गया है। मिथिला के सवर्ण हिंदुओं के बीच मुख्यतः निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं—

औंठा पकड़बा-काल क गीत, आम बौर बियाह क गीत, उचिती, उबटन, ओठंगर, कन्यादान-काल क गीत, कमर-खोलाइ कुमार, कोहबर, खोंइछा झाड़ै क गीत, गारी, घोघट क गीत, चुमाओन, चौठारी, जेमनार, जोग, ठकबक क गीत, डहकन, दहनही, देहरी छेकावन, धुरछक, धोविन क गीत, निरीक्षण, नैना जोगिन क गीत, पचीसी, परिछन, पाग उतारै क गीत, पुछारी, पुरोहित क गीत, बरियात, बेटी क पसाहिनी क गीत, बेदी लग लावा छिरियाव क गीत, बेलपत्र दै काल क गीत, भरफोड़ी, मड़वा-घुमौनी, महुअक, मिनती, मुट्ठी खोलै क गीत, मोर पहिरावै क गीत, लहछू, लावा भूजै क गीत, समदाउन, सम्मरि, साँखर साँठवा काल क गीत, सिंदूर-दान काल क गीत, सिरहर भरै क गीत तथा हरीर पान खैबा क गीत।

इनमें से प्रायः सभी विधियों के संबंध में राम-विषयक लोकगीत उपलब्ध हैं। मनोरंजक होने पर भी इन सभी विधियों में चित्रित राम के स्वरूप का विवेचन बहुत विस्तृत हो जायगा। इसलिए कतिपय चुनी हुई विधियों का उल्लेख करके ही संतोष करना पड़ रहा है।

पुत्र या कन्या के विवाह के दस दिन पहले से स्त्रियाँ उसे उबटन लगाना प्रारंभ करती हैं। सरसों, हल्दी आदि कई प्रकार के द्रव्यों को मिलाकर यह उबटन बनाया जाता है। गाँवों में यह माना जाता है कि उबटन लगाने से विवाहार्थी का रंग कुछ अधिक साफ हो जाता है। इसका उद्देश्य लड़का अथवा लड़की के शरीर को कोमल, उज्ज्वल तथा कांतियुक्त बनाना होता है। जनकपुर की स्त्रियाँ राम के श्यामवर्ण को देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि अयोध्या की स्त्रियाँ बड़ी फूहड़ हैं। उन्हें उबटन लगाना भी नहीं आता। इसीलिए राम ऐसे काले लग रहे हैं। अतः जनकपुर की स्त्रियाँ राम की माता तथा अयोध्या की समस्त स्त्रियों को गाली देती हुई गाती हैं——

इहो अपटन दुल्हा मैया नहि कैलक,
बचपन के बाकी रहि गेल हे,
अपटावथि वर के।
गाबि गाबि मिथिला नारी अपटन लगावथि हे,
अजोध्या के तिरिया ढहलेल हे,
अपटावथि वर के।

वर के घर से जो सगुन उठाकर लाया जाता है, उसमें से पाँच मुट्ठी धान लेकर ओठंगर का नेग किया जाता है। यह विधि केवल कन्या के घर पर ही होती है, वर के घर नहीं। ओखली और समाठ में सिंदूर और पिठार लगाकर ओखली में पाँच मुट्ठी धान डाला जाता है और जनेऊधारी आठ व्यक्ति इकट्ठे होकर उस समाठ को पकड़ते हैं। इन आठों व्यक्तियों को आठ फेरी सूत से घेरा जाता है और पुरोहित के मंत्र के साथ साथ आठ बार धान कूटा जाता है। कूटनेवाले इन व्यक्तियों में वर भी एक होता है। इस नेग के समय स्त्रियाँ गाती हैं——

एहि चितचोरवा के बाँधू कसि डोरबा
चिन्हबन्हि उखरी मुसरबा से।
की थीक राजा की थीक बहिया
चिन्हबन्हि उखरी मुसरबा से॥

त्रिलोकनाथ राम को भी मिथिला में आकर धान कूटना पड़ा। अयोध्या में जो राम बड़ी शान से घूमा करते थे, उनको धागे से बाँधकर मिथिला की स्त्रियाँ अत्यंत प्रसन्न होती हैं और गर्व के साथ गाती हैं——

अजोध्या में घूमि घूमि टेढ़ी देखौलनि,
आइए घुसरतैन सेखी सकल कसि लालन के बन्हियनु हे।
चौदह भुवन जे हुनका गनै छथि,
बुझथिन कतेक मिथिलानी मे बल कसि लालन के बन्हि॰।

वर और कन्या दोनो के घर कुमार के गीत गाए जाते हैं। जब विवाह-पात्र का विवाह निश्चित हो जाता है, तो विवाह से पहले तक ये गीत गाए जाते हैं। पुत्र के कुमार में साधारणतः राम के स्वयंवर का गीत गाया जाता है—

दशरथ राजकुमार जनकपुर आइकै।
आगे राम पीछे लछुमन माझ सभा रघुनाथ बिराजै,
ऊपर पीतांबर फहराय जनकपुर आइकै।
राजा जनकजी कठिन व्रत ठानल धनुषा देल ओठंगाई,
जे बीरन इहो धनुषा तोड़ै सीता से करु ने विवाह,
जनकपुर आइ कै।
रामचंद्र जब कछनी काछै सीता मन पछिताई;
अहि बालक के कोमल काया धनुषा टुटत कि नाहीं।
बाम हाथ पहु धनुष उठायल गगन उठै घहराई;
तीन खंड भए धनुषा टूटल सीता चलल मुसकाई॥

विवाह के घर में एक कमरा विशेष रूप से सजाया जाता है। उस कमरे की दीवारों में विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित किए जाते हैं। विवाह के अवसर पर काम आनेवाले सभी उपकरण 'लगहर', 'पुरहर' तथा 'अहिवात क पातिल' आदि उसी प्रकोष्ठ में रखे जाते हैं। इसी प्रकोष्ठ में वर-वधू की शय्या बिछाई जाती है। वर-वधू जब 'कोहबर' घर में प्रवेश करते हैं तो स्त्रियाँ कोहबर गीत गाती हैं। रामचंद्र के कोहबर की शोभा देखते ही बनती है—

कंचन महल मानिक केर दियरा चंदन लागल केवाड़ हे,
बन बाँस क कोहबर।
गाया जन्त्र सेज फुलेल के बिछौना रतन जतन के सिंगार हे,
बन बाँस क कोहबर।
कमल क मुख-मुख फेरन लागे सीता दुलहिन कर बाम हे,
बन बाँस क कोहबर।
कमल क मुख-मुख फेरन लागे घुरि फिरि हृदय में लगाउ हे,
बन बाँस क कोहबर॥

वर को ससुरालवाले जल्दी विदा करना नहीं चाहते। जनकपुर की स्त्रियाँ राम को नाना प्रकार का प्रलोभन देकर समझाती हैं कि ऐसी ससुराल उन्हें और कहीं नहीं मिलेगी। स्त्रियाँ गाती हुई कहती हैं—

एहन ससुरारी दुल्हा कहू कहाँ पायब हे, मिथिला जनि छाड़ू;
कोहबर मे रहियौ बारहोमास हे, मिथिला जनि छाड़ू।
सारि सरहोजि सब सेवा मे रहथिन हे, मिथिला जनि छाड़,
कबहू ने होय देब उदास हे, मिथिला जनि छाड़ू।

फुलवा के चुनि चुनि सेजिया बिछायब हे, मिथिला जनि छाड़ू।
ताहि पर करब सुख बिलास हे, मिथिला जनि छाड़ू।
जे जे चाहब अहाँ से से पुराएब हे, मिथिला जनि छाड़ू,
मन के पुरत सब आस हे, मिथिला जनि छाड़ू॥

मिथिला में विवाह के अवसरों पर गालियों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह के एक दिन बाद बरातवालों को विशेष रूप से भोज खिलाया जाता है। इस भोज को 'मरजाद' कहते हैं। भोज चलते समय स्त्रियाँ समधी-समधिन का नाम ले-लेकर गालियाँ देती हैं। वर-पक्षवाले हँसते हुए इन गालियों का स्वागत करते हैं। राम और भरत के श्याम वर्ण की ओर इंगित करती हुई जनकपुर की एक स्त्री किस खूबी के साथ चुटकी लेती है—

एहन सुंदर रामलला के जुनि पढ़ियौन केओ गारी रे,
हास बिलास विनय दऽ पुछिहौन्ह उचित कथा दुइ चारी रे।
अकथ कथा पनिघट पर पुछबैन्ह अपने कहताह बिचारि हे,
गोरेहि दसरथ गोर कौसल्या राम भरत किए कारी हे।
एहन सुंदर रामलला के जुनि पढ़ियौन केओ गारी रे;
खीर खाए बालक जनमौलै अवधपुरी के नारी हे।
एक सौ साठ बालक जनमौलन्हि अवधपुरी छिनारी हे,
एहन सुंदर रामलला के जुनि पढ़ियौन केओ गारी रे॥

विवाह-विधि के संपन्न हो जाने पर वर-वधू कोहबर घर में प्रवेश करते हैं। प्रथम मिलन की प्रतीक्षा में न जाने कितने भाव उनके मन में डूबते-उतराते रहते हैं। वर-लज्जा और संकोच का प्रदर्शन भले ही करे, किंतु भीतर से वह वधू से मिलने के लिए आतुर रहता है। अतः वर की उत्सुकता को तीव्रतर करने के लिए साली या सरहज द्वार रोककर खड़ी हो जाती हैं। बिना कुछ पुरस्कार दिए वर उस प्रकोष्ठ में प्रवेश नहीं कर पाता। राम को भी द्वार के बाहर ही रोक लिया गया है और गालियों के साथ उनसे पुरस्कार माँगा जा रहा है—

दान दिए बिनु जाहुन देब ए रघुनंदन,
बेचू बहिन महतारी सुनू ए रघुनंदन।
जौं तोरा गेंठू मे दामो नहि सुनू ए रघुनंदन,
बेचू पिसी पितियाइन सुनू ए रघुनंदन॥

यही देहरी छेकावन की विधि वर के घर में भी होती है। नववधू को लेकर जब वर आँगन में प्रवेश करता है, तो प्रथम मांगलिक मंत्रोच्चारण होता है और उसके बाद वह कोहबर में प्रवेश करता है। कोहबर के द्वार पर वर की बहन द्वार रोककर खड़ी मिलती है। राम विवाह के बाद वधू को लेकर अयोध्या पहुँचते हैं।

नियमानुकूल राम की बहन द्वार रोक कर खड़ी है। भाई को देखकर बहन कहती है—

बड़ी बड़ी आस लागल छल हो भैया।
भौजो के खोइँछा मोहर दस आयत,
लैबै मे खोइँछा झाड़ि हो भैया।

किंतु बहिन की बड़ी बड़ी आशाओं पर पानी फेरते हुए राम कहते हैं—

तोहें बहिनि थिकौं इंद्र इंद्रानी ; हमे भैया तपसि भिखारी।
तपसि क बेटी बियाहि घर आयल ; खोइँछा देल दूबि धान॥

विवाह के अवसर पर पचीसी खेलने की परिपाटी बहुत पुरानी है। कोहबर में उपस्थित स्त्रियाँ दो दलों में विभक्त हो गई हैं। एक दल राम का पक्ष ले रहा है और दूसरा सीता का। सीता पचीसी के खेल में जीत गई हैं। राम की हार से प्रसन्न होकर सखियाँ ताली बजाकर अट्टहास कर उठती हैं—

सखि सब देल हहकार आनंद भए, निज निज ताली बजाय कए।

किंतु जब रघुवर जीत जाते हैं तो सीता के पक्ष की सखियाँ लज्जित हो जाती हैं—

खेलू खेलू कुमर वर चारि बाजी लगायकै,
सीता खेलत रघुवर हारत सब सखि मारय पिहिकारी।
रघुवर जीतत सीताजी हारत सब सखि गेली लजाय,
धन्य धन्य सखि मिथिलावासी रघुवर भेला चतुराइ॥

कन्या के घर बरात के पहुँचते ही कन्या पक्ष के लोगों में भगदड़ मच जाती है। सब वर को देखने के लिए दौड़ते हैं। इस अवसर पर पाँच सौभाग्यवती स्त्रियाँ वर के 'परिछन' के लिए पहुँचती हैं। राम वर के रूप में जनकपुर में उपस्थित हो गए हैं। उन्हें देखने के लिए इतनी स्त्रियाँ एकत्र हो गई हैं कि सबका राम को देख सकना असंभव हो गया है। अतः जिन स्त्रियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ वे गाती हैं—

जखनिया रामचंद्र एलखिन्ह दुअरिया हे निरखू सब सखिया,
केहन जनक जमाय हे निरखू सब सखिया।
बाल घुँघुरिया सिर में मटुकिया हे परछू सब सखिया,
काँधे झलकै तीर कमान हे परछू सब सखिया।
हाथ मे धनुषिया राम के पहिरन पितांबर हे,
देखैत श्याम बरतिया हे परछू सब सखिया॥

पुत्र जब विवाह करने के लिए जाने लगता है तो बरात के गीत गाए जाते हैं। इन गीतों को 'चलंती' भी कहते हैं। राम विवाह के लिए जा रहे हैं। कौशल्या कहती हैं कि जाने के पहले दूध का दाम दे जाओ, जिसे पीकर तुम

आज इतने बड़े हुए। राम उत्तर देते हैं कि दूध के दाम के विषय में मैं कैसे जानूँगा ? हाँ, पालन पोषण का मूल्य अवश्य चुकाऊँगा। जबतक मैं जीवित रहूँगा, तुम्हें खिलाऊँगा तथा सदा सेवा में रहूँगा और मेरी पत्नी तुम्हारी दासी होकर रहेगी—

से बाबू आइ चलल बियाहन, दुधवा के दाम लिखि दै हे।
दुधवा के दाम आमा हम कोना जानब, पोसला के दाम लिखि देब हे।
जावत जीव आमा कामोर ढोयब, धनि हैती चेरिया तोहार हे॥

कहीं-कहीं दहेज की कुप्रथा की ओर संकेत है। विवाह करके राम बिना सीता को लिए लौटे हैं। पुत्रवधू के स्वागत के लिए खड़ी कौशल्या राजा दशरथ से पूछती हैं कि सीता को क्यों नहीं लाए ? क्या वह अंधी है कि काली है, कि नीच कुल की है ?—

ऊँची अटारी चढ़ि कौशिल्या निरखय कते दल आवे बरतिया हे,
बेटवो देखलौं पुतहु न देखलौं असकर आवे श्रीराम हे।
किये सीता आन्हर किये सीता भेमर किये सीता कुलवो के हीन हे,
कौने अगुने राजा सीता छोड़ि अयला असकर आवे श्रीराम हे॥

दशरथ उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं। दहेज न देने के कारण सीता को छोड़ आए हैं—

नहीं सीता आन्हर नहीं सीता भेमर नहीं सीता कुलवो के हीन हे,
सीता के माय बाप दहेजो ने देलक ओही अवगुने सीता छोड़ि अयलौं हे।

इस पर कौशल्या दहेज की निंदा करती हुई कहती हैं कि दहेज का स्थायित्व ही कितनी देर के लिए है, बेटा-पुतोहू से ही मेरा घर भरा रहे—

दहेज दहेज जनु करु राजा दहेज अछि नटुआ के नाच हे,
बेटवे पुतहुए राजा घर भरि जायत धनि धनि भाग हमार हे॥

कोहबर घर में वर-वधू को खीर खिलाने की एक विधि है, जिसे 'महुअक' अथवा 'खीर-खियाई' कहते हैं। इस अवसर पर वर रूठता है और तब तक खीर को स्पर्श नहीं करता जब तक उसे अपनी ईप्सित वस्तु प्राप्त न हो जाय। राम खीर लेकर बैठे हैं, खीर स्पर्श ही नहीं कर रहे हैं। साली सरहज कब चूकनेवाली हैं ? वे व्यंग्य करती हुई कहती हैं—

खीर खाऊ ने लजाऊ सुनू चारू दुल्हा,
एहि खिरबा में बाबू बड़ बड़ गुनमा,
महिरम जनती अहाँ के मइया।
एहि खिरबा के बाबू करू ने अनादर,
थीक रघुकुल के कांमद गैया॥

लहछू के अवसर पर कई प्रकार के गीत गाए जाते हैं, जिनमें गाली एक विशेष स्थान रखती है। नाइन राम और लक्ष्मण के नाखून काटने बैठती है। राम के श्याम वर्ण और लक्ष्मण के गौरवर्ण को देख कर एक स्त्री गाती है—

रामजी तोहें दसरथ सुत लछुमन आनक हे,
रानी सुमित्रा गेली भोर जनकजी क आँगन हे॥

'सम्मरि' का शुद्ध रूप स्वयंवर है। कन्या का विवाह जब निश्चित हो जाता है, तो 'कुमार' के साथ ही 'सम्मरि' भी गाते हैं। साधारणतः इन गीतों में सीता या रुक्मिणी के स्वयंवर का वर्णन होता है। सीता के स्वयंवर में बड़े बड़े वीर आए, पर कोई धनुष पर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा सका। राजा जनक निराश हो गए। उन्होंने समझ लिया कि अब उनकी लड़की कुमारी ही रह जायगी। ऐसी अवस्था में राम का आविर्भाव होता है और धनुर्भंग होता है—

सीताक सम्मरि सुनि मुनि सब आयल हे,
लछमन सहित श्री रामचंद्र जनकपुर आयल हे।
राजा जनकराज नहि भावय रानी सोचय हे,
आब सिया रहली कुमारि धनुष के तोड़त हे।
ऊँच अटारी चढ़ि बैसलि जानकी चहुँदिसि चित हेरु हे,
कतहु ने देखी श्रीभगवान धनुष के तोड़त हे।
पृथिवी भेल निरवीर धनुष के तोड़त हे।
तब हँसि बोलू बाबू लछुमन सुनु भैया रामचंद्र हे,
हुकुम दियऽ बाबू रामचंद्र धनुष के तोरब हे।
तब हँसि बोलू भैया रामचंद्र सुनू बाबू लछुमन हे,
धैरज धए रहु भैया वीर धनुष हम तोड़ब हे।
कसिकै बान्हल पाग दुनू कर धारल हे,
हुकुम दियऽ गुरु महाराज धनुष के तोड़ब हे।
बामा हाथ धनुष उठाओल दाहिन कल जोड़ल हे,
शब्द सुनल प्रभु राम कोटि दल साजल हे॥

मैथिली लोक-साहित्य समुद्र-सा विस्तृत तथा गंभीर है। इसमें अनेकानेक अनमोल रत्न बिखरे पड़े हैं। इस महासागर में धीरतापूर्वक गोता लगाकर रत्नोद्धार करनेवाले रस के पारखी ही हो सकते हैं। आज भौतिकतावाद के घोर तिमिर से लोगों की दृष्टि आछन्न है। लोकगीत रूपी महासागर से उत्थित रत्नों की ज्योति से ही उनकी दृष्टि खुल सकती है और राम के लोकादर्श की ओर वे उन्मुख हो सकते हैं।

———

एक संत की अमृतवाणी

(३)

जीवन का उद्देश्य

मन राम राम नित कहु रे।
मानुष होइ न भजे भगवानहिं, यह कलंक जनि सहु रे।
दंभ कपट पाखंड द्वेष तजि, सरल संत-पथ गहु रे।
गाइ गाइ गोबिंद गुनावलि, गाढ़ गरबगढ़ ढहु रे।
सिय कौसलाकुमार-चरन भजि, परम अनंदहिं लहु रे।
सुर-दुर्लभ करि तहँ जैहै, नहि जहँ से कोउ बहुरे॥

आत्मा को सुखमय ब्रह्म का अनुभव कराना ही मानव-जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अपने आप (आत्मा) को कर्मबंधन से छुड़ाने का प्रयत्न करना हमारा मुख्य धर्म है। इसके लिए परमात्मा ने हमलोगों को सभी प्रकार का एक से एक बढ़कर उत्तमोत्तम साधन दे रखा है—

मायाधीनोऽयमशिवं शिवो भुङ्क्ते गुणत्रयम्।
दयया ददाति भगवान् नृदेहं जीववत्सलः॥
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥[1]
येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिम्प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य सम्मोहिता विततपापतमा ययाते॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नरतनु भवबारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥[2]

इन पुरुषोत्तम साधनों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं, पर मोक्ष प्राप्त करने पर ही आत्मा के परमधर्म का पालन हो सकता है। पुरुष-आत्मा (हम लोगों) की इच्छा जिस वस्तु को प्राप्त करने की होती है, उसे ही पुरुषार्थ कहा जाता है। ब्रह्मानुभव से प्राप्त होनेवाले सुख को मोक्ष कहा जाता है, वही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष वैदिक और अवैदिक दो प्रकार का

१—भागवत, ११।२०।१७। २—मानस, ७।४४।६-७, ४३।८।

होता है। इस संसार के भीतर जो कुछ संसारी इष्ट पदार्थ मिले, उसे अवैदिक मोक्ष और परमात्मा-प्राप्ति को वैदिक मोक्ष कहते हैं।

कुछ भगवन्मायाविमोहित लोग आत्मा को (सर्वशून्य) ज्ञानस्वरूप मानते हैं, कुछ लोग अज्ञान का नाश होना ही मोक्ष मानते हैं और कुछ लोग मायोपाधि के कारण ब्रह्म का जीवत्व मानकर उपाधि विनिर्मुक्तत्व को ही मोक्ष मानते हैं। इस तरह अनेक मान्यताओं में भी सबका अंतिम लक्ष्य एक ही है, परंतु—

वाक्यज्ञान अत्यंत निपुन भवपार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातिन तम निवृत्त नहिं होई ॥[1]

वास्तविक तथ्य तो यह है—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी ॥[2]

अर्थात् जीवात्मा जब इस संसार में आता है, तभी इसके ऊपर कुछ मैल जम जाता है, उसे महानुभाव लोग मल विक्षेप और आवरण नाम से अभिहित करते हैं। जब इसके सब प्रकार के मैल दूर हो जाएँगे तभी मोक्ष मिल सकता है। आत्मा का काम है ज्ञान द्वारा कर्मबंधन से छुटकारा पाना और ज्ञान का काम है आत्मा का मैल साफ करना। मोक्ष चाहनेवाले मुमुक्षु को मल-विक्षेप और आवरण दूर करने का प्रयत्न करना होगा, पर यह न भूलना चाहिए कि जो फल प्रयत्नसाध्य होता है, वह नाशवान् होता है। अतः अपने प्रयत्न से मलादि ही दूर हो सकते हैं। मलादि दूर होने पर ही निर्मलात्मा को ब्रह्म स्वीकार करता है—निर्मल मन जन सो मोहि पावा ॥[3]

प्राकृतिक बंधनों को जब तक मन में स्थान दिया जाता रहेगा तब तक मन निर्मल हो नहीं सकता। अतः ब्रह्मानुभव प्राप्त करने के लिए मन को प्रकृति बंधनों से ही छुड़ाना होगा। जब आत्मा अपनी स्वाभाविक दशा में होगी तो स्वयम् ही ब्रह्म-सुखानुभव होने लगेगा। निर्मल आत्मा और परमात्मा जब दोनो इकट्ठे होते हैं, तब बड़ा ही आनंद होता है—

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥[4]

निर्मलात्मा और परमात्मा के मेल से जो आनंद प्राप्त होता है, वह अनुपम अथवा अनिर्वचनीय होता है। जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिल जाना और दोनों का मिलकर एक आनंद को अनुभव करना सायुज्य कहलाता है, उस सायुज्य मोक्षावस्था में जीव स्वरूपतः ब्रह्म से पृथक् सत्ता वाला ही रहता है, क्योंकि जीव भी

१—विनयपत्रिका, १२३।३-४। २—मानस, ४।१४।६। ३—वही, ५।४४।५।
४—वही, १।२२।२।

ब्रह्म की तरह ज्ञान और आनंदमय चेतन, अनादि एवम् अविनाशी है। ब्रह्म एवम् जीव की तरह कर्म भी अनादि है, पर चेतन और कर्म की अनादिता में भेद है। अनादिता दो तरह की है—स्वरूपानादित्व और प्रवाहानादित्व। स्वरूपानादित्व एक रस रहता है, जैसे चेतन (ब्रह्म और आत्मा) का। इसका प्रवाह आगे बढ़ता ही जाता है तथा पीछे से अन्य प्रवाह आया करता है। तब एक के पीछे एक का आना प्रवाहानादि कहलाता है। यह अनादि कर्मप्रवाह आत्मा के साथ चला आता है। इसी को इस संसार का चक्र या प्रपंच कहते हैं—'विधिप्रपंचु अस अचल अनादी।'[१]

इस चक्र-प्रपंच से अपने को दूर करना मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होना है। श्रुति कहती है—'नास्त्यकृतः कृतेन।'[२]

केवल वर्णाश्रम धर्मपालन करते हुए ही किसी को मोक्ष नहीं मिलता, उसके साथ ही साथ कुछ प्रयत्न भी अपेक्षित होता है। वह प्रयत्न है—ज्ञान प्राप्त करना। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' तो बहुत प्रसिद्ध श्रुति है कि बिना ब्रह्म-विद्या के प्राप्त किए हुए अन्य किसी प्रकार से मोक्ष नहीं मिल सकता है। कर्म करने से कृत्रिमवस्तु ही नाशवान् हुआ करती है। इसलिए अकृत ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है और वह ज्ञान अपने मन से पुस्तकें पढ़ लेने से नहीं हो सकता। रामचरितमानस में ज्ञान-प्राप्ति के तीन द्वार बतलाए गए हैं—

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना।[३]
बिनु गुर होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।[४]

गीता में तो भगवान् ने बहुत खुले शब्दों में कहा है कि यदि तुम्हें ज्ञान प्राप्त करना हो तो ज्ञानी के पास जाकर प्राप्त करो—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥[५]

अधर्म से पूछने और अधर्म से कहनेवाला दोनो में से एक मर जाता है, या परस्पर लड़ाई हो जाती है। अतः यदि जिसके पास ज्ञान (विद्या) प्राप्त करने के लिए जाय, उस गुरु का आसन ऊँचा होना चाहिए। बराबर आसन होने से गुरु शिष्य में स्नेह का अभाव एवम् परस्पर कलह रहे और विपरीत अर्थात् शिष्य का आसन ऊँचा और गुरु का नीचा हो तो या तो विद्या निष्फल जाय या विद्यार्थी मर जाय। इसलिए विधिपूर्वक विद्याग्रहण करे, यह बैठने की विधि है। श्रुति स्मृति ने कहा है कि—

१—वही, २।२८१।६। २—मुं० उ०, १।१२। ३—मानस, ३।१६।१।
४—वही, ७।८९।९। ५—गीता, ४।३४।

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः ।—श्रुतिः ।
रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम् ।
दैवज्ञं भिषजं मित्रं फलेन फलमादिशेत् ॥—स्मृति ।

अतः स्व कुछ पुष्पादि भेंट लेकर गुरु के पास विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने के लिए जाना चाहिए । जाकर पूछने की विधि भगवान् ने बतलाई है । 'प्रणिपातेन', 'पात' के साथ 'प्र' और 'नि' उपसर्ग लगाकर जनाया है कि सबसे पहले कायिक, वाचिक और मानसिक निपात हो, फिर 'परिप्रश्नेन' उत्तम रीति का प्रश्न हो, अपनी योग्यता जनाने या परीक्षा के लिए नहीं और पश्चात् 'सेवया' मन, कर्म, वचन, धन, विद्या आदि के द्वारा सेवा करनी चाहिए, क्योंकि किसी भी विद्या की प्राप्ति के लिए तीन ही समीचीन साधन हैं, चौथा नहीं—

गुरु शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नोपपद्यते ॥

शिष्य वाक् इंद्रिय और मन के संयमपूर्वक विद्या प्राप्त करे और गुरु को चाहिए कि जिस विद्या (मंत्र) से स्वयम् को योग्यता (सिद्धि) मिली हो, उसी का उपदेश शिष्य को करे । लौकिक विद्या (सिद्धि) ही नहीं अपितु कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और प्रपत्तियोग के अधिकारानुसार उपदेश द्वारा शिष्य को आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करावे । श्रुतियों का कहना है—

यदा तमस्तन्नदिवा न रात्रिर्नसन्न चासत्० ।—श्वे० उ० ।

सृष्टि के पूर्व में यह संसार अंधकारमय था । हममें ज्ञान और कर्म दोनो की योग्यता न थी । हमारी परिस्थिति बिना पंखोंवाले पक्षी की तरह थी । जीव के ज्ञान और कर्म ये ही दो पंख हैं । इन्हीं दोनो के द्वारा जीव वहाँ पहुँच सकता है, जहाँ पुनः दुःख नहीं मिलता । इंद्रियों को शरीर के द्वारा ही ज्ञान और कर्म की योग्यता होती है । यद्यपि जीव को प्राक्तन कर्म के अनुसार ही शरीर एवम् इंद्रियाँ मिलती हैं, तथापि इसमें मुख्य कारण परमात्मा की दया ही है, अर्थात् परमात्मा ने अपनी अनिर्हेतुकी दया ही से जीव को शरीर एवम् इंद्रियाँ देकर सर्वांगपूर्ण मनुष्य बनाया तथा उसके धर्मभूत ज्ञान को विकसित किया—

कबहुँक करि करुना नरदेही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥[1]

परमात्मा स्वतः दया से परिपूर्ण है । दया उसका सहज दिव्य गुण है । दूसरे के दुःख को देखकर स्वयम् दुःखी हो जाना दया है या दूसरों का दुःख न सह सकना एवम् परदुःख-निवारण की इच्छा दया है । जो दुःख दूसरों के दुःख से उत्पन्न होता है, वह गुण है ; दोष तो वह दुःख है, जो कर्म-फल अथवा अन्य

१—मानस, ७।४४।६ ।

प्रकार से होता है। जब परमात्मा ने शरीरेंद्रिय देकर ज्ञान को विकसित करने का साधन दे दिया तो आत्मा को सोचना चाहिए कि अपने-आप के द्वारा उद्धार का क्या उपाय है? ज्ञान का भंडार वेद है; जिसके द्वारा हम अपने जानने योग्य बातें समझते हों वह वेद कहा जाता है; एक शब्द राशि का नाम वेद है। परमात्मा ने इस कल्प में अपने प्रथम पुत्र ब्रह्माजी को सर्वप्रथम वेद का उपदेश दिया—

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥[1]

ब्रह्मा ही नहीं अपितु नित्य मुक्त के समान ही हमलोग भी परमात्मा के पुत्र हैं। परमात्मा के मन में भी इच्छा होती है कि हमारे सभी पुत्र नित्य मुक्त बनकर उनके समान परसुखों का अनुभव करें, इसी से उसने सभी सुलभता प्रदान की है और स्वयम् भी आचार्यरूप से प्राप्त होकर सदुपदेश देते हैं, सच्छात्रों को अध्ययन कराते हैं। आचार्य कहते जायँ, शिष्य सुनकर सीख लें (घोख लें), उसी का नाम अध्ययन है और सदा सर्वदा जो कान से सुना जाय उसका नाम श्रुति है— श्रुति जैसे सुने, अनुष्ठानकाल में वैसे ही उसका उच्चारण करे। विपरीत स्वर से या अशुद्ध उच्चारण करने से आनुष्ठानिक प्रयोग का विपरीत फल होता है, जैसे— 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व।'

बिना अर्थ ज्ञान के केवल वेद-मंत्रों को कंठस्थ कर लेनेवालों को स्थूण (ठूँठ) बतलाया गया है। अतः वेदार्थ समझने के लिए वेद के संपूर्ण अंगों का जानना परमावश्यक है। वे अंग सोलह हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते।
मुखं व्याकरणं प्रोक्तं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ १ ॥
शिक्षा च नासिका तस्य ज्यौतिषं नयनं स्मृतम्।
आयुर्वेदोऽस्य नाभिस्तु गान्धर्वं कण्ठ ईयते ॥ २ ॥
धनुर्वेदस्तु बाहुः स्यादर्थशास्त्रं तथोदरम्।
शिल्पमूरुस्तथा मध्यं कामशास्त्रं तु कथ्यते ॥ ३ ॥
आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातवः।
तथाधिदैविकान्यस्य प्राणाः स्पन्दनहेतवः ॥ ४ ॥
हृद्राजधर्मः सर्वेषां धारकः प्रेरकस्तथा।
अध्यात्मशास्त्रं मूर्धा चाप्यखिलानां नियामकः ॥ ५ ॥

इनके बिना वेद का याथार्थ्य नहीं प्रकट हो सकता। इतिहास पुराण और स्मृतियों के यथार्थ ज्ञान से भी वेदार्थ समझा और निर्णय किया जा सकता है। इतिहास पुराणों से उपर्युक्त सोलहों अंगों का ज्ञान हो जाता है। अतः—

वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः।—श्रीवचनभूषण।

१—भाग०, १।१।१।

कर्मकांड और ज्ञानकांड वेद के यही दो कांड बताए जाते हैं। ज्ञान की सिद्धावस्था ही पराभक्ति है। अतः भक्तिकांड की अलग कल्पना नहीं की गई है। समस्त ब्राह्मण भाग और संहिता भाग के अधिकांश मंत्र कर्मकांडपरक हैं और आरण्यक भाग, उपनिषद् भाग तथा संहिता भाग के कुछ मंत्र ज्ञान (भक्ति) परक हैं। वेदान्वेषियों का कहना है कि आज दिन वेद की केवल ग्यारह शाखायें ही मिलती हैं। महर्षि भरद्वाज तो हजार वर्ष में थोड़ा ही वेद पढ़ पाए थे। वेद-मंत्रों में अनेक प्रकार का झगड़ा है। वेद के एक प्रश्न को हल करने में वर्षों लग जाते हैं और वेद में लाखों मंत्र हैं। अतः समस्त वेद का पढ़ना असंभव है। इसलिए आजकल ब्राह्मणत्वसिद्धि के लिए (अपनी) शाखा ही पढ़ लेना पर्याप्त माना जाता है। पर एक शाखा का भी तो सांगोपांग पढ़ना दुष्कर है। एतदर्थ अनुभवी विज्ञों का कहना है कि माया का सेवन न करने से तथा निष्काम कर्म करने से परमात्मा में भक्ति होती है और भक्ति के द्वारा वेद का रहस्य ज्ञात हो जाता है। परमात्मा के अवतार-चरित्र से भक्ति के सर्वांग की प्राप्ति अल्पायास में ही हो जाती है। श्रुति का कहना है—

धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः।
तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात्॥—रामतापिनी उपनिषद्।

जबतक परमात्मा मनुष्य रूप धरकर हम मनुष्यों के बीच नहीं आता, तबतक जीव का उद्धार नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि ईश्वर को अवतार की क्या आवश्यकता पड़ी है, उनके लिए सुंदर उत्तर यह है कि जीवों के उद्धार के लिए, क्योंकि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति॥—तै०उ०, ३।१।

जिसकी इच्छामात्र से समस्त ब्रह्मांड का सर्जन, पालन और संहार अहर्निश होता रहता है, वह रावण कंस आदि के मारने मात्र के लिए अवतार ले यह असंभव नहीं। अपने अवतार लेने का कारण भगवान् ने स्वयम् बताया है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥[1]
कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।[2]
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।[3]

साधु (भक्त) का परित्राण (बाह्याभ्यंतर रक्षा) अर्थात् अनिष्ट-निवारण (बाह्यरक्षा) या त्राण और इष्ट प्रसाधन (अभ्यंतर रक्षा) या परित्राण कहलाता है। जिस प्रकार स्तनंधय वत्स को माता की इच्छा किंवा पतिव्रता को पति की इच्छा

१—गीता, ४।८।२। २—मानस, १।१२२।१। ३—वही, ७।७२।९।

रहती है, उसी प्रकार साधु भक्त को पुत्र, पिता, सुहृद् और बंधु-बांधव के रूप में भगवान् की इच्छा रहती है। भगवान् को साधु के परित्राण अर्थात् इष्ट प्रसाधन के हेतु अवतार लेना ही पड़ता है, क्योंकि बिना अवतार लिए पिता-पुत्रादि बन नहीं सकते। भगवान् सोचते हैं कि जब उनकी इष्टपूर्ति के लिए अवतार लेना ही पड़ेगा, तो अवतार लेकर ही उनके अनिष्ट का भी नाश कर देंगे। इस संसार में भगवान् का न कोई शत्रु है और न मित्र। भगवान् तो स्वयम् अपने भक्तों का अनिष्ट दूर करने के लिए ही राक्षस आदि से लड़े। वाल्मीकीय रामायण में वर्णित है कि वन में अपने भक्तों को दुःखी देखकर ही भगवान् ने राक्षसों के संहार की प्रतिज्ञा की। श्री जानकीजी को यह बात पसंद नहीं आई। वे कहने लगीं कि भगवन्! पहिले तो आपकी ऐसी प्रतिज्ञा नहीं थी। महाभारत में जब धृतराष्ट्र ने भगवान् से पूछा था कि—

भीष्मद्रोणावतिनिष्क्रम्य मां चापि मधुसूदन।
किमर्थं पुण्डरीकाक्ष भुक्तं वृषलभोजनम्॥

भगवान् ने उत्तर दिया था कि—

द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तन्नैव भोजयेत्।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः॥

जिसका खाय या जिसे खिलावे उसका नाश न करे और धृतराष्ट्रवंश का नाश इसलिए करना है कि वे भगवान् के परमभक्त पांडवों से द्रोह करके उनका अनिष्ट करते हैं। परमात्मा किसी दबाव में पड़ कर अवतार नहीं लेता। श्रुति ने तो बताया है कि परमात्मा तो अजन्मा है, परंतु स्वेच्छया नाना प्रकार से जन्म लेता है—

अजायमानो बहुधा विजायते॥—यजुर्वेद, ३१।१९।

जीव परमात्मा के लड़के हैं, जो संसार रूपी गर्त में डूब रहे हैं। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य इस संसार रूपी गंभीर गर्त से उद्धार पाना है। पर बिना परमात्मा के शरण गए इसका उद्धार हो ही नहीं सकता। वेद तो कहता है कि दूसरा मार्ग ही नहीं है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।—यजुर्वेद, ३१-१८।

परमात्मा की शरण जाने पर, परमात्मा जीव के भावानुसार अवतार ग्रहण करके उसका उद्धार करते हुए मनुष्य-जीवन का उद्देश्य पूर्ण करते हैं।

(४)

रसने जो तू राम राम रट लाती।
तौ मानुष मुखवास सफल करि, रामधाम लै जाती।
नाम सुनाइ तारती औरहिं, तुमहुँ परम पद पाती।
कबहुँ न कटुक काढ़ती जो तू, कोमल कांत सुहाती।
बेद पुरान सास्त्र संमत रस, पीती सबहिं पिलाती।
श्रीकैलास 'कुमार' गुन गावत, रसनायिका कहाती॥

जिस तरह सामान्य और विशेष दो प्रकार के कर्म हैं एवम् सिद्धधर्म और साध्यधर्म दो प्रकार के धर्म हैं, उसी प्रकार जीवों में भी मुमुक्षु और बुभुक्षु दो प्रकार के जीव हैं, अर्थात् केवल मोक्ष को चाहनेवाले मुमुक्षु और मोक्ष के प्रतिकूल रहनेवाले अर्थात् भोग चाहनेवाले बुभुक्षु कहलाते हैं। मुमुक्षु जन अपनी आत्मा को जानते हुए भी ऐसा कर्म करते हैं, जिससे फिर लोक में न फँसना पड़े, परंतु बुभुक्षु लोग इसका विचार नहीं करते। कर्मानुष्ठान करते हुए जिनकी दृष्टि ज्ञान की ओर भी हो उसे मोक्ष मिल सकता है, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में कर्म और ज्ञान की साथ साथ आवश्यकता है। यही मुमुक्षु के कर्मयोग का महत्त्व है। फल एवम् ममता का त्याग करते हुए कर्म करना ही मोक्ष का द्वार है। हाथ से कर्म करते हुए भी मन में यह दृढ़ भावना रखनी होगी कि मैं नहीं प्रत्युत शरीर, आत्मा, इंद्रियाँ, पुरुषार्थ और दैव (ईश्वर) यही पाँचो मिलकर कार्य करते हैं। कार्य पूरा होने में इनकी आवश्यकता है, अर्थात् इन पाँचो कारणों से कार्य सिद्ध होता है। ऐसी हालत में कोई यह समझे कि 'मैंने यह कार्य किया' वह सबसे बड़ा मूर्ख है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥—गीता, ३।२७।

ज्ञानी लोगों के लिए भी संयम कर्तृत्व नहीं हो सकता। वह तो स्वाभाविक है, ज्ञानियों का मंतव्य होता है कि हमलोग जो कुछ शास्त्रविहित सत्कर्म करते हैं, वह सब परमात्मा की प्रेरणा से करते हैं। सच है भगवान् भी तो कहते हैं कि— 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'।

अतः स्वयम् भगवान् ही अपने संतोष के लिए (आत्मा के कल्याण के लिए) ज्ञानियों के हाथ से कर्म कराते हैं। दूसरी तरह समझना चाहिए कि आत्मा में किसी कार्य का कर्तृत्व स्वभावतः नहीं है। जैसे जल का गुण ठंढापन है, वैसे ही वस्तुतः आत्मा के गुण से कर्तृत्व है, प्रकृति का गुण कार्य करता है। जो वास्तव में नहीं उसमें अहं करना ही अहंकार है। इसलिए जो सत्कार्य होता है, उसका मुमुक्षु जन परमात्मा प्रकृति के ऊपर कर्तृत्व भार देते हैं, स्वयम् कर्ता नहीं बनते कि इसे मैंने कर लिया। केवल परमात्मा का कैंकर्य रूप मानकर कर्म करते हुए मोक्ष की इच्छा रखना ही कर्मयोग है। इसी को निष्काम कर्मयोग भी कहा जाता है। निष्काम कर्म करनेवाले मुमुक्षु भी भक्त और प्रपन्नभेद से दो तरह के कहलाते हैं। कर्मों में भी नित्य, नैमित्तिक काम्यभेद होते हैं। काम्यकर्म तो बुभुक्षु ही करते हैं, पर नित्य और नैमित्तिक कर्म तो सब को ही करणीय है। जिन कर्मों के करने पर पुण्य तो कुछ भी नहीं मिलता पर न करने से पाप लगने का स्मृत्युद्धोष है, ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तो करना ही चाहिए। भगवान् श्रीकृष्णजी का तो कहना ही है— 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अतः 'कौन्तेय ! कुरु कर्माणि०।' पर 'संगं त्यक्त्वा धनंजय।'—गीता, २।४७, ४८।

वेद तो खूब अच्छी तरह समझाकर कहता है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥—यजुर्वेद, ४०।२।

कर्म करने की भावना पाप नाशपूर्वक सुख प्राप्त करके, मोक्ष प्राप्त करने की होनी चाहिए और प्रायः होती भी ऐसी ही है। पर यदि वही कर्म मोक्ष की अपेक्षा बंधन और दृढ़ करनेवाला हो तो ठीक नहीं। एक तो कर्म-बंधन अनेक जन्मों से दृढ़ है ही अब फिर—

तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीनी। अपने करन गाँठि गहि दीनी॥

अतः बंधनकारक कर्म न किया जाय, अपितु मुमुक्षुओं को अंतःकरण शोधन-पूर्वक भक्ति प्राप्त करने के लिए सत्कर्म करना चाहिए। इसी का नाम निष्काम कर्म है। इस साधन साध्या भक्ति के दृढ़ हो जाने पर परमात्मज्ञान होता है और वही ज्ञान प्रेमा पराभक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। परमात्मा को यज्ञ, तपस्या, उपवास आदि से नहीं प्राप्त कर सकते, अपितु परमात्मा-प्राप्ति की इच्छा होने पर उसी इच्छा से परमात्मा मिलता है। एतदर्थ मुमुक्षु को सर्व कर्म करने पड़ते हैं। भक्ति प्रपत्ति भी इसी में है। कर्मज्ञान भक्ति आदि सभी में प्रारंभ से ऐहिकामुष्मिक ममता का त्याग करना पड़ता है। यहाँ तक कि भगवान् की जो सेवा पूजा करते हैं, उसमें भी अपने लिए बिलकुल ममत्व का संबंध न रखना ही ठीक होता है। इसलिए सेवा-पूजा, नाम-जप आदि नहीं किया जाता कि वैसा किए बिना रहा नहीं जाता, आदत पड़ी है, यही तो ममता एवम् स्वार्थ है। सेवा-पूजा नाम-जप, ध्यान आदि तो भगवन्मुखोल्लास के लिए ही करना समुचित है। कुछ लोग कह देते हैं कि भगवान् को भोग लगाई गई वस्तु सबको नहीं देनी चाहिए, केवल अधिकारी को ही दे, अनधिकारी को देने से आराधन नष्ट हो जाता है। परंतु ऐसा कहना और समझना भूल है। भगवान् के भोग का अधिकारी प्राणीमात्र है। भक्तों को चाहिए कि बिना भोग लगाए किसी को भोज्य पदार्थ दे ही नहीं। गीता में तो भगवान् का कहना है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥—गीता, ३।१३।

जो केवल उदर पोषणार्थ भोजन बनाता है, वह भोजन नहीं करता, अपितु पाप खाता है। इससे छुटकारा पाने के लिए सामान्यतः पाँच कर्म तो करने ही पड़ते हैं। पाक बनाने में शुरू से ही उद्देश्य रखें कि भगवान् के लिए बनता है। इसलिए सब भार परमात्मा के ऊपर चला जाता है। यही उद्देश्य है कि वैष्णव लोग परदा लगाकर (एकांत में) भगवान् का भोग तैयार करते हैं, जिससे दृष्टिदोष एवम् भावनादोष से दूषित न हो जाय। जो भगवान् के ही उद्देश्य से बनाया

जाता है, उसे ही परमात्मा स्वीकार करता है, क्योंकि वह अंतर्यामी है, उद्देश्य समझता है—

करत सुरति सय बार हिये की ॥[१]
रीझत राम जानि जन जी की ॥[२]

भगवान् के ही उद्देश्य से पाक बनाया जाय, तभी पाक का सब भार भगवान् लेते हैं और भगवद्भोग लग जाने के बाद वह किसी भी तरह दृष्टिदोष स्पर्शदोष आदि से दूषित हो ही नहीं सकता। भोग लगे पदार्थ में किसी प्रकार की छूत मानना भगवत्प्रसाद का घोर अपमान करना एवम् महान् भगवदपराध करना है। अस्तु—भगवान् ने गीता में बताया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥[३]

मनुष्यमात्र को कर्म छोड़ देना असंभव है, क्योंकि मनुष्यों के पास इंद्रियाँ हैं। इंद्रियों का स्वरूप है करना। इसलिए इंद्रियों का दूसरा पर्याय करण है। अतः कोई अकर्मी नहीं हो सकता है। हाँ, इसका विचार हरदम रखना चाहिए कि हमें कौन सा कर्म करना चाहिए और कौन सा नहीं। यह तो सभी जानते हैं कि हमारी इंद्रियों को किसी बुरे कर्म करने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। इसके प्रतिकूल अच्छा कार्य करने के लिए बहुत ही प्रयत्न करना पड़ता है। अतः हम लोगों को चाहिए कि इंद्रियों को ऐसा कार्यभार दे दें कि उसे अवकाश ही न मिले। तभी बुरे कार्यों से बचा जा सकता है। नहीं तो पाप अवश्य होता है। कर्म का फल भोगना पड़ता है। इसी से कर्म को बंधन कहा जाता है। ·कर्म के त्याग एवम् उन्हीं कर्मों को भगवत्कैंकर्य स्वरूप समझने के लिए कर्म करते हुए भी वे कृतकर्म किसी प्रकार के बंधनकारक नहीं होते। सभी मानते हैं कि 'धर्मेण पापापनुदति' धर्म अर्थात् अच्छे कर्म से पाप का नाश होता है। सत्य से ज्ञान, रज से लोभ और तम से अज्ञान की वृद्धि होती है। सत्कर्म से एकरस रुचि रहे, इसके लिए सत्वगुण को अधिकांश भाग में रखना चाहिए। कर्म का अनुष्ठान अत्यंत आवश्यक है। निष्काम होकर कर्म करना चाहिए। निष्काम कर्म से ज्ञान और ज्ञान से बंधनमुक्ति होती है। ज्ञानयोग भी दो प्रकार का है—एक भक्तिरूप और दूसरा स्वतंत्ररूप। जब ज्ञान द्वारा जीव अपने आपको पहचान लेता है, तभी तो जीव को आप ही आप बिना प्रयास ही भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब आत्मा परमात्मा का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब फिर शरीर के उद्देश्य से कोई कार्य हो ही नहीं सकता—'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।'[४]

चित्त की स्थिरता बिना, ज्ञानयोग नहीं प्राप्त हो सकता। समस्त योगों का

१—मानस, १।२९।५। २—वही, १।२९।४। ३—गीता, ३।५। ४—मानस, ७।११२।३।

मुख्य उद्देश्य यही चित्तवृत्ति का रोकना ही है। महर्षि पतंजलि का तो उद्घोष है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

सबसे पहले अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि मन का कैसे निरोध हो सकता है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥[1]

मन चंचल है। इसका रोकना बड़ा दुष्कर है। इसके लिए बंदर का दृष्टांत दिया जाता है—

मर्कटस्य सुरापानं पुनर्वृश्चिकदंशनम्।
पुनश्च भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति॥
ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु कौन उपचार॥[2]

संसार में जितने अति चंचल हैं, उनकी गणना में विद्वानों ने मन का नाम सर्वप्रथम लिया है—

मनो मधुकरो मेघो मानिनी मदनो मरुत्।
मा मदो मर्कटो मत्स्यो मक्षिकादीनि चंचलाः॥

परम चंचल मन को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि वैषयिक सुखों के लोभ में इतस्ततः भ्रमण करना ही बंदर को सुरापान, वृश्चिक-दंशन और भूत संचार आदि करना है। चंचल मन को तथा मन की अनुगामिनी अन्य इंद्रियों को युक्तियों द्वारा काबू में रखने के बारे में अर्जुन से बढ़कर उस समय कोई नहीं था। अर्जुन का नाम गुडाकेश था, पर जब अर्जुन को भी कोई युक्ति न सूझी तब भगवान् ने बतलाया कि—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥[3]

वैराग्य के अभ्यास से मन जीता जाता है और वैराग्य प्राप्ति का उपाय योग-शास्त्र बताता है। गीता में स्पष्ट निर्देश किया गया है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

१—गीता, ६।३४। २—मानस, २।१७९।०। ३—गीता, ६।३५।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥—गीता, १३।१०।

यही संसार और स्वर्ग के समस्त भोगों से वैराग्य कर्म की चरमावस्था है। पूर्ण वैराग्य काल की चित्तवृत्ति का केवल आनंद में मस्त रहना बताया जाता है। आनंद-मग्नता में किसी दूसरी वस्तु की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती है। अतः ऐसी अवस्था प्राप्त होनी चाहिए, जब कि किसी भी वस्तु की इच्छा ही न हो। उसके बाद (ब्रह्मानंद प्राप्ति के बाद) आत्मा का कोई नहीं रह जाता। वह कृतकार्य हो जाता है—

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तौ यह जीव कृतारथ होई ॥[1]

इस जड़ चेतनात्मक ग्रंथि के छोड़ने का उपाय है ब्रह्मदर्शन। श्रुति कहती है कि—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।[2]
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

इस ब्रह्मदर्शन के कई मार्ग हैं। भक्ति और इच्छा की अपेक्षा कर्म सुगम है। कर्म में क्रमशः यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, यतमान, वशीकार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि आदि हैं। इनकी व्याख्या ग्रंथों में पर्याप्त विस्तार से देखी जा सकती है, इनका सीधा-सादा भाव निम्नलिखित है—

यम—किसी को दुःख न दे, चोरी न करे, सत्य बोले।

नियम—ब्रह्मचर्य अर्थात् कोई इंद्रिय किसी तरफ न जाय, किसी दूसरे की वस्तु को अन्याय से लेने की इच्छा न करे, निर्वाह से अधिक संचय न करे, अपरिग्रह भाव हो।

आसन—आसन के द्वारा स्थिरता प्राप्त करनी चाहिए, आसन की भी सिद्धि होनी चाहिए, बिना आसन के प्राणायाम नहीं हो सकता। प्राणायाम चित्त रोकने का बहुत बड़ा साधन है, कुंभक, पूरक और रेचक प्राणायाम के रूप में हैं।

प्रत्याहार—बाहर के विषयों में जाती हुई इंद्रियों को आत्मा में स्थिर करना।

उस प्रारंभावस्था में कर्मयोगी इंद्रियों को विषयों से खींचकर रोक रखे। वह यतमानावस्था है। जो मुमुक्षु अपनी इंद्रियों को जीतना चाहते थे, एकांतवास करते

१—मानस, ७।११८।५। २—गीता, २।५९।

थे, 'अभावे विरक्तिः'। जहाँ कोई सामान नहीं मिलता, वहाँ इंद्रियाँ आप से आप रुकी रहती हैं। एकांतवास करते हुए अपनी इंद्रियों को विषयों से खींचने में सुविधा होती है। ऋषियों के 'अरण्ये श्रद्धातप उपासीत' कहने का यही तात्पर्य है। अग्नि के बीच में मक्खन का न पिघलना कभी हो नहीं सकता। अविच्छिन्न रूप से दीर्घकाल तक एकांतवास करे तो बहुत सी चीज भूल जाती है। यह भी एक तरकीब है—'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'[1], पर ऐसी हालत में गिरने, पतित होने का डर है। एकांतवास की अपेक्षा जनसंपर्क में रहकर इंद्रियों का जीतना सबसे अच्छा होता है। इसमें कठिनाई तो बहुत पड़ती है, परंतु एक बार विजय पा जाने से फिर गिरने का भय नहीं समझना चाहिए। जब आत्मा का अनुभव हो जाय तो कोई डर नहीं। वशीकारावस्था में विचार रहता है कि मन को काबू में करके इंद्रियों के रोकने से ही काम चलेगा। क्रम-क्रम से अभ्यास करते-करते काम करना चाहिए। यतमानावस्था में डरने की अवस्था होती है। विषयों से डरते हुए इसको विचारते रहना चाहिए कि—

१—'स्वयम् इच्छा नहीं है, यदि मिल जाय तो भोग कर लेना'—यह मन का बहाना है, अपने आप को धोखा देना है।

२—दुःख हो जाय तो दुःख को न मानकर भोगें, सुख मिल जाय तो सुख मानकर भोगें। यह सुख भोगने के लिए कपट जाल का आश्रय है।

३—मन से हम उन पदार्थों को नहीं चाहते 'अनइच्छित आवै बरिआईं।'[2] तो उनके भोग लेने में कोई हानि नहीं। यह भी आत्म-प्रपंचना है। जब इच्छा ही नहीं है तो आई हुई विषय सामग्री को मत भोगो, उधर दृष्टि निक्षेप ही न करो। इस तरह समझना ही वशीकारावस्था है।

धारणा—एक वस्तु में चित्त को रोकना, अनेक वस्तु में न जाने देना।

ध्यान—एक वस्तु को अविच्छिन्न रूप से स्मरण करते रहना।

समाधि—ध्यान करते-करते ध्याता का ध्येय में इस तरह तल्लीन हो जाना कि अपनी सत्ता का अलग-अलग भान ही न रहे। यह कर्मयोग से परमात्मा प्राप्ति का एक मार्ग है।

—क्रमशः

१—वही, २।५९। २—मानस, ७।११९।४।

श्रीनरेश झा

मानस की समसामयिक टीका प्रेमरामायण

[रामचरितमानस और बिहारी-सतसई हिंदी की विश्रुत लोकप्रिय काव्य-कृतियाँ हैं। मानस भक्ति का प्रबंध है और सतसई शृंगार की मुक्तक मुक्ताएँ। अपने-अपने विषय की ये अद्वितीय कृतियाँ अपने प्रणयनकाल से ही सभी भाषा-भाषियों के आकर्षण का केंद्र रही हैं। हिंदी भाषा से अविज्ञ जन इनके रसास्वादन के लिए तो तरसते ही थे, संस्कृत के विद्वान् भी उसके लिए लालायित रहते थे। धार्मिक ग्रंथों की भाषा होने के कारण संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा थी, जिसका अध्ययन-अध्यापन देशव्यापी था। भाषा-माध्यम का जो स्थान भारत में आज अंग्रेजी को प्राप्त है, वही संस्कृत को सुदीर्घकाल से ही स्वतः प्राप्त है। अतः इन दोनो कृतियों को संस्कृत में रूपांतरित करने की अपेक्षा हुई। शृंगार सप्तशती तो बहुत पीछे रची गई, किंतु प्रेमरामायण की रचना मानस-प्रणेता के जीवनकाल में ही उनके अंतेवासी श्रीरामू द्विवेद द्वारा की गई।

प्रेमरामायण न तो विशुद्ध रूप से संपूर्ण मानस की टीका या व्याख्या ही है और न अनुवाद ही। मानस के प्रत्येक चरण की टीका या व्याख्या के खोजियों को उसे पढ़कर निराश ही होना पड़ेगा। वर्णन प्रसंगों के विस्तार में इसके प्रणेता की वृत्ति अधिक रही है। यह स्थिति किष्किंधा और सुंदर कांडों में ही है, अयोध्या में नहीं। 'टीका नीका मया कृता' का उल्लेख अयोध्याकांड के उपोद्घात में आया है और उसके संबंध में यह उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ है। आगे के किष्किंधा तथा सुंदर कांड मात्र उपलब्ध हैं। वस्तुतः यह परम रामभक्त भरत और हनुमान् के मानस में चर्चित चरित्र-विषयक विशिष्ट और प्रमुख अंशों का सुंदर संस्कृत भावानुवाद है। भगवद् प्रेम और भक्ति के स्वरूप का चरम उत्कर्ष इन महान् द्वय के चरित्रों में स्पष्ट रूप से दृग्गोचर होता है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि राम-भक्ति और राम-भक्त के स्वरूप तथा तुलसी की प्रेमाभक्ति का उद्घाटन मात्र प्रेमरामायणकार को अभिप्रेत था।

'प्रेमरामायण' नामकरण में उसके रचयिता के प्रयोजन का तथा अनुसंधान की विभिन्न दृष्टियों से पाठांतर आदि का सविस्तर विमर्श प्रस्तुत निबंध में किया गया है। इसमें आए उद्धरणों का पाठ हस्तलेखों का ही है, संपादित नहीं। मानस के अनुसंधित्सुओं के लिए इसकी उपादेयता निर्विवाद है।]

श्री रामचरितमानस 'सत्यं शिवं सुंदरं' की अनुभूति का प्रतीक है। उद्धृत उक्ति के मूलस्रोत के परिज्ञान हेतु विदेशों तक का प्रक्रमण अनपेक्षित प्रतीत होता है। उसके लिए मानस का मंथन ही पर्याप्त है। मंथन के पश्चात् प्राप्त होनेवाले अमृत के गुण-बोध के लिए उसके सप्तम सोपान की फलश्रुति द्रष्टव्य है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।

इस श्लोक में प्रयुक्त प्रथम शब्द है 'पुण्यं'। अमरकोश में इस शब्द के पाँच पर्यायवाची माने गए हैं—धर्म, पुण्य, श्रेयस्, सुकृत और वृष।[1] पुण्य ही धर्म है और दशविध धर्म में सत्य को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। इस प्रकार 'पुण्यं' शब्द 'सत्यं' का ही द्योतक है। 'शिवं' स्पष्ट है 'शिवकरं' में। अब रही बात 'सुंदरं' की। फलश्रुति में जो 'सुविमलं' है, वही 'सुंदरं' है। 'वाचस्पत्यम्' संस्कृत वाङ्मय का प्रमुख अभिधान है। उसके षष्ठ भाग में 'विमल' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—'विगतो मलो यस्मात्' अर्थात् 'स्वच्छे, निर्मले, चारुणि'।[2] यहाँ प्रयुक्त 'चारु' शब्द ही 'सुंदर' का द्योतक है। बृहत् हिंदी कोश में भी 'विमल' शब्द के अर्थ 'साफ़, बेदाग, विशुद्ध, निर्दोष, स्पष्ट, पारदर्शक, श्वेत, और सुंदर' दिए गए हैं।[3] निष्कर्ष यह कि 'पुण्यं, शिवकरं, सुविमलं' शब्द स्पष्ट रूप से 'सत्यं शिवं सुंदरं' के ही समानार्थक हैं। अर्थ सामंजस्य के लिए दूसरी दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। इससे पूर्व विमर्श की पुष्टि हो जायगी। 'राम' शब्द का धातुगत अर्थ है—'रमन्ते योगिनो अस्मिन्निति रामः'[4]। योगीगण इसी दशरथा-पत्य राम का ध्यान करते हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'राम' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार किया गया गया है—

रा शब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वरवाचकः।
विश्वानामीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः॥[5]

यहाँ 'राम' शब्द को विश्व ईश्वरत्व प्राप्त है। योग शास्त्र के अनुसार योगियों का सत्यान्वेषण में ही प्रस्तुत रहना कहा गया है।[6] अतः यहाँ राम पद सत्य का

१—प्रथम कांड 'काल' वर्ग, श्लो० २४। २—पृष्ठ संख्या ४९१६।

३—प्रकाशक—ज्ञानमंडल लि०, पृ० सं० १२५०।

४—रमु क्रीडायाम् (भ्वादि), धातु सं० ८७८, सूत्र सं० ३१५२, सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी, पृ० सं० ४४२।

५—श्रीराधाकृष्ण मोर प्रकाशित 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण', श्रीकृष्ण जन्म खंड के अंतर्गत 'रामादि शब्दानां व्युत्पत्तिः' शीर्षक, अ० १११, श्लो० १८, पृ० १४०३।

६—'ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा', समाधिपाद, सू० ४८ ; 'ऋतं सत्यं बिभर्ति धारयति इति ऋतम्भरा', पातञ्जल योगदर्शन, पृ० १००, भारतधर्म महामण्डल द्वारा प्रकाशित।

बोधक ही नहीं प्रबोधक भी है। उस सत्यात्मक श्रीराम का जो आदर्श चरित्र है वह शिव है अर्थात् कल्याणकारक है। अतएव गो० तुलसीदासजी ने मानस में यह स्थिर किया कि

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये।
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥[1]

अर्थात् जो इस श्रीमद्रामचरित्र रूपी सरोवर में भक्तिपूर्वक अवगाहन करते हैं, वे इस संसाररूपी सूर्य की प्रखर किरणों से कदापि नहीं जलते। यह तो हुआ निर्मल रामचरित्र का माहात्म्य। अब 'मानस' पर आइए। चित्त, चेतस्, हृदय, स्वांत, हृत् और मन ये 'मानस' के पर्यायवाची हैं।[2] अर्थात् मानस का तात्पर्य हृदय से है तथा प्रस्तुत प्रसंग में इसका समन्वय 'सुंदरं' शब्द से है। अतएव यह सुहृद् होकर 'धर्मः सखा परमहो परलोकयाने' सिद्ध करता है। मानसकार ने इसको यों स्पष्ट किया है—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर॥[3]

इस प्रकार 'सत्यं शिवं सुंदरं' मानस पर सम्यक् प्रकारेण चरितार्थ होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी से संबंधित एकमात्र प्रामाणिक एवम् सर्वसम्मत संवत् है १६३१, जो मानस में स्वयम् उनके द्वारा उल्लिखित है।[4] यह है मानस-रचना के श्रीगणेश का समय। रामचरितमानस की अनेक पांडुलिपियाँ बड़इया (पटना) में मिलती हैं। उनकी पुष्पिकाओं में संवत् १६४१ की प्रति की परंपरा की प्रति होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि संवत् १६४१ तक मानस की रचना पूर्ण हो गई थी। वह काव्य साहित्य की समृद्धि का काल था।[5] इस समय संस्कृत भाषा में रचना करना ही पांडित्य की कसौटी मानी जाती थी। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी तुलसीदास ने 'भाषा' में ही श्रीरामचरितमानस का प्रणयन किया।[6] यदि मानस की रचना सरल सुबोध भाषा में न होती तो श्रीरामचरितामृत सर्वसुलभ न हो पाता। कहा जाता है कि उस समय श्रीघनश्याम शुक्ल संस्कृत के अच्छे कवि थे। पर उन्हें भाषा में ही कविता करना अधिक रुचता था। उन्होंने धर्मशास्त्र के कुछ ग्रंथ भाषा में ही बनाए। इस पर एक पंडितजी ने उनसे कहा कि 'यह विषय संस्कृत में न लिखने से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं, अभी

१—मानस, ७। पुष्पिका श्लो० २। २—अमरकोश, काल वर्ग, श्लो० ३१।
३—मानस, १।३५।११-१२। ४—वही, १।३४।४।
५—श्रीवाचस्पति गैरोला कृत 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास,' पृ० ८६७।
६—मानस, १। मं० श्लो० ७।

से आप संस्कृत में लिखा करिए।'[१] उन्होंने इस संबंध में गोस्वामीजी से परामर्श किया। गोस्वामीजी ने कहा—

> का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
> काम जु आवै कामरी का लै करै कुमाच ॥[२]

इससे यह पता चलता है कि कवियों की रुचि जनभाषा में रचना करने की ओर अग्रसर हो रही थी। विद्वद् समाज भाषा के महत्त्व को समझने लगा था। यदि तुलसीदासजी ने संस्कृत में ही पूर्ण रचना की होती तो संभवतः प्रेमरामायण जैसी स्थिति उसकी भी होती। वह न तो जन जन का कंठहार हो पाती और न उसे श्रीमद्भगवद्गीता के समान लोकप्रियता ही प्राप्त होती। रामचरितमानस के प्रति जो आग्रह संस्कृत के विद्वानों का था, वह अंततोगत्वा चरितार्थ हुआ। गोस्वामीजी के प्रत्यक्ष शिष्य श्रीरामू द्विवेद ने वैक्रम संवत् १६६२ के पूर्व मानस की पद्यमयी टीका संस्कृत में प्रस्तुत की।[३] टीकाकार ने अपने शिष्यत्व का परिचय यों दिया है—

> वंदेहं तुलसीदासं निवासं जानकीपतेः।
> यत्प्रसादेन रामूको मूकोपि कवितां गतः ॥[४]

टीका के संबंध में ग्रंथारंभ करते हुए श्रीद्विवेद ने स्वयम् कहा है—

> भाषारामायणस्यैषा टीका नीका मया कृता।
> नीरसस्य परं फीका यो ही का कुटिलः सदा ॥[५]

संभवतः रामचरितमानस को रामायण की अभिधा सर्वप्रथम इन्होंने ही दी है। संस्कृत में टीका करने का इनका प्रयोजन यह था कि भाषा में जिन संस्कृत विद्वानों की पैठ नहीं है, वे भी मानस-मर्म को भली भाँति समझ सकें। इसकी पुष्टि के लिए प्रेमरामायण के सुंदरकांड, तृतीय सर्ग की पुष्पिका द्रष्टव्य है—

> भाषावबोधविधुरां विदुषां तोषकारिणी ॥१६॥
> श्रीरामकिंकरकृते रघुवीरकाव्ये रामूर्बबंध तनुपद्यमयीं नवीनां।
> टीकां हिताय विदुषामिह सुंदरेऽपि कांडे तृतीय इति सर्गविधिर्व्यरंसीत् ॥

१—डा० श्यामसुंदरदास संपादित 'रामचरितमानस', सन् १९०३ का संस्करण, भूमिका, पृ० ३६।

२—दोहावली, 'तुलसी-ग्रंथावली' (दूसरा खंड), दो० ५७२, ना० प्र० सभा का चतुर्थ संस्करण।

३—दे० आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र द्वारा संपादित 'रामचरितमानस', काशिराज-संस्करण की भूमिका, पृ० १२।

४—वही, पृ० १३। ५—वही, पृ० १२।

इससे स्पष्ट है कि श्रीरामू द्विवेद ने इस संस्कृत टीका का नाम 'बुध-बोधिनी' रखा है। 'प्रेमरामायण' नाम भी साभिप्राय है। इसके नामकरण में प्राचीन रामायण एवम् मानस की पद्धति का सुंदरतापूर्वक निर्वाह किया गया है। संस्कृत तथा इतर भाषाओं में रचित रामचरित्र विषयक ग्रंथ प्रायः 'रामायण' नाम से अभिहित हैं। अतः द्विवेदजी ने भी रामायणपरक नामकरण किया है। उसके साथ 'प्रेम' शब्द संयुक्त करने का भी कारण है। इसके लिए मानस के द्वितीय सोपान की फलश्रुति अति महत्त्वपूर्ण है—

सिय राम पेम पिऊष पूरन होत जनमु न भरत को।[1]
भरतचरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन एवम् तत्कालीन विषयों में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से 'प्रेमरामायण' नामकरण किया गया। इसकी पुष्टि में टीकाकार ने अपनी लघुभूमिका में स्वयम् कह दिया है—

तत्रायोध्याभिधे कांडे प्रेमभांडे विपश्चितां।
समश्लोकनिबद्धानां सर्गाना[णा]मेकविंशतिः ॥[3]

श्रीद्विवेदजी ने अयोध्याकांड को विपश्चितां (विद्वानों का) प्रेमभांड कहा है। अतः 'प्रेमरामायण' संज्ञा साभिप्राय है।

इस महत्त्वपूर्ण मानस की प्राचीनतम टीका की तीन ही प्रतियों का पता ज्ञात है।[4] प्रथम प्रति तत्रभवान् काशिराज महाराज डा० विभूतिनारायणसिंहजी महोदय के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। इसमें तीन कांड मात्र हैं—अयोध्या, किष्किंधा तथा सुंदर। अयोध्याकांड २१ सर्गों में पूर्ण हुआ है तथा किष्किंधा और सुंदर में

१—मानस, २।३२५।९। २—वही, २।३२५।१३-१४। ३—प्रेम०, भूमिका श्लो०१८।
४—शोध जगत् को प्रेमरामायण की सूचना सर्वप्रथम श्रद्धेय आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने दी। तत्संबंधी उनका प्रथम लेख 'तुलसीदास का समसामयिक सेवक रामू' शीर्षक से अप्रैल, १९५४ में दैनिक हिंदी पत्र 'आज' में प्रकाशित हुआ था। उसका परिष्कृत रूप कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उद्धरणों के साथ उनके स्वसंपादित 'रामचरितमानस' के काशिराज संस्करण की भूमिका में पृष्ठ १२-१४ पर मिलता है। इधर श्री एफ० आर० आलचिन् द्वारा अंग्रेजी में अनूदित 'कवितावली', जार्ज एलेन ऐंड अनविन लिमि०, रस्किन हाउस, म्यूजियम स्ट्रीट, लंडन से प्रकाशित हुई है। उस ग्रंथ का पूरा नाम है 'तुलसीदास कवितावली ट्रांसलेटेड ऐंड विथ ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन'। उसमें 'दी लाइफ ऑव् तुलसीदास' शीर्षक के अंतर्गत पृ० ४१ पर आचार्य मिश्रजी दोनो लेखों का उपयोग किया गया है तथा उनसे उद्धरण उद्धृत किए गए हैं।

छः छः सर्ग हैं। अयोध्याकांड में दो सहस्र से अधिक विभिन्न प्रकार के छंद हैं। टीकाकार ने पद्यों की संख्या के विषय में लिखा है—

द्वे सहस्रे तु वृत्तानां पद्यानां द्वे शते तथा।
अष्टाशीतिश्च शिष्टानां प्रिये कांडे कृतानि तु ॥[1]

इसके अनुसार प्रिय (प्रेम) कांड, अर्थात् अयोध्याकांड में २२८८ पद्य हैं। इस कांड के प्रथम सर्ग में २० श्लोकों तक वंदना-प्रकरण है, जिसमें प्रायः सभी देवी-देवताओं की एवम् गुरुदेव तुलसीदासजी की वंदना की गई है।

तत्रभवान् काशिराज की प्रति के लिपिकाल के संबंध में सुंदरकांड की पुष्पिका ही निर्णायक है, क्योंकि अन्य दोनो कांड अयोध्या और किष्किंधा में उसका उल्लेख नहीं है। सुंदरकांड की पुष्पिका इस प्रकार है—

पुनर्वसुत्रिमस्तकाक्षिषट्सुधांशु १६६२ संमिते सुवत्सरेथ कार्त्तिके सितेर्कसंमिते तिथौ। दले लिलेख सुंदरं तुलाभिधो महेशितुः पुरे हि कांडकं नवं रवेर्दिने द्विजःस्वयम् ॥[2]

इससे स्पष्ट है कि 'पुनर्वसु = २, त्रिमस्तकाक्षि=६, षट्=६, सुधांशु=१; ('अंकानां वामतो गतिः' से) १६६२ कार्तिक मास के सित (उज्ज्वल=शुक्ल) दल (पक्ष) में अर्क (सूर्य=१२) तिथि (द्वादशी) को तुला नाम के द्विज ने महेश के पुर (काशी) में यह नया कांड (सुंदरकांड) रविवार को स्वयम् लिखा। जब अनुलिपिकाल १६६२ है तब ग्रंथ इसके पूर्व अवश्य बन गया होगा।'[2] यहाँ 'स्वयम् शब्द सापेक्ष होने के कारण विचारणीय है। प्रेमरामायण के अयोध्याकांड की पुष्पिका में टीकाकार का पूर्ण परिचय दिया है, साथ ही 'तुलारामनाम्नो हिताय' भी उल्लिखित है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या और किष्किंधा कांडों की अनुलिपि किसी अन्य लिखक के द्वारा की गई, किंतु सुंदरकांड को स्वयम् तुलाराम ने लिखा। इसकी पुष्टि अयोध्याकांड के अंत में लिखित 'लिखितं दलपती कायस्थेन' से भी होती है। यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'तुला' या 'तुलाराम' नामक द्विज कौन थे और कब हुए? रघुवरदास लिखित वृहत्काय ग्रंथ 'तुलसीचरित' में तुलाराम नाम आया है,[3] किंतु इस ग्रंथ की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। एक तुलाराम तुलसी मंदिर के महंत के रूप में विख्यात हैं। इनका समय संवत् १८३२ वै० माना गया है।[4] इनके समय और ग्रंथ के अनुलिपिकाल में १७० वर्षों का

---

१ — प्रेमरामायण, अयोध्या०, प्रा० श्लो० १९।
२—रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), भूमिका, पृ० १३।
३—डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित 'तुलसीदास', पृ० ६२ तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी कृत 'तुलसीदास और उनका काव्य', पृ० ५८।
४—डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' शीर्षक शोधप्रबंध, पृ० १९२।

अंतर है। अतः ये निश्चित रूप से परवर्ती हैं। अतः प्रेमरामायण में उल्लिखित तुलाराम इन दोनो से भिन्न व्यक्ति हैं।

प्रेमरामायण की यदि एकमात्र प्रति काशिराज के यहाँ ही मिलती तो संदेह का अवसर आता। अन्य विशिष्ट ग्रंथागारों में भी इसके हस्तलेख सुरक्षित हैं। इसकी अयोध्याकांड की एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में है।[1] यद्यपि इस प्रति में लिपिकाल का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि सुप्रसिद्ध विद्वान् अन्वेषक श्रीहरप्रसाद शास्त्री ने उसे ईसाई सत्रहवीं शती की मान्यता दी है। यह प्रति खंडित है। मानस के २।४६।० से २।५२।० तक तथा २।९८।० से अंत तक के अंश ही उसमें उपलब्ध हैं। इस हस्तलेख के ऊपरि पृष्ठ पर १०३७१ रोमन अंक में अंकित है तथा अंग्रेजी की एक मोहर भी लगी है, जो स्पष्ट पढ़ी नहीं जाती। तीसरी प्रति दी ब्रिटिश म्यूजियम लंदन के पुस्तकालय में है। इस प्रति के संबंध में बिना देखे कुछ कहा नहीं जा सकता। काशिराज एवम् सोसायटीवाली प्रतियों में अनेकत्र पाठांतर हैं, पर्यायवाची शब्दों का हेरफेर अधिक है। दोनो की पुष्पिकाओं में पर्याप्त अंतर है। उदाहरण स्वरूप एक स्थल उद्धृत है—

> शुद्धेंदुस्वच्छकीर्तिर्दशरथतनयस्यावबंधप्रबंधं काश्यां-
> दासस्तुलस्या विवृतिमपि तुलारामनाम्नो हिताय।
> चक्रे रामूद्विवेदस्तनुमतिरतनुश्लोकबद्धामुपांतेयोध्या-
> कांडे व्यरंसीद्भरतसुचरितेत्रैकविंशोपि सर्गः॥
>
> —काशिराज की प्रति, अयोध्या० की पुष्पिका।

> इति श्रीप्रेमरामायणे अयोध्याकांडे भरताचरणचर्या नामैकविंशति सर्गः।
> वातजातकृतप्रेमरामायणविकाशनं भाषया तुलसीदासैरकारि खलु सूरिभिः।
> तस्येयं रचिता टीका श्लोकबद्धा यथामति काश्यां रामू द्विवेदेन सरलोऽ-
> तरलात्मनाम्॥
>
> —रायल एशियाटिक सोसायटी की प्रति, अयोध्या० की पुष्पिका।

जब मानस की एक ही टीका की विभिन्न प्रतियों में इतना पाठांतर है, तो मूल मानस में पाठांतर हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

टीकाकार रामू द्विवेद ने मानस के कथा भाग का तो शब्दानुवाद या भावानुवाद किया है, परंतु जहाँ वर्णन-प्रसंग आए हैं वहाँ विस्तार है।[2]

१—ए डिस्क्रिप्टिभ कैटलाग ऑव् दी संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी कलेक्शन्स ऑव् दी एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम ७, 'काव्य' शीर्षक, ग्रंथ संख्या ५२५४।

२—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'हिंदी साहित्य का अतीत' (प्रथम खंड), पृ० २३५।

श्रीरामचरितमानस और उसकी प्राचीनतम टीका प्रेमरामायण के समन्वय के पूर्व श्रीरामू द्विवेद की शब्दमुक्ता की ओर भी ध्यान आकृष्ट कर देना अनुचित न होगा। उस पाठ से विनयपत्रिका के इस पद को मिलाइए—

जयति बालार्क कपि केलि कौतुक उदित चंडकर मंडल ग्रासकर्त्ता।
राहु रवि-सक्र पबि गर्ब खर्बीकरन, सरन भयहरन, जय भुवन भर्त्ता॥
—विनय०, २९, संत श्रीकांतशरणजी संपादित, भाग १।

बालार्कग्रासकारी सकलसुरपतेर्म्मानहारी जगत्या-
माबाल ब्रह्मचारी पयसि जलनिधेर्यानवच्छैलतारी।
रक्षो वक्षोविदारी वसनदहनकृद्वैरिनारी जनानां
रामांघ्रिध्यानधारी स जयति हनूमान् भीतिहारी गतिर्म्मे॥
—प्रेम०, अयोध्या, प्रा० श्लो० ७।

इस समन्वय से स्पष्ट है कि विनयत्रिका की ओर भी टीकाकार का आकर्षण था।

पूर्व में यह सूचित किया जा चुका है कि प्रेमरामायण में सर्गबद्ध रचना है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र का यह अभिमत है कि इसके एक एक सर्ग मानस के एक एक प्रसंग के सूचक हैं। उन्होंने मानस के उत्तरकांड (सप्तम सोपान) में चर्चित 'तेरिज रामायण' में आए प्रसंगों से इसके सर्गों को मिला देखने के लिए कहा है।[1] उन्हीं के निर्देशानुसार दोनो का संतुलन यहाँ उपस्थित है—

प्रेमरामायण अयोध्याकांड	तेरिज रामायण उत्तरकांड
श्रीराम यौवराज्यारंभो नाम प्रथम सर्गः	बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा[2]
कैकेयी मंथरावाक्यं नाम द्वितीयः सर्गः	पुनि नृप बचन राजरस भंगा[3]
कैकेयी वरप्रार्थनं नाम तृतीयः सर्गः	
कौशल्या रामवचनं नाम चतुर्थः सर्गः	पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा
सौमित्रिरामसंभाषणं नाम पंचमः सर्गः	कहेसि राम लछिमन संबादा[4]
श्रीरामवनगमनं नाम षष्ठः सर्गः	बिपिनगवनु केवट अनुरागा[5]
शृङ्गवेरपुर रामनिवासवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः	सुरसरि उतरि निवास प्रयागा[6]
सबंधुदारपथिक श्रीरामसंवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः	बालमीकि प्रभु मिलब बखाना[7]
रघुनाथकाननर्निर्गम चित्रकूट समागम नाम नवमः सर्गः	चित्रकूट जिमि बसे भगवाना[8]

दशम सर्ग से पंचदश सर्ग तक सर्गों के नामकरण नहीं किए गए हैं। षोडश और सप्तदश सर्गों की पुष्पिका में नाम का संकेत क्रमशः यों है—'चित्रकूटचले

१—मानस (काशिराज संस्करण) की भूमिका, पृ० १४। २, ३—वही, ७।६५।१। ४—वही, ७।६५।२। ५, ६—वही, ७।६५।३। ७, ८—वही, ७।६५।४।

बंधुसम्मेलनम्' तथा 'चित्रकूट रामबंधुसंभाषणं' है। ये दोनो 'भरतु गए जहँ प्रभु सुखरासी'[1] एवम् 'पुनि रघुपति बहु विधि समुझाए'[2] की ओर संकेत करते हैं। इस तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' तथा 'नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह'[3] की ओर कवि का संकेत है। इससे 'मानस' को महाकाव्य पद्धति का ग्रंथ न मानने का भ्रम दूर हो जायगा।

गोस्वामीजी के जीवनकाल की इस महत्त्वपूर्ण प्राचीनतम टीका का उपयोग केवल रामचरितमानस के काशिराज संस्करण में हुआ है। यह टीका ग्रंथकार के मनोगत भावों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट करनेवाली है। टीकाकार के अंतस्तल में यह भावना रही है कि मानस के अंतर्गत कथाशिल्पों को उद्घाटित किया जाय। खेद है कि बालकांड की टीका उपलब्ध नहीं है, अन्यथा उस कांड में आए 'प्रतापभानु' जैसी कथाओं की ओर भी टीकाकार अवश्य संकेत करते। अस्तु जो सामग्री उपलब्ध है, उसी के आधार पर मानस के मुख्य स्थलों का या यों कहिए स्थालीपुलाकन्याय से क्रमशः मिलान किया जाता है। मानस के अयोध्या, किष्किंधा, और सुंदर कांडों के प्रारंभ में आए मंगलाचरण के संस्कृत श्लोकों का अर्थ करना अनावश्यक जान टीकाकार ने भाषाबद्ध अंश की ही टीका की है—

श्रीगुरुचरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥[4]
विमार्ज्य गुरुपत्कंज रजोभिश्चित्तदर्पणं।
वर्ण्यते रामचरितं चतुर्व्वर्गप्रदं हि यत्॥—प्रेम०, अयो०, सर्ग १, श्लो० २०।

उपर्युक्त दोहे में 'फलचारि' जो है, वह 'चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'[5] का आशय है। टीकाकार की भावस्पष्टता का उदाहरण आगे देखिए—

जब तें रामु ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥
भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥
कहि न जाइ कछु नगरबिभूती। जनु एतनिय बिरंचिकरतूती॥
सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी॥[6]

उपर्युक्त चौपाइयों को संस्कृत टीका से मिलाइए—

विवाहानंतरं रामो यदायोध्यामुपागतः।
तत्रायायुर्मुदो नित्यं मंगलं सर्वसंपदः॥

१—वही, ७।६५।६। २- वही, ७।६५।७।
३—साहित्यदर्पण, रि० ६, श्लो० ३१५, ३२४। ४—मा०, २। मं० दो० ४।
५—साहित्यदर्पण, प्र० प० श्लो० २। ६—मानस, २।१।१-६।

चतुर्द्दशसु लोकेषु पर्व्वतेष्विव[1] सर्वतः।
ववृषुः पुण्यजलदाः सुखवारि प्रतिक्षणं॥
ऋद्धि सिद्ध्यादयो नद्यः सद्योयोध्यां महोदधिं।
अभितो मिलिता...॥
अनर्घ्यहेममाणिक्यसुंदरै मंदिरैर्न्नरैः।
रराज चारुनारीभिः सा पुरी स्वः पुरी यथा॥
वक्तुं न शक्यते शोभा साकेतस्य सुरैरपि।
मेनिरे तै...॥
यत्र पौराः वसंतिस्म सर्व्वदैव सुखान्विताः।
रघुवीरमुखांभोज कांतिपीयूषलंपटाः॥
चकोरा इव राजानं तमाजानुभुजं पथि।
पश्यंतिस्म मुदा पौराः सुंदरं सुखदायकं॥

मानस से टीका का मिलान विशेषतः इन स्थलों पर कीजिए—घर आए= अयोध्यामुपागतः, मोद बधाए = मंगलं सर्वसंपदः, भुवन चारि दस = चतुर्द्दशसु लोकेषु, बरषहिं = ववृषुः, उमगि = अभितो मिलिता, नगर विभूती = साकेतस्य शोभा। मानस की इस प्राचीन टीका से मानस के अनेक विवादास्पद पाठों पर भी प्रभाव पड़ता है। शुद्ध पाठान्वेषी विद्वानों के लिए एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है—

मुदित मातु सब सखी सहेलीं। फलित बिलोकि मनोरथ बेलीं।[2]

उक्त चौपाई में 'मनोरथ' पाठ का टीकाकार ने भी समर्थन किया है—

ससख्यो मुमुदू राममातरो बांधवास्तथा।
फलितां ललितां वीक्ष्य मनोरथलतां ततां॥[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि काशिराज की सं० १७०४ की मानस की प्रति में 'मनोहर' पाठ है, फिर भी अन्य प्राचीन हस्तलेखों के साक्ष्य एवम् इस टीका की पुष्टि से काशिराज संस्करण में 'मनोरथ' पाठ ही निर्धारित है।

आगे एक दूसरे प्रसंग का श्रीरामू द्विवेद कृत विवृति का रसास्वादन करिए—

झूठेहुँ हमहि दोसु जनि देहू। दुइ कै चारि मागि मकु लेहू॥
रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥
नहि असत्य सम पातकपुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥[4]

प्रस्तुत चौपाइयों के अर्थ में टीकाकार की सटीकता देखिए—

दोषारोपो मयि कथं क्रियते व्यर्थमेव हि।
प्रार्थय द्विगुणं चाद्य किं मया नैव दीयते॥

१—'पर्वतेष्वपि' पाठ उचित जँचता है। २—मानस, २।१।७।
३—प्रेम० अयो० सर्ग १, श्लो० २८। ४—मानस, २।२८।३-६।

अस्माकं हंसवंश्यानां व्रतं विदितमेव हि।
यांतु प्राणा न वै वाचो नासत्यात्पातकं परं ॥ १८ ॥
गुंजा कोटिर्भवेत् किंवा शैलराज समा क्वचित्।
सत्यमेव हि धर्माणां मूलं वेदैरुदीरितं ॥ १९ ॥[1]

यहाँ झूठेहुँ हमहि दोष जनि देहु = दोषारोपो मयि कथं क्रियते व्यर्थमेव हि, दुइ कै चारि = प्रार्थय द्विगुणं, रघुकुल रीति = अस्माकं हंसवंश्यानां आदि मुख्य मुख्य स्थलों पर टीकाकार ने शब्दों के मर्म तक को उपस्थित कर दिया है।

मानस के अयोध्याकांड के तापस-प्रसंग के विषय में अब तक विद्वानों में ऐकमत्य नहीं हो सका है। कुछ लोग इस प्रसंग को क्षेपक मानते हैं और कुछ लोग जिनका प्राचीन हस्तलेखों में पूर्ण विश्वास है, कविकृत ही मानते हैं। मानस-मनीषी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार 'तापस' शब्द का अग्निदेव, हनुमान्, वाल्मीकि, चित्रकूट, अगस्त्यजी या तुलसीदासजी का अर्थ लगाते हैं।[2] श्री रेवरेन्ड फादर कामिल बुल्के साहब ने अपने महत्त्वपूर्ण निबंध में धर्मखंड (अध्याय ९८) के अनुसार तापस को ब्राह्मण वेषधारी 'शिव' कहा है।[3] इस विषय में गोस्वामीजी के प्रत्यक्ष शिष्य श्रीरामू द्विवेदजी मौन नहीं हैं। उनका जो कहना है, उसे उद्धृत कर रहा हूँ। मानस-मर्मज्ञ इस मर्म को समझें और तथ्य को स्पष्ट करें।

तेहि अवसर एकु तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा।
कबि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥[4]

प्रेमरामायण से मिलाइए—

तस्मिन्नवसरे कश्चित्तापसस्तमुपागतः।[5]
तेजः पुंज इवाक्रान्त तेजस्तेजस्विनामपि॥ ४९॥
सुंदरोऽल्पवयो ज्ञानी ह्यलक्षितगतिः कविः।
विरक्तवेषः कौपीनः पटांचितकटिर्गले॥ ५०॥
मालामालानवद्विभ्रत्तुलस्याश्चित्तदंतिनः।
मनः कर्मवचोभिः श्रीरामकिंकर एव स.[6] ॥ ५१॥
प्रेमाश्रुगद्गदश्चंचत्पुलकांकित विग्रहः।
निजेष्टदेवं कांतारे यांतं कांतानुजान्वितं॥ ५२॥

१—प्रेम०, अयो०, सर्ग ३। २—मानस पीयूष, अयो०, पृ० ४६३-४६८।
३—राम कथा, द्वितीय संस्करण, पृ० ३८९।
४—२।११०।७-१०। ५—सस्तमुपागतः; सो रामकिंकरः (एशि० सो०)।
६ श्रीरामकिंकर एव सः; पत्कंज षट्पदः (एशि० सो०)।

अर्थात्—उस अवसर पर कोई तपस्वी आए (पाठांतर पक्ष में रामकिंकर आए)। वे तपस्वी के साथ साथ तेजस्वियों में भी तेज स्वरूप हैं। वे सुंदर, अल्प अवस्थावाले, ज्ञानी, जिनकी गति लक्षित नहीं हो सकती, एतद्गुण विशिष्ट कवि, विरक्तवेष, कौपीन वस्त्र एवम् गले में तुलसी की माला श्रृंखला की तरह धारण किए हुए थे। मानो मन, वचन और कर्म से श्रीरामकिंकर ही थे। इस भयंकर वन में पत्नी एवम् अनुज (भाई) सहित अपने इष्टदेव को जाते हुए देखकर वे आनंदातिरेक से रोमांचित शरीरवाले प्रेमाश्रु से गद्गद हो गए। उपर्युक्त श्लोकों में 'चित्तदंतिन:' शब्द की व्याख्या अमरकोश, वाचस्पत्यम्, शब्दकोश आदि के आश्रय लेने पर भी न हो सकी। अस्तु प्रस्तुत विचारणीय विषय पर आइए। इस प्रकरण में अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनसे इस विषय पर मीमांसा संभव है। उपर्युक्त श्लोकों में भी 'रामकिंकर' शब्द दो बार आया है। प्रथम बार रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्तावाली प्रति में और दूसरी बार काशिराजवाली प्रति में। रामकिंकर शब्द के प्रयोग प्रेमरामायण के सर्गान्त पुष्पिकाओं में अनेकत्र हुए हैं।

यथा—

रामकिंकरेण भाषया कृतं यदद्भुतं काव्यमस्य रामुणापि पद्धति:।[१]

अपि च—

श्रीरामकिंकरकृते रघुवीरकाव्ये रामूर्बबंध तनुपद्यमयीं नवीनां॥[२]

अधिकांश स्थलों में 'रामकिंकर' शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

रघुवरैकपरेण कथा कृता तुलसिकानुचरेण च रामुणा।
विवरणं कृतमस्य तु सुंदरेऽप्यजनि तत्र चतुर्थक सर्गक:॥[३]

अथापि च—

काव्यं यत्प्रबबंध बंधरुचिरं काश्यामुपास्यं सतां
भृत्य: श्रीरघुनंदनस्य तुलसीदासो लषद्भाषया।
रामूकेन कृतास्य संस्कृतमयी टीका सुपद्यान्विता
कांडे सुंदर संज्ञकेति ललिते षष्ठोऽत्र सर्गोऽभवत्॥[४]

इस प्रकार 'रामकिंकर' शब्द संत तुलसीदासजी के लिए प्रेमरामायण में अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है। केवल 'रामकिंकर' शब्द के ही आधार पर नहीं अपितु तापस के सभी लक्षण प्रेमरामायण के अनुसार संत तुलसीदासजी में संघटित हैं। उन लक्षणों को श्रीरामू द्विवेद कृत गुरु-वंदना के इस श्लोक से मिलाइए—

१—प्रेमरामायण, अयो०, पु०। २—वही, सुंदर, तृतीय सर्ग की पुष्पिका।
३—वही, चतुर्थ सर्ग की पुष्पिका। ४—वही, षष्ठ सर्ग की पुष्पिका।

गौरं 'रा' पदमात्रसंश्रवणतोप्यूद्भूतरोमांकुरं
वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटीशालिनं।
वारंवारमिदं पदं 'भरतु मे ठाढ़े' ति गाढं स्वरं
गायंतं नररूपिणं कमपि तं वंदेनवद्ये हितं॥[1]

प्रस्तुत वंदना में गोस्वामीजी के 'राम' शब्द के 'रा' पद मात्र के सुनते ही रोमांचित होने की बात कही गई है। प्रेमरामायण के तापस प्रसंग में 'प्रेमाश्रु गद्गदश्चंचत्पुलकांकित विग्रहः' वाला अंश भी उसी भाव का द्योतक है। 'वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटीशालिनं' अर्थात् वक्षस्थल में तुलसी की माला धारण करने एवम् कौपीन पहनने की बात 'विरक्तवेषः कौपीनः पटांचितकटिर्गले, मालामालानवद्विभ्रद् तुलस्याश्चित्तदंतिनः' से मिलती है। निष्कर्ष यह है कि जिन जिन लक्षणों का समाहार तुलसीदासजी की वंदना में टीकाकार ने किया है, वे सभी लक्षण, प्रायः अनेक विशेषण मानस कथित विशिष्ट तापस में संघटित हैं। आशा है विज्ञ पाठक उपर्युक्त आधार पर इस शंका का समाधान स्वयम् कर लेंगे कि उक्त प्रकरण में 'तापस' अग्निदेव हैं या हनुमान्जी, वाल्मीकिजी हैं अथवा अगस्त्य, ब्राह्मण वेषधारी शिवजी हैं अथवा हैं स्वयम् कवि तुलसीदासजी।

आगे 'पूत पथ्य गुर आयेसु अहई'[2] की विवृति करते हुए टीकाकार ने कहा है कि—

उचितानुचितं हित्वा ये कुर्वंति गुरोर्वचः।
ते भाग्यभाजनानि स्युः परत्रेह च सर्वदा॥ —अयो०।

यहाँ टीकाकार का लक्ष्य 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' के भाव को स्पष्ट करना है। उसने संस्कृत सूक्तियों की जो पारंपरिक पद्धति है, उसका निर्वाह भी यथास्थान किया है। अब मानस-पाठ के प्रभावोत्पादक एक स्थल का नमूना लीजिए, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि कौन सा पाठ ग्राह्य हो सकता है। चित्रकूट की सभा समापन के पश्चात् भरतजी की इस उक्ति—

चित्रकूट मुनिथल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्भर गिरि गन।[3]

में आए 'मुनिथल' पाठ की पुष्टि प्रेमरामायण में देखिए—

तीर्थानि चित्रकूटेस्मिंस्तापसानां तथाश्रमान्।
सरांसि निर्भरान्नानामृगान् पक्षिगणानपि॥—अयो०।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि 'तापसानां तथाश्रमान्' से तत्कालीन पाठ 'मुनिथल' ही सिद्ध होता है 'सुचिथल' नहीं। 'तपस्वी तापसः पारिकांक्षी वाचंयमो मुनिः'

१—वही, अयो०, वंदना श्लोक।
२—मानस, २।१७५।१/२। ३—वही २।३०७।३।

मुनि शब्द के पर्यायवाची तपस्वी एवम् तापस भी हैं।[१] प्रस्तुत प्रसंग में राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति में 'सुचिथल' पाठ होने पर भी अन्य हस्तलेखों के साक्ष्य एवम् प्रेमरामायण की पुष्टि से 'मुनिथल' पाठ काशिराज संस्करण में गृहीत है।

पूर्व निवेदन के अनुसार अब किष्किंधाकांड के एक दो प्रसंगों की संस्कृत विवृति नीचे उद्धृत की जा रही है, जिससे यह सहज ही ज्ञात हो जायगा कि टीकाकार को टीका करने में कहाँ तक सफलता मिली है। प्रसंग है—गृध्रराज जटायु की मृत्यु का समाचार सुनने पर उसके भाई संपाती ने उसे तिलांजलि दी तथा उसकी क्रिया आदि करने के बाद वानरों को अपनी पूर्व-कथा इस प्रकार सुनाई-

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गए रबि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि निअरावा॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥[२]

इन पंक्तियों का रूपांतर प्रेमरामायणकार ने यों किया—

पुराहं च जटायुश्च दृष्ट्वोद्यन्तं दिवाकरं।
वेगतस्तमनुप्राप्तौ तरुणौ कल [काल ?] गर्वितौ ॥७६॥
व्योम्नि मध्यंगते सूर्ये भ्राता मे पीडितोऽभवत्।
तमरक्षमहं पक्षच्छायया घर्मराहतः ॥७७॥
ततो निर्दग्धपक्षोऽहं पतितोऽस्मि शिलोच्चये।
प्रायशः सजनस्थाने पपाताकुलितो रुजा ॥७८॥
तस्याद्य मरणं श्रुत्वा शोकार्तोऽहं वनौकसः।
वृद्धत्वान्न समर्थोऽस्मि वैरनिर्यातने रिपौ ॥७९॥
सोहं वचनमात्रेण साहाय्यं जानकीपतेः।
करिष्यामि यतो जीर्णः पौरुषेण विवर्जितः ॥८०॥
मयापि प्रायशो दृष्टा ह्रियमाणा च जानकी।
राम रामेति जल्पंती रुदती सुदती भृशं ॥८१॥
सांप्रतं मे स्मृतिर्जाता रामस्यैव प्रिया भवेत्।
दृश्यते चापि लंकायां वर्तते दूरतो मया ॥८२॥
वयं मांसाशिनो नित्यं गृध्रास्ते न वलीमुखाः।
निसर्गादेव वीक्षामः शतयोजनतो मितः ॥८३॥—कि०, ६।७६-८३।

प्रेमरामायण के प्रस्तुत श्लोकों में 'पुराहं च जटायुश्च' से लेकर ७८वें श्लोक के 'पपाताकुलितो रुजा' तक उपर्युक्त मानस की चौपाइयों की टीका है तथा ७९वें श्लोक के 'तस्याद्य मरणं श्रुत्वा' से 'शतयोजनतो मितः' तक संपाती की आत्मानुभूति है, जिससे कथा भाग में स्पष्टता आती है।

१—अमरकोश, द्वितीय कांड, ब्रह्मवर्ग, श्लो० ४२। २—मानस, ४।२८।२-४।

रामचरितमानस ४।२९।५ से अंत तक में इस वर्णित विषय—

अस कहि उमा गीध जब गएऊ। तिन्ह के मन अति बिसमय भएऊ॥
निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा॥[1]

की टीका प्रेमरामायण में इस प्रकार है—

सीता वृत्तांतमाकर्ण्य संपातेर्वानरा अपि।
उत्पत्य शैलतो हृष्टा ययुस्तीरे महोदधेः॥—सुं०, १।४।

इस प्रकार मानस के किष्किंधाकांड के अंतिम अंश की टीका प्रेमरामायण के सुंदरकांड में प्रतिपादित है।

टीकाकार ने 'पवन तनय बल पवन समाना' की सुविस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। मूल के साथ टीका का समन्वय कीजिए—

जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सब ही कर नायक॥
कह रिच्छेस सुनहु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥
पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काजु कठिन जग माहीं। जो नहि तात होइ तुम्ह पाहीं॥[2]

इस कथा अंश के रहस्य को श्रीरामू द्विवेद ने अंतःप्रविश्य उद्घाटित किया है और श्री हनुमदुत्पत्ति की जो परंपरा है, उसका निर्देश किया है—

तमेवं दुखितं दृष्ट्वा जाम्ववानब्रवीत् पुनः।
येन सेत्स्यति नः कार्यं तं वीरं कथयाम्यहम्॥३३॥
यो विलंघ्य पयोराशिं कृतार्थः पुनरेष्यति।
स इहैवास्ति न ब्रूते वीरो मारुतनंदनः॥३४॥
यस्मिन् जवश्च तेजश्च व [?] बुद्धिमतां वरे।
विक्रमश्चैव नैतादृग्भूतो भावी न वर्तते॥३५॥[3]

समुद्र संतरण में संशयापन्न एवम् दुखी अंगद से ऋच्छराज जांबवान् ने कहा कि जिसके द्वारा यह कार्य सिद्ध होगा, उसे मैं अभी बताता हूँ। वह ऐसा है कि समुद्र को उलंघन करके और कृतमनोरथ हो शीघ्र ही वापस आ जायगा। इन गुणों से युक्त वायुपुत्र वीर हनुमान् कहीं दूर नहीं हैं, निकट ही हैं। वे संकोचवश बोल नहीं रहे हैं। उनमें द्रुतगति का वेग, तेज, बल, बुद्धि और पराक्रम अतिशय रूप से विद्यमान हैं। मेरा तो विश्वास है कि ये सभी गुण न किसी में हुए और न होने की आशा ही है।

हनुमदुत्पत्ति की कथा कहते हुए प्रेमरामायणकार ने आगे कहा है कि—

१—मानस, ४।२९।५-६। २—मानस, ४।३०।२-५। ३—प्रेम०, सुंदर०, १।

पूर्वमप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुंजिकस्थली।
विधिशापादियं जाता वानरी योगरूपिणी ॥३६॥
हरिश्रेष्ठस्य दुहिता कुंजरस्यांजनेति च।
सज्जनानंददा जाता पत्नी केसरिणः कपेः ॥३७॥
कदाचिन्मानुषीरूपं कृत्वा सा वरवर्णिनी।
चचार पर्वताग्रेषु तामपश्यत् समीरणः ॥३८॥
मन्मथाविष्टचित्तत्त्वादालिंगत् सहसा सतीं।
तमुवाचांजना रुष्टा व्रतलोपं करोति कः ॥३९॥
भीतस्तां मारुतः प्राह मामांशय शुचिस्मिते।
शरीरचारी सर्वेषां सोऽहमस्मि समीरणः ॥४०॥
तेजस्त्वयि निधास्यामि मनसैव पतिव्रते।
न ते चारित्र्यलोपः स्यात् पुत्रोऽपि स्यान्महाबलः ॥४१॥
तपनादपि तेजस्वी गरुडादपि विक्रमी।
मत्तोऽपि यो बली लोके मनसोऽपि महाजवः ॥४२॥
इत्युक्त्वा स तथा कृत्वा गतो वातस्ततस्तु सा।
सुतं प्रासूत शैलेन्द्रे तत्क्षणादेव योगिनी ॥४३॥[1]

श्रीहनुमान्‌जी की उत्पत्ति की कथा वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधा कांड के ६६वें सर्ग में है। संभवतः टीकाकार ने उसी में शब्दांतर करके यहाँ उपस्थापित किया है। किंतु कहीं कहीं जो अंतर प्रतीत होता है, उसे वाल्मीकि रामायण से मिलाइए—

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥८॥
विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
अभिशापादभूत्तात वानरी कामरूपिणी ॥९॥
दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः।
कपित्वे चारुसर्वाङ्गी कदाचित्कामरूपिणी ॥१०॥[2]
मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी।
विचित्रमाल्याभरणा महार्हक्षौमवासिनी ॥११॥
अचरत्पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसन्निभे।
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम् ॥१२॥
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः ॥१३॥

वाल्मीकीय रामायण और मानस की संस्कृत टीका प्रेमरामायण के अनुसार लोक-विख्यात पुञ्जिकस्थला [ली] नाम की एक श्रेष्ठ अप्सरा थी। वाल्मीकीय रामायण में उसे

१—प्रेम०, सुंदर १।
२—वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधा सर्ग ६६, श्लो० ८-१३।

अभिशाप द्वारा कामरूपिणी वानरी और प्रेमरामायण में विधि (ब्रह्मा) के शाप से योगरूपिणी वानरी होना कहा गया है। टीकाकार ने अन्यत्र के कथांतर का भी इसमें समावेश कर लिया है। अंजना वानरश्रेष्ठ कुंजर की दुहिता (पुत्री) तथा कपीन्द्र केसरी की पत्नी थी। एक समय कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप बनानेवाली) या योगरूपिणी वह वानरी मनुष्य का रूप धारण करके गिरि शिखर पर घूम रही थी। वहाँ उसे वायुदेव ने देखा। कामाभिभूत होकर वायु ने सहसा उसे आलिंगन किया। (वाल्मीकीय रामायण के अनुसार वायु ने अंजना के वस्त्र उड़ा दिए हैं।) इस पर अंजना ने कहा कि मेरा व्रत कौन भंग कर रहा है ? तब वायु ने भयभीत होकर कहा कि हे शुचिस्मिते ! तुम संशय न करो, मैं प्रत्येक प्राणी के शरीर में संचरण करनेवाला 'समीरण' हूँ। तुझमें मैं अपना तेज मन से ही स्थापित करूँगा। हे पतिव्रते ! जिससे तुम्हारा विमल चारित्र्य भी लोप नहीं होगा तथा महाबलशाली पुत्र भी उत्पन्न हो जायगा। वह पुत्र असाधारण होगा, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी, गरुड़ से भी अधिक पराक्रमी, मुझसे भी अधिक बली और अधिक क्या कहूँ मन से भी अधिक गतिशील होगा। इस प्रकार कहकर और वांछित कार्य करके वायुदेव चले गए। अनंतर मनुष्यरूप धारिणी अंजना ने समयानुसार शैल की उपत्यका पर पुत्र प्रसव किया। इस प्रसंग से संबंधित विषय की चर्चा वाल्मीकीय रामायण के उत्तर कांड में भी आई है—

सूर्यदत्तवरः स्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः।
यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता ॥१९॥
तस्य भार्या बभूवेष्टा ह्यञ्जनेति परिश्रुता।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम् ॥२०॥
शालिशूकनिभाभासं प्रासूतामुं तदाञ्जना ॥२१॥[1]

इन उपर्युक्त, श्लोकों में साधारण परिचय मात्र दे दिया गया है। प्रेमरामायण में वायु और अंजना का कथोपकथन है। वह यहाँ नहीं है।

इसी प्रसंग में आगे वाल्मीकीय रामायण और मानस की टीका प्रेमरामायण में इस बात पर मतैक्य नहीं है कि पुत्र को प्रसव करके अंजना कहाँ गई। प्रेमरामायणकार ने तो कहा है——

बालार्कसदृशं सूनुं पर्यंके सांजना ततः।
स्वापयित्वा गता स्नातुं गंगायां सूर्यपर्वणि ॥[2]

अर्थात् अरुणोदय काल के सूर्य के समान तेजस्वी अपने पुत्र को अंजना पलंग पर सुलाकर स्वयम् सूर्य पर्व के अवसर पर गंगास्नान करने के लिए गई। वाल्मीकीय

१—वा० रा०, ७।३५।१९-२१। २—प्रे०, सुं०, १।७४।

रामायण से भी इसकी पुष्टि होती है कि उस दिन सूर्यग्रहण लगनेवाला था। तथा च उक्तं--

यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्॥[1]

इससे स्पष्ट है कि जिस दिन अंजनीपुत्र सूर्य को फल समझ कर अपनी बुभुक्षा शांत करने के लिए कूदे थे, उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए अग्रसर हुए थे।

यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि अंजना कहाँ गई थी? प्रेमरामायण के अनुसार सूर्यग्रहण स्नान करने अथवा वाल्मीकीय रामायण के अनुसार फल लाने? क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में कहा है--

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतामुं तदांजना।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहनेचरा॥[2]

यहाँ 'फलान्याहर्तुकामा' से स्पष्ट है कि अंजना फल लाने गई थी। इस प्रकार परस्पर विरोधी कथांतर दोनो में उपलब्ध हैं। प्रेमरामायण में इस कथा का अग्रिम अंश इस प्रकार है—

समुद्यंतं विवस्वन्तं दृष्ट्वा पक्वफलाशया।
उत्प्लुतो वरपर्यंकादुद्गतोऽसौ सूर्यसन्निधौ॥४५॥
दृष्ट्वा सूर्यान्तिके राहुं पक्वजम्बूफलभ्रमात्।
गृहीतुं समवाप्तोऽयं तमस्त्रासाददुद्रुव[3]त॥४६॥
ततस्तमनुयातोऽयं सचेन्द्रशरणं गतः।
स तु नागं समारुह्य हंतुमेनमुपागतः॥४७॥
सितं वीक्ष्य गजं तुष्टः शितायामोदकभ्रमात्।
तमधावज्जघानैनं वज्रपाणिर्हनौ दृढं॥४८॥
ईषद्भग्नहनुर्भूमौ पपात पविघाततः।
निरीक्ष्य कुपितो वायुः शुशोचायुः शरीरिणाम्॥ ४६॥
त्यक्ताधिकारे पवने अकांडे ब्रह्मांडमंडपे।
संवर्तोपक्रमं वीक्ष्य ब्रह्मा मारुतमब्रवीत्॥ ५०॥
मा शोचास्मिन् सुते वात गुणास्तात मया धृताः।
अछेद्याभेद्यकायोऽयं मदस्त्रादपि मारुतिः॥ ५१॥
सुचिरं जीवितं लब्ध्वा सीतारामप्रसादतः।
सर्वत्राकुंठितगतेः शापेनापि क्षयो नहि॥ ५२॥

१—वाल्मीकीय, ७।३५।३१। २—वही, ७।३५।२१।
३—'द्रु द्रु गतौ णि श्रीति' चङ् अदुद्रुवत् सिद्धांतकौमुदी—भ्वादि।

इत्याशिष्य विधौ पाते वातोऽपि मुदितोऽभवत् ।
बाल्यत्वादुद्धतः सोऽयं मुनीनामाश्रमे स्थितः ॥ ५३ ॥[1]

अर्थात्—अपनी माता अंजना के सूर्य-ग्रहण निमित्त गंगा स्नान के लिए (अथवा फलादि लाने) जाने पर हनुमान्‌जी की नींद खुली और उन्हें भूख भी लगी। उसी समय उदीयमान सूर्य को उन्होंने देखा। सूर्य को पका फल समझकर वे पलँग से उछलकर सूर्य के पास पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर सूर्य को ही ग्रसने के लिए आए हुए राहु से उनकी भेंट हुई। कृष्णवर्ण राहु को देखकर हनुमान्‌जी को पके जामुन का भ्रम हुआ। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार राहु का वर्ण कृष्ण[2] है और वह भी मकराकृति। अतः हनुमान्‌जी अंधकार के त्रास से आगे बढ़े। इधर राहु भी भय से इंद्र के शरण में पहुँचे। राहु की सुरक्षा के लिए इंद्र जब ऐरावत पर चढ़कर आ रहे थे, उस समय भी हाथी को देखकर उन्हें मोदक का भ्रम हुआ। जब हनुमान्‌जी हाथी की ओर लपके तत्क्षण वज्रपाणि इंद्र ने हनुमान्‌जी की ठोढ़ी पर प्रहार किया। वज्राघात से पीड़ित होकर हनुमान्‌जी गिर पड़े। यह देखकर वायु शरीरधारी प्राणियों की आयु पर अत्यंत दुःखी हुए। उन्होंने संपूर्ण ब्रह्मांड में अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया। इस अकांड तांडव से संपूर्ण ब्रह्मांड में वायु के बिना जीवों का जीवन कठिन हो गया। अंततोगत्वा इस उथल-पुथल की चिंता ब्रह्माजी को हुई। उन्होंने वायुदेव से कहा कि हे वायु! इस पुत्र के लिए तुम चिंता मत करो, इसमें सब गुण मैंने नियोजित कर दिए हैं। यह तुम्हारा पुत्र अछेद्य एवम् दुर्भेद्य होगा; यहाँ तक कि मेरे अस्त्र भी इस पर सफल नहीं होंगे। अपि च श्री सीताराम के प्रसाद से चिरकाल तक जीवन प्राप्त कर इसकी सर्वत्र अप्रतिहत गति रहेगी। इस आशीर्वाद का क्षय शाप के द्वारा भी संभव नहीं है।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर ब्रह्मा जी ब्रह्म लोक को गए तथा अत्यंत प्रसन्नता के साथ वायु ने अपना कार्य प्रारंभ किया। वायुपुत्र का नाम भी उसी समय से 'हनुमान्' पड़ा। देखिए वाल्मीकीय रामायण में इंद्रदेव की उक्ति—

मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हतः ।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति ॥[3]

यतः मेरे हाथ से त्यक्त वज्र से इसकी 'हनु' (ठोढ़ी) टेढ़ी हो गई है, इसलिये इस कपिशार्दूल का नाम भी 'हनुमान्' होगा। उसी समय से हनुमान्‌जी चंचलावस्था में मुनियों के आश्रम में रहने लगे।

---

१ - प्रेम०, सुं०, १।४५-५३।
२—देखिए राहु का वर्ण—रक्तावङ्गारकादित्यौ श्वेतौ शुक्रनिशाकरौ ।
गुरुसौम्यौ पीतवर्णौ शनिराहू‌वसितौ शुभौ ॥
—ज्योतिषसार, श्लो० ५७।
३—वा० रा०, ७।३६।११।

भारतीय भाषाशास्त्र के प्रमुख विद्वान् डा० ग्रियर्सन साहब द्वारा संपादित गोसाँई चरित में उपर्युक्त आशय का वर्णन हरिगीतिका छंद में किया गया है—

लखि प्रात लीलो भान यह लघु चरित बाल बिलास को।
रबि राहु बासव मान ढीलो गर्ब खीलो बजर को॥
हनुमंत हठीलो बाल लीलो सरन जानकि अजर को।
रनधीर बीर समीर को सुत दूत प्रिय रघुबीर को॥[1]

इसी प्रकार आगे के अंशों में प्रेमरामायणकार ने मानस-शब्दों के मूलतत्त्व को उद्घाटित किया है। मानस की इन पंक्तियों—

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥
गहइ छाह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा॥[2]

को मिलाइए प्रेमरामायण से

मारुतिं यांतमुद्वीक्ष्य सिंहिका नाम राक्षसी।
नीरराशौ स्थिता छाया ग्राहिणी हर्षमागता॥
महत्सत्त्वमहो प्राप्तं तृप्ता स्यामस्य भक्षणात्।
इति संचिंत्य मनसा छायां जग्राह वक्रतः॥[3]

अर्थात्—श्रीहनुमान्‌जी को अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए जाते देखकर सिंहिका नाम की राक्षसी जो कि जलराशि में केवल छाया ग्रहण करके अपना कार्य साधन करती है, प्रसन्नता को प्राप्त हुई। उसने मन में सोचा कि आज सुयोग से एक विशाल जीव प्राप्त हो गया है, इसके भक्षण से तृप्त हो जाऊँगी। इस प्रकार मन में सोचकर छाया को ग्रहण कर लिया। यहाँ 'निसिचरि एक' को 'सिंहिका नाम राक्षसी' से स्पष्ट कर दिया है तथा उसके मनोभावों का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

इसी प्रकार आगे लंकिनी के रहस्य का उद्घाटन भी टीकाकार ने वाल्मीकीय रामायण के आधार पर किया है—

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी।
जानेहि नही मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥[4]

उक्त दोनो चौपाइयों की व्याख्या में टीकाकार की पैनी दृष्टि देखिए—

१—डा० ग्रियर्सन संपादित 'गोसाँइ चरित', छंद-३-४, पृ०९। २—मानस, ५।३।१-४।
३—प्रेम०, सुं०, १।१०२-१०३। ४—मानस, ५।४।२-३।

तस्मिन् विशति लंकायां लंकिनी पुरपालिका।
कालिकेवाविरासीत्तं शंकनीया सुरैरपि ॥
तं निरीक्ष्य जगादेदं कस्त्वं कार्येण केन वा।
अननुज्ञात एवात्र विशस्येवं मया कपे ॥
वातजः प्राह कुतुकाद् द्रक्ष्यामि नगरीमिमां।
तदर्थमागतोऽस्मीति भद्रे यास्ये यथागतं ॥
तमाह लंकिनी किं मामवज्ञाय पुरेश्वरीं।
यासि यास्यसि कीनाश भवनं नन्विमां पुरीं ॥[1]

अर्थात् हनुमान्‌जी के लंकापुरी में प्रवेश करते ही लंका स्वरूपा, नगर की रक्षा करनेवाली एवम् देवगणों से शंकनीया लंकिनी ने उन्हें देखकर कहा—तुम कौन हो ? किस कार्य से बिना मेरी आज्ञा प्राप्त किए यहाँ प्रवेश कर रहे हो ? उत्तर में वायुपुत्र ने कहा—कौतुकवश मैं इस नगरी को देखना चाहता हूँ और एतदर्थ ही यहाँ आया हूँ। हे भद्रे ! जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा। अनंतर लंकिनी ने कहा —इस पुरी की रक्षा करनेवाली मैं हूँ। क्या ! मेरा अपमान करके इस पुरी में जा रहे हो या जाओगे ? यहाँ 'पुरपालिका', 'शंकनीया सुरैरपि', 'मामवज्ञाय पुरेश्वरीं' आदि प्रयुक्त शब्दों से 'जानेहि नही मरमु सठ मोरा' का भाव परिलक्षित होता है। इस प्रकरण में भी टीकाकार वाल्मीकीय रामायण से अवश्य प्रभावित हैं तथा उससे 'द्रक्ष्ये पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम्'[2] यह अंश प्रेमरामायण में ज्यों का त्यों ले लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि टीकाकार को वाल्मीकीय रामायण से अधिक सहायता मिली है। अधिक विस्तार के भय से अब केवल एक प्रसंग का ही समन्वय दिखाकर 'पूर्णमेवावशिष्यते' का आधार लेना ही श्रेयस्कर है। वह प्रसंग है अशोक-वाटिका में स्थित सीता जी की दयनीय स्थिति—

निज पद नयन दिएँ मन राम कमल पद लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥[3]

इस दोहे की टीका करते हुए रामू द्विवेद ने प्रेमरामायण में लिखा है—

राक्षसीभिर्वृतां दीनां मलिनांबरधारिणीं।
निःश्वसन्तीं भृशं चिंतापारावारे निमज्जतीं ॥
उपवासकृशां भूमौ निषण्णामश्रुलोचनां।
उरौ कफोणिमाधाय वामहस्तकृताननां ॥[4]

अर्थात् अशोकवाटिका में भयंकर राक्षसियों के द्वारा घिरी दीन हीन दशा में मलिन वस्त्र धारण करनेवाली वियोग जन्य निःश्वास को छोड़ती हुई, चिंतारूपी समुद्र

१—प्रेम०, सुं०, २।२१-२४। २—वाल्मीकीय रामा०, ५।३।३७।
३—मानस, ५।८।०। ४—प्रे०, सुं०, सर्ग २, श्लोक ८०-८१।

में निमग्नोन्मग्न होती हुई तथा निरंतर उपवास करने से अति कृशकाया एवम् भूमि पर बैठी हुई, आँसू से युक्त नेत्रों वाली, अपनी जाँघ पर कुहनी और बाएँ हाथ पर मुख आश्रित किए एवंभूता-सीता को देख पवनसुत अत्यंत दुखी हुए।

जगज्जननी जानकी की तत्कालीन स्थिति का वास्तविक स्वरूप टीकाकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। वाल्मीकीय रामायण में भी इसी आशय का वर्णन आया है—

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः।[1]

इसे प्रेमरामायण के 'उपवासकृशां भूमौ निषण्णामश्रुलोचनां' से मिलाइए। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि टीकाकार ने मानस के कथा भाग को संस्कृत रामायण के विशेषतः वाल्मीकीय रामायण के आधार पर उपबृंहित किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से मानस की यह प्राचीनतम टीका है और वह भी मूल ग्रंथकार के समक्ष की। यह तो निश्चित है कि श्रीरामू द्विवेद को टीका करने के समय जहाँ कहीं भी कठिनाई आई होगी उसका समाधान उनके गुरु संत तुलसीदासजी ने कर दिया होगा। यह सौभाग्य इसी संस्कृतमयी टीका को प्राप्त है कि यह मूल लेखक की जीवनकालीन है। उसमें उन्होंने अंतःस्वर से अपने गुरु संत तुलसीदासजी की वंदना करके 'भाषा रामायणस्यैषा टीका नीका मया कृता' यह उद्घोषित किया है। प्रेमरामायण के अयोध्याकांड की १९वें सर्ग की पुष्पिका से भी उपर्युक्त आशय की पुष्टि होती है। उसे श्रीरामूजी के चमत्कारिक शब्दों में ही पढ़िए—

श्रीरामचंद्र चरितं ललितं सुभाषा बद्धं चकार तुलसी कुलशीलसीमा।
वंशीधराग्रजकृतौ च तदीयवृत्तौ तत्रोनविंशतिरसौ विरराम सर्गः॥

अर्थात् कुल-शील-सीमा संत तुलसीदासजी ने श्रीरामचंद्रजी के चरित को सुभाषा (हिंदी) में ललित रूप से निर्मित किया है, उसी रामचरितमानस की वंशीधराग्रज—मैंने (रामू) जो विवृति की है, उसका यह १९वाँ सर्ग पूर्ण हुआ। इतना ही नहीं टीकाकार ने प्रेमरामायण पंचम सर्ग की पुष्पिका में कहा है कि गुणशीलनिधि तुलसी ने इस अतुलनीय काव्य की रचना की।

जैसे—

गुणशीलनिधिस्तुलसी विदधेऽतुलकाव्यमिदं कुलकादियुतं।
विवृतिश्च मुकुंदसुतेन कृतात्र गतो वर पंचम सर्ग विधिः॥

इसका आशय यह है कि गुण और शील के निधि श्री तुलसी ने कुलकादि (पादाकुलक या पायकुलक) छंदों से युक्त अतः अतुलनीय इस महाकाव्य की रचना की।[2] उसकी विवृति जो मुकुंदसुत रामू द्विवेद ने की है तदन्तर्गत पंचम सर्ग पूर्ण हुआ।

१—वाल्मीकीय रामा०, ५।१५।१९।

२—पादाकुलक—यदतीतकृतविविधलक्ष्मयुतैर्मात्रा समादि पादैः कलितम्। अनियत वृत्त परिमाण सहितम् प्रथितं जन (तस्तु ?) पादाकुलकम् वृ० र०, उक्ते मात्रा वृत्त भेदे—वाचस्पत्यं, पंचम भाग पृ० ४३०४।

मानस में विशेषतः सुंदरकांड में अधिकांश पायकुलक छंद हैं, जो कि चौपाई का ही एक विशिष्ट भेद है। इसके सहस्राधिक भेदोपभेद हैं, जिनके उदाहरण मानस में विद्यमान हैं। संभवतः इसका पूर्ण निदर्शन कविवर व्रजचंद के द्वारा हुआ है। इनका उल्लेख मानस-पीयूषकार ने सुंदरकांड में किया है।

प्रेमरामायण के पंचम सर्ग की पुष्पिका में 'कुलकादियुतं' शब्द आया है। वह छंद-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का संकेत है। प्रथमतः छंद-शास्त्र के अनुसार ही विचार करना अभीष्ट है। कुलक शब्द, जिसके अंत में हों ऐसे दो छंद उपलब्ध हैं 'पादाकुलक' और 'पायकुलक'। 'पादाकुलक' चौपाई का भेद है। इस विषय में श्रीरघुनाथदास कृत मानस दीपिका टीका की भूमिका में लिखा है कि 'अथ रूप चौपाई लछन रूप चौपाई सोरह १६ कला की यात्रा—

जब तें राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥

ताही मैं विद्युन्माना [ला] चंपकमाला पादांकुलिक [पादाकुलक] भ्रमर विलसतादि सब होतु हैं।'[१]

इससे यह स्पष्ट है कि पादाकुलक एक चौपाई छंद का भेद है। 'पादाकुलक—संज्ञा पुं० [सं०] वह छंद [है], जिसके प्रत्येक पद में चार चौकल हों; जैसे—

चौकल चार जहाँ पर आनो। छंद सुपादाकुलक बखानो॥—छंद प्रभाकर।

चौपाई और पादाकुलक में अंतर यह है कि प्रथम में प्रत्येक चरण में चार चार चौकल रहना आवश्यक नहीं है, किंतु दूसरे में है। इस प्रकार जिस चौपाई के चारों चरणों में चार चार चौकल हों उसे पादाकुलक कह सकते हैं; जैसे—

।।।।।। ।। ऽ।। ऽ।। ।।। ।।। ।।ऽ। ।ऽ।।
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन-अमिअ दृग दोष बिभंजन॥

जहाँ ऐसा न हो वहाँ शुद्ध चौपाई होती है; जैसे—

सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।[२]

प्राकृत में छंद-शास्त्र का प्रामाणिक ग्रंथ 'प्राकृत पैंगलम्' है, उसमें भी पादाकुलक छंद का निर्देश आया है, जिससे पूर्वोक्त मत की पुष्टि होती है—

'लहु गुरु ऐक्क णिअम णहि जेहा, पअ पअ लेक्खउ उत्तमरेहा।
सुकइ फणिंदह कंठह वलअं सोलहमत्तं पाआकुलअं॥ १२९॥

अर्थात्—जिस छंद में लघु गुरु का कोई नियम नहीं होता, प्रत्येक चरण में उत्तम रेखा (मात्रा) लिखो वह सुकविफणींद्र (पिंगल) के कंठ का हार सोलह मात्रा का पादाकुलक छंद है। उदाहरण—

१—नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित (सं. १९३०), मानसदीपिका टीका भूमिका, पृ. ४८।
२—ना० प्र० स० का, संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर, पृ० ६०९।

सेर एक जइ पावउँ घित्ता मंडा बीस पकावउँ णित्ता।
टंकु ऐक्क जउ सेंधव पाआ जो हउ रंक सोइ हउ राआ॥'[१]

छंदशास्त्र के एक अन्य ग्रंथ में आया है कि 'पादाकुलक यह १६ मात्रिक संस्कारी जाति का प्रसिद्ध छंद है। इसमें १६ मात्राओं का पाद होता है, परंतु मात्राओं का आयोजन ऐसे ढंग से किया जाता है कि चार-चार मात्राओं के चार चतुष्कल बन जायँ। जैसे—

।।। ।।। ।।ऽ।।।ऽ ऽ।।ऽ। ।।। ।।।ऽ
सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥'[२]

इन उपर्युक्त प्रामाणिक उद्धरणों से पादाकुलक छंद की स्पष्टता हो गई है, अब पायकुलक का लक्षण देखिए—

एकै तुक सोरह कलनि, पायकुलक गुर अंत।[३]

यद्यपि छंदशास्त्र के आचार्य भिखारीदासजी ने भी पायकुलक में १६ मात्राओं का ही पद रखा है, किंतु विशेषता यह है कि अंतिम वर्ण को इन्होंने दीर्घ रखना ही स्वीकार किया है—उदाहरण से मिलाइए—

।। ऽऽ ऽ।।। ।ऽऽ ।।ऽ ऽ ।।ऽ। ।ऽऽ
दृग आगें सोवतहु निहारौं। हिय तें क्यों हरिरूप निकारौं।
हौं निज तन सभ रतन बिचारौं। केहि उपाय कुलकानि सँभारौं॥

प्राकृत पैंगलम् और भिखारीदास-ग्रंथावली के उदाहरणों के अनुसार तो अंत में गुरु ही निर्दिष्ट हैं, किंतु प्राकृत पैंगलम् में अंत गुरु होने की चर्चा नहीं है। इन दोनो छंदों में सूक्ष्म दृष्टि से भेद हो सकता है, वस्तुतः ये एक ही स्वरूप के हैं। अस्तु। प्रेमरामायणकार ने मानस के बहुल छंदों का निर्देश सर्वप्रथम किया है। अब काव्य शास्त्रीय दृष्टि से भी 'कुलकादियुतं' इस शब्द पर स्वल्प विचार कर लेना आवश्यक है, जिससे अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त हो सके।

कुलक शब्द का विश्लेषण है—'कुल—क कौ लीयते—ली—उ वा त तः संज्ञायां कन्, 'परस्पर संबंद्ध श्लोक पञ्चके च' मेदिनी०।'[४]

छन्दोवद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।[५]

१—डा० भोलाशंकर व्यास संपादित 'प्राकृत पैंगलम्', प्रथम खंड, पृ० ११९।
२—श्री रघुनंदन शास्त्री एम. ए. लिखित 'छन्द प्रकाश', पृ० ६४।
३—आचार्य पं० श्रीविश्वनाथप्रसादजी मिश्र संपादित 'भिखारीदास ग्रंथावली', (छंदार्णव), प्रथम खंड, पृ० २२७। ४ – वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग, पृ० २२२८।
५—डा० सत्यव्रतसिंह एम० ए० पी. एच० डी० संपादित 'साहित्यदर्पण' (आचार्य विश्वनाथ) षष्ठ परिच्छेद, श्लो० सं० ३१४, पृ० ५४७।

प्राचीन काव्य शास्त्र के अनुसार किसी एक प्रस्तुत विषय को दो पद्यों में यदि वर्णन किया जाता है, तो उसे युग्मक कहते हैं, तीन पद्यों में सांदानितक एवम् चार पद्यों में वर्णित विषय को कलापक कहते हैं। ऐसे ही पाँच पद्यों में वर्णित विषय की कुलक संज्ञा है, यहाँ पर टीकाकार रामू द्विवेद का इस ओर भी संकेत संभव है। यह विषय समय सापेक्ष है, अतः इस पर फिर कभी विचार किया जायगा। यहाँ चर्चा इसलिए कर दी गई है कि अनुसंधायकों की दृष्टि इस विषय पर जाय।

अब मानस के संस्कृत अनुवाद विषय पर आइए। श्रीरामू द्विवेद के अनंतर अब तक के अनुसंधान के आधार पर महामहोपाध्याय पं० सुधाकरजी द्विवेदी द्वारा संस्कृत में प्रणीत दूसरे अनुवाद की चर्चा है। इन्होंने केवल बालकांड की ही टीका प्रस्तुत की। संवत् १९६१ से १९६६ तक के अंतराल में रुकावट के साथ एक 'मानस-पत्रिका' महामहोपाध्याय द्विवेदीजी और साहित्याचार्य पं० सूर्यप्रसादजी के युग्म संपादकत्व में निकलती थी। उपर्युक्त अनुवाद बालकांड के ६० दोहों तक इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यह टीका भी विद्वत्तापूर्ण होगी इसमें संदेह नहीं, क्योंकि महामहोपाध्यायजी विश्वविश्रुत विद्वान् थे। इस टीका का भी उपयोग होना चाहिए। एक अनुवाद या टीका कहिए अथवा मानस का स्रोतानुसंधान का कार्य संवत् १९५५ में श्रीगंगाबक्ससिंह तालुकेदार, टेकारी के लघुभ्राता श्रीमान् बाबू रणबहादुरसिंह ने पं० दामोदर शर्मा, पं० सहगौर त्रिपाठी एवम् पं० मातृदत्त द्वारा संपन्न कराया। उक्त कार्य मेरी जानकारी में केवल अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा और सुंदर कांड का ही हो सका, जो सं० १९८२ में गंगाधर प्रेस-रायबरेली से मुद्रित हुआ। अब एक शोध विद्वान् से ज्ञात हुआ है कि उक्त कार्य पूरे मानस पर हुआ है। इस संबंध में विशेष जानकारी के लिए लेखक के द्वारा लिखित लेख देखें।[1] मानस के इन संस्कृत टीकाओं एवम् अनुवादों के अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय कार्य संस्कृत में हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ता। अतः यह कहना सर्वथा भ्रामक एवम् निराधार है कि संस्कृत के पंडित मानस का अनुवाद करके स्वयम् स्वयंभू बन बैठे। यदि इन वर्णित टीकाओं के अतिरिक्त और कोई संस्कृत की टीका अथवा अनुवाद हो तो उसे स्पष्ट करना चाहिए, जिससे शोध जगत् में भ्रांति न रहे।

मानस की प्राचीन टीकाओं के एक सुप्रसिद्ध संग्रह में कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलीं, जिससे उपर्युक्त आशय व्यक्त करना पड़ा। वस्तुतः सारा हिंदी जगत् इस प्रेमरामायण की टीका के द्वारा संस्कृत जगत् का ऋणी है। किंतु खेद है कि प्राचीन टीकाकारों में अब तक इसका नाम निर्देश तक नहीं किया गया था। प्रेमरामायण की सभी प्रतियों का समाकलन करके व्यवस्थित कार्य यदि किया जाय तो पाठ संबंधी जितने विवाद उपस्थित हैं वे स्वयमेव शांत हो जायँगे। इत्यलं पल्लवितेन, 'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'।

१—रामचरितमानस का मूलस्रोत, 'आज' दैनिक, १३ जनवरी सन् १९६२, पृ० ५ तथा गीता धर्म पत्रिका, नवंबर सन् १९५९, पृ० २६-२९।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य

पुराणोक्त मनुष्य-स्वरूप

[प्रस्तुत निबंध में पुराणोक्त मनुष्य के स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए यह बतलाया गया है कि मानव-सृष्टि के पूर्व वृक्षादि, तिर्यक् और देव जाति की सृष्टि हुई। पुराणों में इनकी आशक्ति का उल्लेख मिलता है, जिसके कारण इन्हें 'असाधक' कहा गया है। अंतर्बाह्य में प्रकाशवान् होने से मनुष्य में ज्ञानपूर्वक कर्म करने तथा अपने पुरुषार्थ के बल पर अदृष्ट को वशीभूत कर अभीष्ट-सिद्धि की सामर्थ्य होती है। इसीलिए उसे 'साधक' संज्ञा दी गई है। मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा विकाश तथा आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अधिक होती है। 'दुःख में सुख की बुद्धि रखना' मानव-बुद्धि का विशेष दोष है। यह अज्ञान या अविद्या ही उसे भव-चक्र में घुमाती तथा राग-द्वेष में प्रवृत्त करती है।]

इतिहास पुराण में मनुष्य-स्वरूप पर सारगर्भ विवेचन स्थान स्थान पर उपलब्ध होते हैं। पुराणकारों की दृष्टि-सूक्ष्मता दिखाने के लिए एतत् संबद्ध कुछ स्थल यहाँ संकलित किए जा रहे हैं।

प्रजापति ब्रह्मा की नवधा सृष्टि में मनुष्य सृष्टि कही गई है। इस मनुष्य सृष्टि का पारिभाषिक नाम है—'अर्वाक्सृष्टि'। विष्णुपुराण कहता है—

तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतास्तु साधकः॥
यस्मादर्वाग्व्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः॥
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकास्तु ते॥[1]

तात्पर्य यह है कि मनुष्य[2] अर्वाक्स्रोत है। तत्त्वतः वह प्रकाशबहुल, तमोगुण से उद्रिक्त एवम् रज के आधिक्य से युक्त है। रज से उद्रिक्त होने के कारण वह

---

१ — विष्णुपुराण, गीता प्रेस संस्करण, १।५।१६-१८। यह प्रकरण अन्यान्य पुराणों में भी मिलता है— मार्कण्डेय, ४७।२५-२७; ब्रह्माण्ड, १।५।४७-५०।

२ — संसार को छह भागों में विभक्त करने का विवरण वायुपुराण में मिलता है, जिसमें मनुष्य ही प्राथम्येन उल्लिखित हुआ है (वायु, १४।३५-३८)। यहाँ 'मनुष्य, पशु, मृग, सरीसृप, स्थावर' रूप-विभाग हैं।

दुःखबहुल होते हैं, उसी प्रकार कर्मशील भी। अंतर्बाह्य में मनुष्य प्रकाशवान् है, अर्थात् ज्ञान (विचार) पूर्वक कर्म कर सकने में वह समर्थ है और इसीलिए उसे 'साधक' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि उसका शरीर, मन, इंद्रियादि इतने विकसित हैं कि वह अपने पुरुषार्थ के बल पर अदृष्ट को बहुत कुछ वशीभूत करते हुए अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि कर सकने में समर्थ होता है।

पुराण का यह विचार कितना सारवान् है, यह सहजतः समझ में आ सकता है। मनुष्य-सृष्टि के पहले वृक्षादि-सृष्टि, तिर्यक्-सृष्टि और देवजाति-सृष्टि कही गई हैं। इन सृष्टियों की अशक्ति का उल्लेख भी सृष्टि के प्रसंग में पुराणकारों ने किया है। इन्हें 'असाधक' कहा गया है, अर्थात् ये जातियाँ पुरुषार्थ सिद्धि में समर्थ नहीं होतीं।[1] दूसरी बात यह है कि मनुष्य-सृष्टि के पूर्व प्रजापति ब्रह्मा के निर्देश करने के समय उनका विशेषण 'सत्याभिध्यायी' दिया गया है।[2] इस शब्द से वृक्षादि जातियों की अपेक्षा मनुष्य जाति की तात्त्विक स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है।

मनुष्य[3] के इस 'साधकत्व' को लक्ष्यकर ही 'प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः' कहा गया है।[4] मनुष्य को 'कर्मलक्षण' कहने का अभिप्राय ही यह है कि पुरुषार्थ सिद्धि के लिए कर्म करने की उपयुक्त शक्ति (शरीरेन्द्रियान्तःकरण की सामर्थ्य) मनुष्य में स्वाभाविक रूप में अवस्थित है। इंद्रिय-विकाश के इस सामंजस्य को लक्ष्यकर ही महाभारत में अन्यत्र मनुष्य देह धारण को लक्ष्यकर 'राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुष्यमाप्नुयात्'[5] कहा गया है। सत्त्व आदि तीनो गुणों का परिमाण मनुष्य में इस रूप में है कि मनुष्य सदैव किसी एक परिस्थिति में रहने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। देखा जाता है कि विकाश करने की जितनी अधिक सामर्थ्य मनुष्य में है, उतनी पश्वादि में नहीं है। उपयुक्त शिक्षा और अभ्यास से मनुष्य के शरीर और मन में जितना परिणाम उत्पन्न हो सकता है, उतना पश्वादि में संभव नहीं है। वृक्षरूपी प्राणी में तो अत्यल्प (नगण्य) विकाश ही संभव होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास पुराण में स्वविकाश की शक्ति को लक्ष्य कर ही मनुष्य को 'राजस' कहा गया है, जैसा कि 'रजोद्रिक्त' विशेषण से स्पष्ट है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में निर्बाध गति से विचरण करने की अधिक सामर्थ्य रजोगुणी मनुष्य में ही है।

१—आत्मप्रकाश टीका, १।५।७। २—विष्णु०, १।५।१५ तथा अन्यान्य पुराण।

३—ब्रह्मांडांतर्गत जीवों के षड् विध भेद माने गए हैं, जिनमें मनुष्य अन्यतम है। इस विषय में किसी पुराण का यह वचन अनिरुद्ध ने उद्धृत किया है—

दैवादिः षड्विधश्च स्यात् संसारः कर्मसंभवः।
सुरोऽसुरो नरः प्रेतो नारकस्तिर्यकस्तथा॥
—सांख्यवृत्ति ३।४६।

४—अश्वमेध पर्व, ४३।२१। ५—शांति०, ३१४।९।

पुराणों में मनुष्य या मनुष्य सृष्टि का एक प्रसंग 'चतुर्धा सृष्टि' रूप एक विशिष्ट सृष्टि विवरण में भी आया है। इसका मूल वेद में प्रत्यक्षतः देखा जाता है—

तानीमानि चत्वारि अम्भांसि देवा मनुष्याः पितरः असुराः।

आश्चर्य है कि इस सृष्टि को पुराण में 'मानस' सृष्टि कहा गया है। यथा—

देवाद्याः स्थावरान्ताश्च प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः।
ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तदा॥
ततो देवासुरपितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम्।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमभूभुजत्॥[1]

इस सामान्य कथन के पश्चात् असुर, देव और पितरों की सृष्टि तथा असुर आदि के स्वभाव का वर्णन करने के बाद मनुष्य-सृष्टि को लक्ष्यकर कहा गया है—

रजोमात्रात्मिकामन्यां तनुं भेजेऽथ स प्रभुः।
ततो मनुष्याः संभूताः रजोमात्रासमुद्भवाः॥[2]

यहाँ भी मनुष्य में रजोगुण का आधिक्य कहा गया है। मनुष्यादि[3] की सृष्टि उनके पूर्वकृत कुशलाकुशल कर्म के अनुसार ही होती है। यह भी इस चतुर्विध सृष्टि-प्रकरण के पूर्व कथित है—'कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः......।'

मनुष्यगत विभिन्न प्रकृतियों की विभिन्न कार्यों में स्वतः प्रवृत्त चित्तवृत्ति को देखने से इस मत की यथार्थता जानी जा सकती है।

पुरुषार्थाचरण में ही मनुष्य की श्रेष्ठता है, यह बात नहीं है। आत्मा की अभिव्यक्ति मनुष्य-शरीर में सर्वाधिक रूप से होती है, यह दिव्य मत भी पुराणकारों को ज्ञात था। तभी वे कहते हैं—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।[4]

मनुष्य की यह सर्वशीर्षता इतिहास पुराण में सर्वत्र स्वीकृत हुई है और यह माना गया है कि

मनुष्यैः क्रियते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः।[5]

१—मार्कण्डेय, ४८।३-४। २—मार्कण्डेय, ४८ अ०।

३—यह बात ज्ञातव्य है कि 'नर' शब्द मनुष्य का वाचक है, पर पुराण में कहीं कहीं 'घोड़े की तरह जघनवाले प्राणी' के अर्थ में, जो 'किन्नर' का विपरीत है, भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। विष्णु०, १।५।५८ में 'नर' शब्द है, जिसके विषय में श्रीधर का कथन है—"नरोऽश्वजघनोऽपिस्यात् किन्नरोऽश्वमुखो नरः।"

४—महाभा०। ५—ब्रह्मपुराण।

अर्थात् जो मनुष्य कर सकता है, वह सुरासुर भी नहीं कर सकते। मनुष्यगत इस महती शक्ति का कारण है—मनुष्य साधित तपः शक्ति, जो अन्य प्राणियों में अत्यल्प है। मार्कण्डेयपुराण की उदात्त वाणी है—

नाविज्ञातं न चागम्यं नाप्राप्यं दिवि चेह वा।
उद्यतानां मनुष्याणां यतचित्तेन्द्रियात्मनाम् ॥—२०।३७।

इतिहास पुराण में 'देवों के आठ प्रकार' इत्यादि भेदज्ञापक वचन मिलते हैं। पर मनुष्य जाति के अवांतर भेदों पर ध्यान न रखकर उसकी 'एकविधता' ही कही गई है, जैसा कि प्राचीन सांख्य में देखा जाता है—'मानुष्यश्चैकविधः'[1]। भागवत में सृष्टि के प्रसंग में यह मत प्रतिपादित हुआ है—

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।—३।१०।२६।

यह 'एकविध' शब्द स्पष्ट है।

पुराणकारों ने मनुष्य-बुद्धि के एक विचित्र दोष का भी उल्लेख किया है, वह है 'दुःखे च सुखमानिनः'[2] अर्थात् दुःख में सुख की बुद्धि रखना।

यह अज्ञान या अविद्या ही उत्कृष्ट साधन और बल संपन्न मनुष्यों को संसार-चक्र में निरंतर घुमाती रहती है तथा रागद्वेषयुक्त कर्म में प्रवृत्त कराती है। मनुष्य दूसरों को पराजित कर अपने में बल का अनुभव करता है, दूसरों को अपमानित करने में अपनी प्रतिष्ठा समझता है और दूसरों को लूटकर धनवान् बनना चाहता है। पुराणों के कथनानुसार जिस मनुष्य के स्वरूप लक्षण में 'साधक' शब्द व्यवहृत हुआ है तथा जिसकी सृष्टि होने पर प्रजापति परम प्रसन्न हुए, उस मनुष्य की यह अधोगति वस्तुतः बहुत ही पीड़ादायक है।

१—सांख्यकारिका, ५३। २—भागवत।

श्रीसत्यनारायण झुनझुनवाला

मानव-धर्म का मूर्तरूप मानस-मंदिर

[स्वार्थ संघर्ष और अशांति का जनक है। स्वार्थवश ही मनुष्य दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः विश्व की सभी आचार-संहिताओं में परार्थ का माहात्म्य किसी न किसी रूप में कथित है। स्वार्थ-त्याग और सदाचार-पालन मानव-धर्म के सार तत्व हैं। इनके अभाव में सुख, समृद्धि एवम् शांति की उपलब्धि असंभव है। आज का मानव इन्हें विस्मृत करता जा रहा है। इनकी ओर मानव-मन को आकृष्ट करने का एकमात्र साधन श्रीरामचरितमानस है। श्रीरामचरितमानस विश्व-वाङ्मय का अमूल्य रिक्थ है। इसकी प्रत्येक पंक्ति पद-पद पर मानव-धर्म का सदुपदेश देती है। ठाकुरदास सुरेका दातव्य-निधि के अध्यक्ष और मंत्री 'मानस' का जन-मानस से संयोग करा देने के लिए कृतसंकल्प हैं। नीचे उद्धृत पंक्तियों में इसी तथ्य को उक्त दातव्य-निधि के मंत्री महोदय ने उद्घाटित किया है।]

मानव-जीवन विकास की शृंखलाबद्ध प्रगति का समन्वित प्रतिफल है। व्यक्ति व्यक्ति में आकृति, विचार, और अभिरुचि का वैषम्य देखकर भ्रम हो सकता है कि व्यक्ति और समाज में संघर्ष स्वाभाविक है। यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी विशेषता होती है तथा प्रत्येक के जीवन की गति पृथक्-पृथक् सीधी-टेढ़ी रेखा का अनुसरण करती दिखाई देती है। फिर भी अस्थायी तथा स्थायी हितों एवम् उद्देश्यों में सादृश्य एवम् साम्य के कारण समूह, जाति या वर्ग का निर्माण भी होता है। कभी कभी इन परिधियों को पार कर मनुष्य वृहत्तर क्षेत्र में पहुँचकर विश्व-बंधुत्व एवम् विश्व-व्यवस्था का स्वप्न देखने लगता है। समय-समय पर समाज में संघर्ष और घृणा की जो स्थिति होती है, वह स्वार्थ एवम् अहम् भाव के कारण। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ स्वभाव से संवेदनशील हैं या संघर्षशील? प्रारंभिक काल में मानव-जाति सतत संघर्षशील थी या सहयोग-भावना का तब भी प्राधान्य था? ये प्रश्न विवादास्पद हैं।

सुदूर अतीत काल से परंपरा से प्राप्त अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि दूसरे को कष्ट देने और विनष्ट करने की बातें मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं। पर उसके व्यक्तित्व में हम घृणा और प्रेम दोनो का समावेश पाते हैं, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन्हीं की असंतुलित स्थिति के कारण समाज में संघर्ष होते हैं। व्यक्ति का अपने समूह से अपेक्षाकृत अधिक लगाव, अन्य समूहों से संघर्ष की सृष्टि कर सकता

है। इसी प्रकार एक परिवार का दूसरे से, एक व्यावसायिक या सामाजिक समूह या वर्ग का दूसरे समूह या वर्ग से अथवा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से संघर्ष होता है। मानव-जीवन में इस तरह के संघर्ष या सामाजिक संबंधों में परिलक्षित पारस्परिक विरोध का मुख्य कारण मनुष्य की प्रकृति का दुरंगी स्वरूप (ड्यूऐल्टी ऑव् ह्यूमन नेचर) है। विभिन्न सामाजिक संबंधों में जो समय-समय पर संघर्ष उठते हैं, उन्हें दूर करने या कम करने की चेष्टाओं ने विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को जन्म दिया। समाज से पृथक् एक सामान्य व्यक्ति का अस्तित्व बिलकुल नगण्य एवम् नकारात्मक प्रतीत होता है। समाज के बीच रहकर ही वह विकास की पूर्णता प्राप्त कर सकता है। समाज का अवदान उसे मुक्त रूप से मिलता है, जिससे उसकी प्रतिभा का पोषण संभव है। पर समाज में रहकर भी हर व्यक्ति अपने 'स्व' का पूर्ण रूप से समर्पण नहीं करना चाहता। उसके जीवन में व्यक्तिवाद एवम् सामाजिकता का अजीब संमिश्रण रहता है। व्यक्ति कभी समाज के विरुद्ध खड़ा होता है तो कभी उसी समाज में दृढ़ आस्था का प्रदर्शन करता हुआ उसका सहारा ढूँढ़ता है। प्रकट या अप्रकट रूप से व्यक्ति और समाज में इस प्रकार सतत संघर्ष की संभावना को देखकर ही मानव-आचरण को संयमित रखने के लिए धर्म की व्यवस्था हुई। सदाचार, नीति, दर्शन एवम् विज्ञान इसी मानव-धर्म के सखा, सहचर तथा सहोदर हैं। समाज में इनके मूल्यों का जब जब ह्रास होता है, मानव सभ्यता के विकास में व्यवधान उत्पन्न होते हैं। हम उन्नति की ओर अभिमुख हैं या अवनति के गर्त की ओर यह समझने के लिए हमें अपने आप से पूछना है कि क्या हमारा आज का समाज सच्चे मानव-धर्म के इन मूल्यों का समुचित आदर कर रहा है?

मानस में धर्म के इन्हीं जनकल्याणकारी पक्षों का सबल समर्थन कर व्यक्ति तथा समाज के हितों में तारतम्य स्थापित करने के मार्ग प्रदर्शित किए गए हैं। इसके महत्त्व को देखते हुए ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड ने मानस-मंदिर की प्रतिष्ठा करवाई। हमारा विश्वास है कि यदि मानव-धर्म का अनुशीलन करने में जन-मन को इससे किंचित् प्रेरणा मिल सकी तो हमारा प्रयास सफल माना जा सकता है।

डा० राममूर्ति त्रिपाठी

'व्यंजकता' और 'वक्रता'

[वाक्-विलास के सौंदर्य की परख के लिए प्राचीन काव्य-चिंतकों ने जिन काव्य-कसौटियों का निर्देश और विमर्श किया है, उनमें 'व्यंजकता' और 'वक्रता' को विशेष स्थान प्राप्त है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के इन्हीं दो पारिभाषिक शब्दों पर विवेचन करते हुए प्रस्तुत निबंध के विद्वान् लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि

"...पूर्व एवम् पश्चिम के नए और पुराने सभी काव्यचिंतक जब साहित्यिक शब्द में 'अतिरिक्त अर्थ' 'नया अर्थ' भरना चाहते हैं—तो वे शब्द की अतिरिक्त सामर्थ्य की ही बात करते हैं। शब्द की यह अतिरिक्त सामर्थ्य को कोई 'व्यंजकता' कह लेता है और कोई 'विचित्र अभिधा या वक्रता'।"

'व्यंजकता' और 'वक्रता'—भारतीय साहित्य-शास्त्र के दो पारिभाषिक शब्द हैं। पहला ध्वनिवादियों के चिंतन की उपज है और दूसरा वक्रोक्तिवादियों की विचारणा का परिणाम। ऐतिहासिक क्रम से देखा जाय, तो दूसरे का अवतार प्रथम की प्रतिक्रिया में परवर्ती है—अर्थात् 'व्यंजकता' के अनंतर 'वक्रता' का अस्तित्व साकार हुआ है। 'व्यंजकता' के अवतारण से पूर्व प्राचीन काव्य-चिंतक इतना तो अवश्य स्वीकार करते थे कि सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति की विशेषता 'सुंदर होने में है'—पर वह सौंदर्य कहाँ है—उसका स्रोत क्या है—इन विषयों पर स्थूल दृष्टि से ही वे सोच सके थे। उनकी दृष्टि काव्य के शरीर पक्ष—शब्द एवम् अर्थ—तक ही सीमित थी, वे उसे ही अलंकार्य समझते थे, सौंदर्य का चरम आश्रय स्वीकार करते थे और समझते थे कि इसी बहिरंग या शरीराश्रित विशेषताओं में ही सौंदर्य का स्रोत छिपा हुआ है। वे समझते थे कि काव्य या सुंदर उक्ति की चीर फाड़ की जाय तो उसमें कुल चार ही तत्व मिल सकते हैं—१ शब्द, २ अर्थ, ३ शब्दार्थ की स्वरूपगत चारुता का निमित्त (अलंकार) ४ शब्दार्थ योजनागत चारुता का निमित्त (गुण)। इनके अतिरिक्त किसी भी तत्व का बोध उन्हें नहीं था। ध्वनिवादियों ने उक्त धारणा की असारता अनेक तर्कों से प्रदर्शित की। उन लोगों ने बताया कि ये पूर्ववर्ती चिंतक काव्य की आत्मा की बात तो अवश्य करते हैं—पर आत्मा से जो कुछ (शरीराश्रित विशेषताएँ) समझते हैं—वह भ्रांतिपूर्ण है। आत्मा शरीर के आवरण में निहित वह मूल तत्व है—जिससे शरीर का भी अस्तित्व है, जिससे शरीर की सुंदरता है, जिससे शरीर सस्पंद है, जिसके कारण ही शरीर ग्राह्य, उपादेय एवम् सार्थक है, जिसके कारण ही शरीराश्रित विशेषताएँ (गुण-

अलंकार) विशेषताएँ जान पड़ती हैं--जिसके अभाव में अचेतन शरीर या शव की भाँति काव्य-शरीर कितने भी गुण एवम् अलंकारों से विभूषित हो--अनाकर्षक एवम् असुंदर ही रहेगा। निष्कर्ष यह कि 'उक्ति' में जिस 'सौंदर्य' के समुन्मेष से काव्यत्व का प्रकटन होता है—वह शरीराश्रित गुण और अलंकार नहीं है, बल्कि उससे अतिरिक्त उसमें भी शरीर को दीप्त करने की क्षमता भरनेवाला अनंत सौंदर्य का निधान आत्मतत्व कोई भिन्न वस्तु ही है—वह शरीर के सहारे व्यक्त होनेवाली, शरीर को दीप्त करनेवाली, शरीर से पृथक् वस्तु है। यदि शरीर है तो शरीरी (आत्मा) उससे अतिरिक्त होनी ही चाहिए। यदि अलंकार है तो अलंकार्य उससे भिन्न होना ही चाहिए। यदि गुण है तो गुणी उससे भिन्न होना ही चाहिए। यदि शरीरी, अलंकार्य तथा गुणी पर्यायवाची हैं तो निश्चय ही उक्त चारों से पृथक् वह तत्व है। एक उदाहरण लें—'इस मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो' यह एक सुंदर उक्ति है, काव्यात्मक उक्ति है, पर इस उक्ति की आत्मा क्या है? क्या इस उक्ति का वाचक रूप और वाच्य अर्थ? क्या उपमेय को निगीर्ण करनेवाले उपमानों के प्रयोग? अप्रस्तुत योजनाएँ? वाच्य योजना में निहित विशेषता? कदाचित् इनमें से कोई नहीं? बल्कि इन सबसे प्रकाशित होनेवाला वह सूक्ष्म अर्थ, जिसे 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य' या Suggested meaning या Extra meaning कहते हैं। व्यावहारिक उक्तियों की अपेक्षा काव्य का यही 'कुछ और ही अर्थ' वह मूल तत्व है जो उसे सुंदर बताता है, जिसे आनंदवर्धन ने अंगों के भीतर से अंगों के ऊपर छलकनेवाले 'लावण्य' से उपमित किया है, जिसे मुक्ताफल की तरल छाया से तुलित किया है। प्रस्तुत उदाहरण में वह अर्थ है--'आध्यात्मिक क्षेत्र का वह एकांत साधक जो अपनी उपासना में अपने को घुलाता जा रहा है, जलाता जा रहा है, पर उसमें क्रंदन का एक स्वर नहीं।' यही अर्थ उस उक्ति की आत्मा है, अप्रस्तुत योजनाओं का उपकार्य है। इसके अभाव में उसका स्वतः कोई सौंदर्य नहीं। उक्ति अपनी वाचकता में नहीं, व्यंजकता में सुंदर है। इसी आत्मा की शब्द-गत प्रकाशक क्षमता ही 'व्यंजकता' है। व्यंजक शब्द ही काव्य है—इसी रूप में वह सामान्य शब्द से भिन्न है। कारण यह है कि इसी रूप में वह व्यावहारिक शब्द की अपेक्षा कुछ 'अतिरिक्त अर्थ लिए रहता है, जिसके कारण वह 'सुंदर' होता है।

ध्वनिवादियों की इस स्थापना के अनंतर 'वक्रता' को काव्य की आत्मा-सारतत्व-बतानेवाले परवर्ती आलंकारिक हैं—कुंतक। उन्होंने ध्वनिवादी का विरोध किया और यह कहा कि कवि के अभिप्रेत अर्थ को प्रस्तुत करने वाला शब्द ही काव्योचित शब्द है। व्यावहारिक शब्द यथा कथंचित् व्यवहार में उपयोगी अर्थ तक ही सीमित रहते हैं--उसमें सौंदर्य का ध्यान नहीं रहता। कवि और व्यवहारी दोनो ही अपने-अपने अभिप्रेत अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं—इस दृष्टि से दोनो ही शब्दों को कुंतक अभिधायक कहना चाहते हैं—अंतर

इतना अवश्य रखना चाहते हैं कि व्यावहारिक शब्द में अभीप्सित अर्थ प्रदान करने के 'अभिधा' रूप शक्ति की अपेक्षा साहित्यिक रूप में जो अभीप्सित अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती है—वह विचित्र अभिधा कही जानी चाहिए। ध्वनिवादियों की भाँति महत्त्व ये भी अतिरिक्त अर्थ को देना चाहते हैं—अंतर इतना ही है कि जहाँ इस अभिप्रेत अतिरिक्त अर्थ की बोधकता को ध्वनिवादी 'व्यंजना' कहना चाहेंगे—वहाँ ये 'विचित्र-अभिधा' का प्रयोग करेंगे। यही विचित्र अभिधा 'वक्रता' है।

वैसे 'वक्रता' शब्द का प्रयोग साहित्य-चिंतकों ने विभिन्न अर्थों में किया है, पर इस 'वक्रता' का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है। भामह ने एक उस 'वक्रता' की भी चर्चा की है, जो समस्त अलंकारों की आत्मा है। उन्होंने माना है कि वक्तव्य को बिना घुमाए फिराए, बढ़ाए और घटाए सुंदर नहीं बनाया जा सकता। परंतु इनकी 'वक्रता' का विस्तार केवल अलंकारों तक ही सीमित है। वामन की 'वक्रता' केवल सादृश्यगर्भित लाक्षणिक प्रयोगों तक ही सीमित है, उद्‌भट की वक्रोक्ति केवल श्लेष एवम् काकु-गर्भ वक्रोक्ति नाम से एक शब्दालंकार तक ही संकुचित है। कुंतक की वक्रता काव्य के 'वर्ण' जैसे लघुतम कल्पित खंड से लेकर प्रबंध जैसे अंतिम रूप तक व्याप्त है—काव्य का वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवम् प्रबंध—सबके सब, जो सुंदर जान पड़ते हैं—वह सबमें परिव्याप्त 'वक्रता' वश अपने द्वारा अभिप्रेत सुंदर प्रतिपाद्य की बोधन-क्षमता-(विचित्र अभिधा) वश। न वास्तविक, पर औपचारिक रूप से सभी अपने-अपने द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के बोधक ही तो हैं। भामह की 'वक्रता' का समावेश इनकी वर्ण-वक्रता और वाक्य-वक्रता में हो तो जाता है। वामन की वक्रता इनके पदपूर्वार्द्ध वक्रता के उपचार वक्रता आदि भेदों में ही आ जाती है, उद्‌भट की वक्रोक्ति तो सहज एक अलंकार के भीतर की वस्तु है।

इस प्रकार पूर्व एवम् पश्चिम के नए और पुराने सभी काव्यचिंतक जब साहित्यिक शब्द में 'अतिरिक्त अर्थ' 'नया अर्थ' भरना चाहते हैं—तो वे शब्द की अतिरिक्त सामर्थ्य की ही बात करते हैं। शब्द की यह अतिरिक्त सामर्थ्य को कोई 'व्यंजकता' कह लेता है और कोई 'विचित्र अभिधा या वक्रता'।

सीता-वंदना

[मानस में श्रीसीताजी के स्वरूप के संबंध में विभिन्न प्रकार की उक्तियाँ उल्लिखित हैं। कहीं उनमें ब्रह्म के गुण या लक्षण घटित होते हैं तो कहीं माया के। 'राम परब्रह्म हैं, तो जानकी क्या हैं?' इस प्रश्न का समाधान संक्षेप में यहाँ किया गया है।

पंचदशी के अनुसार चित् ब्रह्म के माया में प्रतिबिंबित होने पर सत्व-रज-तम गुणयुक्त मूल प्रकृति का सृजन होता है। यह माया दो प्रकार की कही गई है—माया और अविद्या। उस माया के गुणत्रय में शुद्ध सत्वगुण का उत्कर्ष होने पर वह केवल 'माया' कहलाती है और उसमें प्रतिबिंबित ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' अर्थात् 'सगुण ईश्वर' कहा जाता है। यही शुद्ध सत्वगुण यदि अशुद्ध हो जाय तो उसे 'अविद्या' तथा उसमें प्रतिबिंबित ब्रह्म को 'जीव' कहा गया है।—(१।१४-१५)। इस दृष्टिकोण से श्रीसीताजी संबंधी मानस चर्चित उक्तियों की संगति बैठाई जा सकती है। गोस्वामीजी ने स्पष्टतः माया (सीता) की स्थिति ब्रह्म और जीव के मध्य की माना है—
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥ – २।१२२।२।]

गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस के आरंभ में जनकनंदनी सीता की वंदना इस श्लोक में की है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभां॥[1]

अर्थात् मैं उन रामवल्लभा सीता के प्रति नत हूँ, जो सृष्टि, पालन एवम् संहार करनेवाली हैं, समस्त क्लेशों को दूर करनेवाली हैं तथा समस्त श्रेय को प्रदान करनेवाली हैं।

इस श्लोक से प्रकट होता है—

१. सीतादेवी जगत् की सृष्टि, स्थिति एवम् संहार करनेवाली हैं।

२. वे जीवन के क्लेशों को दूर करनेवाली हैं।

३. वे समस्त श्रेय प्रदान करनेवाली हैं।

ये लक्षण ब्रह्म में घटित होते हैं। ब्रह्मसूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् इस जगत् का जन्म आदि जिससे होता है, वह ब्रह्म है, यह कहा है। प्रश्न होता है कि क्या जानकी की गणना ब्रह्म की कोटि में होती है? गोस्वामीजी ने मानस में स्थान-स्थान पर राम को परब्रह्म बतलाया है—

१. राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।[2]
२. राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी।[3]

१—मं० श्लो० ५। २—१।११६।८। ३—१।१२०।६।

राम ब्रह्म हैं, तो जानकी क्या हैं ? राम-लक्ष्मण-जानकी की चर्चा करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ॥[1]

वाल्मीकिजी कहते हैं—

श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।[2]

तो क्या जानकी जड़ माया हैं ? जड़ माया को गोस्वामीजी ने—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥[3]

कहा है, और जानकीजी को—

सिखि हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥
जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥[4]

× × ×

सियसोभा नहि जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी ॥[5]

जानकी जगन्माता हैं और राम जगत्पिता। जगत्पिता सच्चिदानंद हैं— 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।'—(१।११६।५), तो जगन्माता जड़ कैसे हो सकती हैं? यदि वास्तव में जानकी जड़ माया होतीं, तो गोस्वामीजी इस प्रकार वंदना न करते—

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥
ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं ॥[6]

जड़ माया से जड़ मति मिल सकती है, निर्मल मति नहीं। जड़ माया क्लेश को दूर नहीं कर सकती और न श्रेय प्रदान कर सकती है। समस्त क्लेशों को दूर करने तथा समस्त श्रेय को प्रदान करने का सामर्थ्य एक मात्र सच्चिदानंद में है। जगत्पिता राम सच्चिदानंद हैं। जगन्माता जानकी सच्चिदानंद हैं। दोनो मिलकर दो नहीं एक हैं। अतः दो ब्रह्म होने की कोई संभावना नहीं रही। विदेहराज जनक के इन शब्दों में—

ब्रह्मु जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥[7]

श्रीसीताराम के दिव्य दांपत्य में 'उभयाधिष्ठानं चैकं शेषित्वम्' की सिद्धि भी हो जाती है। मानस के इन शब्दों में—

सोहत सीय राम कै जोरी। छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी ॥[8]

इसी तथ्य का संकेत है।

१—२।१२२।२। २—२।१२५।९-१०। ३—१।११७।८। ४—१।२४६।२-३।
५—१।२४७।१। ६—१।१८।७-८। ७—१।२१६।२। ८—१।२६५।७।

श्रीजानकीनाथ शर्मा

महाकवि भास का रामचरित्रचित्रण

['मानस-मयूख', वर्ष १, प्रकाश ३ के पृ० २७९ पर 'तुलसी-पूर्व मूल रामकथा में परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन' शीर्षक लेख में भास कवि कृत 'प्रतिमा' नाटक का उल्लेख आया है। उक्त शीर्षक से स्पष्ट है कि उसका विषय भास कृत सभी कृतियों में वर्णित रामचरित का चित्रण नहीं था। 'प्रतिमा' की चर्चा नाटकों की प्रवृत्ति एवम् प्रयोजन के प्रसंग में उदाहरणस्वरूप आई है।

प्रस्तुत लेख में भास के 'यज्ञफल' नाटक में चित्रित रामचरित का संक्षिप्त परिचय पांडित्यपूर्ण ढंग से दिया गया है और यह कहा गया है कि 'कविवर जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नामक नाटक में इसका (पुष्पवाटिका का) थोड़ा सा सुंदर चित्रण अवश्य ही किया है। इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामीजी ने उसे अवश्य देखा था। पर भास का यह चित्रण जयदेव से बहुत ही अधिक विस्तृत तथा सजीव मालूम होता है। इसके कई श्लोक रामचरितमानस की चौपाइयों से सर्वथा मिलते जुलते हैं।']

'मानस-मयूख', प्रकाश ३ पृष्ठ २७९-८० पर महाकवि भास तथा भवभूति के नाटकों की चर्चा आई है। वास्तव में रामचरित संबंधी भास के एक नहीं तीन नाटक हैं और वे तीनो ही आज नहीं बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। जिस तरह भवभूति ने 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित' इन दो नाटकों में रामचरित को पूरा किया है, उसी प्रकार महाकवि भास ने भी 'यज्ञ', 'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक' इन तीन नाटकों में रामचरित को पूरा किया है।[1] इन नाटकों की प्रामाणिकता की पूरी परीक्षा भंडारकर शोध-संस्थान की पत्रिका (आनल्स् ऑव् दि बी० ओ० आर० आई०) के १९४८ ई० के अंकों में हो चुकी है। यहाँ हम सर्वप्रथम उनके 'यज्ञफल' नाटक का संक्षेप में परिचय उपस्थित करते हैं। यह नाटक रसशाला

१—भासनाटकचक्र में रामचरित के अतिरिक्त भी अन्य नाटक दक्षिण तथा काशी से प्रकाशित हैं। भवभूति के संबंध में विद्वानों की धारणा थी कि इनके केवल तीन ही रूपक मात्र हैं—महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव। पर याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीडा व्याख्या के सर्वप्राचीन व्याख्याता यतीश्वर वेदात्मन् ने अपनी 'विभावना' टीका में भवभूति को ही सुरेश्वराचार्य तथा विश्वरूप माना है। प्रारंभ में ही वे लिखते हैं—

'यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्ग स्थितः सुखी। भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणम्य तम्॥—'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', भाग ७ (१९३१ ई०) संख्या २ के ३०५ से ३०८ पृष्ठों तक तथा 'जर्नल ऑव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' (१९२३ ई०) के ६४९ से ६६३ पृष्ठों तक इसके उभयपक्षों की विस्तृत समालोचना है। यदि यही बात सत्य है, तब तो फिर भवभूति की भी दूसरी रचनाएँ उपलब्ध हैं ही।

औषधालय, गोंडल, काठियावाड़ से प्रकाशित हुआ था। इस नाटक में ६ अंक हैं और इसका कथानक अत्यंत सरस है। एक बार आरंभ कर लेने पर समाप्त किए बिना पुस्तक का परित्याग करना कठिन हो जाता है।[१] हमारे पास जो संस्करण है, वह १९४१ ई० का प्रकाशन है।

इस नाटक का प्रारंभ महाराज दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ से होकर जनकजी के धनुषयज्ञ पर हो जाता है, अतः इसका नामकरण यज्ञनाटक अथवा यज्ञफल नाटक सर्वथा सार्थक है। इस नाटक के अनुसार महाराज दशरथ श्रीराम के विवाह के पहले ही राज्याभिषेक करना चाहते हैं। इस विषय पर वे संमति लेने के लिए सभी रानियों को एक उद्यान में बुलाते हैं। पर वहाँ वे उनसे कहते हैं कि हमने आप लोगों को यहाँ उद्यान की रमणीयता दिखलाने के लिए बुलाया है। यहाँ वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर हमलोग थोड़ा जी बहलाएँगे। पर थोड़ी ही देर बाद प्रसंग को बदलते हुए वे कहते हैं कि सभी कुमारों का यज्ञोपवीत हो चुका है और वे पंद्रह वर्ष के हो चुके हैं। अस्तु, क्या आपलोग बतला सकती हैं कि इनमें से सबसे गुणाधिक कौन है? महारानी सुमित्रा कहती हैं कि राम ही सर्वाधिक गुणशाली हैं और ज्येष्ठ भी। मनु के अनुसार ज्येष्ठ ही को युवराज अथवा राज्यभाक् बनाना चाहिए। इस पर महाराज दशरथ कहते हैं कि यद्यपि सभी अन्यान्य विषयों में मनु का ही प्रामाण्य माना गया है, तथापि राजनीति में वशिष्ठ का ही मत मान्य कहा गया है। जब कैकेयी पूछती हैं कि इस विषय में वशिष्ठ का मत कैसा है तो महाराज कहते हैं—

'दायः स्यात् समभाग एव तनयैर्ग्राह्यो धनादिः स चेत्।
आचार्यत्वनृपत्वयोस्तु गुणवानर्हेत्पदं सर्वदा।
सेनानीत्वमपीह शौर्यगुरुणा लभ्यं न पूर्वोद्भवैः।
राज्यं योग्यसुतार्पितं भवतु तद् ब्रूते वशिष्ठो मुनिः॥—१।२६।

अर्थात् धन आदि के बँटवारे में तो सभी भाइयों का समान भाग ही होना चाहिए। किंतु आचार्यत्व तथा राजपद को तो गुणवान् पुत्र ही पाने का अधिकारी है। सेनापत्य आदि में भी ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि का नियम नहीं हो सकता। अतः वशिष्ठ का कथन है कि राज्य को तो योग्य पुत्र को ही समर्पित किया जाय।

इस पर कैकेयी कहती हैं कि योग्यता की दृष्टि से तो दृष्टिभेद से विभिन्न व्यक्ति के मन में अलग अलग विचार आ सकते हैं। किसी को कोई जँच सकता है तो किसी को और दूसरा ही कोई। इसपर राजा कहते हैं कि हमारा विचार है कि राज्य को चार भागों में बाँटकर चारों राजकुमारों को दे दिया जाय। इसपर कैकेयी विभाजन का विरोध करती हैं और समस्त राज्य किसी योग्य पुत्र को ही देने

१—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लिककविपुत्रादीनां', मालविकाग्नि प्रस्तावना, भासो देवकुलैरिव (हर्षचरित) भासनाटकचक्रेऽपि····दाहकोऽभून्नपावकः (सूक्तिमुक्तावली) आदि से भास की बड़ी प्रशंसा है।

को कहती हैं। अंत में कैकेयी कहती हैं कि राम ही गुणों के निधान हैं, वे इंद्र से भी किसी प्रकार न्यून नहीं हैं। विधाता ने उन्हें ही पृथ्वी की रक्षा के लिए निर्माण किया है। वे साक्षात् विष्णु के समान प्रतापी हैं। आप मेरी ही प्रसन्नता के लिए राज्य का विभाजन चाहते हैं और मेरी प्रसन्नता तो राम को ही राज्य प्रदान में हो सकेगी।

इसपर महाराजा दशरथ कहते हैं कि भरत भी साधारण गुणवान् नहीं हैं, तो कैकेयी कह उठती हैं कि रात में दीपक चाहे जितना चमके पर सूर्य के सामने तो उसका प्रकाश नगण्य ही है—'सूर्ये तपत्यस्य कुतोऽस्ति तेजः।'

इसके तीसरे अंक में दिखलाया गया है कि रावण रामजन्म का समाचार पाकर गुप्तरूप से उनकी परीक्षा लेने के लिए आता है। उसी समय महर्षि विश्वामित्र भी राम की सहायता लेने के लिए अयोध्या पहुँचते हैं। ये दोनो एक दूसरे को देख लेते हैं और पुनः दोनो ही अपने को एक दूसरे से छिपाकर राजकुमारों के लिए चल पड़ते हैं। तबतक उसी ओर राजकुमारों के साथ वशिष्ठ ऋषि शस्त्राभ्यास के लिए आते दीखते हैं। उस दिन प्रतिपदा होने के कारण वे कुछ आगे न बताकर उन्हें अभ्यास का आदेश देकर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं।

अब राजकुमारों का कौशल प्रदर्शन प्रारंभ होता है। शत्रुघ्न एक पीपल वृक्ष के सभी पत्तों को बींध देते हैं। भरत भी यही करते है। लक्ष्मण एक वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर उसे चूर्ण कर दूर फेंक देते हैं। जब राम की बारी आती है, तो सभी भाई उनकी पहले से ही प्रशंसा करने लगते हैं। राम कहते हैं कि जब हम लोगों का जन्म, संस्कार, अध्ययन सब एक साथ हुए हैं, तो हम में अधिकता कहाँ से आयेगी—

जन्मसंस्कारविद्यासु समानत्वमिहास्ति नः।
कथं गुणेषु वैषम्यं भवेदिति विचार्यताम्॥—यज्ञफलम् ३-२५।[1]

किंतु यह प्राणी का स्वभाव होता है कि जिसमें उसका अत्यधिक स्नेह तथा आत्मीयता होती है, उसमें उसे केवल गुण ही दीखते हैं—'आत्मीये दृश्यते गुणः।'[2] अंत में भगवान् राम भी वे ही क्रियायें दिखलाना चाहते हैं, जिनमें भाइयों का तिरस्कार न होने पावे। पर वे ज्यों ही वाण छोड़ते हैं, उसी समय विश्वामित्र तथा रावण भी अलक्षित वाण चलाकर उनके वाणों को बीच में ही काट डालते हैं।

१—मानस (२।१०।५-६) की
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनवेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भये उछाहा॥
आदि चौपाइयों पर इन श्लोकों का प्रभाव दीखता है।

२—'बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू।' (मा०, २।२९२।८) वैर अंधा होता है। इसके चलते वैरी के गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। इधर प्रेम को भी प्रबोध नहीं होता—विचारण-शक्ति नहीं होता। इसके चलते प्रेमास्पद के दोष भी गुण ही प्रतीत होते हैं।

वाण को कटते देखकर सभी चकित रह जाते हैं, शत्रुघ्न कहते हैं कि संभवतः यह वाण पुराना था। लक्ष्मण कहते हैं कि यह वाण प्रायः टूटा ही हुआ था। भरत कहते हैं कि बीच में ही वायु का झोंका आ गया होगा। इसपर राम जब पुनः दूसरा वाण छोड़ते हैं, तो उसकी भी वही गति होती है। इसपर राम क्रुद्ध होकर वायव्यास्त्र चलाकर वृक्ष को नष्ट करना चाहते हैं, तो रावणादि उसे भी काट डालते हैं। इसपर राम का मुखमंडल क्रोध से अत्यंत उद्दीप्त हो उठता है। इससे रावण डर कर भागने लग जाता है और वह स्वयम् कहने लगता है कि अरे पता नहीं रावण के शरीर में यह प्रथम बार भय का अवतरण किस प्रकार हुआ—

'...अहो जातोऽयं प्रथमावतारो रावणभयस्य ?'

रावण को भागते देख विश्वामित्र अत्यंत चकित हो जाते हैं। विश्वामित्र भी रावण द्वारा किसी गड़बड़ी की आशंका से गुप्त रूप से उनके पीछे पीछे चल पड़ते हैं। इधर क्रुद्ध होकर राम द्वारा छोड़ा गया आग्नेयास्त्र वशिष्ठ को लगता है। सभी उनसे क्षमा प्रार्थना करने लगते हैं। इस पर वशिष्ठ कहते हैं कि अरे! तुम लोग क्या बातें करते हो? जिस शरीर को विश्वामित्र के दिव्य वाणों द्वारा भी कोई क्षति न पहुँच सकी, उसको तुम बालकों के वाण क्या हानि पहुँचा सकते हैं। उससे तो हमारे शरीर में किसी विक्रिया की संभावना ही नहीं है। अंत में वे विश्वामित्र तथा रावण के सारे रहस्यों को प्रकट करते हैं और अगले दिन महर्षि विश्वामित्र के पधारने की सूचना भी दे देते हैं।

दूसरे दिन विश्वामित्र अयोध्या पहुँचते हैं। सभा में राम से शिक्षादीक्षा का प्रश्न करते हैं। राम कहते हैं कि वशिष्ठजी अपने शिष्यों को विनय, स्नेह तथा दया की शिक्षा देते हैं। वे वेद, वेदांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, चौबीस व्यवहार, गजाश्वरत्नादिपरीक्षा तथा काव्यकला के अध्यापन में अद्वितीय हैं। यथाशक्ति हमने भी दूसरों को पढ़ते सुनते देख सुनकर कुछ सीखा है।

जब महाराज दशरथ विश्वामित्र से पूछते हैं कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ, तो वे कहते हैं कि अब राम को दिव्यास्त्रों की शिक्षा दिलाई जाय। इस पर राजा कहते हैं कि आप हमारे यहाँ ठहरकर राम का अध्यापनकार्य करने की कृपा करें। ऋषि कहते हैं कि यह तो उल्टी बात होगी। हम स्वतंत्र प्रकृतिवाले स्वतंत्र तपस्वी अपने आश्रम के अतिरिक्त कहीं भी रहना पसंद नहीं करते, चाहे हमारी कोई कितनी भी सेवा क्यों न करे। विद्याध्ययन की यही समीचीन प्रणाली भी रही है। बड़ी कठिनाई से वे रामलक्ष्मण को लेकर अपने आश्रम पर पधारते हैं। वहाँ वे रामादि से रावण की सब बातों को बतला देते हैं और भावी युद्ध की भी सूचना देते हैं।

राक्षसों के वध के बाद विश्वामित्र जनक के यज्ञ की बात करते हैं। राम पूछते हैं कि क्या वहाँ भी कोई राक्षसों का उपद्रव हुआ करता है। इस पर ऋषि कहते हैं कि नहीं उनका सांवत्सरिक सत्र होने वाला है। तत्पश्चात् सभी वनश्री

पहुँचकर पुष्पवाटिका में ही ठहरते हैं। वहाँ सीता और राम का लगातार प्रतिदिन कई दिनों तक मिलना होता रहता है। इस पुष्पवाटिका-प्रेम का चित्रण महाकवि भास ने एक बड़े लंबे अंक में किया है। स्मरणीय है कि इधर अनुसंधानकर्ताओं में बहुत दिन से विचार चल रहा था कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज ने पुष्पवाटिका का चरित्रचित्रण किस ग्रंथ के आधार पर किया है। अधिकांश लोग कंब रामायण को इसका आधार मानते थे, किंतु उस दक्षिण की रामायण को तुलसीदासजी द्वारा सुने या पढ़े जाने की संभावना कम ही दीखती है। कविवर जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नामक नाटक में इसका थोड़ा सा सुंदर चित्रण अवश्य ही किया है। इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामीजी महाराज ने उसे अवश्य देखा था। पर भास का यह चित्रण जयदेव से बहुत ही अधिक विस्तृत तथा सजीव मालूम होता है। इसके कई श्लोक रामचरितमानस की चौपाइयों से सर्वथा मिलते जुलते से लगते हैं। उदाहरणार्थ देखिए—

नवागम्या न दुष्प्राप्या यन्मनो मे न धावति।
कृत्याकृत्यविवेके तु प्रमाणं हि सतां मनः ॥६-१८॥

इसकी छाया इन चौपाइयों पर देखिए

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहि पावहि परतिय मनु दीठी॥
—१।२३१।३-४,७।

किमधिकम्—कालिदास के भी 'यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः' तथा 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणःप्रवृत्तयः।' आदि शाकुंतल के पद्यों पर भी भास की इन कविताओं का ही प्रभाव दीख पड़ता है। अतः अनुमान होता है कि उन्होंने इन दोनो ग्रंथों के आधार पर पुष्पवाटिका की छवि खींची है। साथ ही उस पर कालिकापुराण के वशिष्ठ-अरुन्धति-मिलन का भी प्रभाव कम नहीं है। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। अस्तु।

अंत में राम शिवधनुष को तोड़ डालते हैं। महाराज दशरथ को आमंत्रण जाता है। वे जनकपुर पधारते हैं। कन्यादान का संकल्प होता है। इसी समय परशुराम आते हैं। वे पहुँचते ही अपना धनुष देकर आशीर्वाद देते हुए चले जाते हैं। इस नाटक में सर्वत्र आनंद का ही प्रभाव उमड़ता दीखता है। कहीं भी लेशमात्र विषाद आदि का अनुभव नहीं होता।

यदि पाठकों को यह विषय रोचक लगा तो हम उनकी सेवा में आगे भास के प्रतिमा और अभिषेक, भवभूति के महावीर, मुरारि के अनर्घराघव तथा जयदेव के प्रसन्नराघव आदि नाटकों के भाव सहित गोस्वामीजी पर उनका प्रभाव भी विस्तार से दिखलाने का यत्न करेंगे।

———

ब्योहार श्रीराजेंद्रसिंह

श्रीराम की अभय नीति

[अत्यधिक अनाचार बढ़ने पर उत्पीड़ितों को अभय करने के हेतु भगवान् अवतरित होते हैं। श्रीराम की अभय नीति कैसी थी, इसी तथ्य का दिग्दर्शन करते हुए प्रस्तुत लेख में कहा गया है—

'... दंड के साथ भेद को भी रामराज्य में देश निकाला दे दिया गया था। दंड और भेद द्वारा लोग दूसरों को जीता करते हैं, किंतु रामराज्य में साम और दान के द्वारा विजय प्राप्त की जाती थी। ....

राम की नीति भयकारी नहीं, अभयकारी थी।']

हम संसार में एक दूसरे से भयभीत रहते हैं, क्योंकि एक दूसरे पर अविश्वास करते हैं। निर्बल सदैव सबल से डरता रहता है। महाभारत के कथनानुसार संसार में बलवान् दुर्बल को खा जाते हैं। बल कई प्रकार का होता है। बाहुबल, धनबल, तपबल और आत्मबल ये चार प्रमुख बल हैं। इन्हें हम शारीरिक, आर्थिक, मानसिक और आत्मिक बल भी कह सकते हैं। अशक्त का सशक्त से भयभीत होना स्वाभाविक है।

प्रायः लोगों की धारणा है कि अल्प बल को दबाने के लिए अधिक बल चाहिए, छोटे भय को दूर करने के लिए बड़ा भय दिखलाना आवश्यक है तथा सामान्य हिंसा के दमन के हेतु असाधारण हिंसा अपेक्षित है। यह तो वैसा ही हुआ कि थोड़े मल को धोने के लिए अधिक मल लपेटिए। तुलसीदासजी ने इस मनोवृत्ति के विरोध में कहा है—

छूटै मल कि मलहि कें धोयें। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोयें॥[1]

मल से मल नहीं धोया जा सकता, क्योंकि दोनो सजातीय हैं। अशुद्ध तत्व को मिटाने के लिए अधिक अशुद्ध तत्व का प्रयोग विपरीत प्रक्रिया होगी। सीधी प्रक्रिया तो यह है कि अशुद्ध वस्तु का परिष्कार शुद्ध वस्तु से किया जाय। भय का निवारण अभय के द्वारा होता है, न कि अधिक भय-प्रदर्शन से। इसलिए बुद्ध का वचन है कि अक्रोध से क्रोध को जीतो, असाधुता को साधुता से जीतो, लोभी को दान से और असत्य को सत्य से जीतो। ऐसा करने पर ही विकारों का समूल विनाश संभव है।

क्रोध अधिक क्रोध से दमित हो सकता है, शमित कदापि नहीं हो सकता। यही बात असत्य, हिंसा, भय आदि के विषय में भी चरितार्थ होती है। अग्नि को

१—मानस, ७।४९।५।

ठंडा करने में जल ही समर्थ है न कि घी की आहुति। इसी बात को प्रतिपादित करते हुए मनु ने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥[1]

तात्पर्य यह है कि कामना की शांति का उपाय उपभोग नहीं त्याग है। यही बात अन्य विकारों के लिए भी लागू होती है। उनका उपशमन उच्च वृत्तियों से ही हो सकता है। वस्तुतः हमने निम्न वृत्तियों को उच्च वृत्तियों से अधिक प्रबल समझ लिया है। हमने आत्मबल को पशुबल, मनोबल या धनबल से कमजोर मान लिया है। हम अपने को आत्मवादी न कहकर, धनवादी या बलवादी कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। यदि हम बल से धन को, धन से मन को और मन से आत्मा को वश में रखना चाहते हैं, तो हम अध्यात्मवादी नहीं, शुद्ध भौतिकवादी हैं। लोग तुलसीदासजी के इस पद्यांश को अपने समर्थन में उपस्थित करते हैं—'भय बिनु होइ न प्रीति।'[2] यह कोई आदर्श वाक्य नहीं है। भय के द्वारा समुद्र से अपना कार्य सिद्ध करना था, न कि उससे स्थायी प्रीति करना अभिप्रेत था। भय के द्वारा स्थापित प्रीति अस्थायी होती है। रावण सीता को भय दिखलाकर प्रीति करना चाहता था। सीताजी ने भयवश होकर व्रत-भंग करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करना अधिक उपयुक्त समझा और रावण को मुँह तोड़ उत्तर दिया—

सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥[3]

इसका आशय यह है कि तू मुझे जिस भुजबल से वश में करना चाहता है, वह मुझे वश में नहीं कर सकता। मैं तो उस भुजा के वश में हूँ, जिसका मूल प्रेमपूर्ण हृदय है। मैं तेरी भुजा को नहीं, किंतु उसके द्वारा पकड़ी हुई तलवार को ही गले लगा सकती हूँ। वह मेरे शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर सकती है, किंतु आत्मा को नहीं। यह देह पर हृदय की और हृदय पर आत्म-विजय की महती घोषणा है।

स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है कि भक्ति में भय को कोई स्थान नहीं है। भय के कारण प्रिय बोलने के समान अप्रिय कार्य कोई नहीं है—

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥[4]

राम-राज्य में जो 'सब नर करहिं परसपर प्रीती' कहा गया है, वह राज-दंड के भय से नहीं, अपितु राम की प्रीति के द्वारा ही संभव था। उन्होंने दंड सेना के हाथ में नहीं, किंतु यतियों के हाथ में दे रखा था, क्योंकि अहिंसक होने के कारण

१—मनुस्मृति, २।९४। २—मानस, ५।५७।१४। ३—वही, ५।१०।४। ४—वही, ५।३७।१०-११।

वे ही उसे धारण करने के योग्य थे। उनके हाथ का दंड भय का नहीं, अभय का प्रतीक है। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥[1]

रामचरितमानस में श्रीराम के संबंध में अभय शब्द अनेकत्र प्रयुक्त है। शूर्पनखा को जब 'लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि',[2] तब 'धुआँ देखि खर दूषन केरा। जाइ सुपनखा रावनु प्रेरा॥[3] उसने रावण से श्रीराम के अभय की चर्चा इस प्रकार की 'जिन्ह कर भुजबल पाइ दसासन। अभय भए बिचरत मुनि कानन॥[4] हनुमान्‌जी ने सुग्रीव के लिए श्रीरामजी से अभय-वर ही माँगा था 'दीन जानि तेहि अभय करीजे॥'[5] रावण को भी हनुमान्‌जी ने यह सलाह दी—

प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि-त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥[6]

रावण-वध के पश्चात् 'कृपादृष्टि करि वृष्टि प्रभु अभय किए सुरबृंद।'[7] और राम-राज्य में तो 'कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥'[8]

मानस के उपर्युक्त उद्धरणों से ईश्वरावतार के मुख्य उद्देश्य प्राणिमात्र के परित्राण हेतु श्रीराम की अभयनीति का पूरा पूरा परिचय मिल जाता है।

'द्वैताभावाद्वै भयं भवति' भेद या द्वैत भाव से ही भय की उत्पत्ति होती है। इसलिए दंड के साथ भेद को भी रामराज्य में देश निकाला दे दिया गया था। दंड और भेद द्वारा लोग दूसरों को जीता करते हैं, किंतु रामराज्य में साम और दान के द्वारा विजय प्राप्त की जाती थी, और पशु-पक्षी भी वैर रहित होकर विचरण करते थे। वहाँ हार जीत की चर्चा ही नहीं चलती थी। किसी को जीतना था तो वह चिर वैरी मन को। राम की नीति भयकारी नहीं, अभयकारी थी। वे राजनीति में अनीति नहीं, नीति का पालन करते थे। जब सुग्रीव ने विभीषण को बंदी करने का प्रस्ताव रखा, उस समय श्रीराम ने अपने अनुरूप यह उत्तर दिया—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥[9]

स्वयम् भगवान् की घोषणा है 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम', इस नीति की प्रशंसा करते हुए तुलसीदासजी भी कहते हैं—

१—वही, ७।२२।९-१०। २—मानस, ३।१७।२१। ३—वही, ३।२१।५।
४—वही. ३।२२।५। ५—वही, ४।४।३। ६—वही, ६।२०।९-१०।
७—वही, ६।१०३।२०। ८—वही, ७।२३।३। ९—वही, ५।४३।८।

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥[1]

इस चौपाई के इस अर्थ से कि राम के समान नीति और प्रीति को जाननेवाला कोई नहीं है, यह अर्थ अधिक समीचीन है कि राम के लिए प्रीति ही सच्ची नीति थी और परमार्थ ही स्वार्थ था।

गीता में भी अभय को सर्वोपरि सद्गुण माना गया है—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'।[2] तुलसीदासजी ने प्रीति और नीति दोनो को भक्त के लिए आवश्यक बतलाया है। भीति के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है—

प्रीति राम सों नीतिपथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥[3]

बंदौं पदरज श्रीतुलसी की।
अमी मूरि भव रुज नासनि की होति बिषय रस फीकी।
भाल तिलक स सुभ गुन बसि करि मुद मंगल की लीकी।
अंजन तें दृग दोष हरति है जोति जगावति ही की।
ध्यान करै जन सो बड़ भागी भागी तम सब जी की।
रामायन जन की जननी पितु पालनि बानि अमी की॥

पदरज श्रीतुलसी की पावनि।
भवसागर को पोत सुभग भइ सब दुख दोष नसावनि।
चरन कमल सोभा सुबास जहँ रस अरुनाई भावनि।
अमी मूरि चूरन जन मन के भव रुज बेगि मिटावनि।
सुकृत संभु तन जन बिभूति सम सोहति सब अघ दावनि।
मंजुल मंगल मोद प्रगट की जनु जननी प्रगटावनि।
किये तिलक गुन बसि करि राखति बहु बिधि हिय हुलसावनि।
मनहु सुअंजन अंजन दृग को राघो चरित लखावनि।
रामायन जन बंदत पुनि पुनि सोइ मम ताप बुझावनि॥

१—वही, २।२५३।५। २—गीता, १६।१। ३—दोहावली, ८६।

डा० युगेश्वर

मानस और कामायनी का युग-यथार्थ

[इस निबंध में "मानस के 'कलि-वर्णन' और कामायनी के 'काम का अभिशाप' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ······'प्रसाद' का काम बहुत सी ऐसी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का उल्लेख करता है, जो यंत्र-युग तथा सामंती और साम्राज्यवादी चक्र में पीड़ित भारत में पैदा हुई थीं। इसकी तुलना में गोस्वामीजी की समस्या का दृष्टिकोण पौराणिक, कृषिप्रधान और मध्ययुगीन है। ······दंभ के फैलने से दोनो युग, दोनो कवि परेशान हैं। तुलसी के युग में पाप के कारण बार-बार अकाल पड़ता है। प्रसाद की समस्या वस्तु की नहीं, बल्कि मानसिक है······'मानस के समाज में सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक ह्रास का कारण बहुत कुछ बाहरी है, जिसे कलि-प्रभाव कहा गया है। ईश्वर और उसकी लीलाओं के प्रति पूर्ण आस्था के कारण इस ह्रास से ईश्वर स्वयम् मुक्ति देगा, यह अकुंठित मति के भक्तों का विश्वास है। इसके विपरीत कामायनी की समस्या आंतरिक है। ····· कामायनी की नियति चक्र में मनुष्य न तो उसका दास मात्र है और न अपनी समस्याओं के सुधार के लिए वह किसी बाहरी या दैवी शक्ति की कल्पना करता है।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन की विषम समस्याओं से निस्तार एवम् मानसिक-शांति प्राप्ति के उपाय मानस में सुलभ किंतु कामायनी में दुर्लभ हैं।]

रामचरितमानस और कामायनी हिंदी के श्रेष्ठतम महाकाव्य हैं। दो युगों की रचना होते हुए भी दोनो में बहुत से साम्य और वैषम्य ढूँढ़े जा सकते हैं। यहाँ केवल मानस के 'कलि-वर्णन' और कामायनी के 'काम का अभिशाप' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

कामायनी का कथानक मन और उसकी वृत्तियों से अधिक संबंधित है, यह मान्य बात है। मानस की भी मनस्-परक व्याख्या की जा सकती है, की भी जाती है। किंतु मानस को केवल प्रत्यक्ष जीवन और जगत् का चरित-काव्य भी मानें तो भी उसकी पूर्णता या उसके द्वारा उत्पन्न आनंद में न तो किसी प्रकार की कमी मालूम होती है और न वह अपने उद्देश्य में ही घटकर साबित होता है। जब कि कामायनी की स्थिति भिन्न ढंग की है। मनस्-परक व्याख्या के अभाव में कामायनी का अर्थ और आनंद अपूर्ण रह सकता है। ऐसी स्थिति में मानस और कामायनी के

पात्रों, मानव स्वभावों, सर्गों, उनकी परिणतियों आदि के वर्णन में ही भेद नहीं है बल्कि युगयथार्थ के वर्णन में भी महत्त्वपूर्ण भेद है।

मानस के कलि-वर्णन का लक्ष्य बहुत कुछ अपने ही देश-काल के घातों प्रतिघातों को रूपायित करने का है। इसकी अपेक्षा कामायनी का युगयथार्थ सार्वभौमिकता और सार्वलौकिकता की ओर उन्मुख जान पड़ता है। कामायनी में काम के शाप के द्वारा जिस मानवसमाज का वर्णन हुआ है, वह आधुनिक उद्योगों की ओर गतिमान मशीनी सभ्यतावाला समाज है। भारतीय स्थिति में जिसकी खास ढंग की मजबूरियाँ भी हैं। इसलिए 'प्रसाद' का काम बहुत सी ऐसी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का उल्लेख करता है, जो यंत्र-युग तथा सामंती और साम्राज्यवादी चक्र में पीड़ित भारत में पैदा हुई थीं। इसकी तुलना में गोस्वामीजी की समस्या का दृष्टिकोण पौराणिक, कृषिप्रधान और मध्ययुगीन है। मानस के कलि-वर्णन का समाज भी परिवर्तन की ओर है। किंतु गोस्वामीजी के अनुसार वह परिवर्तन विकास न होकर ह्रास और वक्ती [सामयिक] है। आधुनिक शब्दावली में वह सामाजिक विघटन है। इसीलिए उसमें मानव-मन की वृत्तियों पर विचार न होकर उसके आचरण की पर्यालोचना है। प्रसाद के मनु बिलकुल नवजीवन [सर्ग = सृष्टि] के अग्रदूत हैं। राम का काम धर्म की स्थापना है। इस धर्म का उद्देश्य सामाजिक विघटन को रोकना है। उन्होंने दुष्टों का दमन किया, ऋषि और ऋषि-प्रवृत्ति के लोगों में सुरक्षा की भावना पैदा की तथा सामाजिक आदर्शों को लुप्त होने से बचाया ही नहीं बल्कि उसकी पुनःस्थापना भी की।

मानसकार को अपने युग की सबसे बड़ी बुराई यह जान पड़ती है कि 'वर्णधर्म और आश्रम-व्यवस्था नष्ट हो रही है तथा सभी लोग निगमागम विरुद्ध पथ पर चल रहे हैं।' इसके मुकाबले कामायनी का काम मनु को शाप देते हुए मानव-मन की द्वयता का संकेत करता है। वह द्वयता को ही वर्णविभाजन का कारण मानता है। कामायनी का काम जहाँ वर्ण-व्यवस्था के विरोध को द्वयता का आधार देता है, वहीं काकभुशुंडि वर्ण-व्यवस्था के प्रति इतने विश्वासी हैं कि वे वर्ण व्यवस्था में मात्र अव्यवस्था देखकर चिंतित हो उठते हैं। वे यह कभी नहीं सोचते कि स्वयम् में यह व्यवस्था मानव-मन की कुप्रवृत्तियों का शिकार भी बन सकती है। मानस में वर्ण-व्यवस्था एक नियोजित और स्वस्थ समाज की महत्त्वपूर्ण आधारशिला है। इस आधारशिला को निगमागम का समर्थन प्राप्त है। इसीलिए निगमागम मार्ग का प्रबल विश्वासी व्यक्ति इस मार्ग की स्थितिशीलता और गतिहीनता पर विचार नहीं करता। कामायनी में वर्ण-व्यवस्था एक आवश्यक तत्व है। जान पड़ता है कामायनी तक पहुँचकर समाज ने वर्ण-व्यवस्था को अनुपयोगी ही नहीं हानिकर भी समझ लिया। कामायनी का काम वर्णव्यवस्था के पीछे छिपे आदर्श को नहीं देखता और 'वर्णों की करती रहे वृष्टि' कहकर वर्ण-व्यवस्था में बढ़नेवाली उपजातियों की भीषण बाढ़ की

ओर मार्मिक संकेत करता है। गोस्वामीजी चतुर्वर्ण व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था मानते हैं और प्रसाद उपजातियों की बाढ़ से परेशान ज्ञान पड़ते हैं।

तुलसी के कलिवर्णन की मुख्य समस्याएँ यों हैं :—

१. वर्ण-धर्म तथा आश्रम-व्यवस्था नष्ट हो रही है और नर-नारी पाप परायण हैं।
२. सद्ग्रंथ लुप्त हो गए हैं तथा दंभ-मार्ग का प्राबल्य हो गया है।
३. द्विज ज्ञान (श्रुति) बेचता है और राजा प्रजा को खा रहा है।
४. आर्ष मार्ग के अभाव में 'गाल बजाने वाला' ही पंडित समझा जा रहा है।
५. एक ओर अगर विद्वत्ता का ह्रास हो गया है तो दूसरी ओर संत, जो समाज में सदाचार के आधार होते हैं, वे ही मिथ्यारंभी और दंभ में संलग्न हैं, ऐसे ही व्यक्ति आचारवान् भी माने जाते हैं।
६. बुद्धिमान् वह है, जो दूसरों की संपत्ति को हड़प लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी, वैरागी और तपस्वी सभी आचरण भ्रष्ट हो गए हैं।
७. सभी अखाद्य का सेवन कर रहे हैं।
८. लोग वासना या विलास में संलग्न हैं तथा यौन संबंधी भ्रष्टाचार बढ़ गया है। यहाँ तक कि अगम्यागमन जोरों पर है।
९. शिक्षा-व्यवस्था भी दूषित हो गई है। गुरु धन के लोभी हो गए हैं।
१०. लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, किंतु उनका आचरण भ्रष्ट है।
११. सन्यास का आधार भोग का अभाव है न कि तृष्णा से विरति। इसलिए तपस्वी मठाधीश हो रहे हैं और गृहस्थ गरीब हो रहे हैं। भिखमंगे बढ़ रहे हैं।
१२. पाप के कारण बार-बार अकाल पड़ता है तथा लोगों में अभिमान और अकारण विरोध बढ़ रहा है।

इस प्रकार कलियुग 'अवगुणों का आगार' है। इस स्थिति के वर्णन के बाद गोस्वामीजी ने इसके निस्तार का मार्ग भी बताया है। जैसे गोस्वामीजी का सामाजिक संकट सीधा है—यद्यपि अपनी भयानकता में वह किसी प्रकार कम नहीं है—उसी प्रकार उनका हल भी सीधा है।

आचार्यमिश्र के अनुसार 'कलियुग का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत से ही लिया गया है।'[१] आचार्यजी का यह कथन बिलकुल ठीक है। आवश्यकता

१—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रः 'हिन्दी साहित्य का अतीत' आदिकाल मध्यकाल, प्रथम संस्करण, वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, पृ० २७७।

केवल यह देखने की है कि क्या गोस्वामीजी ने श्रीमद्भागवत के कलि-वर्णन को ज्यों का त्यों ले लिया या उसमें भी 'संग्रह-त्याग' की 'पहिचान' दिखाई है? इन बातों का उत्तर केवल गोस्वामीजी के कलि-वर्णन को ही समझने में सुविधा नहीं प्रदान करेगा, बल्कि तुलसीसाहित्य की अनेक प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश पड़ने की संभावना है। पहली बात यह है कि भागवत के समान ही गोस्वामीजी ने श्रोता वक्ता पद्धति में कलियुग वर्णन तो किया, किंतु वंशों का वर्णन बिलकुल छोड़ दिया है। भागवत में कलि आनेवाला है और 'मानस' में आ चुका है। दोनो ग्रंथों में वर्तमान की चर्चा नहीं है और अनुमान तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर ही उसे तत्कालीन जीवन का वर्णन माना जा सकता है। 'मानस' में कलि की कथा काकभुशुंडि कहते हैं, जो अपने पूर्व जन्म में शूद्र थे। इतना ही नहीं कि 'काक' पूर्व जन्म में शूद्र थे, बल्कि शिव-सेवक, धनमत्त, परम वाचाल, उग्र बुद्धि, दंभी और अन्य देवों के निदंक भी थे। काक के अन्य रूप तो रावण से मिलते हैं, किंतु गोस्वामीजी उन्हें पूर्व जन्म का शूद्र बता कर क्या संकेत करना चाहते हैं, यह रहस्य अनुसंधेय है। भागवत में कहा गया है कि राजा प्रजा की रक्षा करने के बदले उसे खाएगा।[1] गोस्वामीजी ने इसे 'भूप प्रजासन' कहा है, किंतु भागवत के 'म्लेच्छा राजन्यरूपिणः' (म्लेच्छ ही राजा के रूप में राज्य करेंगे) को बिलकुल छोड़ दिया है। भागवत में प्रजा को अकाल और कर इस दुहरी मार से उद्विग्न मानस वाला बताया है।[2] 'मानस' के कलि-वर्णन में तत्काल की बात तो है, किंतु कर का प्रसंग नहीं आया है। इसी प्रकार अन्य कई बातें भी गोस्वामीजी ने या भागवत की नहीं लीं या अगर लीं तो उनका प्रभाव मात्र ही ग्रहण किया। इस प्रकार 'भागवत' से 'मानस' के कलि-वर्णन में पूर्ण अनुवाद, भावग्रहण और बिलकुल त्याग ये तीन स्थितियाँ हैं। भागवत का कलि-वर्णन न केवल आकार में बड़ा है, बल्कि उसके द्वारा वर्णित जगत की समस्याएँ भी अधिक हैं। इसकी अपेक्षा गोस्वामीजी ने सामाजिक विघटन, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और निगमागम मार्ग पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित की है और इसी केंद्र की ओर वे तेजी से बढ़ते दिखाई पड़ते हैं।

गोस्वामीजी के युग में यह सामाजिक विघटन मौजूद था, यह विद्वानों ने लक्ष्य किया है। डा० स्टेनली लेनपूल, प्रो० बेनीप्रसाद, यदुनाथ सरकार, कान्सटेबल, स्मिथ, क्षितिमोहन सेन, भंडारकर आदि विद्वानों ने इसके जाने कितने ही प्रमाण उपस्थित किए हैं। 'मानस' के कलि-वर्णन में निर्गुण पंथी संतों का विरोध भी पाया जा सकता है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'सगुण धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोक धर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी

१—प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः ॥—भागवत, १२.१.४२।
२—नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्षिताः।—भागवत, १२।३।३९।

ने पहचाना तो गोस्वामी जी ने।'[१] इसी बात को मानो आगे बढ़ाते हुए अपनी व्याख्याओं से युक्त कर आचार्य मिश्र कहते हैं—'श्रीमद्भागवतादि प्राचीन ग्रंथों में सगुण-निर्गुण का भेद न होते हुए भी मध्यकाल के भक्त हिंदी में निर्गुण का खंडन क्यों कर रहे हैं? इसीलिए कि दूसरी ओर से सगुण का खंडन किया गया है और उसके द्वारा लाभ-हानि की चिंता उठ खड़ी हुई है।'[२] उभय आचार्यों ने अपनी बातों की पुष्टि के लिए बहुत से प्रमाण दिए हैं। यहाँ तो इतना ही कहना है कि 'मानस' के कलि-वर्णन में भी उक्त सिद्धांत का प्रभाव पाया जा सकता है।[३] 'भागवत' और 'मानस' की तुलना में आवश्यकता से अधिक कहा जा चुका है। इसीलिए अब शेष को अन्य अवसर के लिए छोड़ हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

प्रसाद ने कामायनी में काम-शाप द्वारा जिस सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है, वह अधिक उलझी अतः जटिल है। साथ ही वह जितनी उलझी और जटिल है उतनी ही दारुण भी है। प्रसाद का काम यह मानकर चलता है कि मनु जिस राज्य का निर्माण करने जा रहे हैं वह 'प्रजातंत्र' होगा। किंतु यह प्रजातंत्र शाप भरा होगा। द्वयता और मानसिक असंतुलन के कारण वर्णों की वृष्टि-सी होती रहेगी। जान पड़ता है कि यंत्र-युग और प्रजातंत्र दोनो साथ ही चलेंगे, इसीलिए यंत्र-युग की सारी बुराइयाँ इस प्रजातंत्र में होंगी ही।

प्रसाद की दूसरी समस्या यह है कि मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क दो विरोधी दिशाओं में जा रहे हैं, दोनो में सद्भाव नहीं है। वर्तमान कष्टकर है और भूत का सुखद क्षण सपने के समान है। मनुष्य अधिक कृत्रिम हो गया है। ऐसी स्थिति में दंभ फैल रहा है। वर्तमान के अभाव में भविष्य भी रुद्ध होगा। दंभ के फैलने से दोनो युग, दोनो कवि परेशान हैं। तुलसी के युग में पाप के कारण बार-बार अकाल पड़ता है। प्रसाद की समस्या वस्तु की नहीं बल्कि मानसिक है। यहाँ दुःख यह है कि सब कुछ पास भरा रहने पर भी तुष्टि दूर रहती है। इसका मूल कारण संकुचित दृष्टि है। तुष्टि के अभाव में जीवन में आशाओं के शैल-शृंग आँसू जलधर

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००५, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १३८।

२—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र: हिन्दी साहित्य का अतीत, सं० २०५५, वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, पृ० २२८।

३—निम्नपंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस करहिं बिप्र गुर घात॥—मा०, ७।९९।९-१०।

श्रुतिसंमत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥—वही, ७।१००।१३-१४।

से चुंबित होंगे। प्रसाद के दुःख का कारण भिन्न है। वे एक तरफ तो दुःख का कारण अभाव को भी बताते हैं, दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि पूर्णता में भी तुष्टि नहीं होगी। यह समस्या का एक ऐसा पहलू है, जो शरीर की सामान्य माँग और पूर्ति की अपेक्षा सूक्ष्म धरातल पर स्थित है।

प्रसाद ने सामान्य जीवन में धन-धान्य की आवश्यकता से इनकार किया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। काम की इस युक्ति 'दारिद्र्य दलित बिलखाती हो, यह शस्य-श्यामला प्रकृति रमा' के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसाद एक ओर जहाँ बड़ी मशीनों से होनेवाले बड़े पैमाने पर उत्पादन और उसके द्वारा आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी मानसिक असंतोष देख रहे थे, वहीं भारत की 'शस्यश्यामला' धरती पर अकाल और शोषण से भयानक दारिद्र्य का विलाप भी सुन रहे थे। मानस में यंत्र और यांत्रिक उत्पादन कोई समस्या नहीं है। कामायनी में यंत्र मनुष्य की प्राकृतिक शक्ति को नष्ट करनेवाले बतलाए गए हैं। इनके द्वारा मनुष्य का शोषण बढ़ा है और उसकी जीवनी शक्ति क्षीण होती जा रही है। प्रसाद के इस कथन के पीछे से महात्मा गांधी तो नहीं झाँक रहे हैं ?

आज के जीवन का विश्लेषण करते हुए काम कहता है—'तुम राग-विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त'। यह विघटित तथा कुंठित व्यक्तित्व का चित्र है, जिसमें निष्ठा या श्रद्धा का अभाव है।

निष्ठा, जिसके लिए अंग्रेजी शब्द कमिटमेंट है, कामायनी के मनु की प्रमुख समस्या कही जा सकती है। मनु के दुःख का मूल कारण है किसी के प्रति निष्ठा का अभाव। मनु को अगर कहीं निष्ठा हो सकती है तो केवल अपनी उद्दाम वासनाओं की पूर्ति में। इसकी अपेक्षा 'मानस' की निष्ठा स्पष्ट है। और तो और प्रकारांतर से रावण की निष्ठा भी राम में हैं। रास्ते भिन्न इसलिए हैं कि तामस देह से भक्ति संभव नहीं। अगर रामेश्वर पूजा की कथा पर ध्यान दिया जाय तो राम और रावण दोनो ही एक ही शक्ति-स्रोत के उपासक हैं। इसके विपरीत कामायनी के तीनो पात्र तीन दिशा में संलग्न हैं। इनमें समन्वय की आवश्यकता है। दूसरी ओर राम और रावण का समन्वय नहीं हो सकता। उनमें रावण की पराजय या नाश आवश्यक है। इस नाश के अभाव में सब व्यर्थ होगा। इसके विपरीत कामायनी में किसी के नाश की कल्पना नहीं है।

मानस के पात्र जहाँ एक ओर अपनी निष्ठा के कारण घर, स्त्री, भाई, माँ, प्राण सबको त्याग देते हैं, वहीं कामायनी का काम आज के व्यक्ति की 'भक्ति' को 'भेद से भरो' बताता है। इसका परिणाम सीधा है। मानस में निष्ठा और भक्ति के कारण असत्-प्रतिनिधि राक्षस समाज में भी फूट पड़ जाती है, वहीं कामायनी के मनु 'बाधामय पर···चले' जाते हैं। जो 'राग' मानव में मुक्ति का

स्मरण करना चाहिए। कामायनी में भावशुद्धि के लिए भावों के संगठन, चिंतन और सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास पर जोर है।

प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में किसी न किसी प्रकार की प्रेमपीड़ा अवश्य है। वे केवल सौंदर्य, विलास या रति का ही वर्णन करके नहीं रुक जाते बल्कि प्रेमपीड़ा के आँसू ढलकाते हैं। कामायनी के काम के शाप में भी यह बात स्पष्ट है। काम मनु को 'वासना की जलन को जीवन में पहला स्थान' देने की आलोचना करता है और अपने छायावाद-कालीन रोमांटिक आदर्श के कारण 'मात्र जड़ देह' की प्राप्ति को 'गरल पात्र भर लाना' बताता है। काम के द्वारा प्रसादजी ने प्रेम का जो पक्ष रखा है, वह केवल शरीर तुष्टि तो है ही नहीं साथ ही वह वायवी प्रेम-कल्पना भी नहीं है। काम के शब्दों में सच्चा प्रेम 'परिणय' के द्वारा पूर्ण होता है। इस 'परिणय' के अभाव में 'कुछ मेरा हो' का अज्ञानपूर्ण और संकुचित राग भाव पैदा होता है। परिणामस्वरूप जीवन नद में 'हाहाकार' होता है और 'उसमें पीड़ा की तरंगें' उठने लगती हैं। 'लालसा भरे यौवन के दिन पतझड़ से सूखे बीत जाते' हैं। ऐसी ही स्थिति में 'प्रेम की पवित्रता' समाप्त हो जाती है, 'सारी संसृति विरह से भर जाती है और जीवन करुण गीत गाते बीतता' है। ऐसे स्थलों पर कवि के निजी व्यक्तित्व की अभिव्यंजकताएँ अधिक जान पड़ती हैं। कहना यह है कि कामायनी में काम के शाप में कहीं न कहीं कवि के वैयक्तिक जीवन की आशा-निराशा या शाप अवश्य मुखर हुआ है। इसके मुकाबले 'मानस' में गोस्वामीजी की वैयक्तिक आशा-निराशा ढूँढ़ना शायद असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

कामायनी और मानस के युगयथार्थ में एक मौलिक भेद यह है कि मानस में सचमुच ही कलियुग के नाम से एक युग का वर्णन है। इसके विपरीत 'कामायनी' का काम मनु के प्रजातंत्र, जिसे मनु की प्रजा—संतान—को चलाना है, उसे ऐसा अभिशाप देता है, जो देशकाल के बंधन में रहकर भी उससे परे जाता दिखाई पड़ता है।

'मानस' के समाज में सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक ह्रास का कारण बहुत कुछ बाहरी है, जिसे कलि-प्रभाव कहा गया है। ईश्वर और उसकी लीलाओं के प्रति पूर्ण आस्था के कारण इस ह्रास से ईश्वर स्वयम् मुक्ति देगा, यह अकुंठित मति के भक्तों का विश्वास है। इसके विपरीत कामायनी की समस्या आंतरिक है। यह ठीक है कि 'मानस' के कलि-प्रभाव के समान ही 'कामायनी' में नियति चक्र प्रवर्तन होता है। किंतु कामायनी की नियति चक्र में मनुष्य न तो उसका दास मात्र है और न अपनी समस्याओं के सुधार के लिए वह किसी बाहरी या दैवी शक्ति की कल्पना करता है। असल में वह तो स्वयम् देव जाति की अमृत संतान है। आवश्यकता केवल अपनी सत् मूर्ति की प्रत्यभिज्ञा की है, इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय की है। इस भेद के कारण ही कामायनी और 'मानस' के युग यथार्थ में भिन्नता पाई जा सकती है।

श्रीरामजी मिश्र

मानस में श्रीराम-जानकी का श्रृंगार-निरूपण

['इस छोटे से निबंध में मानस-वर्णित श्रीराम और जानकी के श्रृंगार-निरूपण का किंचित् परिचय मात्र दिया जा सका है।'

'तुलसीदास जैसे भक्त और साधक के महनीय महाकाव्य में रीति-काल की सी सामंतीय वैलासिक वृत्ति का अन्वेषण व्यर्थ है। सीता और राम का पावन प्रेम जगत्पिता और जगज्जननी का प्रणय है, जो संक्षिप्त, सांकेतिक और मर्यादित है।'

'महात्मा तुलसीदास ने श्रृंगार के दोनो पक्षों—संयोग और वियोग का पूर्ण निदर्शन मानस में किया है, किंतु विरहानुभूति के चित्रण में जितनी सफलता उन्हें मिली, उतनी संयोग-सुख या तज्जन्य विविध हाव-भावों के प्रदर्शन में नहीं।']

गोस्वामी तुलसीदास ने प्रस्तुत महाकाव्य में राम के आदर्श चरित्र की अवतारणा की है। उन्होंने जहाँ कहीं प्रसंगानुरोध से श्रीराम और श्रीसीताजी का श्रृंगार निरूपित किया है, वहाँ भी वे मर्यादा की ही सीमा में आबद्ध हैं। राम के रूप या नखशिख वर्णन के प्रसंग में भी कवि की दृष्टि उनके शारीरिक सौंदर्य के साथ-साथ अलौकिक पौरुष पर बराबर रही है। तुलसीदास जैसे भक्त और साधक के महनीय महाकाव्य में रीति-काव्य की सी सामंतीय वैलासिक वृत्ति का अन्वेषण व्यर्थ है। सीता और राम का पावन प्रेम जगत्पिता और जगज्जननी का प्रणय है, जो संक्षिप्त, सांकेतिक और मर्यादित है।

मानस में श्रृंगारिक प्रसंग की अवतारणा सर्वप्रथम जनकपुर की पुष्पवाटिका में की गई है। 'प्रथमे नयनप्रीतिः' का यहाँ बड़ा ही मनोहर वर्णन है। बड़ी कुशलता से श्रवण-दर्शन जन्य अभिलाष की अभिव्यक्ति हुई है।[1] श्रीराम के रूप-पानिप को पान करने के लिए उत्कंठिता सीताजी सब तरफ चकित होकर देख रही हैं, मानो भयभीत शिशु मृगी हों। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीता की उत्कंठा और लज्जा का संकेत 'चकित' और 'सभीत' जैसे शब्दों के प्रयोग से किया गया है।[2] श्रीसीताजी के आभूषणों की झंकार की समता कामदेव के भुवन-विजय-हेतु निनादित दुंदुभी से की गई है।[3] यहाँ सीता के नुपूरादि का उद्दीपकत्व स्पष्ट ही धर्म-अविरुद्ध काम का उद्दीपन करता है। सीता के रूप लावण्य को देखकर श्रीराम की टकटकी लग जाती है। कविवर तुलसीदास ने परंपरानुसार श्रीसीताजी का रूप वर्णन किया है, पर अत्यंत मर्यादित। वे सौंदर्य सार संग्रह से विनिर्मित ही नहीं अपितु ब्रह्मा की संपूर्ण

१—तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
—रामचरितमानस, सं० श्रीविश्वनाथप्रसादजी मिश्र, काशिराज संस्करण, १।२२९।७।

२—वही, १।२२९।१०। ३—वही, १।२३०।२।

निपुणता की सीमा हैं।[१] कविवर परंपरित और झूठी उपमाओं से अनिंद्यसुंदरी श्रीसीता की उपमा कैसे दे सकते हैं।[२]

सीता की अनुरक्तावस्था की व्यंजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है।[३] कवि की वृत्ति अपने आराध्य श्रीराम के रूप-चित्रण में जितनी रमी है, उतनी सीताजी के रूप-अंकन में नहीं।[४] इसलिए जहाँ भी अवसर मिला है, अपनी अनन्य भक्ति के आलंबन श्रीराम के रूप-ऐश्वर्य-बल का वर्णन कवि ने पूर्ण तन्मयता के साथ किया है।

कवि का श्रद्धा संवलित हृदय अपूर्व सुंदरी जगज्जननी सीता के प्रति सदा भक्ति-भावित बना रहता है। तुलसीदास को कोई ऐसी दूसरी दिव्य युक्ति नहीं मिलती, जिससे श्रीसीता की वे तुलना कर सकें। देवियों में कोई भी सर्वांगपूर्ण नहीं। सरस्वती मुखर हैं, पार्वती का अंग ही आधा है, रति पति-वियोग के कारण दुःखित हैं, फिर विष और वारुणी जिसे प्रिय हों, ऐसी लक्ष्मी से सीता की तुलना कैसे की जाय? हाँ, एक उपाय है, यदि सौंदर्य-सुधा का सागर हो तथा कामदेव स्वयम् उस सौंदर्य-सागर का मंथन करें और यदि उसमें से सुंदरता और सुख की निधि लक्ष्मी प्रकट हों, तब भी तुलसीदासजी उनकी तुलना सीता से करते हुए संकोच का अनुभव करेंगे।[५] काव्य परंपरा में अपनी सर्वांग सुंदर नायिकाओं के अलौकिक सौंदर्य के प्रतिपादन हेतु ऐसी दूरारूढ़ कल्पना प्रसिद्ध है।

धनुष-यज्ञ में सीता की मानसिक स्थिति का ज्ञापन कराते हुए तुलसीदासजी ने लिखा है कि सीताजी श्रीराम को देखकर फिर पृथ्वी को देखती हैं। ऐसी स्थिति में उनके चंचल नेत्र ऐसे लगते हैं मानो कामदेव के दो चंचल मीन चंद्रमंडल में हिल रहे हैं।[६]

कोहबर में बैठी हुई सीताजी अपने हस्तस्थित मणि में श्रीराम की प्रतिच्छवि देख रही हैं।[७] उनकी यह चेष्टा वधू का शांत-शोभन रूप प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम है। तुलसीदासजी ने इस चेष्टा का अंकन कवितावली में भी किया है। पति-प्रेम की तन्मयता सहज ही वहाँ प्रस्फुटित है।[८]

१—वही, १।२३०।६। २—वही, १।२३०।८।

३—थके नयन रघुपतिछबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचनमग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥
—वही, १।२३२।५-७।

४—वही, १।२३३।१-८। ५—वही, १,२४७।१-१०।

६—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिजमीन जुग जनु बिधुमंडल डोल॥—वही, १।२५८।९-१०।

७—निज पानिमनि महु देखियति मूरति सुरूपनिधान की।
चालति न भुजबली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी॥—वही, १।३२७।१९-२०।

८—कवितावली, १।१७।

अयोध्या से वन की ओर प्रस्थान करते हुए श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी के लावण्यमय रूप को देखकर भोली ग्राम ललनाओं का सीताजी से राम विषयक प्रश्न बड़ा ही स्वाभाविक है। वे पूछती हैं कि कोटि कामदेव को लज्जित करनेवाले राम आपके कौन हैं ? भारतीय कुलवधू की मर्यादा का निर्वाह करते हुए सीताजी उनके प्रश्न का उत्तर अपनी मधुर चेष्टाओं द्वारा बड़ी सफलता से दे देती हैं। तुलसीदास ने जितनी मार्मिक व्यंजना सीताजी के अनुभावों द्वारा यहाँ कराई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। लज्जा संवलित मर्यादानुकूल सीताजी की विलास चेष्टाओं का अंकन और उसके द्वारा अभीष्ट भावों का प्रकाशन कवि की कला-निपुणता का द्योतक है।[1]

वियोग शृंगार का निरूपण अरण्यकांड में सीता के अन्वेषण प्रसंग में बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रिय-विरही राम का हृदय प्राकृत-जनानुकूल भावोच्छ्वास से पूर्ण चित्रित किया गया है। धीर-धुरीन राम का वेदना-विगलित हृदय उन्हें जन सामान्य की कोटि में ले आता है। वे सीताजी का पता लता-गुल्म और पशु-पक्षियों से उसी प्रकार पूछते हैं, जैसे संस्कृत नाटकों के नायक वियोग की स्थिति में चित्रित किए गए हैं। यहाँ कवि की वर्णन-शैली बहुत कुछ रूढ़िबद्ध है। सीताजी के रूप-गुण-साम्य के कारण श्रीराम उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों से उनका पता पूछते हैं, जो उनके रूपगुण के प्रसिद्ध उपमान हैं। खंजन, शुक, कपोत, मृग, मीन, मधुप, कोकिला, कुंद-कली, दाड़िम, दामिनी, कमल, शरद् शशि, अहि-भामिनी, वरुणपास, मनोज-धनु, हंस, गज, केहरि, श्रीफल, कनक, कदली आदि की सीता के न रहने से प्रशंसा होने लगी है और ये सब भी अपनी अप्रतिम सुंदरता के कारण हर्षित हो रहे हैं। सीताजी के रहते उक्त सभी उपमान उपमेय के अंगों और गुणों की समता न कर पाने के कारण दुःखित थे।[2]

वियोगी रामचंद्रजी सोचते हैं कि संभवतः श्रीसीताजी अपनी उपेक्षा न सह सकने के कारण ईर्ष्या-मान करके कहीं छिप गई हैं। वे उनकी मनुहार करते हुए कहते हैं कि तुम्हारा यह कोप मुझसे सहा नहीं जाता। हे प्रिये, तुम शीघ्र प्रकट क्यों नहीं हो जाती ?[3]

विरहोन्माद में श्रीराम की मानसिक स्थिति बड़ी कारुणिक हो जाती है। वसंत का विकास प्रकृति को संपन्न कर रहा है। चराचर संयोग सुख में निमग्न हैं, केवल श्रीराम ही प्रिय से वियुक्त हैं। लगता है सारी जड़-चेतन प्रकृति वियोगी

१—सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिअ तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥
—मानस, २।११६।४-७।

२—वही, ३।३०।७-१४। ३—वही, ३।३०।१५।

राम का उपहास कर रही हैं। श्रीराम का विरह प्रकृति की विषय स्थिति के कारण और भी उद्दीप्त हो जाता है।[१] सुख में जो प्राकृतिक उपादान सुखद थे, वे ही अब विपरीत हो गए हैं। मदन भी ऐसे अवसर पर अपने अमोघ बाणों का संधान करता है। कविवर तुलसीदास ने उसकी विश्वविजयिनी सेना का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत करके रामचंद्रजी की वियोग-व्यथा का मार्मिक दृश्य उपस्थित किया है।[२]

तुलसीदास के काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि कवि वर्ण्यवस्तु के बीच-बीच में बराबर ऐसी उक्तियाँ निबद्ध करते हैं कि जिसमें राम के अलौकिकत्व का संकेत मिलता चलता है। इस प्रसंग में भी श्रीराम प्रकृति के इस रूप को माया सिद्ध करते हुए एकाएक अपनी सारी लीला को दार्शनिक परिणति दे देते हैं।[३]

सुंदरकांड में महाकवि तुलसीदास ने श्रीसीताजी के वियोग का वर्णन दिया है। रावण के त्रास और राम के विरह से व्यथित श्रीसीताजी चंद्र पर दाहकत्व का आरोप करके उसे अंगारे के रूप में देखती हैं एवम् उससे अग्नि की याचना करके अपने को भस्म कर डालना चाहती हैं।[४]

वियोग-वारिधि में डूबते हुए वियोगी के लिए प्रिय का संदेश ही एकमात्र बोहित होता है। सीताजी की व्याकुलता को दूर करने के लिए रामजी के संदेश-वाहक पवनसुत हनुमान्‌जी आते हैं। दौत्यकर्म में निपुण हनुमान् श्रीराम की विरह-व्यथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि श्रीरामचंद्रजी ने कहा है कि 'हे सीते! तुम्हारे वियोग में मेरे लिए सभी विपरीत हो गए हैं। वृक्षों के नवीन किसलय अग्निवत् लगते हैं। रात्रि काल-रात्रि-सी और चंद्रमा सूर्यवत् दाहक लगते हैं। कमल-वन भाले के वन के समान लगते हैं और मेघ मानो तप्त तेल बरसा रहे हैं। जो (संयोग काल में) हित पोषक थे, वे ही अब दुःखद हो गए हैं। त्रिविध समीर सर्प की श्वास की तरह लग रहा है।'[५] रामचंद्रजी ने कहा है कि हे प्रिये! मेरे

१—वही, ३।३७।३-१०। २—वही, ३।३८।१-१२।

३—लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥
एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥
—वही, ३।३८।११-१२।

४—देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी॥
—वही, ५।१२।८-९।

५—कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता॥
नव तरु किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुबलयबिपिन कुंतबन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥
—वही, ५।१५।१-४।

और तुम्हारे प्रेम के तत्व को एकमात्र मेरा मन ही जानता है और वह मन सदा तुम्हारे पास रहता है। अतः उसी से तुम मेरा प्रीति-रस जान सकती हो।[1]

वियुक्त प्रेमी अपने प्राणों की कठोरता पर अकसर पश्चात्ताप करता पाया जाता है। सीताजी भी अपने को इसीलिए दोषी मानती हैं कि प्रिय से वियुक्त होते ही उनके प्राण नहीं निकले, किंतु उसमें भी मुख्य अपराध नेत्रों का है, क्योंकि न तो वे प्राणों को निकलने देते हैं और न शरीर को ही विरहाग्नि में जलकर भस्म होने देते हैं।[2] श्रीसीताजी का यह संदेश कितना कारुणिक है? न तो प्राणों पर अपना वश और न नेत्रों पर ही।

सिंधु के तट पर श्रीराम अपनी सेना सहित विश्राम कर रहे हैं। चंद्रोदय होने पर वे सबसे चंद्र के काले धब्बे (कलंक) का कारण पूछते हैं। कोई कहता है कि ब्रह्मा ने चंद्रमा के सार भाग से रति के मुख का निर्माण किया, अतः उसके मंडल में छेद हो गया है और उतना भाग श्याम दिखलाई पड़ता है। श्रीराम कहते हैं कि वास्तव में इसका भाई विष है, जिसे इसने अपने हृदय में धारण किया है और उसके प्रभाव से विषयुक्त किरणों का प्रसार कर विरही नर-नारियों को जलाता है।[3] श्रीराम की उत्प्रेक्षा विरहियों की मनःस्थिति का सम्यक् द्योतन करती है। ऐसी उत्प्रेक्षाएँ चंद्र के दाहकत्व को लेकर अन्य कवियों ने भी की हैं।

महात्मा तुलसीदास ने श्रृंगार के दोनो पक्षों—संयोग और वियोग का पूर्ण निदर्शन मानस में किया, है किंतु विरहानुभूति के चित्रण में जितनी सफलता उन्हें मिली, उतनी संयोग सुख या तज्जन्य विविध हाव-भावों के प्रदर्शन में नहीं। इसका मुख्य कारण यह भी है कवि का प्रतिपाद्य भक्ति रही है, श्रृंगार नहीं। इस छोटे से निबंध में मानस-वर्णित श्रीराम और जानकी के श्रृंगार-निरूपण का किंचित् परिचय दिया जा सका है।

१—तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनेंहि माहीं॥
—वही, ५।१५।६-७।

२—अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माह सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
वही, ५।३१।५-८।

३—कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सारभाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिअ नभपरिछाहीं॥
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
बिषसंजुत करनिकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥
—वही, ६।१२।७-१०।

श्रीरतनलाल सुरेका

अविस्मरणीय संस्मरण

[इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव की मनःस्थिति के परिवर्तन में किसी घटना विशेष का भी मार्मिक प्रभाव पड़ता है। वह इतनी चमत्कारी होती है कि असाधु को साधु और साधु को असाधु बनाते उसे तनिक देर नहीं लगती। जब वह मन को साधुता की ओर उन्मुख करती है, तब उससे एक का नहीं सुरसरि सम सब का हित होता है।

यहाँ इसी प्रकार की एक सत्य घटना का उल्लेख किया गया है, जिससे घोर अशांत मन को प्रबोधन एवम् लोकहितकारी कार्य को मूर्त रूप प्राप्त हुआ।]

'मानस-मयूख' के इस विशेषांक में अनेक विशिष्ट विद्वानों के विचार एवम् अनुभव संगृहीत हैं। मैं न तो विद्वान् हूँ और न अनुभवी व्यक्ति ही। व्यवसाय कर जीवन यापन करनेवाला मैं एक सामान्य प्राणी हूँ। अत: मेरे लिए प्रकाशन-योग्य कोई लेख लिखना वैसा ही है, जैसा चंद्रमा को स्पर्श करने का प्रयास। संपादकजी के निरंतर आग्रह से मैं सोच में पड़ गया। क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ और भावाभिव्यक्ति के लिए शब्द कहाँ से लाऊँ? इसी उधेड़बुन में दिन निकल गए और पत्रिका-प्रकाशन की तिथि निकट आगई। किसी प्रकार ज्यों-त्यों इस संस्मरण को लिखने पर मुक्ति मिली।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कभी कोई ऐसी असाधारण घटना घटित हो जाती है, जो उसके हृदय-पट पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। उसके प्रचंड प्रभाव से जीवन में आमूल परिवर्तन होने के साथ ही साथ मनुष्य को अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसी घटनाएँ जीवन-यात्रा का संबल भी बनती हैं और कंटकाकीर्ण कुराहों की ओर भी ले जाती हैं।

कुछ वर्षों पूर्व की बात है। मैं अत्यंत शोकग्रस्त था। मुझे जीवन से नैराश्य हो गया था। दैवी शक्तियों के प्रति न मुझे श्रद्धा रह गई थी और न धर्म आदि के प्रति आस्था। इन सबमें मुझे प्रपंच दिखाई देता था। चारों ओर मुझे अंधकार ही अंधकार दृष्टिगोचर होता था, प्रकाश की एक किरण का भी आभास न मिलता था। हर समय एक ही प्रश्न मस्तिष्क में घूमता रहता था कि यह क्या हुआ! इसका कोई उत्तर कहीं से नहीं मिलता था। मन को क्षणभर का विश्राम न था। दारुण संताप हृदय को दग्ध किए दे रहा था—

एहि दुखदाह दहइ दिन छाती । भूख न बासर नीद न राती ।।[1]

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता था, पीड़ा स्थायित्व को प्राप्त करती जा रही थी। अकस्मात् एक दिन पं० ताराचंद्रजी शास्त्री के साथ श्रीत्यागीजी महाराज का आगमन 'जहाज कोठी' में हुआ। अनायास ही श्रद्धा से नतमस्तक हो मैंने उनके चरण स्पर्श किए। उन्होंने मेरे शिर पर हाथ रखते हुए कहा—'भगवान् शांति दे'। मेरे सारे शरीर में विद्युत् की सी तरंगे तरंगित हो उठीं। मैं अपनी वाणी पर संयम न रख सका और बोल बैठा—'महात्मन्! जिस भगवान् से आपने मुझे शांति देने का अनुरोध किया है, संभवतः वह है नहीं। यदि इस नाम की कोई शक्ति है तो वह इस लोक से परे है और उसमें शांति प्रदान करने की सामर्थ्य नहीं है।' महात्माजी पूर्ववत् सहज शांत और गंभीर बने रहे। मेरे कथन की उन पर कोई प्रतिक्रिया न हुई। उनका व्यक्तित्व असाधारण तथा आकर्षक था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे उन संतों की कोटि के हैं, जिनकी सभी स्थितियों में सब समय सम दृष्टि रहती है और जो अहम् शून्य एवम् वैराग्ययुक्त होते हैं। मानस चर्चित ये संत-लक्षण उनमें पूर्णरूपेण घटित दिखाई दिए—

सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।।
कोमलचित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहि मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।।
बिगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ।।
सीतलता सरलता मइत्री । द्विजपद प्रीति धर्मजनयित्री ।।
ए सब लक्षन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ।।
सम दम नियम नीति नहि डोलहिं । परुष बचन कबहूँ नहि बोलहिं ।।

—मानस, ७।३८।२-८।

अपने अविवेकी कथन के कारण मेरा हृदय ग्लानि से भर गया और मैंने अत्यंत लज्जा का अनुभव किया। वर्षों से हृदय में संचित अशांति एवम् पीड़ा नेत्र-मार्ग से पलायन करने लगीं। मैंने याचनायुक्त स्वर में कहा—'महात्मा! क्षमा करें। शोक ने मेरी बुद्धि और विवेक दोनो का हरण कर लिया है। इसलिए मैं सम्हाल कर उचित शब्दों का प्रयोग न कर सका।' उन्होंने स्नेहसिक्त मधुर वाणी में कहा—'पुत्र! मैं तुम्हारे दुःख को जानता हूँ। तुम काया के लिए शोकाकुल हो। काया तो काल की है। वह अपनी वस्तु ले गया। जो अपनी नहीं है, उसके लिए शोक कैसा है?' इन शब्दों में अद्भुत चमत्कार था। संत की यह शक्तिशालिनी वाणी सीधे मेरे अंतस्तल में पैठ गई। अपने अंधकारपूर्ण असत् में मुझे उज्वल प्रकाश का बोध हुआ। मन ने कहा कि संत का कथन सोलहो आने सत्य है।

१—मानस, २।२११।१।

नेत्रों ने कहा कि पिता-पितामह, माता-मातामह, भाई-बंधु, कुटुंब सभी को इसी मार्ग से जाते हुए मैंने स्वयम् देखा है। उनमें से एक भी न रहा। सभी तो अपने थे। भावनाभिभूत हो मैंने झुककर महात्माजी का चरण स्पर्श करते हुए कहा 'गुरुदेव! आज इष्टदेव का मुझ पर विशेष अनुग्रह हुआ है, जो आपका मेरे निमित्त यहाँ आगमन हुआ क्योंकि—

गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान।।—मा०, ७।१२५।१३-१४।

महात्मन्! ज्ञान दीजिए कि मुझे क्या करना चाहिए? 'भजन', उत्तर अति संक्षिप्त था। मैंने दीनता से कहा कि यह हो नहीं पाएगा, एक व्यवसायी इस कठिन मार्ग का अवलंबन न कर सकेगा। उन्होंने प्रेम से कहा—'भोले बालक! जिसे तू छोड़ना चाहता है, वही तो तेरे लिए उत्तम भजन है। तेरा व्यवसाय ही तेरे लिए उत्तम भजन है। तेरा व्यवसाय ही तेरे लिए योगमार्ग है। तेरे व्यवसाय का स्थान ही तेरी तपोभूमि है। उसमें निरंतर क्रियाशील रहना ही तेरी साधना है। इसकी सफलता को तू पूर्णत्व की प्राप्ति मान। छोटे से लेकर बड़े तक सहस्रों कर्मचारी तेरे सहयोगी हैं। क्या कभी तूने सोचा है कि यही भगवान् का विराट रूप है। आँख खोल कर देख, तू स्वयम् अनुभव करेगा कि तू और तेरा जो कुछ है सब भगवान् है तथा भगवान् का है। जगत् के दृश्य सभी पदार्थ भगवान् हैं।'

भावावेश में उनकी गद्‌गद गिरा से ज्ञान-गंगा उमड़ पड़ी—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।।—मा०, १।८।१

मुझ अकिंचन के लिए यही गुरुमुख से निकला पवित्र गुरुमंत्र था। इस मंत्र ने मेरी विचार-धाराओं में महान् परिवर्तन कर उसे लोकहित की ओर नया मोड़ दिया, जिसका फल श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर के मूर्त्त रूप में प्रत्यक्ष है।

रामीदास

मानस की वर्तनी

रामचरितमानस के हस्तलेखों में लेखन शैली की विभिन्नता के अतिरिक्त वर्तनी में भी पर्याप्त अंतर मिलता है। कतिपय प्राचीन प्रतियों में तद्भव शब्दों के रूप तत्सम लिखे मिलते हैं, जो ग्रंथकार को अभिप्रेत न थे। मानस की रचना के पूर्व ही भाषा के शब्दरूपों तथा उनके उच्चारण में परिवर्तन तथा जनसाधारण में प्रचलित वाणी का नामकरण 'भाषा' हो चुका था। किंतु विद्वन्मंडली में संस्कृत को ही श्रेष्ठता प्राप्त थी। ग्रंथकार इस बात से भलीभाँति परिचित है कि 'भाषा' में रचना करने से लोग उसपर हँसेंगे,[1] किंतु कविता वही श्रेयस्कर है, वही उपादेय है, जिससे समान रूप से सबका हित हो[2] तथा भाषा में रचना करने से उनके अंतःकरण को सुख और संतोष मिलेगा।[3]

इन्हीं कारणों से तुलसीदासजी ने मानस की रचना 'भाषा' में की। विद्वान् अप्रसन्न न हों और यह न समझें कि संस्कृत पद्य-रचना का ज्ञान उन्हें नहीं है, इसलिए मानस के प्रत्येक कांड अर्थात् सातो सोपानों के मंगलाचरण तथा सप्तम सोपान की फलश्रुति की रचना उन्होंने संस्कृत में की। मानस का अथ भी देववाणी से हुआ और इति भी।

मानस के उक्त संस्कृत श्लोकों की वर्तनी के विषय में मतैक्य नहीं है। प्रणेता के मूलपाठ के महत्त्व को माननेवाले अथवा शोध में अभिरुचि रखनेवाले प्राचीन पांडुलिपियों की वर्तनी को ही मान्यता देते हैं, पर कुछ लोग उसे पाणिनि के सूत्रों से आबद्ध करने के पक्षपाती हैं। जनभाषा में रचना करनेवाले स्वतंत्रचिंतक वैरागी कवि को व्याकरण का अनुशासन कहाँ तक स्वीकार्य हो सकता है, यह विचारणीय है।

संस्कृत में परसवर्ण का नियम वैकल्पिक है। मानस की जितनी भी विशिष्ट प्राचीन पांडुलिपियाँ आज उपलब्ध हैं, सभी में अनुस्वार ही प्रयुक्त हैं। तत्रभवान् महाराज काशिराज के यहाँ एक 'पंचनामा' सुरक्षित है। उसके शीर्ष पर गो० तुलसीदासजी के स्वाक्षरों में लिखित मंगलवचन यथावत् यहाँ उद्धृत है—

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

द्विश्शरन्नाभिसंधत्ते द्विस्स्थापति नाश्रितान्।
द्विर्द्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्न्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहिं धरमु न सत्य समान ॥
रामु तजे जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥१॥
धर्म्मो जयति नाधर्म्मस्सत्यं जयति नानृतं ॥
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुराः ॥१॥

१—रामचरितमानस, १।९।४। २—वही, १।१४।९। ३—वही, १। मं० श्लो० ७।

उपर्युक्त उद्धरण से गोस्वामीजी की वर्तनी संबंधी मान्यता स्पष्ट है। उक्त पंचनामा की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। तुलसी-साहित्य की प्राप्त प्राचीन पांडुलिपियों में 'श्रीजानकीवल्लभो विजयते' का उल्लेख सर्वत्र है। जिस प्रकार पुष्टिमार्गीय वैष्णव 'श्रीकृष्णः शरणं मम', शैव 'ॐ नमः शिवाय' तथा शाक्त 'ॐ दुर्गायै नमो नमः' का व्यवहार प्रत्येक कार्य के आरंभ में करते हैं, उसी प्रकार तुलसीदासजी अपने इष्टदेव का स्मरण 'श्रीजानकीवल्लभो विजयते' लिखकर करते हैं। जिस प्रकार मानस का अथ तथा इति संस्कृत में है, उसी प्रकार उक्त पंचनामे के मंगलवचन का प्रारंभिक एवम् अंतिम श्लोक भी संस्कृत में हीं हैं। यद्यपि पंचनामे की प्रामाणिकता के अन्यान्य साक्ष्य भी हैं, किंतु विषयांतर के भय से उनका उल्लेख इस स्थल पर नहीं किया गया।

देवनागरी लिपि में लिखित प्रातिशाख्यों एवम् पुराणादि की शतशः पांडुलिपियाँ आज उपलब्ध हैं। सर्वभारतीय काशिराज न्यास के पुराण-विभाग में संपादन हेतु पुराणों के प्राचीन हस्तलेखों का अच्छा संग्रह किया गया है। उनमें देवनागरी लिपि में लिखी एक भी ऐसी प्रति नहीं है, जिसमें 'परसवर्ण' के नियम का नियमपूर्वक पालन किया गया हो। यह तो संस्कृत की प्राचीन पांडुलिपियों की स्थिति है। विश्रुत विद्वानों द्वारा संपादित प्राचीन संस्कृत की रचनाओं तथा कोश ग्रंथों के अनेकानेक ऐसे मुद्रित संस्करण सुलभ हैं, जिनमें अनुस्वार से ही काम लिया गया है। पं० विजयानंदजी त्रिपाठी संपादित 'श्रीरामचरितमानस' का प्रथम संस्करण सं० १९९३ में लीडर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। उसके संस्कृत श्लोकों की वर्तनी को काशिराज-संस्करण से मिला देखिए। यदि संस्कृत में परिवर्तन किया जाय तो फिर हिंदी में ही क्यों बाकी रहे?

मानस का प्रणयन 'भाषा' में होने के कारण उसमें प्रयुक्त शब्दों के रूप भी उसी के अनुरूप होने चाहिएँ। तद्भव शब्दों में 'ऋ' स्वर, 'ण', 'श' और 'क्ष' प्राकृत की प्रकृति को ग्राह्य नहीं हैं। जहाँ कहीं ये मिलते हैं, वे लिखक-प्रमाद से। प्राकृत भाषा की वर्णमाला में इनका समावेश नहीं है। प्राकृत नियमानुसार 'ऋ' के स्थान पर 'रि', 'ण' का 'न', तालव्य 'श' का दंत्य 'स', 'क्ष' का 'छ', 'च्छ' या 'क्ख' अथवा 'ख' (ष) और 'ज्ञ' के स्थान पर 'ग्य' रूप मानस में मिलता है। जैसे—ऋषि = रिषि, चरण = चरन, करुणा = करुना, गणेस = गनेस, शरण = सरन, क्षेम = षेम (खेम), क्षीर = खीर, दक्ष = दछ, कृतज्ञ = कृतग्य, आज्ञा = आग्या आदि आदि। मूर्धन्य 'ष' और कवर्गीय 'ख' के लिए तत्कालीन प्रथा के अनुसार उच्चारण साम्य के कारण 'ष' ही लिखा जाता था। मूल मूर्धन्य 'ष' के दो उच्चारण थे—'ख' और 'स'। जहाँ 'स' उच्चारण है, वहाँ तो 'स' ही लिखा गया है, पर अन्यत्र 'ष'। संयुक्त वर्णों में जहाँ भी मूर्धन्य 'ष' आया है, वहाँ उसका मूल रूप सुरक्षित है और उसका उच्चारण 'स' ही है। जैसे—वसिष्ठ (वशिष्ठ), इष्ट आदि शब्दों में। 'दोष' लिखा तो संस्कृत के अनुसार है, किंतु उसे 'दोख' ही पढ़ना होगा। तालव्य

'श' के स्थान पर 'श्र' रूप प्रायः उन्हीं प्रतियों में मिलता है, जिनमें तद्भव शब्दों को तत्सम किया गया है। जिन शब्दों में तालव्य 'श' के साथ 'र' का संयोग हुआ है, सर्वत्र 'श्र' है। तालव्य 'श' तथा 'ल' के संयुक्त होने पर दोनो रूप चलते थे, जैसे—'श्लोक' और 'श्लोक'; किंतु अधिकतर 'श्र' का ही प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार 'गणेश' का 'गनेस' हो जाता है, उसी प्रकार 'षण्मुख' का 'षन्मुख'। 'षण्मुख' व्याकरण संमत वर्तनी है। मानस में 'लक्षण' के स्थान पर 'लच्छन' नहीं, 'लछन' ही लिखा गया है। 'च्छ' का प्रयोग श्रावणकुंज, अयोध्या की सुप्रसिद्ध सं० १६९१ की प्रति, काशिराज की सं० १७०४ की प्रति तथा अन्य मानस की विशिष्ट प्रतियों में नहीं मिलता। उन सभी में या तो 'क्ष' है या 'छ'। संयुक्ताक्षर के स्थान पर एकाक्षर का प्रयोग बराबर मिलता है। 'लछन' के संबंध में दो स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो 'छ' के पूर्व वर्ण पर बलाघात है अथवा 'छ' दुहरा लिखा गया होगा, जो आगे चलकर इकहरा रह गया। किसी-किसी प्रति में 'छ' के द्वित्व का प्रयोग मिला है। तात्पर्य यह कि 'छ' लघु ही लिखा गया है, यद्यपि उसका उच्चारण गुरु होना चाहिए। द्वित्व वर्णों में भी यही बात पाई जाती है। लघु और दीर्घ का बोध उच्चारण से होता है। यदि उच्चारण ठीक न किया जाय तो छंद की लय नहीं बैठती। मानस में यदि लिखित रूप की ही मात्राएँ गिनी जायँ तो छंदोभंग बहुत मिलेगा। लिखा गुरु रहता है, किंतु उसका उच्चारण लघु करना पड़ता है। इसी प्रकार लिखा ह्रस्व रहता है, किंतु उसका उच्चारण दीर्घ करना पड़ता है।

अवधी भाषा में 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व उच्चारण चलते हैं। पछाहीं बोलियों में ऐसी स्थिति में 'इ' 'उ' हो जाता हैं। 'एक' से 'एक्का' बना। इसमें 'ए' का उच्चारण हलका है। पछाहँ में 'इक्का' बोला जायगा। पर अवधी भाषा में इसका हलका उच्चारण सुरक्षित है। यही स्थिति 'ओ' की है। मानस में 'मोहि' शब्द के दो उच्चारण मिलते हैं। एक में 'मो' का पूरा उच्चारण होता है, दूसरे में हलका। इसका फल यह हुआ है कि कहीं-कहीं ठीक स्थिति न समझने के कारण शब्दों की वर्तनी बदल दी गई है और पाठ भी बदल दिया गया है। जैसे—

बेलवाती महि परै सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥ —१।७४।६।

इसमें 'बेलवाती' के 'वे' का तथा 'सोइ' के 'सो' का उच्चारण हलका है। 'बेलपाती' शब्द का 'बेलवाती' उच्चारण अब भी अवध के गावों में सुरक्षित है। 'प' का 'व' प्राकृत के 'पो वः' सूत्र को प्रमाणित कर रहा है। इसे न समझने के कारण अनेक मुद्रित प्रतियों में 'बेलपाती' पाठ कर दिया गया है।

जिस प्रकार 'ए' और 'ओ' के ऐसे उच्चारण गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं, वैसे ही 'ऐ' और 'औ' के उच्चारण भी वर्तनी के संबंध में विलक्षण स्थिति उत्पन्न करते हैं। संस्कृत में 'ऐ' और 'औ' के उच्चारण क्रमशः 'अइ' और 'अउ' की तरह होते हैं। पर आगे चलकर बोलियों में इनके उच्चारण कहीं-कहीं 'अय्' और 'अव्' की

तरह होने लगे। पछाहीं बोलियों में यह प्रवृत्ति अधिक है। फिर भी उनमें संस्कृतवाले उच्चारण विशेष स्थिति में होते हैं। जब 'ऐ' और 'औ' के आगे क्रमशः 'य' और 'व' होता है या 'आ' स्वर आता है तो उनका उच्चारण मूल संस्कृत उच्चारण की भाँति ही किया जाता है। जैसे—'नैया' को 'नइया' बोलते हैं, 'नय्या' नहीं। ऐसे ही 'लखनौवा' या 'लखनौआ' की स्थिति भी है। अवधी भाषा में 'ऐ' और 'औ' का सामान्यतया उच्चारण संस्कृतवाला ही है। इसलिए हस्तलेखों में दो तरह की वर्तनी दिखाई देती है। 'चलै' और 'चलौ' भी है तथा 'चलइ' और 'चलउ' भी है। तुलसीदासजी को दोनो प्रकार की वर्तनी स्वीकार थी, इसका पता तुकांत के अनुरोध से दीर्घ किए गए दूसरे प्रकार के स्वरूपों से चलता है। 'चलई' और 'चलऊ' रूप इसके प्रमाण हैं। जहाँ उन्हें 'ऐ' और 'औ' के दूसरे रूपों को व्यक्त करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'य' और 'व' का प्रयोग किया है। इसका कारण यही है कि 'नैन' लिखने से उसका उच्चारण 'नइन' करना पड़ेगा। यह स्थिति वहाँ बहुत स्पष्ट हो जाती है, जहाँ कि दोहे के तुकांत में 'दीर्घ-लघु' रूप होना अनिवार्य है, अधिकतर प्राचीन पांडुलिपियों में 'नयन' या 'अयन' लिखा मिलता है—

स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा अयन।
सरद सर्बरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन॥ —१।११५।०।

उच्चारण को व्यक्त करने के लिए यहाँ 'य' श्रुति का संकेत किया गया है। इसका अपवाद भी मिलता है, किंतु क्वचित्। ऐसी ही स्थिति 'कौन' की भी है। 'कह लंकेस कवन तइँ कीसा॥' (५।२१।१) में 'कवन' 'कौन' तथा 'तइँ' 'तैं' है, केवल उच्चारण व्यक्त करने के लिए उन्हें 'कवन' और 'तइँ' किया गया है। जिन लिखकों ने, विशेषरूप से पश्चिम प्रांत के लिखकों ने, 'कवन' के बदले 'कौन' ही लिखा है, उनके यहाँ 'कौन' का उच्चारण 'व' श्रुतिवाला होता है। पर अवधी में 'कौन' लिखे रहने पर 'कउन' पढ़े जाने की संभावना है। इसलिए गोस्वामीजी ने 'व' श्रुति का व्यवहार किया है। अवधी तथा पूर्वी बोलियों में 'व' श्रुति अनेक स्थितियों में होती है। मानस और पद्मावत में 'व' श्रुति के कई रूप मिलते हैं। 'कैलास' को जायसी ने 'कइलास' या 'कय्लास' नहीं लिखा है, 'कविलास' लिखा है। यह शब्द अवधी में विशेष अर्थ रखता है। इसका अर्थ कैलास पर्वत नहीं है। इसका अर्थ है—स्वर्ग। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल तक ने जायसी-ग्रंथावली के प्रथम संस्करण में 'कीन्हेसि तेहि पिरीत कविलासू' को 'कीन्हेसि तेहि परबत कैलासू' ही समझा था। 'पिरीत' शब्द फारसी लिपि में लिखे जाने पर दोनो पढ़ा जा सकता है। मानस में 'व' श्रुति का एक विलक्षण उदाहरण मिलता है, जिसे न समझने के कारण आगे चलकर बदल दिया गया है—

कासी मग सुरसरि क्वनासा। मरु मारव महिदेव गवासा॥ —१।६।८।

यहाँ 'कविनासा' 'कर्मनासा' के लिए प्रयुक्त है। इसे न समझने के

कारण आगे चलकर लोगों ने 'क्रमनासा' पाठ कर दिया। कर्मनासा नदी के तट पर रहनेवाले उसे 'करमनासा' तो कहते ही हैं 'कइनासा' भी कहते हैं। प्राचीनकाल में 'कइनासा' 'कविनासा' उच्चरित होता था, उसीतरह जैसे 'कइलास' 'कविलास' बोला जाता था। 'कविनासा' आजकल का 'कइनासा' है और 'कृति-नाशा' का विकसित रूप है। यह सूचना सर्वप्रथम आचार्य श्रीविश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने 'भिखारीदास ग्रंथावली' की भूमिका में दी है।

जिस स्थिति में आजकल 'ड' और 'ढ' के नीचे विंदु लगाकर 'ड़' और 'ढ़' लिखते हैं, वह तत्वतः उच्चारण का विषय है। पर हिंदी में 'ड' और 'ढ' की दो प्रकार की ध्वनियों के कारण दूसरी स्थिति को व्यक्त करने के लिए विंदु लगाकर उसे पृथक् करने की आवश्यकता है। हिंदी में ऐसा वहाँ भी करना पड़ता है, जहाँ संस्कृत के शब्द तत्समरूप में लिखे जाकर भी बिना इस बिंदु के हिंदी का उच्चारण सूचित नहीं करते। जैसे—'क्रीड़ा', 'व्रीड़ा' आदि। प्राचीन हस्तलेखों में 'ड' और 'ढ' के इन दोनो उच्चारणों को पृथक् करने के लिए कोई संकेत नहीं दिया जाता था। किसी किसी हस्तलेख में 'ड' के पेट में 'ङ' की तरह विंदु लगा मिलता है। तत्वतः 'ड' और 'ढ' जब दो स्वरों के बीच आते हैं, तो वैदिक उच्चारण के अनुसार इनका मूल उच्चारण बदल जाता है। हिंदी में यही स्थिति नीचे विंदु लगाकर व्यक्त की जाती है।

तुलसीदासजी ने अकारांत पुंलिंग शब्दों को कहीं-कहीं उकारांत लिखा है और अकारांत स्त्रीलिंग शब्दों को इकारांत रखा है। 'राम' शब्द 'रामु' लिखा गया है और 'पीठ' शब्द 'पीठि'। अकारांत स्त्रीलिंग शब्दों के इकारांत रूप के संबंध में तो कोई विशेष विवाद नहीं है, पर अकारांत पुंलिंग शब्दों के उकारांत रूप और विशेषकर व्यक्तिवाचक ऐसे शब्दों के उकारांत रूप पर विशेष आपत्ति की गई है। इसलिए इन्हीं रूपों का कुछ विचार करना उपयुक्त होगा। उकार-बहुला अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में अकारांत पुंलिंग शब्दों का उकारांत रूप व्याकरणसंमत है। व्यक्तिवाचक नामों में यह प्रवृत्ति अवश्य वहाँ नहीं दिखाई देती, पर अवध प्रांत में और खासकर बैसवाड़े में व्यक्तिवाचक नामों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन कहीं-कहीं अब भी होते हैं। रामचरितमानस पर जिन स्थानों की भाषा का विशेष प्रभाव है, वे स्थान बैसवाड़ा, अंतर्वेद और नैमिषारण्य निश्चित रूप से हैं। इसलिए मानस में प्रयुक्त इन उकारांत रूपों से आशंकित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उक्त प्रदेशों में इस प्रकार के रूप चलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी के समय के आसपास व्यक्तिवाचक नामों में उकार का प्रयोग बहुलता से था। उन्हीं के समकालीन गंग कवि के बहुत से कवित्तों में 'गंगु' रूप प्राचीन हस्तलेखों में मिलता है। तुलसीदासजी के परवर्ती एवम् पूर्ववर्ती अनेक कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। उन सबका यहाँ समावेश संभव नहीं। मानस-व्याकरण के

विचारक श्री एडविन ग्रीव्स, पं० विजयानंदजी त्रिपाठी आदि प्रभृति विद्वानों ने भी इसकी पुष्टि की है तथा मानस के विशिष्ट संस्करणों में उकारांत पुंलिंग शब्द गृहीत हैं। श्रावणकुंज, (अयोध्या), राजापुर, दुलही, काशिराज आदि की सभी महत्त्वपूर्ण प्रतियों में उकारांत रूप का नियमित प्रयोग हुआ है। भारतेंदुबाबू के पिता बाबू गिरधरदासजी ने भी अपने पद्यबद्ध हिंदी व्याकरण में इसके नियम बतलाए हैं। यह व्याकरण 'मानस-मयूख' के वर्ष १, प्रकाश ३ में प्रकाशित है।

यह उकारांत रूप, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रथमा और द्वितीया में ही होता है। इसलिए जिन लोगों को एक अर्द्धाली में प्रयुक्त एक ही शब्द के दो रूप 'राम' और 'रामु' मिलने से आश्चर्य हुआ है, उनके भ्रम का निवारण केवल विभक्ति की स्थिति स्पष्ट कर देने से ही हो जायगा। जैसे—

कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू॥ –२।३२।६।

इसमें पहला 'राम' शब्द षष्ठी विभक्त्यंत है। 'राम अपराधू' का विभक्तियुक्त रूप 'राम का अपराध' है, इसलिए वहाँ 'राम' के उकारांत होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यही स्थिति 'गुरु' शब्द की है। प्राचीन हिंदी में 'गुरु' शब्द 'गुर' अर्थात् अकारांत चलता था। इसलिए रामचरितमानस में जहाँ यह प्रथमा और द्वितीया में आया है, वहाँ 'गुरु' रूप है, अन्यत्र 'गुर'। तुलसीदासजी को ये उकारांत रूप अभिप्रेत हैं, इसका पता तुकांत से चल जाता है। उन्होंने चौपाई के तुकांत के अनुरोध से शब्दों को दीर्घ किया है। यदि शब्द उकारांत है तो ऊकारांत कर दिया है। जैसे—'अपने बस करि राखे रामू' (१।२६।६)। यहाँ यदि 'रामु' रूप उन्हें मान्य न होता तो 'अपने बस करि राखे रामा' ऐसा पाठ लिखते, क्योंकि तुलसीदासजी ने मानस में अकारांत शब्दों की दो स्थितियाँ रखी हैं। जहाँ उन्हें केवल सामान्य एकवचनांत रूप व्यक्त करना हुआ है, वहाँ अकारांत पुंलिंग शब्द ज्यों के त्यों रखे गए हैं। यह स्थिति 'राम' शब्द में भी देखी जा सकती है। जैसे—

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥ —२।३७।८।

यहाँ 'राम' शब्द उकारांत नहीं है, क्योंकि उन्हें सामान्य रूप में ही व्यक्त करना है। प्रथमा या द्वितीया विभक्ति की विवक्षा यहाँ नहीं है। जहाँ विभक्ति की विवक्षा है, वहाँ उकारांत रूप ही रखा गया है। जैसे—

रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु॥ —२।३८।०।

अकारांत पुंलिंग शब्दों के उकारांत रूप को संप्रति चलनेवाले नामों में भी देखा जा सकता है। 'रामू द्विवेदी' 'श्यामू पाठक' नाम तभी हो सकते हैं, जब अकारांत 'राम' और 'श्याम' को उकारांत किया जाय और पुकारने में उन्हें दीर्घांत कर देना पड़े। आगे फिर कभी।

ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड की त्रैमासिक पत्रिका

मानस-मयूख

के स्वामित्व आदि संबंधी विवरण

१. प्रकाशन-स्थान	... ...	१७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड, सलकिया, हवड़ा।
२. प्रकाशन-अवधि	... ...	त्रैमासिक।
३. मुद्रक का नाम	... ...	सत्यनारायण झुनझुनवाला
राष्ट्रीयता	... ...	भारतीय
पता	... ...	५/१०, बाज़लपाड़ा लेन, सलकिया, हवड़ा।
४. प्रकाशक का नाम	... ...	सत्यनारायण झुनझुनवाला
राष्ट्रीयता	... ...	भारतीय
पता	... ...	५/१०, बाज़लपाड़ा लेन, सलकिया, हवड़ा।
५. संपादक का नाम	... ...	रामादास शास्त्री
राष्ट्रीयता	... ...	भारतीय
पता	... ...	द्वारा, श्री सत्यनारायण तुलसी मानस मंदिर, दुर्गाकुंड, वाराणसी।
६. नाम और पते उन व्यक्तियों के जो पत्र के स्वामी हैं और साझीदारों या अंशीदारों के जिनका मूल में एक प्रतिशत से अधिक लगा है।	... ...	स्वामी एवं स्वत्वाधिकारी ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड, एक दातव्य न्यास, १७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड, सलकिया, हवड़ा।

मैं, सत्यनारायण झुनझुनवाला यह घोषित करता हूँ कि ऊपर उद्धृत विवरण मेरे संपूर्ण ज्ञान और विश्वास में सत्य हैं।

सत्यनारायण झुनझुनवाला
प्रकाशक

पत्रिका के उद्देश्य

१. तुलसी-साहित्य का अध्ययन, अन्वेषण और उसके विविध अंगों का विवेचन।
२. सन्त-साहित्य का मनन और विश्लेषण।
३. निगम, आगम और पुराण में कथित मानव-धर्म का उद्घाटन।
४. विश्व-वाङ्मय के सर्वनिष्ठ तत्वों का संकलन और मूल्यांकन।

परामर्शदातृ मण्डल

मानस-मयूख

[त्रैमासिक शोध-पत्रिका]

संरक्षक

श्रीरतनलालजी सुरेका

संपादक

रामादास शास्त्री, एम० ए०

मुद्रक एवम् प्रकाशक

सत्यनारायण भुनभुनवाला,
मंत्री, ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड,
१७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड,
सलकिया, हवड़ा।

वर्ष २
प्रथम प्रकाश]

३० जून, सन् १९६५ ई०

[मूल्य दो रु०

मानस-मयूख

द्वितीय वर्ष,
प्रथम प्रकाश

अनुक्रम

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र

राम के दो नखशिख

[अतीत से ही भारत मर्यादावादी रहा है। मर्यादा की दृष्टि से ही यहाँ के साहित्य में लौकिक एवम् अलौकिक नायक-नायिकाओं की सौंदर्याभिव्यक्ति में शिखनख तथा नखशिख के द्वारा पार्थक्य करने की अपेक्षा हुई। प्रस्तुत निबंध में अलौकिक पात्रों के नखशिख-वर्णन का रस की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

तत्पश्चात् विद्वान् लेखक ने अपने 'कोसल-किशोर' काव्य से श्रीराम के नखशिख को उद्धृत कर उसमें कुछ संशोधन एवम् परिवर्तन किया है और आगे कहा है—

'प्राचीन परिपाटी के काव्य में केवल हृदय-तत्व की प्रधानता थी और रूप-सौंदर्य पर बल दिया जाता था। नई परिपाटी के काव्य में बुद्धि-तत्व भी प्रबल हो उठा है और गुण-सौंदर्य तथा प्रभाव-सौंदर्य पर भी पूरा बल दिया जाता है। दोनो परिपाटियाँ एक साथ सध सकें तो फिर क्या कहना! इन्हीं सब प्रेरणाओं ने अब राम का एक नया नखशिख लिखवा दिया, जो सहृदयों के मनोरंजनार्थ नीचे लिखा जा रहा है। आशा है कि राम-विग्रह का यह नखशिख साधकों के ध्यान के दृढ़ीकरण में विशेषरूप से सहायक होगा।]

सुंदर वस्तु स्वभावतः हृदय को आकृष्ट करती है और चित्त को आनंद देती है। सौंदर्य का हृदयग्राही वर्णन कवि का प्रथम कर्म माना गया है। यों तो संसार में अनेक प्रकार की सुंदर वस्तुएँ हैं, परंतु यह अनुभूत सत्य है कि मानव-हृदय के लिए मानव-सौंदर्य ही विशेष आकर्षक रहा है। शैशवावस्था का सौंदर्य वात्सल्यरस का विवर्धक है और यौवनावस्था का सौंदर्य प्रायः शृंगाररस का। किशोरावस्था का सौंदर्य वात्सल्यरस की ओर भी झुक सकता है और शृंगाररस की ओर भी तथा वह दोनों से तटस्थ रहकर सख्यरस की भी वृद्धि कर सकता है। मानव-शरीर का सौंदर्य इन रसों का विवर्धक तो होता ही है—और प्रथम दृष्टि में उसी की प्रधानता भी रहती है—परंतु इस बहिः सौंदर्य के साथ अंतः सौंदर्य भी संमिलित हो जाय, अर्थात् उस रूप-सौंदर्यवान् व्यक्ति के

गुण-सौंदर्य का भी पूरा योग हो जाय, तब तो समझिए कि सोने में सुगंध आ जाती है। कवियों ने उभय प्रकार के संमिलित सौंदर्य के वर्णन का ध्यान रखा है। इतना ही नहीं, उन्होंने उस सौंदर्य की प्रभविष्णुता का भी ध्यान रखा है। सौंदर्य के नखशिख वर्णन में वे एक एक अंग का सौष्ठव बताकर ही नहीं रह गए हैं, किंतु उस व्यक्ति के—चाहे वह नायक हो या नायिका—मनोगत भावों अर्थात् प्रेम, शील, सौजन्य, उदात्तता आदि का भी संकेत देते गये हैं और आश्रय के ऊपर इन सब का क्या प्रभाव पड़ रहा है, यह भी बताते चले हैं।

आकर्षणमूलक भावों में रतिभाव का बहुत बड़ा महत्त्व है और वात्सल्यरस, सख्यरस तथा श्रृंगाररस इसी एक भाव पर टिके हुए हैं। लौकिक क्षेत्र में यह रतिभाव श्रृंगाररस में ही पूरी समृद्धि के साथ अनुभूत होता है; अतएव श्रृंगार-परक नखशिख की ओर ही कवियों का ध्यान विशेष रूप से गया है। इस नख-शिख में भी नारी नखशिख को ही प्रधानता दी गई है, क्योंकि कोमलता, सुकु-मारता, रहस्यमयी अस्फुट भाव-प्रवणता, प्रभविष्णुता आदि की दृष्टि से नारी-सौंदर्य ही उल्लेखनीय है। नारी-नखशिख के व्यापक वर्णन की तुलना में नर-नखशिख का वर्णन एकदम नगण्य ही मिलेगा। किसी ने नर-नखशिख लिखा तो वह पाठकों के लिए एक कुतूहल का ही विषय बन जाता है।

परंतु रतिभाव के लिए लौकिक क्षेत्र से परे एक अलौकिक क्षेत्र भी तो है। रतिभाव काम की सीमा लाँघकर प्रेम की तदीयता में परिणत हो जाय, यह दोनो क्षेत्रों में संभव है; और उस रतिभाव का सच्चा आनंद तभी है, जब वह इस तदीयता के रूप में निखरे। परंतु रतिभाव का आलंबन जब केवल लौकिक क्षेत्र का व्यक्ति न माना जाकर अलौकिकतायुक्त मान और समझ लिया जाता है, तब लौकिक प्रेमरस भक्तिरस में परिणत हो जाता है तथा उसकी शाखा प्रशाखा कहलानेवाले वात्सल्यरस और सख्यरस दिव्य बन जाते हैं। उस स्थिति का श्रृंगाररस मधुररस की संज्ञा पाता है। शरीर-सौंदर्य का सर्वथा अनपेक्षी उस समय का रति-भाव दास्यरस के रूप में अपनी विशिष्टता स्पष्ट कर लेता है।

अलौकिक-आलंबन-निमित्तक रतिभाव में श्रद्धाभाव साथ ही साथ चलता है। अतएव आलंबन यदि नायिका-रूप में हो तो उसके प्रति स्वभावतः ही मातृभाव जागेगा और यदि नायकरूप में हो तो स्वभावतः उसके प्रति पिताभाव, स्वामीभाव या सुहृद्भाव। श्रद्धा जब निर्हेतुक सेवा का रूप ले लेती है, तब दिव्य वात्सल्यरस चमक उठता है, और जब पूर्ण समर्पण का भाव ले लेती है तब ऐसा मधुररस चमक उठता है, जिसमें लौकिक लिंग भेद उड़कर आलंबन तो एकमात्र नायक रह जाता है और जितने आश्रय लोग हैं, वे चाहे पुरुष वर्ग के हों या स्त्री वर्ग के उस नायक पर न्योछावर हो जानेवाली स्त्रियाँ-बन जाते हैं।

इस परिस्थिति में, निष्कर्ष यह हुआ कि यदि लौकिक रति का काव्य होगा तो नारी-नखशिख की प्रधानता होगी और यदि अलौकिक रति का काव्य होगा तो नर-

नखशिख की। नर नखशिख में भी किशोरनायक के नखशिख की विशेष प्रधानता होगी, क्योंकि शिशुरूप केवल वात्सल्यरस का पोषक होता है और प्रौढ़रूप केवल दास्यरस का, जब कि किशोररूप रति-संबंधी अनेक रसों का—वात्सल्य, दास्य, सख्य, मधुर, सब का—पोषक हो सकता है। सौंदर्य की दृष्टि से किशोररूप है भी सर्वोत्तम। इसीलिए तो शांतरस तथा दास्यरस के प्रवर्तक रूप में भगवान् शंकर की जो प्रौढ़ वपुवाली तपोनिरत मूर्ति की कल्पना की जाती है, उसमें भी प्रायः दाढ़ी मूछ का अभाव रहता है और कैशोर्य तथा यौवन की वयःसंधिवाली अवस्था अथवा यों कहिए कि नवयौवनवाली अवस्था का ही विशेष रूप से ध्यान किया जाता है। यही हाल गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी की मूर्तियों का भी समझिए।

अपनी-अपनी भावना के अनुसार कुछ ने दिव्य आलंबन को राम के रूप में देखा और कुछ ने कृष्ण के रूप में। इन दोनो को लौकिक मनुष्य भी कहा जा सकता है और अलौकिक परमात्मा भी। सब से बड़ी बात यह है कि वे मनुष्यों के बीच मनुष्यों की तरह रहे तथा अपने लोकोत्तर शक्ति शील, एवम् सौंदर्य से लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे (कृष्ण का अर्थ ही यही है) या उसे अपने में रमाते रहे (राम का अर्थ ही यही है)। मनुष्य के लिए मनुष्यता का यह आदर्श स्वभावतः बहुत हृदयग्राही हुआ। अतएव कवियों की लेखनी इन्हीं के नखशिख वर्णन में विशेष रूप से चली।

नारी-सौंदर्य का प्राकृत आलंबन लेकर तरुण कवियों की प्रतिभा का प्रसार सरल है। परंतु नर-सौंदर्य का अप्राकृत आलंबन लेकर राम-कृष्ण का नखशिख लिखना उतना सरल नहीं। इसलिए राम-कृष्ण के नखशिख भी अपेक्षाकृत कम ही लिखे गए हैं। यदि आलंबन की ओर स्वाभाविक आकर्षण रहा तब तो उसका एक एक अंग और उस एक एक अंग का सामान्य वर्णन भी मधुर ही लगेगा। 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरं'। परंतु आराध्य रूप के प्रति ऐसा स्वाभाविक आकर्षण कितनों में रहता है? इसीलिए कवि लोग या तो वर्णन करना ही छोड़ देते हैं या कल्पना का अत्यधिक सहारा लेकर खास खास आकर्षक अंगों के रूप, गुण और प्रभाव का अलंकारमय वर्णन करके ही चुप हो जाते हैं। आजकल तो स्थूल रूप-सौंदर्य के नखशिख वर्णन की परिपाटी भी बदल चुकी है। अतएव यह कार्य और भी दुरूह हो गया है।

परंतु इतना होते हुए भी यह कटु सत्य है कि निराकार अलौकिक आराध्य पर ध्यान जमाने के लिए किसी लौकिक रंग रूप आकार का सहारा लेना ही पड़ता है और ऐसे सब आकारों में राम या कृष्ण के किशोर वपु के आकार मानव-मन के लिए अपना विशेष आकर्षण रखते ही हैं। राम और कृष्ण भले ही अन्य गुणों के व्यक्ति रहे हों, परंतु उनका कमनीय किशोर रूप युग युग के सतत वर्तमान की वस्तु है, जो चित्रों या मूर्तियों के सहारे हमारे बहिःचक्षुओं और अंतश्चक्षुओं

के द्वारा देखा जा सकता है तथा हमारे चंचल मन को अपने प्रकृति-सौंदर्य की सीमा में बाँधकर ध्यान-योग में एकाग्र कर सकता है और इस प्रकार हमें दिव्य प्रेम का प्रसाद दे सकता है। इसी दृष्टि से राम-कृष्ण के नखशिखों की बड़ी उपयोगिता है।

'ऐतिहासिक व्यक्ति श्री राम का किशोर वपु परम आकर्षक है, जो अपने उस आकर्षण में अनायास ही सात्विकता के वातावरण की सृष्टि कर देता है' इस भाव को लेकर लिखा हुआ यह नखशिख देखिए—

नव इंदीवर कलित कलेवर यदि कोमल सुषमादाता था,
तो अतुलित बल का वैभव भी छन-छन कर बाहर आता था।
अमल कमल से विमल चरण थे सिंह-गमन का गौरव धारे,
कृश कटि पर विशाल वक्षस्थल मधुर हृदय की छवि विस्तारे॥

युगल बाहु आजानु रुचिर, थे, गुण बल में शंकर से, स्मर से,
पंच सिरों से पंच शरों से पावन पंजे जिनमें दरसे।
धनुष वाण उनमें स्थित हो, थे कर्मनिष्ठता वह दिखलाते,
जिसकी गाथा गाते गाते कविजन अबतक नहीं अघाते॥

उन्नत कन्धर पर उज्ज्वल मुख, जग-सुषमा समेट बैठा था,
अद्भुत ही जिस पूर्णचंद्र में गहरा ज्ञानसिंधु पैठा था।
विश्वव्यापिनी थी कुशाग्र धी, उस मस्तिष्क विपुल की ऐसी,
जगद्व्यापिनी ज्योत्स्ना रहती रजनी-नायक की है जैसी॥

आनन पर मुसकान मधुर थी, मोहनमंत्र सदृश मन हरती,
चिबुक, कपोल, भाल, नासा छवि, प्रति पल जगत् नया सा करती।
आँखें ? आह, कहें क्या उनमें आकर्षण जिस, भाँति भरा था,
उठतीं जिधर, उधर का जग ही मानों अनुचर बना धरा था॥

कुसुम सदृश कोमल ? मछली सी क्रीड़ारत ? तारों सी तीखी?
अस्थिर खंजन सी वे आँखें ? निश्छल विकसित हरिण सरीखी?
उपमाएँ हैं ठीक; मुझे तो किंतु कमल उपमा ही भाई,
क्योंकि जिधर ये बढ़ीं, उधर ही कमला ने क्रीड़ा-छवि छाई॥

कितना मधु-वर्षण करती थीं, उनकी हृदय-विमोहक आँखें,
रह जाती थीं पथ ही में फँस-फँस कर मन-मधुकर की पाँखें।
पल-पल पलकें पहरे देतीं हाथ हजार-हजार बढ़ाकर,
सुधाकुंड यों रक्षित रखतीं, जग-दृग हाथों-हाथ उड़ाकर॥

कुंचित कुंतल थे कि नाग थे नयन-सुधा पीने को ध्याये,
भ्रू-धनु देख, भाल-शशि पर रुक, छबि-छबि-पय पिया और लहराये।
पीतांबर, मणि-मुकुट, सुकुंडलयुत नीला तनु यों भाया था,
मानों चपला, इंद्रचाप, खग-पंक्ति सहित नव-घन आया था॥

अरे, कहाँ घन, कहाँ राम-तन, डूबा वह कोरे जड़ रस में ,
ओज और माधुर्य भरे थे किंतु राम-तनु की नस-नस में ।
इस छवि का चरणोदक लेकर विधि अपने साँचे थे धोते ,
एक-एक अँगड़ाई पर थे सौ सौ मदन निछावर होते ॥

ये पंक्तियाँ मेरे 'कोसल-किशोर' काव्य से उद्धृत की गई हैं । साधारणीकरण के सिद्धांत के अनुसार देश काल पात्र की सीमाएँ तो उड़ ही जाती हैं और इस प्रकार भूतकालिक क्रिया 'था' या 'थे' के स्थान पर सरलतापूर्वक 'है' या 'हैं' का आरोप हो सकता है । साथ ही लौकिक रूप में आराध्य की अलौकिकता के भी संकेत देने हों तो प्रथम दो पंक्तियों को इस प्रकार बदला जा सकता है—

प्रभुवर रामचंद्र का नखशिख जगद्वंद्य जगमोहन बाँका ,
मनुज रूप में पुंजीकृत है सच्चिन्मय प्रवाह सुषमा का ।

तीसरी पंक्ति के बदले लिखा जा सकता है—

भक्त-हृदय-कल्याण-कल्पतरु अमल कमल से चरण दुलारे ।

सातवीं पंक्ति की 'कर्मनिष्ठता वह दिखलाते' की जगह 'ज्ञान क्रिया ऐसी दिखलाते' हो सकता है, चौदहवीं पंक्ति का रूप बदलकर 'अस्फुट आशीर्वाद बनी सी, अनायास चेटक सा करती' हो सकता है और छब्बीसवीं पंक्ति के बाद यह छंद भी जोड़ा जा सकता है—

विजय-तिलक सा भाल-तिलक था भव्य दिव्य पर छाप लगाये ,
वनमाला में भक्त-सुमन थे गुथने को सुमनों मिस आये ।
हृदय कंठ भुज के आभूषण भूषण थे या बने दिठौने ,
हुए काम के यंत्र मंत्र भी जिनकी चकाचौंध में बौने ॥

किंतु यह समग्र वर्णन एक प्रकार से परंपरागत ही है और उसमें भी नखशिख के अनेक अंग छूट ही गए हैं । नाखून, उँगलियाँ, घुटने, टखने, जाँघें, पेट, पीठ आदि आदि के वर्णन में शास्त्रीयता तो रह जाती, परंतु भावों का समुचित निर्वाह न हो पाता । 'चिबुक कपोल भाल नासा छवि' में भी अवयवोल्लेख ही प्रधान ज्ञान पड़ने लगा था, जिसके आगे पूर्वपंक्तिवाली 'मुसकान' की भक्त-हृदयोल्लासिनी भावना कुछ दबी-दबी सी लगने लगी थी । इसीलिए उस वर्णन को कुछ बदल देने का संकेत ऊपर किया गया है । फिर भी उपर्युक्त नखशिख अपने ढंग से उपयोगी और आकर्षक तो है ही ।

धीरे धीरे बुद्धि और अधिक प्रौढ़ हुई तथा भावना में और अधिक निखार आया । तब प्रणव मंत्र ॐ और तारक मंत्र 'रा' का कुछ रहस्य समझ में आया । नाद ही तो गति का प्रथम रूप है और ॐ का नाद-बिंदु ही अखिल सृष्टि का मूल तत्व है । यह विज्ञान द्वारा भी समझाया जा सकता है । इस निराकार ॐ की तारक शक्ति (जीव-उद्धारक शक्ति), र आ और म के संयुक्त नाद में सुंदरता के

साथ अभिव्यक्त होती है। र की ध्वनि घर्षण-धर्मा है। वह शक्तिदायिनी है। कलुष को भस्म करके जीवन की नव-ज्योति प्रदान करना इस अग्नि-बीज का धर्म है। इसीलिए वह कर्म, अनासक्ति, वैराग्य की क्षमता देनेवाली है। कर्मठता और अनासक्ति ही मानों उस निराकार तत्व के दो हाथ हैं, जिनमें प्रतीक रूप से कर्म के लिए कार्मुक और अनासक्ति के लिए शर (जो कार्मुक से प्रयुक्त होकर भी कार्मुक से सर्वथा अनासक्त रहता है) की सहज ही कल्पना की जा सकती है। साधक जीव का प्रथम ध्यान विश्वंभर की आपत्ति विहंत्री भुजाओं की ओर जाता ही है। इन्हीं के विस्तार संकोच और इन्हीं की गतिशीलता से साधक का प्रथम प्रयोजन रहता है। गोस्वामीजी ने कहा है—

> कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक धरिहौ, नाथ ! सीस मेरे।
> जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे॥[1]

अध्यात्म रामायण के सार रूप श्लोक—

> आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्,
> लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्।

में इस अग्नि तत्व अथवा इन हाथों का संकेत देने वाला शब्द 'आपदामपहर्तारं' कदाचित् इसीलिए सर्वप्रथम उल्लिखित है।

'आ' की ध्वनि विस्तार-धर्मा है, पूर्णता-धर्मा है। यही आदित्य बीज है, जिसमें संपूर्ण ज्ञान विज्ञान निहित है, यही 'तद् विष्णोः परमं पदम्' है। इसी पर विश्वंभरत्व का स्थैर्य है। इन्हीं ज्ञान विज्ञान के दो पदों पर वह टिका है। ये ही पद सर्व संपत्ति प्रदाता हैं। इन्हीं चरणों के लिए मानों गोस्वामीजी ने कहा—

> कबहिं देखाइहौ हरि चरन ?
> समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगल-करन॥[2]

इसी तत्व को मानों लक्ष्य में रखते हुए अध्यात्मरामायणकार ने उपर्युक्त श्लोक का दूसरा टुकड़ा 'दातारं सर्वसम्पदाम्' कहा।

'म' की ध्वनि लय-धर्मा है। ओंठ बंद होते हैं और यह ध्वनि बिंदु की तरह भीतर गूँजती है। शांति की शीतलता देनेवाला यही लोकाभिराम नाद-बिंदु है। यही मानों निराकार तत्व का साकार आनन है, जिसके द्वारा पहुँचाये हुए रस से हाथ और पैर दोनो का पोषण हो रहा है। नखशिख की असली कमनीयता यही है। गोस्वामीजी के काकभुशुंडि ने मानों इसीलिए कहा—

> निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥[3]

१—विनयपत्रिका, १३८। २—विनयपत्रिका, २१८। ३—मानस, ७।७५।६।

अध्यात्मरामायणकार ने मानों इसीलिए उपर्युक्त श्लोक का तीसरा टुकड़ा 'लोकाभिरामं श्रीरामं' कहा और र आ म की संयुक्त शक्तियों वाले इस रमणीय श्री संपन्न रूप के लिए कह दिया—'भूयो भूयो नमाम्यहम्' बारंबार प्रणाम।

सत् 'चित्' आनंद, वैराग्य ज्ञान भक्ति, सर्जन संरक्षण लय, हाथ पैर सिर सब के विकास का केंद्र है वह त्रिकोण, जिसे नाद-जगत् या नाम-जगत् में र आ म के संमिलित स्वर वाला तारक बीज मंत्र कहा जाता है और रूप जगत् में त्रिकोण वक्षस्थल कहा जाता है। पिंडरूप वक्षस्थल की बनावट ही त्रिकोणरूप है। हाथ पैर उसी से निकले दीख पड़ते हैं। सिर उसी से उठा दीख पड़ता है। परंतु उसकी हलचल अंतस्थ ही रहती है, जब कि हाथ पैर और सिर की हलचल बहिर्जगत् में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सिर के भी दो अवयव ऐसे हैं, जो अपनी गतिशीलता, प्रेषणीयता, सामाजिकता, सरसता, अनुग्रहक्षमता के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। वे हैं नयन और अधर। साधकों ने इन्हीं से अपना विशेष प्रयोजन रखा है। श्रृंगारिकों ने भी इन्हीं को विशेष महत्त्व दिया है। भावाभिव्यक्ति के ये ही दो तो प्रबल माध्यम हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है—

हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥
× × ×
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥[1]

इससे नखशिख में चार अंग स्पष्ट हो जाते हैं, जिनमें गतिशील सौंदर्य विविध मुद्राओं के साथ विलसता रहता है और इस प्रकार जिनका सीधा संबंध भक्त-हृदय से जुड़ता रहता है। गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका के एक ध्यान में इन्हीं चार अवयवों पर बल देते हुए कहा है—

नवकंज-लोचन, कंजमुख, करकंज, पदकंजारुणं॥[2]

प्रभु के मानव-विग्रह की यह वह चतुरंग चमू है, जिसका बँधुवा बन जाने ही से मन की सहज मुक्ति है। साधना-मार्ग के राम-नखशिख में इन चारों की अनिवार्यता होगी ही।

आकर्षक नर-सौंदर्य के प्रति श्रद्धालु होकर आप चाहे बढ़ते-बढ़ते परम तत्व तक पहुँच जायँ, चाहे परम तत्व की कल्पना को कला के सहारे नर-सौंदर्य तक उतार लें, किंतु दोनो का लक्ष्य एक ही होना चाहिए और वह यह कि इस रूप-सौंदर्य में चित्त-लय की जो एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है, उसका लाभ उठाकर मनुष्य अपना कल्याण कर ले। प्राचीन परिपाटी के काव्य में केवल हृदय-तत्व की प्रधानता थी और रूप-सौंदर्य पर अधिक बल दिया जाता था। नई परिपाटी के काव्य में बुद्धि-तत्व भी प्रबल हो उठा है और गुण-सौंदर्य तथा प्रभाव-सौंदर्य पर भी पूरा

१—मानस, १।१९८।७; २।२३८।८। २—विनय०, ४५।

बल दिया जाता है। दोनो परिपाटियाँ एक साथ सध सकें तो फिर क्या कहना ! इन्हीं सब प्रेरणाओं ने अब राम का एक नया नखशिख लिखवा दिया, जो सहृदयों के मनोरंजनार्थ नीचे लिखा जा रहा है। आशा है कि राम-विग्रह का यह नखशिख साधकों के ध्यान के दृढ़ीकरण में विशेषरूप से सहायक होगा।

प्रणव हुआ तारक में विकसित, तारक ने त्रिबीज प्रगटाया,
और त्रिबीज त्रिकोणी डमरू नर-हित नर-तनु हुआ सुहाया।
रं से कर आ से पद मं से मुख ने अपनी ज्योति दिखाई,
भीतर के दृढ़ नादतत्व ने बाहर प्रभु की आकृति पाई ॥१॥
अग्निबीज आपद् अपहर्ता, सायुध द्विभुज परम ललाम हैं,
धनुः कर्म है अनासक्ति शर, सत् स्वरूप अभिवंद्य राम हैं।
इन हाथों में जगद् व्यवस्था, इन हाथों में जनजन रक्षा,
इन हाथों में अभयदान है, इनमें ऋद्धि सिद्धि प्रत्यक्षा ॥२॥
पंच-तत्व-रचना-प्रपंच सब, इनके पंजों पर नचता है,
जिन पर इनका छत्र तन गया, उनको क्या पाना बचता है।
इनकी मुट्ठी में लय-लीला, करतल पर अपवर्ग स्वर्ग है,
दसों अँगुलियों पर दस दिश का आश्रित ललित निसर्ग-सर्ग है ॥३॥
सूर्य बीज सब संपददाता, ज्ञान और विज्ञान-विधाता,
पद-पद्मों के रूप परमपद, चिन्मय भूत भविष्यत ज्ञाता।
इन चरणों में सकल चेतना, इन चरणों में सफल क्रांति है,
इन चरणों में भुक्ति मुक्ति है, इन चरणों में परम शांति है ॥४॥
साधक-मन का कलुष-पंक है, उसमें ये पंकज खिल जायें,
साध यही इन चरणों की नख-किरणों के कुछ कण मिल जायें।
श्रद्धा की मधुकरी इन्हीं से माँग मधुकरी रमे इन्हीं में
इनही पर लोटे रहने के हों मेरे अरमान न धीमें ॥५॥
चंद्र बीज लोकाभिराम जो, लोकोत्तर आनंद विलासी,
जिस लावण्य-सिंधु के लघुतम सीकर से त्रैलोक्य सुपासी।
भक्ति-चकोरी-चंद्र राम-मुख, अग जग श्री सौंदर्य समेटे,
महक रहे इसका प्रसाद पा, संत-सुमन भी सुरभि-लपेटे ॥६॥
मुक्ता मिस मुक्तों की माला यदि इस मुख के मूल विराजी,
तो श्रुति-आश्रय से मकराकृत कुटिलों ने सात्विक छबि साजी।
ऊपर प्रेम-हेम मणि-मंडित, कण कण करुणा-किरण-प्रसारी,
काम-कल्पना के करोड़ सुख, इस अद्भुत मुख पर बलिहारी ॥७॥
इसके विशद प्रभा-मंडल से, कांति-शांति-निर्झर झरते हैं,
प्रेय श्रेय इसके ललाट पर, जय का स्वतः तिलक करते हैं।
इस मुख पर है श्वेत श्याम ने सम्मोहन-लीला विस्तारी,
इस मुख का जो ध्यान-धनी हो, वह है भाग्यवान अधिकारी ॥८॥

इस मुख के दो केंद्र बिंदु हैं, एक नयन हैं अपर अधर हैं,
नयन रसीले अधर हँसीले, नयन सलोने अधर मधुर हैं।
नयन-कमल जैसे विशाल हैं, कमला-सृष्टि रचाने वाले,
वैसे अधर-पलाश अनुग्रह का रस अथक लुटाने वाले ॥९॥
इन नयनों में प्रेम-अमृत है, इन नयनों में भक्ति-सुधा है,
इन नयनों के कृपा-वारि से, आपूरित समग्र वसुधा है।
इन अधरों में भरे मुखर वर, इन अधरों में मौन विमोहन,
इन अधरों में मंद-स्मित है, जो अमंद आनंद-महाघन ॥१०॥
नयनों की, अधरों की, विद्युत, चरणों के पथ से गति पाती,
चरणाश्रित पर वह विद्युन्मय कृपा, कृपा करती न अघाती।
जिसके उर में चरण बस गये, प्रभु ने उस तक हाथ बढ़ाये,
इस चतुरंग-चमू का, मेरा चंचल मन बँधुवा बन जाये ॥११॥
कर-सरोज हैं, पद-सरोज हैं, अधर-सरोज, नयन-सरोज हैं,
सब अनुराग-लालिमा-रंजित, स-प्रसाद-माधुर्य-ओज हैं।
दीन-बंधु का पीतांबर है; दीनों पर अपनत्व खरा है,
पीला यदि नीले में लय हो, तो वह निश्चय हरा भरा है ॥१२॥
मधुराधिप का अखिल मधुर है, परम हृद्य इनकी संसृति है,
नर की प्रकृति हुआ जो चाहे, नारायण की वह आकृति है।
करुणा-वरुणालय का नखशिख भाव-रचित अतिशय अनूप है,
निराकार साकार रूप में, दृग-सन्मुख रघुवंश-भूप है ॥१३॥
चित् या अचित् कि लक्ष्मण सीता, कहने को ही भिन्न-भिन्न हैं,
जीव जगत् सब रामचंद्र में, रामभद्र सब में अभिन्न हैं।
सुस्थिर हैं फिर भी गतिदाता, मौन किंतु प्रतिपल सस्वर हैं,
मूर्ति नहीं, ये मूर्त चेतना, सुदृढ़ सत्य, आराध्य अमर हैं ॥१४॥
तन्मयता से पूर्ण समर्पण-भावों के शुचि अर्घ्य चढ़ाये,
जाग्रत ज्योति जगमगी देखे, मन आरती स्वतः बन जाये।
निश्चय है मद लोभ मोह के शलभ तभी तो भस्म बनेंगे,
और सुरभिमय जग-मंगल के वृत्त-विसारी धूम तनेंगे ॥१५॥
वृत्त-विसारी धूम तना दो, जीवन मंगल-धाम बना दो,
चरण शरण देकर अपना लो, सेवा का उल्लास घना दो।
कह दो प्रभु ! इस चित्तवृत्ति का, तुम में, केवल तुम में लय हो,
प्रणव तुम्हीं, उद्धारक तारक, राम ! तुम्हारी जय हो, जय हो ॥१६॥

डा० प्रतिभा अग्रवाल

हिंदी मुहावरे : एक अध्ययन

['मुहावरा वह विशिष्ट पद-रचना है, जो अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष लाक्षणिक अर्थ को सम्मुख रखती है या अभिधेयार्थ को गौण बनाकर विशेष अर्थ की ध्वनि देती है।'

'कहावतों का संबंध अतीत में लोक-जीवन में घटी घटना से होता है, जो किसी कारणवश विशेष प्रभावपूर्ण होने के कारण जन-मानस पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है एवम् कालांतर में वैसा ही कोई अन्य प्रसंग आने पर, उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जाती है।'

'हिदी भाषा के सुदीर्घ इतिहास के दौरान में हर युग में मुहावरों का प्रयोग किया गया है और उनकी खोज तथा अध्ययन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवम् रुचिकर विषय है। हिंदी-मुहावरों की प्रकृति, प्रवृत्ति, आकार, गठन, ऐतिहासिक विकास, अर्थ-व्यंजना एवम् विशेषताओं पर यहाँ विचार प्रगट किया जा रहा है।']

मुहावरों का प्रारंभ एवम् विकास—

भाषा अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। मानव सभ्यता एवम् विकास की विभिन्न स्थितियों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य के साथ ही साथ उसके अभिव्यक्ति के माध्यमों का भी विकास होता रहा है। जीवन की प्रारंभिक स्थिति में मानव के भावों का विकास एवम् परिष्कार अपनी प्रारंभिक स्थिति में था, कुछेक स्थूल अनुभूतियों को वह स्थूल ढंग से व्यक्त कर देता था। शारीरिक क्रियाओं एवम् इंगितों, विविध ध्वनियों के अनुकरण एवम् नाचाकूद के द्वारा आदिम मानव अपने हर्ष-विषाद के भाव को प्रगट करता था। भाष एवम् वाणी का वरदान मानव विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वाणी की प्राप्ति के पूर्व मनुष्य इंगित भाषा, चित्र-भाषा एवम् ध्वन्यनुकरण के आधार पर अपनी बात कहता था। धीरे-धीरे उसने विभिन्न वस्तुओं के लिए कुछ ध्वनियों को निर्धारित किया, जो कालांतर में उन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गईं और इस प्रकार उन सार्थक शब्दों की नींव पड़ी जो आज भाषा की संपत्ति हैं। ध्वनि से वर्ण, शब्द एवम् वाक्य तक की भाषा की यात्रा मानव-जीवन के साथ-साथ आगे बढ़ती रही और आज मानव ने अपनी इस शक्ति को इतना विकसित कर लिया है कि स्थूल तो क्या, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावों, अनुभूतियों एवम् विचारों को वह अत्यंत कुशलता एवम् पूर्णता के साथ, एक नहीं अनेक ढंग से व्यक्त करने में सक्षम है। अर्थ-व्याप्ति के

द्वारा उसने शब्द-शक्ति को अपरिमेय बनाया है, विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा उसने भाषा को सौंदर्य, माधुर्य एवम् ओजस्विता प्रदान की है, छंदों को गति-यति-लय में गूँथ कर उसने उसे मोहक एवम् रसमय बनाया है। यह क्रम हजारों-हजारों वर्षों तक अनजाने चलता रहा, मनुष्य ने न इसके बारे में सोचा न जाना, वह सहज स्वाभाविक रूप से अपने मन के उद्‌गार अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करता रहा। आज यह बताना कठिन है कि किस समय मनुष्य भाषा के प्रति सजग हुआ एवम् उसके गुण-दोषों का विवेचन करने की ओर प्रवृत्त हुआ, किंतु इतना निश्चित है कि ईसा के सदियों पूर्व उसका ध्यान इस ओर आकृष्ट हो चुका था और विचार-विमर्श होने लगा था। भाषा को समृद्ध, संपन्न एवम् प्रभावशाली बनानेवाली विभिन्न शक्तियों में मुहावरा का अपना विशिष्ट स्थान है। शब्द की तीनो शक्तियों, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में लक्षणा पर आधारित यह अभिव्यक्ति-प्रकार, शब्द या वाक्यांश के माध्यम से अभिव्यक्ति को एक अनूठापन, एक तीखा चुटीलापन एवम् मार्मिकता प्रदान करता है। मुहावरों का उपयुक्त एवम् संतुलित प्रयोग भाषा को नया रूप, नया ओज तथा नयी शक्ति देता है एवम् सहज ग्राह्य भी बनाता है।

शब्द में प्रथम स्थान अभिधा का है, जिसके द्वारा तथ्य का बोध होता है। 'मनुष्य' शब्द को सुनते ही हमारे सामने उस द्विपद जीव का चित्र उभर आता है, जो हमारी ही जाति का है। रंग, डीलडौल, रुचि, बुद्धि आदि की अपनी सारी विभिन्नता के बावजूद कुछ विशिष्ट सामान्य गुणों के आधार पर हमारे मन में 'मनुष्य' वर्ग का रूप स्पष्ट है और 'राम एक मनुष्य है' यह कहते ही हम उसे दूसरे सजीव एवम् निर्जीव पदार्थों से भिन्न सत्ता प्रदान कर देते हैं। यह अर्थ-बोध अभिधा पर आधारित है, जो सीधा-स्पष्ट अर्थ है और जो उस क्षेत्र या भाषा के जाननेवालों में प्रचलित है। इसी के स्थान पर जहाँ हम 'राम गधा है' कहते हैं वहीं, अभिधेयार्थ में बाधा उठ खड़ी होती है। पूर्व ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि राम मनुष्य है और गधा जानवर है। अतः 'राम गधा है' यह उक्ति हमें चक्कर में डाल देती है। यहाँ पर चट लक्षणा हमारी सहायता के लिए आ उपस्थित होती है और वह अर्थ स्पष्ट करती है कि 'गधा' से वक्ता का तात्पर्य उस चतुष्पद मूर्ख जानवर से नहीं वरन् उसकी मूर्खता से है, उसके गुण से है। वह यह कहने के स्थान पर कि 'राम गधे के समान मूर्ख है' अपनी बात को संक्षिप्त और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कहता है कि 'राम गधा है।' लक्षणा में जहाँ मुख्यार्थ का बोध होकर विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वहीं व्यंजना के द्वारा मुख्यार्थ में बाधा पहुँचाए बिना एक विशेष अर्थ ध्वनित होता है। भोजन के लिए पति की प्रतीक्षा करती हुई गृहिणी की यह उक्ति कि 'दो बज गए'—समय की तात्विक स्थिति को बतलाते हुए भी ध्वनि इस तथ्य को देती है कि 'बहुत देर हो गई, भोजन का समय हो गया है, भूख लगी है—'कहने का तात्पर्य यह कि

मनुष्य इन विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपने भावों को अधिक मार्मिक बनाता रहा है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर मनुष्य को इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी? जब बात सीधे-सादे ढंग से कही जा सकती है तो फिर इस टेढ़े रास्ते को उसने क्यों पकड़ा, जिसमें इस बात का भय तो बराबर बना ही है कि सामनेवाला श्रोता कुछ का कुछ समझ बैठे। वास्तव में तथ्य यह है कि यह मनुष्य की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वह अपनी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहता रहा है। जो है, उसका वैसा ही यथातथ्य बोध करना और कराना बहुत उपयोगी एवम् उपादेय है, तथापि उसी बात को वक्र ढंग से कहना, उसमें अधिक सौंदर्य एवम् चुटीलापन लाना, क्या और अच्छा नहीं? उसने अनुभव से पाया कि आलंकारिक शैली में कही गई बात अधिक प्रभावपूर्ण होती है और कौन नहीं चाहता कि उसकी बात सब पर गहरा प्रभाव डाले, लोग वाह-वाह कह उठें। इसी प्रवृत्ति ने उसे नाना ढंगों से अपने कथन को अतिशयोक्तिपूर्ण, व्यापक एवम् सरस बनाने को प्रेरित किया। मुहावरों के विकास के मूल में भी यही प्रवृत्ति काम करती प्रतीत होती है। संक्षेप में गहरी चोट कर जाना, कोई मार्मिक व्यंजना कर डालना, यह मुहावरों के माध्यम से ही संभव है। अवश्य ही अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य ने इस शक्ति का प्रयोग आरंभ कर दिया होगा, यद्यपि आज हमारे पास उसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। हर भाषा में मुहावरों की स्थिति, इस बात को पुष्ट करती है कि उसका संबंध मानवमात्र से है, यह अलग बात है कि किसी विशेष वर्ग या जाति के व्यक्तियों द्वारा इसका बहुत अधिक प्रयोग होता हो, जबकि किसी दूसरे वर्ग के द्वारा बहुत ही कम। किंतु करते सभी हैं। मनुष्य ने कब, किस युग में सर्वप्रथम उस अभिव्यक्तिरूप का प्रयोग किया होगा, जिसे आज मुहावरा कहा जाता है, यह बतलाना असंभव है, हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं। किंतु पढ़े-लिखे, अनपढ़, शहर-गाँव, हर जाति-वर्ग के बीच इसका प्रचलन ही इसकी दीर्घकालीन परंपरा एवम् मानव-रक्त के साथ इसके घुले-मिले अस्तित्व की ओर इंगित करता है।

मुहावरे क्या हैं, इस पर पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका है। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने, व्याकरणाचार्यों ने एवम् अन्यान्य विद्वानों ने भी इस पर समय-समय पर विचार किया है। मुहावरे का स्वरूप इतना स्पष्ट एवम् अविवादास्पद है कि विभिन्न विद्वानों के मतों में कोई विरोध नहीं प्रतीत होता, बल्कि वे एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। विभिन्न मतों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुहावरा लाक्षणिक प्रयोग है और इसके द्वारा भाषा को वक्रता एवम् चुटीलापन प्राप्त होता है। 'लाक्षणिक प्रयोग' कहने का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि हर लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरा समानार्थी हैं एवम् हर लाक्षणिक प्रयोग मुहावरा है। लाक्षणिकता के साथ ही साथ दूसरा अनिवार्य गुण अपेक्षित है—रूढ़ होना अर्थात् उस विशेष अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ एवम् जन-प्रचलित हो। इस गुण के अभाव में मुहावरा

मुहावरा हो ही नहीं सकता। लाक्षणिक प्रयोग एवम् मुहावरों के बीच सीमारेखा खींचना सरल नहीं। कहाँ कौन सा लाक्षणिक प्रयोग, अपनी विशुद्ध आलंकारिकता छोड़कर मुहावरे की सीमा स्पर्श करता है, और कहाँ अपनी सीमा में ही बद्ध आलंकारिक प्रयोग मात्र है, यह कहना कठिन है। यह कठिनाई और भी अधिक प्रतीत होती है, हिंदी के प्राचीन मुहावरों के संबंध में निर्णय करते समय। कहा जाता है कि हर २५-३० मील पर भाषा के रूप में कुछ न कुछ अंतर आ जाता है। इसे बिलकुल शाब्दिक अर्थ में २५-३० मील न भी मानें तो कहने का तात्पर्य यही है कि बहुत थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषा का रूप बदलता जाता है। वैसी हालत में किसी एक क्षेत्र वाले के लिए दूसरे क्षेत्र के प्रयोग की पूरी-पूरी एवम् ठीक-ठीक जानकारी सर्वदा संभव नहीं। यह बात एक काल एक देश में जितनी लागू होती है उतनी ही लंबे अरसे पूर्व के विवेचन में भी। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व भाषा का आम प्रचलित रूप क्या था, यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। साहित्य की थोड़ी-सी उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम उसका अनुमान भर कर सकते हैं।

फिर साहित्य में प्रयुक्त भाषा एवम् जन-साधारण की भाषा में सदा अंतर रहा है। साहित्य की भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है एवम् अपेक्षाकृत दीर्घकालीन भी। उत्तर भारत में आम बोलचाल की भाषाएँ यद्यपि अनेक हैं तथापि एक बहुत बड़े क्षेत्र में हिंदी ही साहित्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। आम बोल-चाल में विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न वर्ग, जाति एवम् पेशेवाले व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त भाषा में पर्याप्त अंतर है। शहरी एवम् ग्रामीण व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली एवम् अभिव्यक्ति भी अपना वैशिष्ट्य लिए रहती है। आज लोक-जीवन एवम् लोक-साहित्य को पर्याप्त महत्त्व दिया जा रहा है एवम् लोक-जीवन को लेकर लोक-भाषा में लिखा साहित्य आदर पा रहा है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों का अंतर स्पष्ट है—लोक-जीवन की सहज-सरलता उनके काव्य में भी दिखलाई पड़ती है एवम् बहुत बार शिष्ट समुदाय उनको चाहते हुए भी पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाता। श्रेष्ठ साहित्यकार सदा जन-जीवन की धमनियों के हर स्पंदन का अनुभव करने का प्रयत्न करता है, और उसमें सफल भी होता है, तथापि भाषा की दृष्टि से, बहुत प्रयत्न के बावजूद वह बहुधा दूर ही रह जाता है—शिष्ट एवम् ग्रामीण या लोक-साहित्य में यह अंतर बना ही रहता है।

कभी-कभी यह अंतर नाना कारणों से बहुत गहरा और स्पष्ट होता है और कभी कम, पर होता अवश्य है। 'भाषा' अर्थात् जनभाषा में रामचरितमानस की रचना करने की स्पष्ट घोषणा करनेवाले तुलसीदास भी पूर्णरूप से जनभाषा का प्रयोग न कर सके और ग्रामीण-जीवन का यथातथ्य चित्रण करने में अपूर्व कुशलता प्राप्त प्रेमचंद के देहाती पात्र भी शुद्ध खड़ी बोली में ही अपने भावों को व्यक्त करते दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि स्थान-स्थान पर कुछ शब्दों के विकृत रूपों का प्रयोग कर लेखक ने भाषा में ग्रामीणता लाने का प्रयत्न किया है। कहने का तात्पर्य यही है कि जनता

के निकट रहने का प्रयत्न एवम् दावा करनेवाला लेखक भी सर्वदा भाषा को वास्तविक रूप नहीं दे पाता, कुछ न कुछ शिष्टता, वैशिष्ट्य एवम् विषय का स्वरूप उसे उससे दूर खींच ले जाता है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप साहित्य के माध्यम से तत्कालीन जनभाषा का स्वरूप जानना, आसान नहीं। जनभाषा एवम् साहित्यिक भाषा की यह दूरी मुहावरों को और अधिक प्रभावित करती है, क्योंकि मुहावरों का संबंध जन-साधारण से अधिक है, उन्हीं के बीच यह जन्म लेता, पनपता और बढ़ता है। आज से सदियों पूर्व अवधी या व्रजी के क्षेत्र में आम जनता के बीच किन-किन मुहावरों का प्रचलन था, क्या-क्या अभिव्यक्ति के रूप प्रयोग में थे, इसकी परंपरा का हम अनुमान लगाते हैं, निश्चित रूप से कुछ कह नहीं पाते। फिर भी एक परंपरा, शृंखला तो है ही और उसी के आधार पर हम आज और आज से सदियों पूर्व के साहित्य का अध्ययन करते और अर्थ ग्रहण करते हैं।

हिंदी भाषा भी हजार वर्षों से ऊपर का इतिहास अपने साथ लिए आज हमारे समक्ष है और उसके साथ ही मुहावरों का इतिहास भी। सिद्धों-नाथों की संध्या भाषा, डिंगल, अवधी और व्रजी से होती हुई आज की खड़ी बोली हिंदी अपनी वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुई है, यों इस परंपरा को यदि चाहें तो और पीछे अपभ्रंश, प्राकृत एवम् संस्कृत तक ले जाया जा सकता है। संस्कृत में, जो सभी वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं की जननी रही है, मुहावरा का समानार्थी कोई शब्द नहीं प्राप्त होता, किंतु उसका तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृत में मुहावरे थे ही नहीं। अभिव्यक्ति का यह विशेष प्रकार था अवश्य, किंतु बहुत अधिक प्रचलित नहीं था। हो सकता है कि शिष्ट, सुसंस्कृत, व्याकरण-सम्मत संस्कृत भाषा में मुहावरों का प्रयोग इसके विकृत अर्थ के कारण ग्राह्य न हुआ हो। विकृत से तात्पर्य शाब्दिक अर्थ से भिन्न कई बार सर्वथा उल्टे एवम् अटपटे से अर्थ से है, जो मुहावरे की जान है, जो उसे बाँकपन प्रदान करता है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संस्कृत जन-साधारण की भाषा तो थी नहीं, अतः उसमें जन-साधारण में प्रचलित आम प्रयोग को स्थान न दिया गया हो। किंतु इसमें संदेह नहीं कि मुहावरों का प्रयोग होता था, यद्यपि बहुत सीमित रूप में। संस्कृत-साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे इसके प्रमाण उपलब्ध हैं; यों शिष्ट लाक्षणिक प्रयोग तो प्रचुर हुए ही हैं। साहित्य जब-जब जनता के निकट आता है, भाषा मुहावरेपन की ओर झुकती है। हिंदी का साहित्य इसका प्रमाण है। वे लेखक या कवि जो जन-जीवन के चित्रण में संलग्न थे, उनकी रचनाओं में मुहावरों का प्रचुर प्रयोग मिलता है, जब कि दर्शन वेदांत के प्रसंगों को लेकर लिखी हुई रचनाओं में कम या नहीं सा। हिंदी भाषा के सुदीर्घ इतिहास के दौरान में हर युग में मुहावरों का प्रयोग किया गया है और उनकी खोज तथा अध्ययन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवम् रुचिकर विषय है। हिंदी मुहावरों की प्रकृति, प्रवृत्ति, आकार, गठन, ऐतिहासिक विकास, अर्थ-व्यंजना एवम् विशेषताओं पर यहाँ विचार प्रगट किया जा रहा है।

मुहावरों का क्षेत्र एवम् आकार

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुहावरा वह विशिष्ट पद-रचना है, जो अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष लाक्षणिक अर्थ को सम्मुख रखती है या अभिधेयार्थ को गौण बनाकर विशेष अर्थ की ध्वनि देती है। 'अभिधेयार्थ से भिन्न विशेष अर्थ' यदि इसे मुहावरा का मुख्य लक्षण माना जाय तो उसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो जाता है। आम बोलचाल में हम न जाने कितने तत्सम एवम् देशज शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो अपने मूल अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं या कोई विशेष शाब्दिक अर्थ नहीं रखते। कालांतर में ऐसे प्रयोग इतने रूढ़ हो जाते हैं कि उनका वास्तविक रूप एवम् अर्थ विस्मृत हो जाता है और आरोपित या विकसित अर्थ ही माना जाने लगता है। वे भाषा में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उनकी विशेषता की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। निश्चित रूप से ऐसी उक्ति अपना मुहावरापन खो बैठती है। यदि इस प्रकार के सभी विशिष्ट प्रयोगों को हम मुहावरा मानने लगें तो चारों ओर मुहावरा ही मुहावरा दिखलाई पड़े। इस प्रकार के रूढ़ विस्मृत प्रयोगों में हिंदी की सहायक क्रियाओं का उल्लेख किया जा सकता है। उठना, करना, चलना, चाहना, डालना, देना, पड़ना, पाना, बैठना, मारना, रहना, लगना, लेना आदि क्रियाएँ स्वतंत्र रूप से भी प्रयुक्त होती हैं और सहायक क्रिया के रूप में भी, जैसे—वे बोल उठे, तुम चले चलो, तस्वीर बोला चाहती है, मैंने पुस्तक पढ़ डाली, राम को काम करने दो, तुम्हें वहाँ जाना पड़ेगा, मैं यह नहीं कर पाऊँगी, तुम मेरे रुपए मार बैठे, गोविंद ने दस पन्ना लिख मारा, तुम काम करते रहो, पानी बरसने लगा, मैंने बाग देख लिया आदि वाक्यों में स्पष्ट है कि उठना, चलना, पड़ना, लगना आदि क्रियाएँ अपना मूल अर्थ छोड़कर सहायक रूप में प्रयुक्त हुई हैं एवम् अचानकता, पूर्णता, सामर्थ्य, अनुमति, बाध्यता आदि भावों को व्यंजित करती हैं। 'वे बोल उठे' वाक्य की दोनो क्रियाओं के भिन्न अर्थ को लें तो बोलना (To speak) और उठना (To get up) दो भिन्न भाव व्यक्त करेंगे, जब कि वक्ता का तात्पर्य अचानक बोलने के भाव से है। इसी प्रकार आ जाओ, चल पड़े आदि भी हैं। ऐसे रूप इतने रूढ़ हो गए हैं और अपनी विशेषता को ऐसा खो चुके हैं कि (संभव है, मुहावरा रूप में कभी प्रयुक्त भी न हुए हों) इसके मुहावरेपन की ओर ध्यान ही नहीं जाता। किंतु 'आ जाओ' को भले ही हम भूल जायँ पर 'आ जमे' को नहीं भूल सकते, इसकी गणना मुहावरे में होगी ही। यह निर्णय करना जहाँ एक ओर कठिन लगता है, वहीं बहुत आसान भी। कठिन इसलिए कि एक ही पद-रचना, समान सी अर्थ-व्यंजना करनेवाली उक्ति में से क्यों एक को मुहावरा माना जाय और दूसरी को नहीं, यह टेढ़ी खीर है। यहाँ कोई नियम कानून नहीं चलता, बस एक उक्ति मुहावरा है, क्योंकि मुहावरा मानी जाती है और दूसरी नहीं, क्योंकि लोग उसे नहीं मानते, यह तर्क निर्णय को आसान बना देता है। अर्थ-व्यंजना और मुहावरापन उस भाषा को बोलनेवालों-समझनेवालों

द्वारा आरोपित विशेषता है, जो उनकी अपनी चीज है। यही कारण है कि एक ही उक्ति विभिन्न युगों में या भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है। इनमें से किसी एक को गलत या सही कहना, उचित नहीं, क्योंकि उस क्षेत्र विशेष में उसी अर्थ की व्यंजना के लिए उसका प्रयोग रूढ़ एवम् प्रचलित हो गया होता है।

मुहावरों का क्षेत्र जितना विस्तृत है, उसके रूप-आकार की विविधता भी उतनी ही बहुमुखी। एक ओर एक शब्द वाले मुहावरे काफी संख्या में उपलब्ध हैं और दूसरी ओर एक पूरा का पूरा वाक्य मुहावरे की तरह प्रयुक्त देखा जाता है। उठल्लू (जिसका ठौर-ठिकाना न हो), उन्नीस (कम), बीस (बढ़कर), लंबा (दीर्घकालीन), रूखा (नीरस) आदि विशेषण-पद, डुबाना (अहित करना), गिरना (पतित होना), गिराना (पतित करना), उखड़ना (स्थिर न रह पाना), उबलना (उद्विग्न होना), उड़ाना (फैलाना), फुटना (अचानक व्यक्त हो जाना) आदि क्रिया-पद, आँख (समझ, ज्ञान), उल्लू (मूर्ख), काँटा (बाधा), गठरी (माला) गूँगा (आत्मविस्मृत), दुम (पीछे पीछे चलने वाला) हीरा (प्रिय, श्रेष्ठ) आदि संज्ञा-पद अकेले होते हुए भी अपनी विशेषता रखते हैं एवम् किसी भी वाक्य को विशेष अर्थवान् बनाते हैं। दूसरी ओर प्रचुर मात्रा में ऐसे मुहावरे भी उपलब्ध हैं, जो बृहत्काय हैं, पूरा का पूरा वाक्य मुहावरापन लिए विशेष अर्थ की व्यंजना करता है, जैसे—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना, काटो तो बदन में खून नहीं, जैसा मुँह वैसा थप्पड़, पीपल के बन का दाहिना देना, बकरे की माँ का खैर मनाना आदि। जहाँ वाक्यों का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है, वहाँ एक बात विशेषरूप से दिखलाई पड़ती है कि वाक्यांश वाले मुहावरे मुख्यतः लक्षणा पर आधारित हैं और पूरे वाक्य वाले मुहावरे व्यंजना पर। इसका एक बहुत बड़ा कारण ऐसे मुहावरों का अधिकतर कहावतों पर आधारित होना है। कुछ लोगों की धारणा, मुहावरे और कहावत या लोकोक्ति के संबंध में स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती। प्रायः लोकोक्ति और मुहावरे दोनो के अंतर को समझे बिना उन्हें एक या दूसरी कोटि में रख दिया जाता है। किंतु दोनो का अंतर स्पष्ट है। मुहावरा लाक्षणिक प्रयोग है एवम् एक शब्द से लेकर पूरा वाक्य तक मुहावरे के रूप में प्रयोग में लिया जा सकता है। सामान्यतः वह वाक्यांश के रूप में किसी वाक्य में उसका अभिन्न अंग बनकर प्रयुक्त होता है एवम् एक विशेष अर्थ की व्यंजना कर, उक्ति को मार्मिक एवम् चमत्कारिक बनाता है। इसके विपरीत कहावतों का संबंध अतीत में लोक-जीवन में घटी किसी घटना से होता है, जो किसी कारणवश विशेष प्रभावपूर्ण होने के कारण जन-मानस पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है एवम् कालांतर में, वैसा ही कोई अन्य प्रसंग आने पर, उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जाती है। चूँकि कहावतों के पीछे कोई न कोई कथा रहती है और वह अपनी बात की पुष्टि या स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणस्वरूप उद्धृत की जाती है, अतः अपने आप में पूर्ण होती है। बहुत सी ऐसी कहावतें समय-

समय पर मुहावरों का रूप भी ले लेती हैं—जैसे नौ दिन में अढ़ाई कोस चलना (नौ दिन चले अढ़ाई कोस), करेला और नीम चढ़ा होना (एक तो करेला, दूजे चढ़ा नीम), भैंस के आगे बीन बजाना (भैंस के आगे बीन बजै औ भैंस खड़ी पगुराय), मियाँ की जूती मियाँ के सिर करना (मियाँ की जूती मियाँ का सर), होनहार पेड़ के पत्ते हरे होना (होनहार बिरवान के होत चीकने पात) आदि। इसके अतिरिक्त ऐसी भी बहुत सी उक्तियाँ हैं, जो अपने विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होती हैं, जैसे—शेर की माँद में हाथ डालना, शेर-बकरी का एक घाट पानी पीना आदि। इन उक्तियों के शाब्दिक अर्थ में कहीं कोई अड़चल नहीं होती, तथापि वक्ता का तात्पर्य न शेर की माँद में हाँथ डालने से है और न शेर-बकरी के एक घाट पानी पीने से है, वरन् वह तो खतरनाक काम करने तथा सशक्त और दुर्बल के एक समान अधिकार पाने या साथ रहने के भाव को व्यक्त करना है।

किंतु एक शब्द वाले या पूरे वाक्य वाले मुहावरे अपेक्षाकृत थोड़े ही हैं। इन दोनो सीमाओं के बीच ऐसे मुहावरों की संख्या अधिक है, जो दो या तीन-चार शब्दों से बने हैं। मैं, पर, को, से आदि विभक्ति चिन्हों को शब्दों का अंग ही मानना चाहिए। अतः इस प्रसंग में उनकी पृथक् गणना नहीं की जा रही है। ऐसे मुहावरे संज्ञा, विशेषण, क्रिया एवम् अव्यय पदों में से एक या उससे अधिक शब्दरूप के योग से निर्मित्त होते हैं और हर प्रसंग में अपनी लाक्षणिकता लिए रहते हैं।

—क्रमशः

श्रीराम के अश्व

[साहित्य के क्षेत्र में आज का अध्ययन-अध्यापन प्रायः मानव तक ही संकुचित रह जाता है, मानवेतर जीव उपेक्षित ही रहे हैं। यहाँ विवृत 'श्रीराम के अश्व' विवरण से 'हित अनहित पसु पछिछउ जाना' उक्ति की सत्यता सिद्ध हो जाती है। अनेक अवसरों पर पशु-आचरण का व्यापक प्रभाव मानव-चरित्र पर पड़ता है। अतः नायक-चरित्र के मूल्यांकन में उनके क्रिया-कलापों के अध्ययन से पर्याप्त सहायता मिल सकती है तथा अवसर विशेष की वास्तविक स्थिति का परिज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। निश्चय ही इस निबंध से एक उपयोगी उपेक्षित अंश के अध्ययन की प्रेरणा मिलती है।]

परम धन्य गज बाजि जे लगे राम तुव सेउ।
तिन चरनन की धूरि प्रभु तनिक कुमारहिं देउ॥

परम प्रभु का साक्षात् प्राकट्य जब इस धराधाम पर होता है, तब दिव्यधाम त्रिपाद्विभूति के समस्त प्रधान परिकर भी उनकी परिचर्या के लिए पधारते हैं—

सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्षसुख त्यागि॥[2]

इस तथ्य को औपनिषदिक श्रुतियों ने कुछ स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। श्रीराम-पूर्वतापिनी उपनिषत् की प्रथम कंडिका में कहा है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना॥७॥
रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादि कल्पना।
द्विचत्वारिषडष्टानां दशद्वादशषोडश॥८॥
अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना॥९॥
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना[3]॥१०॥

अतः परम प्रभु के अवतार लेने पर जैसे त्रिपाद्विभूति के दिव्य पार्षदों ने भगवत्सेवार्थ देशकालानुसार सेवानुरूप विग्रह धारण किया था, वैसे ही श्रीरामजी के अवतरित होने के साढ़े चार वर्ष के बाद त्रिपाद्विभूति वाले शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चारों दिव्य अश्वों ने महाराज श्रीदशरथजी की अश्वशाला में जन्म लिया। वे चारों मयूर वर्ण के और श्यामकर्ण थे। श्यामकर्ण अथ च दिव्य होने के कारण ही—

१— मानस, काशिराज संस्करण, २।२६३।४। २— मानस, ४।२६।१५।
३—'कल्पना सज्जना समे'—अमरकोष। कल्पना शब्द का अर्थ है 'तरतीब में लाना' सजाना, आविष्कार करना आदि'—'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' कोष।

जे जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाई॥[1]
अय इव जरत धरत पग धरनी।[2]
निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने॥[3]

आदि दिव्य गुण विशिष्ट तो थे ही, साथ ही—

अजर अमर मन सम गतिकारी॥[4]

भी थे। उन बछेड़ों को देखकर ही अश्व-विशेषज्ञों ने महाराज दशरथजी को अवगत करा दिया था कि इन अश्व-जातकों को सिखाना (निकालना) नहीं पड़ेगा; इनके लक्षणों से जाना जाता है कि चलने की जितनी दिव्य कलाएँ इनमें हैं, उतना कोई अश्व-विशेषज्ञ सिखला नहीं सकता। क्योंकि अश्व-विशेषज्ञ उतनी दिव्य कलाएँ जानते ही नहीं। ये रथ में नहकर अथवा अकेले सवारी में सर्वत्र अबाध रूप से चलेंगे। इसी से मानसकार ने कहा है कि इनकी गति अर्थात् अनेक तरह से चलने की कला को देखकर खगनायक गरुड़जी लज्जित हो गए—

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे॥[5]

अस्तु—जब श्रीरामजी पाँच वर्ष के हुए तो अश्वारोहण-संस्कार के लिए वे ही छः मास के बछेड़े लाए गए और उन्हीं की पीठ पर बैठाकर अश्वारोहण समारोह संपन्न हुआ। नए स्वर्ण रथ में नहकर वे ही अश्व श्रीरामजी को प्रथम बार श्रीसरयूजी भी ले गए। उसी समय से बराबर साढ़े पंद्रह वर्ष की आयु तक अर्थात् महर्षि श्रीविश्वामित्र के साथ जाने के पूर्व तक श्रीराम कभी उनकी पीठ पर आसीन होकर और कभी उन्हें रथ में जोतकर बाल-विनोद या मृगयाविहार करते रहे। गीतावली में घोड़े पर चढ़ कर श्रीरामजी की कंदुकक्रीड़ा का राजभेद चौगान (पोलो) खेलने का वर्णन आया है—

कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि, मन कसि कसि, ठोंकि ठोंकि खये।
कर-कमलनि विचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये॥[6]
खेलि खेल सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि चुचुकारि तुरंगनि सादर जाइ जोहारे॥[7]

जब गुरुवर श्रीवशिष्ठजी के आश्रम पर कुछ काल के लिए श्रीरामजी अध्ययन के लिए गए अथवा महर्षि विश्वामित्रजी के साथ भी अत्यंत अल्पकाल के लिए पधारे, उस समय श्रीरामजी के घोड़े उद्विग्न नहीं हुए थे। जिस समय श्रीरामजी के विवाहार्थ श्रीअयोध्याजी से वरयात्रा (बरात) जाने लगी उस समय श्रीरामजी के घोड़ों को जनकपुर ले जाया गया। परंतु घोड़ों को कोतल अथवा खाली रथ में जोतकर ले जाने में वरयात्रा की शोभा नहीं थी, इसलिए उन घोड़ों के जुते रथ में श्रीवशिष्ठजी

१—मानस, १।२९९।७। २—वही, १।२९८।५। ३—वही, १।२९८।६।
४—वही, ६।८९।४। ५—वही, १।३१६।७।
६—तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड, ना० प्र० सभा, १।४३। ७—वही, १।४४।

को बैठाकर जनकपुर ले जाया गया था। जनकपुर में बरात बहुत दिनों तक ठहरी थी। उस अवधि में श्रीरामजी अपने घोड़ों पर ही विराजमान होकर पर्यटन और विहार करते रहे—

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजिवेषु जनु काम बनावा॥
जनु बाजिवेषु बनाइ मनसिजु राम हित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई।
जगमगत जीनु जराव जोति सो मोति मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥
प्रभुमनसहि लयलीन मनु चलत चालि छबि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित घनु जनु बर बरहि नचाव॥[1]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि गोस्वामीजी ने श्रीअवधेश के घोड़ों का वर्णन करते हुए लिखा है—

सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी॥[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि सुठि चंचल अर्थात् अत्यंत चंचल होना घोड़ों का उत्तम गुण है। एक कवि ने घोड़ों के उत्तम गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

चंचल चपल चिहूँकना बहु भोजन बहु रोष।
एते तुरपैं गुन करैं एते तिरियैं दोष॥

गोस्वामीजी ने लिखा है कि

जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा॥[3]

श्रीरामाश्व का वर्णन शारदाजी क्यों नहीं कर सकतीं? इसका स्पष्टीकरण बांधवेश राजर्षि श्रीरघुराजसिंहजूदेव प्रणीत 'श्रीरामस्वयंबर' में इस प्रकार किया गया है—

बेग के बिबस नासा होत फरफर जाको,
थरथर बोटी बोटी काँपती है अंग की।
ज्वालन जरत अस परत पुहुमि पाँय,
सील से समेटे गति मारुति के संग की।
बाग राग रचित सो तड़िता तड़प इव,
तड़पि थिरत छबि हरत तरंग की।
'रघुराज' जौ लौं चाहैं सारदा बखानैं, तौ लौं,
आनै आनै होति गति राम के तुरंग की॥
नर तें अधिक दौरैं पक्षी अंतरिक्ष ह्वै के,
पक्षी तें अधिक दौरैं बेग नदी नीर को।

१—मानस, १।३१६।७–१४। २—वही, १।२९८।५। ३—वही, १।३१७।१।

नीर तें अधिक दौरैं 'वंशी' कहैं सिंह बली,
सिंह तें अधिक दौरैं तीर महाधीर के।
तीर तें अधिक दौरैं पवन झँकोरैं तेज,
पौन तें अधिक दौरैं नैन ये सरीर के।
नैन तें अधिक दौरैं मन तिहूँ लोकनि में,
मन तें अधिक दौरैं बाजी रघुबीर के॥

श्रीराम ने विवाह के बाद बारह वर्षों तक श्रीअयोध्या में विहार किया था—

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी॥४॥
ततस्त्रयोदशे वर्षे राजाऽमन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः॥५॥[1]

विवाह के तेरहवें वर्ष वनयात्रा का प्रसंग आरंभ हुआ। परंतु उन बारह वर्षों का विशद् वर्णन रामचरितमानस में न होने से श्रीराम के घोड़ों की चर्चा वनयात्रा के समय ही आई है। जिस समय श्रीराम, सीता और लक्ष्मण राजनगर से निकलकर वशिष्ठाश्रम के द्वार पर खड़े होकर सभी पुरजनों को समझा रहे थे, उसी समय उधर राजभवन में—

पुनि धरि धीर कहै नरनाहू। लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥
सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गयें दिन चारि॥

× × ×

अस कहि मुरुछि परा महि राऊ।[2]

और राजकीय अश्वशालाओं में भी अश्वपालों में चर्चा होने लगी—

रोइ अस्वसालन में अस्वपाल बात करैं,
राम बन जावैं अब कहौ किमि कीजिये।
काके हेतु अस्वन सिंगारैं को निहारै इन्हैं,
कौन पुचकारै बिनु राम कहा धीजिये।
राम सिय लखन बनहिं जाहिं मुनिवेष,
भूपति मरन जिय निहचै पतीजिये।
छाँड़ि अस्वसालैं कहूँ इकांत 'कुमार' जाइ,
प्रान त्यागैं राम बिनु कहौ किमि जीजिये॥
सुनि अस्वपालन के बैन जिय जाने अस्व,
तजि हमैं राम बन जात यहि बार हैं।
कटे पंख खग गिरैं भूतल बिहाल लोटैं,
त्योंही छटपटैं बहै नैन असुधार हैं।

१—वाल्मीकीय रामायण, ३।४७। २—मानस, २।८१।८-१०, ८२।८।

मूर्छित सुग्रीव लोटैं व्याकुल बलाहकहू,
मेघपुष्प रोवैं परो सैव्य मृत्युद्वारे हैं।
ताही समै संमुख सुमंत्र सुधासाने बैन,
कहैं जुरौ रथ चढ़ि चलिहैं 'कुमार' हैं॥
सुनि बानी सुधारस सानी सुमंत्र की सैव्य सुपुष्प बलाहक ठाढ़े।
अति आनँद झूमि सुग्रीव उठे खड़े कान सुरोम हृदय सुख बाढ़े।
खुर खोदन चाहत भूमि 'कुमार' थम्हैं न छनौ ज्यों तवानल ठाढ़े।
रथ आगे भये सिरनाइ जुआ लये मानो अवै मथि सिंधु सों काढ़े॥*

---

* इस प्रसंग की चर्चा होते ही 'श्यामघोड़ी' का स्मरण हो आता है। महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक लिखित और सन् १९२६ ई० में छपी 'श्रीकनकभवन-रहस्य' के उत्तरार्द्ध अर्थात् 'महारानी श्रीवृषभानु कुँवरि' पुस्तक के पृष्ठ ५७-६० पर 'श्यामघोड़ी' का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

"श्यामा नाम की एक घोड़ी बहुत दिनों से महल में रहती थी और सरकारी (श्रीसीतारामजी की) फिटन में जोती जाती थी। जब वह वृद्धावस्था को पहुँची तब प्रबंधकारिणीसमिति ने उसे टीकमगढ़ भेजने और दूसरा घोड़ा वहाँ से मँगाने का निश्चय किया। लिखापढ़ी से बात पक्की हो गई। रेलवे विभाग के अधिकारियों ने १७ अक्टूबर, सन् १९१७ ई० को कैटल-वान् (Cattle-van पशु-डब्बा) देना मंजूर कर लिया। परंतु बड़ा आश्चर्य है कि यह बात उस घोड़ी को कैसे मालूम हुई। भेजे जाने के तीन दिन पहले ही उसने अनशन व्रत धारण किया, चारा-दाना बिल्कुल छोड़ दिया। अश्रुधारा कभी रुकती ही नहीं थी। वृद्ध शरीर इस संताप से और भी जर्जर हो गया। उसकी दीन दशा पर सबको दया आती थी। पर क्या करते, उसे भेजने के लिए व्यवस्थापक विवश थे। क्योंकि लखनऊ से रेलवे का डब्बा अयोध्या स्टेशन पर आ चुका था और महसूल भी अदा हो चुका था। इधर वह घोड़ी किसी प्रकार श्री कनकभवन छोड़ना नहीं चाहती थी। वह टीकमगढ़ जाने के लिए किसी प्रकार तैयार नहीं थी। संध्या समय चार बजे चार सिपाहियों के साथ जमादार उसे बाँधकर स्टेशन ले गए और उसी डब्बे में डाल आए। उसमें वह मुरदे की तरह पड़ गई रात की पैसेंजर ट्रेन में वह डब्बा जोड़ा जाने वाला था।

मंदिर में आकर जब जमादार ने उसकी 'दयनीय दशा' का वर्णन किया, तब सब लोग उसके लिए विशेष रूप से चिंतित हुए। मैनेजर भी पछताने लगे कि ऐसी दशा में नाहक उसे भेजा। अब करुणा-वरुणालय की करुणा का प्रभाव देखिए। स्थानीय रेलवे कर्मचारियों की गफलत से वह डब्बा रात की पैसेंजर-ट्रेन से नहीं जोड़ा गया। सबेरे स्टेशनमास्टर ने जाकर देखा, बहुत घबराए। क्योंकि इस भूल के कारण उनकी चाकरी में बट्टा लगता था। उन्होंने अपने बचाव के लिए मैनेजर कनकभवन को पत्र लिख भेजा कि 'यह मुरदा

सुमंत्र के अश्वशाला में जाकर श्रीराम-रथ में जुड़कर चलो कहते ही वे मुमूर्षु दशापन्न श्रीरामजी के घोड़े 'मृतकसरीर प्रान जनु भेटे'[१] के समान तुरंत रथ में आ लगे। इसी से मानस में कहा है कि जब सुमंत्र—

पाइ रजायसु नाइ सिरु, रथु अति बेग बनाइ

ले आए, तब—

गयेउ जहाँ बाहेर नगर सीय सहित दोउ भाइ।[२]

जानवर नहीं भेजा जा सकता। इसे वापिस मँगा लीजिए।' इस पत्र को पढ़कर व्यवस्थापकजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरंत जमादार को कुछ सिपाहियों के साथ उसे ले आने के लिए भेजा। वहाँ उस डब्बे में वह मरी हुई सी पड़ी थी। गुरुदीन जमादार ने उसके कान में जोर से कहा—'उठो, महल में चलो, अब टीकमगढ़ नहीं जाना पड़ेगा।' यह सुनकर वह खड़ी हुई अब बिना किसी की सहायता के वह महल में चली आई और चार पाँच वर्ष तक जीती रही।

श्यामा गइ साकेत को सब कहँ यहै सिखाय।
नर-तन कर फल हरि-भजन व्यर्थ न देहु गँवाय॥

इस अलौकिक घटना से मनुष्य को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस तमस् प्रधान घोर कलिकाल में, जब स्वार्थ की तूती बोल रही है, जब धर्म अर्थ का दास बन गया है, जब आधिभौतिक और हेतुवाद के बहाने नास्तिकता का प्रचार बढ़ रहा है, तब ऐसे कठिन समय में इस प्रकार के अद्भुत संघटन से ही बिना किसी तर्क-वितर्क के ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यह भी निश्चय हो जाता है कि पुराणों में जो पशु और पक्षी योनि के भक्तों की कथायें हैं, वे निरी कल्पना नहीं हैं, वरन् वास्तविक घटना हैं।

उपर्युक्त अवसर पर व्यवस्थापक श्रीमाधवप्रसादजी ने उस प्रेमी पशु को स्टेशन से वापस मँगाकर अपने पद के अनुरूप एवं सुजनोचित कार्य किया। उसकी दीन दशा पर तरस खाकर उन्होंने उसके साथ वह उपकार किया, जिसकी तुलना किसी बड़े से बड़े सुकृत से सफलतापूर्वक की जा सकती है। फारसी भाषा के महाकवि 'सादी' ने कहा है—

मयखुरो, मसहफ़ ब सोज़ व आतश अंदर कावाज़न।
'सादिया' अज़ हरचे ख़ाही कुन, दिल आज़ारी मकुन॥

[अर्थात् मदिरा पानकर, पूजन का पट फूँक दे और कावा में आग लगा दे—ये सब दुष्कर्म भले ही करे अथवा और जो कुछ तेरे जी में आवे कर; परंतु ऐ सादी! किसी का दिल मत दुखा।]

सच है, इस संसार रूपी हाट में आकर जो उत्तम सौदा करते हैं, जो दीनजनों की सहायता करते हैं, उनके दुःखित मन को शांति प्रदान करते हैं, वे ही सुचतुर हैं और वे ही परमेश्वर के प्यारे हैं।"

१—मानस, १।३०८।४। २—वही, २।८२।९,१०।

नगर के बाहर पहुँचने पर—

तब सुमंत्र नृपबचन सुनाए। करि विनती रथ रामु चढ़ाए॥
चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहिं सिरु नाई॥[1]

श्रृंगवेरपुर तक घोड़े परम प्रसन्नतापूर्वक रथ ले गए, परंतु वहाँ से जब 'बरबस राम सुमंत्रु पठाए'[2] और सुमंत्र वापसी के लिए रथ हाँकने लगे तब—

रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद विषादबस धुनहिं सीस पछिताहिं॥
जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसें॥[3]

श्रीरामजी के श्रृंगवेरपुर से जाने के चौथे दिन निषादराज गुह उन्हें यमुना पार तक पहुँचाकर श्रृंगवेरपुर वापस आए। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि गुह-राज के लोग सुमंत्रजी की सेवा के लिए रथ के पास एकत्र हैं, परंतु सुमंत्र की कोई सेवा ही नहीं है। वे तो रथ पर अर्द्ध मूर्च्छित से पड़े हैं तथा घोड़ों की अत्यंत दयनीय दशा है। लोगों ने गुह को बतलाया कि आज चार दिन से इनकी यही दशा है—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥
नहिं तृनु चरहिं न पिअहिं जलु, मोचहिं लोचन बारि।
व्याकुल भये निषाद सब रघुबरबाजि निहारि॥[4]
अहो तु खलु रामनिर्गमनदिनादारभ्य·······
नागेन्द्रा यवसाभिलाषविमुखाः सास्रेक्षणा वाजिनो,
हेषाशून्यमुखाः सवृद्धवनिताबालाश्च पौरा जनाः।
त्यक्ताहारकथाः सुदीनवदनाः क्रन्दन्त उच्चैर्दिशाः,
रामो याति यया सदारसहजस्तामेव पश्यन्त्यमी॥[5]

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें। रामबियोग बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
बाजिबिरह गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहिं भाँती॥[6]

सुमंत्र के श्रृंगवेरपुर से लौटने और उनके 'पैठ भवन रथु राखि दुआरें'[7] का

जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूपद्वार रथु देखन आए॥
रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे॥[8]

इसके बाद घोड़ों की पुनः कोई चर्चा मानस में नहीं आती, यहाँ तक कि जब 'हरषि भरत कोसलपुर आए', उत्तरकांड, ३।१ से 'आए भरत संग सब लोगा',

---

१—वही २।८३।१-२। २—वही, २।१००।२। ३—वही, २।९९।९-१००।१।
४—वही, २।१४१।८-१०। ५—प्रतिमा नाटक, अंक २, श्लोक २।
६—मानस, २।१४२।५-८। ७—वही, २।१४६।५। ८—वही, २।१४६।६-७।

उत्तरकांड, ५।१ तक भी घोड़ों की कोई चर्चा क्यों नहीं आती? इस संभावित शंका का समाधान गीतावली के

राघौ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ।
जे पय प्याइ पोखि कर-पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाडिले! ते अब निपट बिसारे।
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम-मारे।
सुनहु पथिक! जो राम मिलहि वन कहियो मातु सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इन्हको बड़ो अँदेसो॥[1]

इस पद से ज्ञात हो जाता है कि वे श्रीरामजी के घोड़े नंदिग्राम में रखे गए थे। मातायें तो कभी अयोध्या कभी नंदिग्राम में रहा करती थीं, किंतु श्रीभरतजी ने तो जबसे—

नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥[2]

तब से चौदह वर्ष तक वहीं रहे। श्रीहनुमान्जी से—

रिपु रन जीति सुजसु सुर गावत। सीता अनुज सहित पुर आवत॥[3]

शुभ समाचार सुन लेने के पश्चात् ही 'हरषि भरत कोसलपुर आए।'[4]

अतः चौदह वर्ष तक उन अश्वों की सार सँभार श्रीभरतजी नंदिग्राम में ही करते रहे। ज्यों ही उन अश्वों ने श्रीहनुमान्जी के द्वारा श्रीभरतजी से कहे गए श्रीराम के आगमन का समाचार सुना वे हर्ष से प्रफुल्लित हो उठे—

ज्यों हनुमान पुकारि कह्यो सिय राम सहानुज आइ गये।
त्यों सब अस्व प्रफुल्ल हिये दिसि दक्षिन देखें कनैती दये।
मानहुँ अमृतकुंड 'कुमार' सु उच्चस्रवा मद चूर भये।
नंदिग्राम सों लै रथ राम को सानँद औध प्रवेस लये॥

अयोध्या नंदिग्राम से लगभग एक योजन दूर है और वन से लौटने पर वहीं से श्रीरामजी ने अपने घोड़ों वाली रथ पर सवार होकर अवध में प्रवेश किया होगा। लील संवरण के समय भी अश्वों का विस्मरण नहीं किया गया—

पुनि कृपाल पुर बाहेर गए। गज रथ तुरग मगावत भए॥[5]

१—गीतावली, २।८७। २—मानस, २।३२३।२। ३—वही, ७।२।२।
४—वही, ७।३।१। ५—वही, ७।५०।३।

३

'श्रीमुग्ध'

श्रीरामचरितमानस और योग

[प्रस्तुत निबंध में मानस की उक्तियों के योगपरक अर्थ का उद्बोधन कराया गया है और 'यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि मानसकार को योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना-कराना अभिप्रेत था'। आशा है इससे मानस के सूक्ष्म एवम् गंभीर अध्ययन में रुचि रखनेवालों को प्रौढ़ चिंतन की प्रेरणा प्राप्त होगी।]

'मानस-मयूख' के प्रथम वर्ष के चतुर्थ प्रकाश में उपर्युक्त शीर्षक के अंतर्गत रामचरितमानस के प्रथम मंगलाचरण के आरंभिक छः श्लोकों का विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि मानसकार को योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना-कराना अभिप्रेत था। यहाँ उसी की पुष्टि सप्तम श्लोक के आधार पर की जा रही है। श्लोक है—

नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति॥

मानस-मनीषियों ने इस श्लोक का अर्थ अनेक प्रकार से किया है और वे सभी अर्थ समीचीन तथा विवेकपूर्ण हैं। यहाँ विचारणीय है कि कौन सा अर्थ प्रणेता को अभीष्ट था। 'नानापुराणनिगमागमसंमतं' उक्ति स्पष्ट रूप से यह व्यक्त कर रही है कि दाशरथी 'राम' मात्र से उसके रचयिता का अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वेदों में और 'ब्रह्म' की तथा 'मत्स्यपुराण' में राम की कथा उपलब्ध नहीं होती है। प्रश्न उठता है कि आखिर इन शब्दों से गोस्वामीजी का क्या तात्पर्य है? इसके उत्तर में दो भाव ग्रहण किए जा सकते हैं। एक भाव वेदों और पुराणों की गूढ़ प्राचीन शैली से हो सकता है, जिसमें सब रसों का समन्वय होते हुए भी वीररस का प्राधान्य है। इससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि गोस्वामीजी भाषा-काव्य की रचना करते हुए भी उसी प्राचीन शैली पर चलने की प्रतिज्ञा करते हैं। परंतु इस भाव के ग्रहण से न तो गोस्वामीजी की मनसा ही पूर्णरूप से व्यक्त हो सकेगी और न यथार्थ अर्थ का बोध ही संभव होगा। इस स्थिति में रामकथा ही प्रधान हो जायगी और शैली भी प्राचीन ही रहेगी। तब—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥[1]

अथवा

कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।[2]

१—रामचरितमानस, आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र संपादित, काशिराज संस्करण, १।३५।११। २—वही, १।३३।४।

का क्या अर्थ निकाला जायगा । मानस की इस पंक्ति—

तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा । कहिहउँ नाइ रामपद माथा[1] ॥

में 'रघुपति' और 'राम' दोनो शब्द प्रयुक्त हैं । अर्थ स्पष्ट है कि श्रीराम के चरण-कमलों में नतमस्तक होकर मैं श्रीरघुपति के गुन की गाथा कहूँगा । यदि गोस्वामीजी का लक्ष्य केवल रामकथा कहना होता तो वे 'शुचि रामकथा' ही कह देते, 'रघुनाथ-गाथा' क्यों कहते ? परंतु इस पंक्ति—

करन चहौं रघुपति गुन गाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥[2]

में उन्होंने साफ साफ कहा है कि मेरी बुद्धि अति अल्प है और चरित अथाह है । इन उक्तियों से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने श्रीराम और श्रीरघुनाथ में भिन्नता प्रगट की है ।

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार ।[3]

के द्वारा उन्होंने श्रीराम को अनंत अर्थात् ब्रह्म कहा है । श्रीरामचरित को उन्होंने स्वयम् सीमाबद्ध कर दिया है, इसलिए उसे 'अवगाहा' कहा नहीं जा सकता था । अतः 'रघुनाथ' शब्द श्रीराम का द्योतक नहीं है ।

रघुवंश सूर्य का वंश है । उसका नाथ कौन ? सूर्य ही है । अतः गोस्वामीजी ने 'रघुनाथ' शब्द का व्यवहार सूर्य के लिए ही किया है और तभी इसको अलौकिक तथा अथाह कहा है ।

वेद-साहित्य में और पुराणों में सूर्य को विश्व का केंद्र माना है । जिस प्रकार अखिल विश्व का स्थूल भूत कारण सूर्य है, उसी प्रकार स्थूल देह का कारण सूक्ष्म जीवात्मा है । दृश्य और अदृश्य जगत् या देह को ज्ञात करने की क्रिया को 'योग' नाम से संबोधित किया गया है । योग-मार्ग के द्वारा जिसे जाना जाता है, उसी को 'सत्य' कहा है और जो सत्य है वही आदित्य है—'तश्च तत्सत्यमसौ स आदित्यो ।' अथवा

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥—ईशा० १५ ।

अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र से सत्य (ब्रह्म) का मुख ढका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्मा की आत्मा की उपलब्धि के लिए तू उसको उघाड़ दे ।

जगत् का पोषण करने के कारण सूर्य पूषा है । वह अकेला चलता है, इसलिए एकर्षि है । सबका नियमन करने के कारण वह यम है । किरण, प्राण और रसों को स्वीकार करने के कारण वह सूर्य है तथा प्रजापति के द्वारा उत्पन्न होने से वह प्राजापत्य है । उपनिषत्कार का वाक्य है—

१—वही, १।१३।९ । २—वही, १।८।५ । ३—वही, १।३३।९ ।

यत्ते तव रूपं कल्याणतमं अत्यन्तशोभनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि। तेरा जो अत्यंत कल्याणमय अर्थात् अत्यंत सुंदर स्वरूप है, उसे तुझ आत्मा की कृपा से मैं देख रहा हूँ।

गोस्वामीजी तथा भाष्यकार ने समान भाव ग्रहण किया है। एक 'स्वान्तः-सुखाय' कहते हैं, तो दूसरे 'सत्यात्मन उपलब्धये' एक 'अति मंजुल' का प्रयोग करते हैं तो दूसरे 'अत्यन्तशोभनं' का। अर्थ दोनो का समान है। सूर्य अर्थ को ग्रहण करने से 'नानापुराणनिगमागमसंमतं' भी सार्थक बन जाता है—

> सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
> सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च॥—सूर्योपनिषद्।

और वेद-साहित्य में तो 'ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः' स्पष्ट ही कहा है। इसी प्रकार पुराण में भी सूर्य को प्रधानता दी है—

> ज्योतिः समूहं प्रलये पुरासीत् केवलं द्विज !।
> सूर्य्यकोटिप्रभं नित्यमसंख्यं विश्वकारणम्॥—ब्रह्मवैवर्त्त०, ब्रह्म० २।४।

सूर्य की कोटि-कोटि किरणें ही असंख्य विश्व का कारण हैं। तंत्रशास्त्र में तो सूर्य का एक पंथ ही चलता है, जिसे दक्षिण मार्ग कहा जाता है। साधना हेतु उन्होंने त्रयमातृका, पञ्चमातृका, सप्तमातृका आदि शक्तियाँ निश्चित की हैं, जो सूर्य की किरणों के ही भेद हैं। उनके कथनानुसार सूर्य मार्ग से गमन करनेवाला प्राणी पुनः पाशबद्ध नहीं होता, क्योंकि वह प्रणव में प्रवेश कर जाता है। प्रणव से तात्पर्य 'अहंकार मंडल' से है और यह ब्रह्म-विद्या का भेद है। अतः गोस्वामीजी ने 'रघुनाथ' शब्द को ग्रहण कर इसी गूढ़ भाव को प्रगट किया है। सरलता के लिए योगाभ्यासी को सर्वप्रथम सूर्य का ध्यान करना पड़ता है, जिसका स्थान नाभि-चक्र माना गया है। यहाँ से ही कुंडलिनी को जागृत करके अभ्यासी आगे बढ़ता है। यही सूर्य-मार्ग का भेद है।

योग-मार्ग में प्रवेश करनेवाले साधक को प्रथम कुछ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। यद्यपि सांगोपांग ज्ञान गुरु के श्रीचरणों में ही बैठकर प्राप्त किया जा सकता है, फिर भी गोस्वामीजी ने मानस का आरंभ करते हुए मंगलाचरण के सोरठों में बहुत कुछ कह दिया है। जिस भाँति अभ्यासी को प्रारंभ में नियम, क्रिया और लक्ष्यांग का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी भाँति मानस-ज्ञान के लिए इन सोरठों के ठीक-ठीक अर्थ को जानना आवश्यक है। इन सोरठों के अर्थ की जानकारी के हेतु कुछ योगांग का ज्ञान भी अपेक्षित है। अतः संक्षेप में यहाँ योगांग का परिचय दे देना अनौचित्यपूर्ण न होगा।

पांचभौतिक दृश्यमान यह शरीर 'स्थूल शरीर' है। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल भाग को 'अन्नमय कोश' और सूक्ष्म भाग

को 'प्राणमय कोश' कहते हैं। ये दोनो संमिलित रूप से जीवात्मा की सेवा करते हैं। किंतु इनमें स्वयम् अपनी कोई शक्ति नहीं है। इन्हें सेवाकर्म की क्षमता शरीर में विद्यमान एक अन्य 'सूक्ष्म शरीर' के द्वारा प्राप्त होती है, जो नस, नाड़ी, माँस, मज्जा, अस्थि रहित प्रभायुक्त वाष्प जैसे अत्यंत चमकदार तत्व से बना है और प्रत्यंगों से रहित है। यह 'स्थूल शरीर' जो कुछ कार्य करता है, वह सब इसी 'सूक्ष्म शरीर' की शक्ति द्वारा करता है। परंतु इस प्रेरणा में 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' ये उभय शक्तियाँ मिली रहती हैं। इन दोनो शक्तियों के योग से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम जीवन है, जिसके द्वारा यह 'स्थूल शरीर' जीवित रहकर क्रियाएँ करता रहता है। इस 'सूक्ष्म शरीर' के भी दो भाग माने गए हैं—एक 'ज्ञानपूरक' और दूसरा 'क्रियापूरक'। 'ज्ञानपूरक' का नाम 'विज्ञानमय कोश' तथा 'क्रियापूरक' का नाम 'मनोमय कोश' है। किंतु यह जीवन-शक्ति इसकी भी अपनी नहीं है। इसको भी एक अन्य अति सूक्ष्म शरीर के द्वारा वह प्राप्त होती है, जिसको 'कारण शरीर', 'अव्यक्त शरीर' आदि नामों से जाना जाता है। इसे 'आनंदमय कोश' कहते हैं। यह एक प्रकाशपुंज के रूप में है, किंतु जड़ है। इसकी भी अपनी कोई शक्ति नहीं है। जीवात्मा के द्वारा चेतना प्राप्त होने पर 'आनंदमय कोश' अपना कार्य ज्ञान और क्रिया के रूप में करना प्रारंभ कर देता है। ज्ञान और क्रिया की कार्यप्रणाली 'आनंदमय कोश' से सूक्ष्म प्राण के रूप में बाहर आकर इस स्थूल देह को जीवन देती है; इस क्रिया या जीवन का प्रवर्तन चलता रहता है। 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'अति सूक्ष्म' इनको भेदकर भीतर एक 'चेतन' प्रकाश पुंज है। उसको देख लेने या जान लेने को ही 'आत्मज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान' के नाम से जाना जाता है। इसका निष्कर्ष यह है कि 'स्वांतः' के रहस्य को जान लेने की क्रिया का नाम योग है।

योग-दर्शनकार ने योग के प्रधान आठ अंग माने हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। किंतु यह कह देना आवश्यक है कि इनके द्वारा ही साधक देहविज्ञान, नाड़ीविज्ञान और चक्रविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करता है। इस चक्र विज्ञान के अंतर्गत एक 'गणेश चक्र' भी है, जो मनुष्य की बड़ी आँतों का ४-५ इंच लंबा शुंडाकृति रूप में बना हुआ है।[1] इसके पीछे पुच्छास्थि के समीप ही 'मूलाधार चक्र' है। प्रथम अभ्यासी की प्राणिक क्रिया जब इस प्रदेश में प्रारंभ होती है तब साधक को कुछ अनुभूतियाँ होने लगती हैं, जो दीप-शिखा सदृश धूमिल प्रकाश सी लहरें, हवनकुंड से उठती लाल, पीली, नीली ज्वालाएँ और कभी श्याम-रक्त-श्वेत-नीली आभा से युक्त जामुन के आकार के पिंड जैसी होती हैं। यद्यपि 'चक्र' सुषुम्ना व्यूह के अंतर्गत ही है, किंतु साधक को पूर्णता न प्राप्त होने तक भिन्न ही दिखलाई देता है। प्रारंभिक अभ्यास के समय साधक को कभी अप्रिय घटना का भी सामना करना पड़ता है, जो

१—दे० 'आत्मविज्ञान', पृ० ९६।

विघ्न स्वरूप होती है। भय से कंप, स्वेद, अर्ध मूर्छा, हाथ-पाँव आदि किसी अंग से प्राण का खिंचकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होने लगना अथवा प्राण का बहिर्गत होने का सा ज्ञान होना आदि अनेक विह्वल कर देनेवाली स्थितियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। इसी प्रकार ऐसी शुभ घटनाएँ भी होती हैं, जिनमें देव-सिद्धों के स्वरूप, भजन-कीर्तन श्रवण के प्रसंग अथवा प्राकृतिक सुंदर दृश्य दिखलाई देते हैं। यह 'पृथ्वीतत्व' प्रधान चक्र है। इसके दर्शन का अभिप्राय होता है—अपान द्वार से प्रारंभ कर भीतर 'गणेशचक्र' तक व्याप्त आँतों का, अश्वपुच्छ के तंतुओं का, और पुच्छास्थि के पृथक् तथा एकत्र समूह का यथार्थ ज्ञान। इसमें ध्यान करने से जो फल-प्राप्ति योग-शास्त्र के अनुसार होती है, उसको गोस्वामीजी ने यों व्यक्त किया है—

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिबर बदन।
करौ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ गुन सदन॥[1]

जिस (मूलाधार-चक्र) में ध्यान करने से गन-नायक (आँत-समूह, अश्वपुच्छ, तंतु-समूह, पुच्छास्थि समूह का नायक 'गणेशचक्र') का ज्ञान उपलब्ध होता है, जिसके प्राप्त होने पर सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जो बुद्धि का भंडार तथा शुभ गुणों का सदन है, वही मुझ पर कृपा करे। यहाँ 'सदन' और 'शुभ' दोनो ही शब्द गूढ़ार्थ को प्रगट करते हैं। सदन में पदार्थ गुप्त रहता है और शुभ गुण साधक को प्राप्त होते हैं। वे शुभ गुण कैसे हैं—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन॥[2]

जिनकी कृपा से गूँगा व्याख्यानदाता और लँगड़ा गहनवनाच्छादित दुर्गम पर्वतों पर चढ़ सकता है, वे दया करनेवाले तथा कलिमल को दहन करनेवाले मुझ पर द्रवित हों। कलिमल से तात्पर्य दैहिक और भौतिक तापों से है, जिन पर प्राणायाम के द्वारा जय प्राप्त की जाती है।

'चक्र' प्रधान आठ माने गए हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, सूर्य, मनस् (चंद्र), अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। सब चक्रों में एक तरल द्रव्य भरा रहता है। साधना द्वारा उस द्रव्य को द्रवित किया जाता है और वह क्रियमाण बन जाता है। मूलाधार चक्र के द्रवित होने से स्वाधिष्ठान चक्र को शक्ति मिलती है। स्वाधिष्ठान चक्र से मणिपूर चक्र को, मणिपूर चक्र से सूर्य चक्र को, सूर्य चक्र से मनस् चक्र को, मनस् चक्र से अनाहत चक्र को, अनाहत चक्र से विशुद्ध चक्र को और विशुद्ध चक्र से आज्ञा चक्र को शक्ति प्राप्त होती है। यद्यपि यह पहले कहा जा चुका है कि इनका मूल सुषुम्ना नाड़ी है, किंतु साधक के लिए प्रत्येक चक्र को द्रवित करना अत्यंत आवश्यक होता है। मणिपूर चक्र, जिसको नाभि चक्र भी कहा जाता है,

---

१—मानस, १। मं० सों० १। २—वही, १। मं० सो० २।

योग शास्त्र ने बहुत ही महत्त्व का माना है। 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' कहकर इसको स्पष्ट किया गया है। यहीं आकर समान प्राण की सीमा मिलती है, जो जलतत्व प्रधान है। यहीं कुंडलिनी निवास करती है। ईड़ा और पिंगला का कार्यक्षेत्र यहीं से आरंभ होता है, जिसको वामभाग और दक्षिणभाग माना गया है। इसको अयन के रूप में व्यक्त करके संवत्सर कहा गया है। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष का भेद भी यही है। यहाँ से ही सूक्ष्म होकर सुषुम्ना में प्रवेश का मार्ग खुलता है, जो सहस्रार में जाकर पूर्ण होता है। इसी चक्र में इच्छाजन्य अभिघात से शब्द का 'परा' नामक अव्यक्त स्वरूप प्रगट होता है। 'परा' शब्द का ध्यान यहीं किया जाता है—

भगतिहेतु विधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥[1]

'परा-पश्यंति मध्यमा' का भेद गोस्वामीजी ने उपर्युक्त चौपाई में स्पष्ट किया है, जिसे विषयानुसार आगे उद्घाटित किया जायगा।

मणिपूर चक्र के आगे सूर्य और चंद्र चक्र को भेदकर साधक अनाहत चक्र में प्रवेश करता है। इसको हृत् चक्र भी कहा जाता है। दोनो फुफ्फुसों के बीच रक्ताशय नामक माँस-पिंड के भीतर एक छोटे से रिक्त स्थान में यह चक्र स्थित है। यह स्थान छोटे अंगूर के दाने के प्रमाण का है। अंतःकरण के साथ जीवात्मा का निवास यहीं माना गया है, जो नवजात शिशु के अंगुष्ठ के प्रथम दर्प के प्रमाण का है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥एतद्वैतत्॥[2]

यह एक नन्हा सा अंडाकृति प्रकाशपुंज होने के कारण साधक को नव मुकुलित कमल-कलिका सा दीखता है। यह कलिका ऊपर से नीलाभ, भीतर से कुछ श्वेत और हृत्-रक्त की आभा से लाल दिखाई देती है। इसी को लक्ष्य कर गोस्वामीजी कहते हैं—

नील सरोरुह स्याम स्तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन॥[3]

इस सोरठे में गोस्वामीजी ने 'स्वाधिष्ठान चक्र' अर्थात् मूल से आरंभ कर 'हृत् चक्र' तक चमत्कारी ढंग से संबंध का निर्वाह किया है। परंतु अधिक विस्तृत विवेचन में न जाकर यहाँ केवल संकेत में अर्थ का उद्घाटन किया जा रहा है। 'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन' का अर्थ ऊपर कहे कथन से स्पष्ट है।

'हृत् चक्र' में 'आनंदमय कोश' है, जो छः ज्योतिर्मय मंडलों का एक संगठित मंडल है। प्रथम—'ब्रह्ममंडल' : साधक को जब ब्रह्म का दर्शन होता है तो इसी

१—वही, १।११।४। २—कठो०, अ०२, व० १–१२। ३—मानस, १।मं०सो०३।

मंडल के रूप में होता है। यह मंडल अव्यक्त सा है, किंतु इसे अति शुक्ल-शुभ्र, पारदर्शी तथा स्वच्छ कहा जाता है। द्वितीय—ब्रह्ममंडल के भीतर 'अव्यक्त परा प्रकृति' का अंशभूत 'सूक्ष्म प्रकृति मंडल' है, जो हलके पीताभ वर्ण का है। जीवात्मा का यही वास्तविक 'कारण' शरीर माना गया है। तृतीय–सूक्ष्म प्रकृति मंडल के भीतर 'सूक्ष्म प्राण मंडल' है। साधक को सर्वप्रथम इसी का दर्शन होता है। यह अति शुभ्र वाष्प अथवा रवि-रश्मियों द्वारा चमकते ओस विंदु सा होता है। 'अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः'[1] तीनो गुणों से प्रभावित होने के कारण यह शुभ्र, पीत और वाष्प जैसे रूप में दिखलाई देता है। चतुर्थ—सूक्ष्म प्राण मंडल के भीतर मयूर-ग्रीवा के रंग के समान अहंकार-मंडल है। यह भी गुणत्रय से प्रभावित होता है। सत्व के प्रभाव से सूक्ष्म हरी आभा से युक्त शुक्ल वर्ण का, रजः से मयूर पुच्छ के चंद्र के समान वर्ण का होता है[2] तथा तम से प्रभावित होने पर वह नील दिखलाई पड़ता है। पंचम—'अहं मंडल' के भीतर 'चित्त मंडल' है। यही जीवात्मा का सदन है, जो अत्यंत शुभ्र-शुक्ल वर्ण का मनोहर ज्योति युक्त है। परंतु वह अपनी वृत्तियों के द्वारा परिवर्तनशील वर्णोंवाला होता रहता है। चित्त ही अंतःकरण का विशेष ज्ञानात्मक अंग है। इस वृत्तिमान अंग में वृत्ति रूप तरंगें निरंतर उठती और विलीन होती रहती हैं। जैसे जलाशय की लहरें पवन के संपर्क से क्रियाशील रहती हैं, वैसे ही इसको शुभ्र-शुक्ल और तरंगों से युक्त देखकर ही क्षीरसागर की कल्पना की गई है। हृत् गत इसी 'चित्त गुहा' में आत्मा का निवास होने से गोस्वामीजी ने 'छीरसागर सयन' कहा है। षष्ठ—परमाणु से भी सूक्ष्म आत्मा का मंडल है, जो ब्रह्म के समान सूक्ष्म है। इसके रंग या रूपों का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अनुपमेय है। इसे लक्ष्य कर मानस में 'नेति नेति जेहि वेद निरूपा'[3] कहा गया है।

'छीरसागर सयन' का अर्थ स्पष्ट हो गया। अब 'नयन' शब्द से गोस्वामीजी का क्या अभिप्राय है, इसे देखिए। 'नयन' शब्द से उनका तात्पर्य 'आज्ञा-चक्र' से भी माना जा सकता है, क्योंकि हृत् चक्र के बाद ही आज्ञा चक्र आता है, जिसके द्वारा साधक को दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है। इसी आज्ञा चक्र के भीतर 'दिव्य चक्षु' या तीसरा नेत्र माना गया है। आज्ञा चक्र के आगे कपाल प्रदेश के भीतर मध्य-मस्तिष्क में सहस्रासार स्थित है। इसी सहस्रासार में मानव का सूक्ष्म शरीर रहता है। यहीं पर मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों के साथ इसके अध्यक्ष मन और बुद्धि का निवास भी है। ये दोनो युक्त होकर इंद्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। किंतु जब किसी अतीन्द्रिय दूरस्थ या कहीं पर गुप्त पदार्थ विषयक

१—कठो०, अ० २, व० १, श्लो० १३।

२—इसी को देखकर 'दुर्गासप्तशती' में 'मयूरकुक्कटवृते महाशक्तिधरे' कहा गया है। ३—मानस, १।१४४।५।

विज्ञान की प्राप्ति के लिए चित्तमंडल से उठकर आत्म-संकल्प बुद्धिमंडल में स्फोट करता है, तब यह दिव्यदृष्टि कभी सीधी और कभी आज्ञा चक्र के द्वारा कहीं पर भी छिपे उस पदार्थ से संयुक्त होकर उसका संपूर्ण विज्ञान प्राप्त करके मन और बुद्धि के द्वारा उस विषय का सब निर्णय कराकर अहंकार के द्वारा हृदयगत आत्मा के पास भेज देती है। यह क्रिया सर्वदा होती रहती है। योगीजन इसकी सूक्ष्म क्रिया से भी काम लेते हैं और भोगीजन स्थूल मात्र से। सिद्धगण इसी के द्वारा अपकृत या उपकृत करते हैं। भगवान् रुद्र ने कामदहन के अवसर पर अपने संकल्प को इसी आज्ञा चक्र के द्वारा भेजा था—

तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भएउ जरि छारा॥[1]

साधक इसी आज्ञा चक्र या ज्ञानचक्षु के द्वारा अंड और ब्रह्मांड के भीतर होनेवाले चमत्कारों को देखता है। शास्त्रों ने तो नेत्र को ब्रह्म का शरीर ही माना है—

यश्चक्षुषि तिष्ठँ चक्षुषोऽन्तरो, यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं
यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥[2]

जो ब्रह्म व्यापक रूप से नेत्र में ठहरा हुआ है, जिसको चक्षु नहीं जानती, जिसका नेत्र ही शरीर है, जो नेत्र का अंतर्यामी रूप से संचालन करता है, वह आत्मा ब्रह्म है, वह मोक्ष रूप है और वह अमृत रूप है। वस्तुतः यदि दर्पण को सामने रखकर नेत्र को गहरी दृष्टि से देखा जाय तो हृत् चक्र का स्थूल दृश्य सामने आ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से 'नयन' शब्द का अर्थ कुछ अंश में अवश्य प्रगट हुआ होगा। आगे के 'करौ सो मम उर धाम' का अर्थ यों किया जा सकता है—सो जो ब्रह्म है, मेरे हृत अंतस् में जिनका 'धाम' (प्रकाश) है सर्वदा हृत्‌चक्र रूप क्षीरसागर में शयन करें। 'सदा' से गोस्वामीजी ने अमरता का वरदान चाहा है। क्योंकि जीवात्मा के अभाव में इस स्थूल देह का कोई मूल्य ही नहीं है—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥[3]

अर्थात् इस शरीरस्थ देह के क्रियमाण होने पर, इस देह से मुक्त हो जाने पर इस शरीर में क्या रहता है? तात्पर्य यह कि कुछ नहीं रहता। चतुर्थ सोरठे में तो गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से 'ब्रह्मविद्या' की याचना की है—

कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन मयन॥

हे काम का मान मर्दन करनेवाले करुणा के घर भगवान् शंकर! मुझ गरीब पर आपका स्नेह है, अतः कृपा करो और शुभ्र-शुक्ल शरीर से जो जाना जाता है,

---

१—वही, १।८७।६। २—बृहदारण्यक०, अ०३। ब्रा० ७। मं० १८।
३—कठो०, अ०२, व०५, श्लो० ४।

उस आत्मज्ञान को प्रकाशित करो, क्योंकि आप तो 'ब्रह्मविद्या' में रमण करनेवाले हैं। 'उमा' से यहाँ 'ब्रह्मविद्या' से ही तात्पर्य है—

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमाना'मुमां'ँ. हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति।'[1]

अथवा

'विद्या उमारूपिणी'

गोस्वामीजी जैसी विभूति के लिए 'ब्रह्मज्ञान' की याचना संगत भी है। क्योंकि

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं,
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥[2]

नचिकेता कहता है कि हे यम ! मनुष्य को धन से तृप्त नहीं किया जा सकता, अब यदि आपको देख लिया है तो धन को पाही लूँगा। जब तक आप शासन करेंगे हम जीवित भी रहेंगे, किंतु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है—'स एव यदात्म विज्ञानम्।' यही भाव गोस्वामीजी ने ग्रहण किया है। जब भगवान् शंकर स्नेह करते हैं तो अन्य सब पदार्थों की चिंता कौन करे ? वे सब तो प्राप्त होते ही हैं। याचना तो एकमात्र 'ब्रह्मविद्या' की है।

—क्रमशः

१—केनो०, २।२५।१२। २—कठो०, अ० १, व० १, श्लो० २७।

'रुद्र काशिकेय'

रामबोलाराम बोले

या

तुलसी की रामकहानी

आगे—

सुमति हियँ हुलसी

रसाल की डाल पर मंजरियों के अंतराल में कोकिल का स्वर पंचम पर जाकर दसों दिशाओं में गूँज उठा—कुहू कू !

सामने ही इमली के पेड़ पर बैठे हुए उल्लू ने पधारकर जैसे नवाबी ध्वनि की घूध घूध घू !

सरोवर में पंख फटफटाकर हंस ने भी जैसे उल्लू और कोकिल के विवाद में विरक्त मध्यस्थता की, विवश कामना प्रकट की।

चौकी पर बैठे हुए तुलसीदास प्रयत्न करने पर भी ध्यानस्थ न हो सके। फागुनी बयार से हरी और तारों भरी वह मदमस्त रात चौपाल से उठकर निरंतर गूँजनेवाली चौताल की ध्वनि का स्पर्श पाकर जैसे काँप-काँप उठती थी और उसी के साथ चर और अचर भी सिहर जाते थे। चौपाल या चौताल में राम के होली खेलने का वर्णन किया जा रहा था—

'होरी खेलैं रघुबीरा
अवध में, होरी खेलैं रघुबीरा।'

तुलसी जरा ध्यान से सुनने लगे—

'राम के हाथे कनक पिचकारी
लछिमन हाथे अबीरा
अरे लछिमन हाथे अबीरा।'

स्वर लहरी ने जैसे वातावरण को झकझोर दिया। तुलसी का रोम-रोम रस से आप्लावित हो गया। अधरोष्ठ पर मंद मुसकान की एक रेखा सी खिंच गई। लीलानंद की रसानुभूति में वे ऊभचूभ होने लगे, परंतु जैसे कोई अगम अगाध में डूबता उतराता हुआ लहरों द्वारा सहसा तट पर फेंक दिया जाय, वैसे ही तुलसी की रसोपलब्धि भी उनके हृदय से तिरोहित हो गई और उन्होंने अपने को शुष्क वातावरण में पाया। वह विकल होकर सामने क्षितिज की ओर शून्य में एकटक देखने लगे। उनकी आँखें खोई खोई सी अनंत आकाश में प्रवहमान चेतना में किसी

विद्युत्कण का स्पर्श पाकर सहसा वैसे ही प्रकाश से भर गईं जैसे बिजली का बटन दबाते ही वल्ब जल उठता है।

उस प्रकाश में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई नारी-मूर्ति हवा में तैरती हुई सी चली जा रही है। अपनी बूढ़ी आँखों को भ्रमान्वित समझकर उन्होंने अंगोछे से उन्हें पोंछ लिया और फिर ध्यान से देखा तो स्पष्ट ही चने, तीसी और सरसों के खेतों की हरिआली की ओट लेती हुई कोई स्त्री जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाए जा रही है। उन्हें संदेह सा हुआ कि यह वास्तव में नारी न होकर कोई अशांत अशरीरी आत्मा है। पुनः तत्काल ही उन्होंने सोचा कि मैं रामदास हनुमान् का आजीवन उपासक रहा हूँ और आज ही केसरीकुमार के विग्रह की मैंने स्थापना की है, भूत पिशाच मेरी दृष्टि में आ कैसे सकते हैं? निश्चय ही यह कोई अपदेवता न होकर हाड़ मांस की नारी ही है। युवती प्रतीत होती है। बूढ़ी स्त्रियाँ इस वायुवेग से नहीं चला करतीं। फिर यह मधुमास है। पुराने वृक्ष में भी नई कोपलें निकल रही हैं। हो न हो यह कोई अभिसारिका ही है। उसकी ओर से तुलसी ने बरबर दृष्टि हटा ली।

उनके जीवन में अब तक जितनी नारियाँ आयीं, वे सभी उनके हृदय पर तप्त शलाका का स्मृति-चिह्न छोड़ गईं, श्रेयसी माता से लेकर प्रेयसी पत्नी तक।

तुलसी की बढ़ती हुई विकलता ने उन्हें बैठने न दिया। वे उठकर टहलने लगे और टहलते टहलते ही गणपति सरोवर की ओर जा निकले। उल्लू और कोकिल का विवाद पुनः आरंभ हो गया था, हंस भी पुनः उसमें हस्तक्षेप करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था कि तुलसी के कर्णपुट किसी की कर्कश कंठ-ध्वनि से काँप उठे। केवल गले से ही नहीं बल्कि पेट तक से आवाज निकालने का प्रयत्न करता हुआ कोई कह रहा था—'आज वक्त कि सिपर वह शमशीर हमायल कर्दम गाह वा दुश्मने खुद पुश्त ना नमूदह।' (जब से मैंने पेटी में ढाल तलवार बाँधी है, तब से अब तक किसी दुश्मन को पीठ नहीं दिखाई।)

तुलसी ने समझ लिया कि कोई तुर्क सिपाही है, जो अपने किसी साथी से डींग हाँक रहा है। परंतु उसके जवाब में किसी को व्यंग्य से गुनगुनाते हुए जवाब देते सुन उन्हें आश्चर्य हुआ और वह आश्चर्य और भी बढ़ गया, जब उन्होंने समझा कि गुनगुनाहट का स्रोत कोई नारी-कंठ है, जिससे कल-कल ध्वनि छलक रही है—

चे यारी कुनद भिगफरो जोशनम्।
चूँ बारी ना कर्द अख्तरों रोशनम्॥

शिरस्त्राण और कवच क्या सहायता कर सकते हैं, यदि ईश्वर ही भाग्य के नक्षत्र को न चमकाए। न चाहते हुए भी तुलसी दोनो की बातें सुनने लगे। नारी कह रही थी—'बेशक तुम बड़े बहादुर हो तभी तो चुपके चुपके बंगाल जाने की

तैयारी कर ली। खुदा भला करे दरिया बीबी का कि उस बेचारी ने तुम्हारी चालबाजियों से मुझे आगाह कर दिया।'

उत्तर में वही कर्कश पुरुष स्वर सुनाई पड़ा—'यह तो तुम गलत कहती हो शबनमुन्निसा, तुम से छिपकर भागना होता तो तुम्हारे बुलाने से इस वक्त मैं यहाँ क्यों आता ?'

'तुम आए हो मुझे फिर धोखा देने। कह रहे हो कि बंगाल में अफगानों से जंग होने वाला है, और तुम्हें भी वहाँ जाने का शाही फर्मान मिला है। मगर क्या सचाई यही है ?'

'तो क्या मैंने तुमसे कुछ झूठ कहा है ?'

'अपने दिल से पूछो। मगर वह भी तो इस वक्त तुम्हारे पास नहीं रह गया है। शायद तुम ने उसे शाहजादी माहबानू के पास भेज दिया है, जिसके पास तुम खुद जाने के लिए बेकरार हो। शाही खानदान में रिश्ते का यह नायाब मौका मिला है। हूर वश बीबी के साथ ही जागीरें मिलेंगी, मनसब बढ़ेगा, इसीलिए जरूरी है कि मिर्जा सिराज बेचारा शबनम को जलाए।'

'यह तुम्हारा वहम है बानू, शायद उस शैतान की खाला दरिया बीबी ने तुम्हें यह पट्टी पढ़ाई है। तुम जानती हो कि वहम की दवा लुकमान के पास भी नहीं।'

'लुकमान के पास भले ही न हो तुम्हारे पास तो है।'

'वह क्या ? मैं तुम्हारा वहम कैसे दूर कर सकता हूँ ?'

'मुझसे निकाह करके।'

'वह तो मैं करूँगा ही, मगर जानती हो कि मैं चगताई तुर्क हूँ और शादी के लिए बादशाह से मंजूरी लेना मेरे लिए जरूरी है।'

'मगर यह मंजूरी लेना क्या उस वक्त जरूरी न था, जब तुमने मुझसे मुहब्बत की थी। मेरे पेट में तुमने जो गठरी बाँध दी है, वह जब खुलेगी तब मैं उसमें से निकलने वाले माल का मालिक किसे बताऊँगी ? क्या वह लावारिश माल न समझा जायगा और क्या तब मैं भी चोर न ठहराई जाऊँगी ? क्या यह जरूरी नहीं कि अब तुम मुझे निकाह में ले लो और मेरी इज्जत बचाओ।'

रसाल की डाल पर बोलते-बोलते कोयल जैसे थक कर चुप हो गई। उल्लू का घिघियाना जारी रहा। सिराज ने शबनम को समझाने का प्रयत्न किया—

'बंगाल की मुहिम खत्म होते ही आकर तुमसे निकाह करूँगा। तब तक खामोश रहना ही अच्छा है।'

'बंगाल की मुहिम तो पीछे सर होगी, पहले मैं ही यहाँ वह जंग मचा दूँगी कि बदनामियों से लहू लुहान होकर तुम कहीं मुँह दिखाने के काबिल न रहोगे।'

'तब सुनो शबनम, तुम जानती हो कि मैं खास बल्ख का चगताई तुर्क हूँ, बादशाहे वक्त के खानदान में पैदा हुआ हूँ। मेरी शादी तो शाहजादी से ही होगी। तुमसे निकाह करके मैं अपनी खानदानी इज्जत नहीं खो सकता।'

'तुम भी समझ लो सिराज कि अगर तुम बल्खी तुर्क हो तो मैं भी ईरानी तुर्कमान हूँ। खानखाना बैरम खाँ की औलाद में से हूँ। आज हमारे खानदान का सितारा जरूर गर्दिश में है। मगर यह न भूलो कि मेरे ही खानदान ने तुम्हारे खानदान को उस वक्त हिंदुस्तान की सल्तनत बख्श दी जब कि अफगानी गर्दिश में पड़कर आफताबे मुगलिया को मेरे वतन में ही पनाह मिल सकी थी।'

'बहुत बढ़-बढ़कर बोलने लगी है बदकार, तो जा दुनिया से हमेशा के लिए।

जोरदार छपाके की आवाज आई, जैसे कोई भारी चीज पानी में फेंकी गई हो। तुलसीदास तेजी से आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि खसखसी लाल दाढ़ी वाला एक नौजवान तुर्क तालाब के किनारे खड़ा खिलखिलाकर हँस रहा है, एक सुंदरी युवती पानी में गोता खा रही है और अब डूबने ही वाली है। तुलसी ने युवक को घृणा से एक नजर देखा और फिर स्वयम् झम्म से पानी में कूद पड़े।

युवती का सारा शरीर जल में डूब चुका था, केवल उसके लंबे लंबे काले बाल बिखर कर सिवार की तरह पानी के ऊपर फैले हुए थे। वही चोटी तुलसी के हाथ लगी। उन्होंने सारा बल लगाकर उसे ऊपर उभारा। सिर पानी के ऊपर निकल आया, जिसे वैसे ही उभारे हुए वे किनारे की ओर तैर चले।

पिच्छिल तट की काई पर फिसलते हुए बड़ी कठिनाई से भारी बोझ उठाए तुलसीदास घाट पर आए और बड़े यत्न से उस अचेतन शरीर में प्राण फूँकने की चेष्टा करने लगे। उनका प्रयत्न सफल हुआ। युवती के पेट से पानी निकल जाने पर उसने चेत में आकर आँखें खोल दीं।

अब तक तुर्क युवक खड़ा तमाशा सा देख रहा था। युवती को होश में आते देख ज्योंही उसने चलने के लिए पीठ फेरी त्योंही युवती ने उसे चिल्लाकर रोका—'कहाँ चले ? मैं तुझे छोड़नेवाली नहीं।'

युवक ने उसकी ओर घूमकर देखने की भी आवश्यकता न समझी और तेजी से आगे बढ़ा। तुलसी ने लपक कर उसके कंधे पर हाथ रख दिया।

युवक ने अपनी गति संयत की और ठमक कर खड़ा हो गया। उसने क्रोध-पूर्ण दृष्टि से तुलसी को घूरते हुए कहा—'दूर हट काफिर। जा अपना काम देख। इस फाहिशा औरत के माशूकाना चोचलों के चक्कर में न पड़।'

मगर तुलसी ने उसके कंधों पर से हाथ हटाए बिना ही उत्तर दिया—'नौजवान जरा गौर से सुनो, यह किसी माशूक की नहीं, बल्कि एक माँ की दर्दभरी आवाज है, जिसे तुम ठुकरा रहे हो।'

'माँ की आवाज है ?' युवक ने साश्चर्य पूछा। 'हाँ तुम्हारे होनेवाले बच्चे की माँ, तुम्हारे बच्चे की ही भलाई के लिए तुमसे निकाह की भीख माँग रही है।' तुलसी ने स्निग्ध स्वर में उत्तर दिया। युवक ने कहा—'इस औरत से मेरा कोई सरोकार नहीं। इसके पास मैं खुद नहीं गया। यही मेरे पास आई थी।'

'यही तो स्वाभाविक है, नौजवान। तुमने अमीर खुसरो का यह कलाम नहीं सुना है क्या —

> इश्क अव्वल दर दिले माशूक पैदा मी शवद,
> तान सोजन शम्अ के परवाना शैदा मी शवद।
> पहिले तिय के हीय में ऊमगत प्रेम-उमंग,
> आगे बाती बरति है पाछे जरत पतंग॥

नौजवान तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ कि उस बच्चे की कैसी दुर्दशा होती है, जिसे उसका बाप ही ठुकरा देता है। किसी भी बाप के लिए यह महापाप है कि वह एक प्राणी की सृष्टि तो कर दे और फिर दर-दर की ठोकरें खाने के लिए उसे दुनियाँ में बेसहारा छोड़ दे। भगवान् के यहाँ इसकी बड़ी कड़ी सजा मिलती है जवान।'

'क्या सजा मिलती है ?'

'सुनोगे। अच्छा तो एक कहानी सुनो। तुम्हारे ही जैसा एक आदमी था। उसने दो ब्याह किए थे। मगर पहली स्त्री को छोड़कर वह अपनी दूसरी ही पत्नी के साथ रहा करता था। पहली स्त्री की सखी ने बड़ी होशियारी से अपनी सखी की मुलाकात उसके शौहर से करवा दी और शौहर को मालूम भी न हो सका कि वह अपनी ही पत्नी से मिल रहा है। विदा होते समय उसने अपनी उस पत्नी को अपनी ही अँगूठी और माला दे दी। कुछ दिनो बाद पहली पत्नी को लड़का पैदा हुआ। नौकर यह खबर लेकर उस आदमी के पास गया। बेटा होने की बात सुनकर वह बहुत बिगड़ा और कहने लगा कि वह मेरा लड़का ही नहीं। जब नौकर ने समझाना शुरू किया तो उसने क्रोध से उसके ऊपर खड़ाऊँ फेंककर उसे इतनी जोर से मारा कि वह बेचारा बूढ़ा ब्राह्मण वहीं ठंढा हो गया। फिर ब्राह्मण की हत्या के पाप का फल यह हुआ कि अफगानों के एक दल ने उसका घर लूट लिया और सपरिवार उसकी हत्या कर दी। सौरी में पड़ी हुई नारी ने बड़े ही दुःख के साथ अपना बच्चा अपनी सखी को सौंप दिया और चुपचाप इस दुनियाँ से सदा के लिए बिदाई ले ली। इस पाप की यही ईश्वरीय सजा है, नौजवान।

इसलिए तुम इस औरत को स्वीकार करो। इसके पेट में तुम्हारी औलाद है। इस सत्य को स्वीकार करके माता के पद की इज्जत करो।'

तुलसी की वाणी से प्रभावित युवक मौन ही रहा। तब तुलसी ने फिर कहा—'माँ की इज्जत कैसे करना चाहिए यह स्वर्गीय बादशाह अकबर पहले ही बता चुके हैं। जानते हो! एक बार अपनी माँ को कश्मीर बुलाने के लिए उन्होंने जो पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने लिखा था—

हाजी बसूए काबा रवद अज बराए हज,
या रब बुवद कि काबा बआयद बसूए मा॥

(हाजी हज के लिए काबा जाते हैं, हे भगवान् मेरा काबा ही मेरे पास आ जाए।)'

'तुम ठीक कहते हो, फकीर। मैं ही गलती कर रहा था। आओ शबनम चलो काजी के पास। इसी वक्त निकाह होगा।'

सिराज ने शबनम का हाथ पकड़ा। शबनम ने कृतज्ञता भरी दृष्टि से तुलसी की ओर देखकर उन्हें सलाम किया। दोनो चुपचाप तालाब के किनारे किनारे चलते हुए वृक्षों की झुरमुट के पीछे गायब हो गए।

तुलसी कुछ देर तक उसी ओर खड़े देखते रहे। फिर सहसा उन्हें अपने सारे शरीर में सिहरन सी मालूम हुई। उनके पैर लड़खड़ाए। वे वहीं भूमि पर बैठते-बैठते एक दम लेट गए। आकाश में अस्त होते हुए चंद्रमा ने देखा कि तालाब में एक हंस सो रहा है और तालाब के तट पर एक परमहंस मूर्छित पड़ा है।

—क्रमशः

डा० रामबाबू शर्मा

रामचरितमानस में व्यवहृत कथानक रूढ़ियाँ

['शास्त्राद् रूढिर्बलीयसी'। पुराणों की कथानक परंपरा इतनी सबल रही है कि प्राचीन साहित्य-धारा को उनमें चर्चित अनेक घटनाओं का अनुगमन अनिवार्य सा हो गया। प्राचीन प्रबंधों में वे रूढ़ होकर चल पड़े। प्रस्तुत निबंध में मानस में प्रयुक्त ऐसी ही कथानक रूढ़ियों की उपयोगिता का दिग्दर्शन एवम् उनका संकलन किया गया है।]

अति प्राचीनकाल से ही निजंधरी तथा पौराणिक कथाओं में उन सभी कथानक-कौशलों का आश्रय लिया जाता रहा है, जिनके प्रयोग से कथा की रोचकता एवम् गति में वृद्धि हो तथा उसमें आवश्यकतानुसार मोड़ देकर अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके। सरसता एवम् गति प्रदान करने के उद्देश्य से संभावना, कवि-कल्पना तथा लोक-विश्वास पर आधारित अनेक घटनाओं का भी उनमें समावेश किया गया, जो अपने निरंतर प्रयोग के कारण रूढ़ होकर कथानक रूढ़ियाँ बन गईं। ये कथानक रूढ़ियाँ कथा के लघुतम तत्व हैं, जो कथानक के निर्माण में सहायक होते हैं। अपनी असाधारणता एवम् अपूर्वता के कारण ये परंपरा में चिरकाल तक स्थिर रहने की शक्ति रखती हैं। यही कारण है कि भारतीय लोक-कथाओं में परंपरा से उनका प्रयोग होता आ रहा है। एक बार रूढ़ हो जाने पर उनका प्रयोग आवश्यक हो गया।

रामचरितमानस पौराणिक काव्य है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे 'चरित' तथा 'कथा' दोनो की संज्ञा दी है। प्राचीनकाल से ही इन तीनो प्रकार के काव्य-ग्रंथों में कथानक रूढ़ियों का समावेश किया गया है। मानस में प्रयुक्त प्रमुख कथानक रूढ़ियाँ ये हैं—

(१) रूप-परिवर्तन, (२) आकाशवाणी, (३) भगवान् का प्रगट तथा अंतर्ध्यान होना, (४) अलौकिक व्यक्ति अथवा देवताओं द्वारा दुष्कर कार्य के संपादन में सहायता, (५) तपस्या भंग करने के हेतु अप्सराओं का जाना, (६) ज्ञात अथवा अज्ञात में हुए अपराध के फलस्वरूप देवी देवताओं का शाप, (७) पूर्वजन्म की स्मृति, (८) फलादि द्वारा पुत्र-जन्म, (९) पाषाण का जीवित हो उठना, (१०) प्रतीकात्मक अथवा भविष्यसूचक स्वप्न, (११) शकुन, (१२) सिद्धियों द्वारा असंभव कार्यों का संपादन, (१३) श्वेत केश, (१४) मार्गावरोध, (१५) आत्महत्या की धमकी, (१६) सांकेतिक भाषा, (१७) जादू का युद्ध, (१८) पशु-पक्षी द्वारा रक्षा या सहायता,

(१९) प्रतीति के लिए परीक्षा, (२०) बल का स्मरण (२१) जीवन-निमित्त का उल्लेख, (२२) मृत व्यक्ति का जीवित हो उठना, (२३) जल पीते समय असंभावित घटना का घटना, (२४) जिज्ञासा-समाधान के लिए अन्य के पास भेजना।

ये सभी अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में बहु प्रचलित हैं। अतः मानस के सही मूल्यांकन के लिए इन सब पर पृथक्-पृथक् विचार अपेक्षित है।

१. रूप-परिवर्तन—

कार्य विशेष के संपादन हेतु रूप-परिवर्तन के उल्लेख पुराणों एवम् लोक-गाथाओं में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यह एक लोकाश्रित कथानक रूढ़ि है। इस रूढ़ि का मूल प्राचीनकाल में भारत में प्रचलित विविध साधनाओं एवम् विद्याओं की परंपरा तथा तत्संबंधित लोक-विश्वास में खोजा जा सकता है। भारत में तप की महिमा स्वीकृत थी। फलतः तपस्वी की सर्वत्र गमन करने, वरदान या शाप देने, स्वेच्छया रूप-परिवर्तन करने आदि की शक्ति के विषय में विश्वास जम गया था। अतः कथाकारों ने कथा को मोड़ देने के लिए इस रूढ़ि का जमकर प्रयोग किया।

मानस में रूप-परिवर्तन के अनेक प्रसंग आए हैं। राम के ईश्वरत्व की परीक्षा लेने के लिए सती ने सीता का रूप धारण किया है, जिसके परिणाम स्वरूप शंकर द्वारा त्याज्य होकर वे योगाग्नि में जल मरीं और पुनः पार्वती के रूप में जन्म लेकर शंकर की अर्द्धांगिनी बनीं तथा रामकथा की अधिकारी श्रोता हुईं। इस रूढ़ि के प्रयोग के अभाव में, कवि की दृष्टि में, रामकथा शंकर के मानस तक ही सीमित रह जाती और जगत् का हित न हो पाता।[१] रामावतार का वर्णन करते समय कवि ने विष्णु द्वारा जलंधर का रूप धारण करने का संकेत भर किया है, यह कह कर कि 'छल करि टारेउ तासु व्रत'।[२] नारदमोह के प्रसंग में नारद ने भगवान् विष्णु से उनका रूप माँगा है। किंतु विष्णु ने उन्हें वानर का रूप दिया है, जिसे धारणकर वे शीलनिधि राजा की कन्या के स्वयंबर में गए।[३] प्रतापभानु राजा की कथा के प्रसंग में कपटी मुनि राजा के उपरोहित का तथा उसका मित्र कालकेतु निशाचर शूकर का रूप धारण कर नृप को भुलावा देता है।[४]

पृथ्वी—

धेनुरूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥[५]

जयंत—

सुरपतिसुत धरि बायसबेषा। सठ चाहत रघुपतिबल देखा॥

× × ×

१—मानस, १।५२-११२। २—वही, १।१२३।८। ३—वही, १।१३३।७-१।१३४।८। ४—वही, १।१६९।४-६, १।१७०।३-४। ५—वही, १।१८४।७।

सीताचरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंदमति कारन कागा ॥[1]

राम के सहायतार्थ देवगण रीछ और वानरों का रूप धारण करते हैं। खरदूषणवध के पश्चात् नरलीला तथा निशाचरनाश के उद्देश्य से—

जबहि राम सबु कहा बखानी। प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसेइ सील रूप सुबिनीता॥[2]

लक्ष्मणजी को सीताजी के इस रूप-परिवर्तन का रहस्य ज्ञात नहीं हो पाया।[3] मारीच हिरन का तथा कालनेमि ऋषि का रूप धारण करता है।[4] शिवजी ने भी मरालरूप धारण कर काकभुशुंडि से रामकथा सुनी थी। हनुमान्‌जी ने भी कई अवसरों पर रूप-परिवर्तन किया है। इस प्रकार रूप-परिवर्तन के अनेकानेक प्रयोग मानस में हुए हैं। इस अभिप्राय के प्रयोग ने कथा को गति देने में महत् योग दिया है।

रूप-परिवर्तन से मिलता-जुलता ही वेश-परिवर्तन वाला अभिप्राय है। सीता-हरण के लिए उन्हें जब—

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के वेषा॥[5]

अपने वास्तविक रूप में वह कदापि सीता-हरण में सफल न होता। सीता-हरण के अभाव में रामायण के उत्तरार्द्ध की कथा का आधार क्या होता? रिष्यमूक पर्वत के निकट श्रीरामलक्ष्मण के पहुँचने पर सुग्रीव को संदेह हुआ कि 'पठए बालि होहिं मन मैला।'[6] तब 'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गएऊ।'[7] इस प्रकार के और भी प्रसंग मानस में आए हैं।

२—आकाशवाणी—आकाशवाणी भारतीय साहित्य का बड़ा ही प्रचलित अभिप्राय रहा है। संस्कृत नाटकों में इसके प्रयोग के अनेकों उदाहरण खोजे जा सकते हैं। इस अभिप्राय द्वारा नायक-नायिका या अन्य किसी प्रमुख पात्र को कुछ रहस्यमय घटनाओं अथवा दैवी वरदान आदि की सूचना प्राप्त होती है। देववाणी होने के कारण इसकी सत्यता निर्विवाद है। इस अभिप्राय का प्रयोग प्रायः उस स्थान पर हुआ दिखाई देता है जहाँ अन्य किसी अभिप्राय द्वारा विश्वास दिला सकना संभव नहीं होता।

'मानस' में आकाशवाणी के प्रयोग के प्रसंग बहुत से हैं। बालकांड में सती द्वारा सीता का रूप धारण करने की बात ज्ञात होने पर शिव सती को सीता के समान ही समझकर उस जन्म में उनसे पत्नीरूप में भेंट न करने का संकल्प कर लेते हैं। उनके इस संकल्प की सूचना सती को देने के लिए आकाशवाणी का प्रयोग हुआ है—

१—वही ३।१।५, १।७। २—वही, ३।२४।३-४।
३—वही, ३।२७।१; ६।५६।२ तथा ५७।३। ४—वही, ७।५७।०।
५—वही, ३।२८।७। ६—वही, ४।१।५। ७—वही, ४।१।६।

चलत गगन भै गिरा सुहाई । जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करै को आना । रामभगत समरथ भगवाना ॥[1]

इस आकाशवाणी से सती को ज्ञात हो गया कि शंकर को उनका छल ज्ञात हो गया है। आगे चलकर पार्वती-प्रसंग में उनकी तपस्या को देखकर भी आकाशवाणी हुई है—

देखि उमहि तप खीन सरीरा । ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा ॥
भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि ।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥[2]

इस आकाशवाणी द्वारा भक्त के तप की सफलता तथा भविष्य में उसके कार्य का निर्देश किया गया है। मनु-शतरूपा के तप को देखकर भी आकाशवाणी हुई थी और उनसे वर माँगने को कहा गया था। प्रतापभानु के प्रसंग में कपटी मुनि द्वारा तैयार की गई रसोई को जब ब्राह्मण जीमने को उद्यत होते हैं, तभी आकाशवाणी होती है। वहाँ आकाशवाणी का उद्देश्य ब्राह्मणों को इस तथ्य की सूचना देना था कि रसोई में ब्राह्मण का माँस पकाया गया है, अतः भोजन करने से बड़ा अनर्थ हो जाएगा। आकाशवाणी पर विश्वास करने की बात कवि ने कही है—

परुसन जबहिं लाग महिपाला । भै अकासबानी तेहि काला ।
बिप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू । है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ।
भएउ रसोईं भूसुरमाँसू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥[3]

आकाशवाणी द्वारा ही भगवान् ने देवताओं को अपने जन्म लेने के संबंध में सूचना दी, जिससे उन्हें धीरज बँधे। इसी के द्वारा बन में राम को मनाने गए भरत के आचरण के संबंध में लक्ष्मण के संदेह का परिहार किया गया है। उत्तरकांड में काकभुशुंडि द्वारा अपने कागरूप की कथा सुनाते समय भी आकाशवाणी की बात कही गई है। अनेक जन्म पूर्व जब वह शिव-मंदिर में तपस्या कर रहा था तो गुरु के आगमन पर उठकर उन्हें प्रणाम न करने के कारण शंकर ने आकाशवाणी द्वारा उसे शाप दिया, जिसके कारण वह अजगर बना और उसका जीवन-क्रम ही बदल गया।

मानस में इस अभिप्राय का जितने स्थलों पर प्रयोग हुआ है, उन्हें देखने से स्पष्ट है कि अधिकांश स्थलों पर आकाशवाणी का उद्देश्य धर्म की रक्षा ही है। ऐसा कराना परमावश्यक था। इसीलिए इस अभिप्राय का इतनी अधिक बार प्रयोग किया गया है। फिर भी उससे कथा में गतिहीनता नहीं आई है, उसने प्रभाव को और तीव्र ही किया है।

१—वही, १।५७।४-५। २—वही, १।७४।८-१०। ३—वही, १।१७३।५-७।

३—भगवान् का प्रगट तथा अंतर्ध्यान होना—अलौकिक एवम् दैवीशक्तियों द्वारा प्रच्छन्न एवम् प्रकाश रूप में नायक-नायिका की सहायता की कल्पना लोक में व्याप्त है। अतः कार्य-संपादन के लिए भगवान् के अवतार लेने तथा कार्य-समाप्ति के पश्चात उनके अंतर्ध्यान होने की कल्पना भी लोक में बहुत प्राचीन है। पौराणिक आख्यायिकाओं में इस अभिप्राय का प्रयोग बहुत्र मिलता है। रामचरितमानस जैसे काव्य में इस अलौकिक तथा पौराणिक विश्वास का समावेश अत्यंत आवश्यक था।

'मानस' में इस रूढ़ि के प्रयोगवाले स्थल बालकांड में हैं और राम-जन्म की पृष्ठभूमि निरूपण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। शिव को पार्वती से विवाह करने का उपदेश, नारद-प्रसंग में नारद को अपना रूप तथा मनु-शतरूपा की तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देने के लिए भगवान् का प्राकट्य हुआ है। प्रथम प्रसंग में—

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥
बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्मु सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निजु नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥[1]

शंकर द्वारा 'अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी'[2] कहने पर भगवान् अंतर्ध्यान हो गए—

अंतरधान भए अस भाषी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥[3]

नारद-प्रसंग में मोहग्रस्त नारद को उचित मार्ग पर लाने के उद्देश्य से उनकी स्तुति पर भगवान् प्रगट हुए—

बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला॥[4]

और नारद द्वारा रूप माँगे जाने पर गूढ़वानी में 'नारद के हित करने का' आश्वासन देकर अंतर्ध्यान हो गए—

एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भएऊ॥[5]

मनु-शतरूपा प्रसंग में जब उनके द्वारा 'देखिअ नयन परम प्रभु सोई'[6] की अभिलाषा से सहस्रों वर्ष घोर तप करने पर 'माँगु माँगु बरु भै नभबानी'[7] तब—

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥[8]

और दंपति को उनके पुत्र-रूप में जन्म लेने का वरदान देकर 'अंतरधान भए भगवाना।'[9]

१—वही, १।७६।५–१०। २—वही, १।७७।४। ३—वही, १।७७।७।
४—वही, १।१२२।३। ५—वही, १।१३३।२। ६—वही, १।१४४।३।
७—वही, १।१४५।६। ८—वही, १।१४६।८। ९—वही, १।१५२।६

राम-जन्म के हेतु-कथन के प्रसंग में इस लौकिक एवम् पौराणिक विश्वास का समावेश कर तुलसी ने मानस की आधार शिला को लोक तथा पौराणिक विश्वासों पर टिकाया है और उसे लोकप्रिय काव्य बनाने का प्रयत्न किया है। एक अन्य विश्वास कि 'भगवान् अपने भक्तों एवम् प्रमुख शत्रुओं को निज धाम देते हैं' का भी मानस में प्रयोग हुआ है।

४—अलौकिक व्यक्ति अथवा देवताओं द्वारा दुष्कर कार्य के संपादन में सहायता— यह कथानकरूढ़ि अलौकिक और अप्राकृतिक शक्तियों से संबंधित है। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य नाना प्रकार के भौतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रयत्न करता है। ईश्वर, देवता, भूत-प्रेत आदि की कल्पना इसी का परिणाम है। फलतः मनुष्य ने अपने विकास की परंपरा में ऐसे अलौकिक देवी-देवताओं की कल्पना की, जो किसी विशेष कार्य के संपादन के लिए ही अवतरित हुए थे। भगवान् के विविध अवतारों की योजना भी इसी का परिणाम है। प्रत्येक अवतार के लिए कोई न कोई प्रमुख उद्देश्य अवश्य बताया गया है। प्रमुख-प्रमुख देवताओं के चरित्र के साथ भी इस प्रकार की कथाएँ जोड़ी गईं और उन्हें पुराणों एवम् निजंधरी कथाओं में स्थान मिला। इसी विश्वास के आधार पर देवता, राक्षस, यक्ष, गंधर्व, अप्सरा, परी आदि अलौकिक पात्रों की कल्पना हुई, जो कठिन कार्यों के संपादन में सहायक बताए गए। अतः कथा-काव्यों में इस रूढ़ि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ।

मानस में इस रूढ़ि का प्रयोग दो रूपों में हुआ है। प्रथम रूप वह है जहाँ अलौकिक शक्तियाँ सीधी नायक की सहायता करती हैं। दूसरा रूप वह है जहाँ वे शक्तियाँ नायक के विरोधियों की शक्ति को कम करके नायक की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करती हैं। प्रथम प्रकार का प्रयोग बालकांड में शिव-पार्वती-विवाह के प्रसंग में हुआ है। 'तारक' असुर से देवों की रक्षा करने में शंभु के शुक्र से उत्पन्न पुत्र ही समर्थ होगा—ऐसा वहाँ उल्लिखित है। तारक के अत्याचारों से भयभीत देवताओं को ब्रह्मा ने ही बचाव का यह उपाय सुझाया है—

सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुजनिधन तब होइ।
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतै रन सोइ॥[1]

और इसी रूढ़ि को शिव-पार्वती के विवाह का हेतु बनाकर काम भस्म कराया गया है तथा कार्तिकेय के जन्म लेने पर उन्हीं के हाथों उस कठिन कार्य के संपादन का उल्लेख किया गया है—

तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारकु असुरु समर जेहिं मारा॥[2]

---

१ वही, १।८२।०; २—वही, १।१०३।७।

रामावतार के हेतु को सफल बनाने के उद्देश्य से देवताओं द्वारा अनेक बार उनकी सहायता की गई है। ब्रह्मा की आज्ञा से राम-जन्म के पूर्व ही अनेक देवता वानर रूप में पृथ्वी पर जन्म ले चुके थे, जिससे कि इस रूप में वे राम के जन्म के हेतु में सहायक हो सकें। राम-रावण युद्ध में देवताओं ने प्रत्यक्षरूप से तो भाग नहीं लिया, लेकिन परिणाम के प्रति कवि ने उन्हें सर्वत्र उत्सुक दिखाया है। रावण के विरुद्ध युद्ध करते समय इंद्र ने अपना रथ भेजकर राम की सहायता की थी।

अप्रत्यक्ष सहायता के स्थल अनेक हैं। इन स्थानों पर कार्य को निश्चित दिशा से अभीष्ट दिशा में मोड़ देने के लिए देवी-देवताओं की सहायता ली गई है। प्रायः सभी स्थानों पर 'मति फेरने' के लिए शारदा की सहायता ली गई है। कुंभकर्ण को तपस्या करते देखकर और यह जानकर कि यदि यह भयानक प्राणी नित्यप्रति आहार करेगा तो संसार शीघ्र ही चौपट हो जायगा, शारदा द्वारा उसकी मति फेरी गई है, जिसके फलस्वरूप उसने ६ मास की नींद माँगी है—

सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी॥[1]

राम-वनवास प्रसंग में भी शारदा द्वारा मंथरा की मति फेरी गई है, अन्यथा राम-जन्म का हेतु व्यर्थ सिद्ध हो जाता। राम को राक्षसों सहित रावण का वध करके पृथ्वी का भार उतारना था। उसके लिए उन्हें वन जाना आवश्यक था और यहाँ उन्हें युवराज बनाया जा रहा था। केवल एक रात ही बीच में थी। साथ ही कैकेयी का राम पर प्रेम भी कुछ कम नहीं था, फिर यह अनहोनी कैसे हो? इसलिए शारदा ने कैकेयी की प्रियदासी मंथरा को ही मूर्खता का वाहन बना दिया—

नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकै केरि।
अजसपेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥[2]

अवधवासियों को राम के साथ वन जाने से रोकने के लिए देवमाया की सहायता ली गई है। चित्रकूट-प्रसंग में भी अवधवासियों को अयोध्या लौटने को प्रेरित करने में देवमाया का बड़ा हाथ था। इसी कारण सबके हृदय अस्थिर हो गए—

सुरमायाँ सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे॥
भय उचाट बस मन थिर नाहीं। छन बनरुचि छन सदन सोहाहीं॥[3]

देवताओं की यह 'कुचालि' सबको हितकर हुई। कार्य की दिशा भी जैसी रहनी चाहिए थी, वैसी ही रही और अवध के लोग राम के लौटने की आशा में जीवित रहने में समर्थ हुए। इससे यह स्पष्ट है कि मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग

१—वही, १।१७७।८। २—वही, २।१२।०। ३—वही, २।३०१।४-५।

अत्यंत ही सार्थक है तथा कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ देने के लिए ही हुआ है।

५—तपस्या भंग करने के हेतु अप्सराओं का जाना—अलौकिक शक्तियों में अप्सराओं को भी स्थान प्राप्त है। किसी की तपस्या को भंग करने के लिए अप्सराओं का प्रयोग पौराणिक काव्यों का एक बहुप्रचलित अभिप्राय है। मानस में काम के सहायक के रूप में अप्सराओं को चित्रित किया गया है। शंभु और नारद की तपस्या भंग करने जाते समय काम ने अप्सराओं को अपने अस्त्र के रूप में साथ लिया है—

कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा ॥[1]
रंभादिक सुरनारि नवीना। सकल असमसर कला प्रबीना॥
करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा॥[2]

ये दोनो ही प्रसंग ऐसे हैं, जो क्रमशः रामकथा तथा रामजन्म के हेतु से संबंधित हैं। अतः कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में इस अभिप्राय की उपयोगिता निर्विवाद है।

६—अपराध और उसके लिए शाप—देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदि की अलौकिक शक्ति के प्रति विश्वास भारतीय जीवन में अत्यंत ही प्राचीन है। इस बात पर विश्वास किया जाता है कि उनका कथन कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता। अलौकिक शक्ति संपन्न ये व्यक्ति प्रसन्न होने पर जहाँ वरदान आदि देकर व्यक्ति के जीवन को परम सुखमय बना दे सकते हैं वहाँ अप्रसन्न होने पर शाप देकर उसके जीवन की दिशा ही बदल देते हैं। कहना न होगा कि इस विश्वास का प्रयोग कथाओं के लिए कितना उपयोगी है। शाप का प्रयोग कराकर असंभव कार्य को संभव बनाया जा सकता है। इसके दो रूप संभव हैं—जान-बूझकर किए गए अपराध के लिए शाप तथा अज्ञान में हुए अपराध के लिए शाप। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि शाप देने के पश्चात् उसे लौटा लेने की शक्ति शाप देनेवाले में भी नहीं होती। हाँ, वह उसमें कुछ परिवर्तन कर सकता है, उसकी अवधि घटा सकता है या उससे मुक्ति का उपाय बता सकता है।

मानस में दोनो ही प्रकारों के अपराधों के प्रति शापों का उल्लेख हुआ है। जान-बूझकर किए गए अपराधों के लिए शाप देने का सर्वप्रथम वर्णन रामजन्म के कारणों के प्रसंग में हुआ है। जलंधर राक्षस से युद्ध कर समस्त देवता थक गए। कोई भी उसे जीत न सका। जलंधर की पत्नी के सतीत्व के कारण ही देवता उसे मार नहीं सके थे। विष्णु ने जलंधर का रूप धारण कर उसके सतीत्व को भंग किया। इससे जलंधर तो मारा गया, लेकिन विष्णु को उस सती का शाप

१—वही, १।८६-छंद। २—वही, १।१२६।४-५।

भोगना पड़ा । उसी जलंधर ने रावण के रूप में विष्णुरूप राम की पत्नी का अपहरण कर अपना बदला चुकाया—

एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलंधर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा । दनुज महाबल मरै न मारा ॥
परम सती असुराधिपनारी । तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह ।
जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥

तासु श्राप हरि दीन्ह प्रवाना । कौतुकनिधि कृपाल भगवाना ॥
जहाँ जलंधर रावन भएऊ । रन हति राम परमपद दएऊ ॥
एक जनम कर कारन एहा । जेहि लगि राम धरी नरदेहा ॥[1]

कहना न होगा कि रामजन्म के कारण के रूप में इस अभिप्राय का प्रयोग कितना सफल हुआ है । नारद-मोह के प्रसंग में नारद द्वारा विष्णु को जो शाप दिलाया गया है, वह जान-बूझकर किए गए अपराध के कारण ही है । शंभु के गण नारद के मर्कट रूप पर हँसने का अपराध करने के कारण शाप से बच नहीं सके हैं । वे दूसरे जन्म में राक्षस बनकर राम के प्रमुख शत्रु हुए । नारद के शाप से ही राम रूप में विष्णु को सीता के विरह में भटकना पड़ा और उस समय बंदर ही उनके सहायक हुए—

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा ॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी । करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारिबिरह तुम्ह होब दुखारी ॥[2]

विष्णु ने नारद के शाप को स्वीकार कर लिया । लेकिन जब नारद का मोह समाप्त हुआ तब उन्हें अपने कर्म पर बड़ी ग्लानि हुई । उसी समय शंभुगणों द्वारा विनती किए जाने पर नारद ने उनको दिए अपने शाप को अनुग्रह में बदल दिया—

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ । बैभव बिपुल तेज बल होऊ ॥
भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ । धरिहहिं बिष्नु मनुजतनु तहिआ ॥
समर मरन हरिहाथ तुम्हारा । होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ॥[3]

विष्णु के जय विजय नामक द्वारपालों ने भी जान-बूझकर सनकादि ऋषियों का अपराध किया । किंतु अपराध करते समय वे कर्तव्य से वाधित थे । फिर भी विप्रशाप से उन्हें तीन बार राक्षस-शरीर धारण करना पड़ा । तुलसी ने इसका उल्लेख मात्र किया है ।

---

१ — वही, १।१२३।५—१२४।३ । २— वही, १।१३७।६—८।
३—वही, १।१३९।५-७

उत्तरकांड में काकभुशुंडि की कथा के अंतर्गत गुरु के प्रति किए गए अनादर के कारण शंकर द्वारा शाप देने की बात कही गई है। शंकर-मंदिर में शिव का जाप करते समय गुरु के आजाने पर उन्हें उठकर प्रणाम न करने के अपराध में नीतिविरोधी आचरण के कारण शिव ने उन्हें शाप दिया---

तदपि श्राप सठ देहौं तोही। नीतिविरोध सुहाइ न मोही॥
जौं नहि दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥

× × ×

बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति व्यापी॥[1]

लेकिन गुरु द्वारा स्तुति किए जाने पर शिव ने शाप को अनुग्रह में बदल दिया—

मोर श्राप द्विज व्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस्र अवसि यह पाइहि॥
जन्मत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पौ नहि ब्यापिहि सोई॥
कवनेउ जन्म मिटिहि नहि ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना॥

× × ×

औरौ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी॥[2]

गुरु से विवाद करने के अपराध स्वरूप पूर्व-जन्म में काकभुशुंडि को लोमस ऋषि ने चांडाल पक्षी (काक) होने का शाप दिया था और इन्हीं मुनि ने बाद में प्रसन्न होकर उन्हें राममंत्र दिया और रामचरितमानस सुनाया। इसी के प्रभाव से वह काग रामकथा का श्रेष्ठतम अधिकारी बना।

अज्ञात में हुए अपराध के लिए सर्वप्रथम शाप का प्रयोग मानस में प्रतापभानु के प्रसंग में हुआ है। यद्यपि राजा पूर्णतः निरपराधी था, फिर भी ब्राह्मणों ने उसे घोर शाप दे डाला—

बोले बिप्र सकोप तब नहि कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार॥

× × ×

संबत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ॥[3]

राजा से सब बातें जानकर और राजा को अपराधी न मानते हुए भी वे विप्र अपने शाप को बदलने में अपनी असमर्थता प्रदर्शित करके चले गए—

भूपति भावी मिटै नहि जदपि न दूषन तोर।
किएँ अन्यथा होइ नहि बिप्रश्राप अति घोर॥[4]

१—वही, ७।१०७।३,४,७। २—वही, ७।१०९।६-८, १६।
३—वही, १।१७३।१०, १७४।३। ४—वही, १।१७४।९-१०।

राम-वनगमन के पश्चात्, दशरथ को अंधे तपस्वी द्वारा शाप देने की बात का उल्लेख मात्र ही मानसकार ने किया है। उस उल्लेख के द्वारा कवि ने उस दशा में दशरथ की मृत्यु को अवश्यंभावी ठहराया है—

विलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती।।
तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई।।[1]

श्रवणकुमार की हत्या दशरथ से अज्ञान में ही हुई थी और अंधे तपस्वियों ने दशरथ को पुत्र-वियोग में ही प्राण त्यागने का शाप दिया था।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी शाप के संबंध में कुछ उल्लेख आए हैं। यथा––दुर्वासा के शाप से कबंध का होना, अगस्त्य के शाप से मुनि का शुक नाम का राक्षस होना, शाप से अप्सरा का मकरी बनना, बालि को विशिष्ट पर्वत पर न जाने का शाप आदि। ऐसे स्थानों पर कवि विस्तार में नहीं गया है, क्योंकि उनके कारण कथा की गति पर प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, उल्लेख-मात्र से कुछ शंकाओं का समाधान अवश्य हो जाता है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अभिप्राय का प्रयोग रामकथा की गति को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए परम आवश्यक था। एक स्थान पर तो यह अभिप्राय अन्य दो अभिप्रायों की संगति बैठाने के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। काकभुशुंडि-प्रसंग में कहानी कहने वाला काग तथा पूर्वजन्म की स्मृति––इन दो अभिप्रायों की संगति बैठाने के लिए शापों की योजना कराई गई है, जो बहुत ही उचित बन पड़ी है।

७—पूर्वजन्म की स्मृति––इस अभिप्राय का प्रयोग मुख्य रूप से कथा में गति लाने तथा उसे दूसरी ओर मोड़ने के उद्देश्य से किया जाता है। लेकिन मानस में इसका प्रयोग प्रभाव की तीव्रता तथा कुछ अन्य अभिप्रायों की संगति बैठाने के लिए किया गया है। पूर्वजन्म की स्मृति का उल्लेख केवल काकभुशुंडि के प्रसंग में ही हुआ है। वहाँ भी उसे अपने पूर्व-जन्मों तथा ज्ञान का स्मरण शिव के अनुग्रह से ही होता है। रामकथा के अंत में वह गरुड़ को उसकी शंका निवारणार्थ अपने पूर्वजन्मों की कथा सुनाता है। कथा के मध्य अनेक शाप, वरदान, आकाशवाणी आदि अभिप्रायों का समावेश हुआ है। अतः यह अभिप्राय अन्य अभिप्रायों को सार्थक करने तथा उनके प्रभाव को तीव्र करने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त हुआ है।

८—फलादि द्वारा पुत्र-जन्म—प्रायः अनेक कहानियों में ऐसे राजादि का उल्लेख मिलता है, जिनके कोई संतान नहीं होती। वे संतान प्राप्ति के लिए विविध उपाय करते हैं और अंत में किसी विशिष्ट पदार्थ के सेवन से उन्हें संतान होती है। विशिष्ट पदार्थ के सेवन से उत्पन्न होने के कारण संतान में विशिष्ट गुणों का

१—वही, २।१५४।३-४।

समावेश भी कराया जाता है। कुछ लोक कहानियों में तो दैवी वरदान आदि से कुछ विशिष्ट योनियों के जीवधारी भी कुछ काल के लिए नायक के पुत्र बन जाते हैं और अवधि समाप्त होने पर अपनी पुरानी योनि में लौटने की चेष्टा करने पर किसी विशेष घटना के समावेश से उन्हें वैसा करने से रोक दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि संतान संबंधी रूढ़ि लोक कथाओं की अत्यंत प्राचीन एवम् लोकप्रिय रूढ़ि है। मानस में यद्यपि रामजन्म के अनेक हेतु बताए गए हैं तथापि कवि ने इस रूढ़ि के प्रयोग से विशिष्ट संतान उत्पन्न होने की ओर इंगित किया है। राजा दशरथ को कोई संतान नहीं होती थी। पुत्रेष्टि-यज्ञ से प्राप्त हवि द्वारा उन्हें संतान उत्पन्न होने की बात कही गई है। यहाँ यह दर्शनीय है कि हवि के भागों के अनुसार ही पुत्रों के गुणों में अधिकता तथा न्यूनता आई है—

यह हवि बाँटि देहु नृप जाई। जथाजोग जेहि भाग बनाई॥

× × ×

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं॥
अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा॥
कैकेई कहँ नृप सो दएऊ। रह्यो सो उभय भाग पुनि भएऊ॥
कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥
एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी। भईं हृदयँ हरषित सुख भारी॥[1]

मानस में इस अभिप्राय में फल के स्थान पर हवि का प्रयोग किया गया है। भारतीय कथा-काव्यों में फलों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रकार के भोजन में दवा के सेवन से अथवा मंत्र के प्रयोग से (यथा महाभारत में) भी संतान-प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं। कामशास्त्र में दिए हुए कुछ प्रयोग इस प्रकार के लोकविश्वास के प्रमाण तथा आधाररूप में उपस्थित किए जा सकते हैं।

९—पाषाण का जीवित हो उठना—यह एक लोकाश्रित अभिप्राय है। इसका स्रोत लोक-विश्वास और लोक-कथाओं में प्रयुक्त रूढ़ियाँ हैं। यह महान् मानवीय शक्ति और कार्यों से संबंधित रूढ़ियों के अंतर्गत आता है। मानस में राम की अति मानवीय एवम् अलौकिक शक्ति प्रदर्शन के उद्देश्य से ही इसका प्रयोग हुआ है। ऋषि विश्वामित्र द्वारा निर्देश दिए जाने पर, शिला रूप में मार्ग में पड़ी गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या को श्रीराम अपने चरणों की रज के स्पर्श मात्र से सुंदर नारी के रूप में जीवित कर देते हैं—

गौतमनारि श्रापबस उपलदेह धरि धीर।
चरनकमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥[2]

१—वही, १।१८९।८,१९०।१-५। २—वही, १।२१०।०।

परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जनसुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥

× × ×

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना॥[1]

शाप वाली रूढ़ि तथा राम की अलौकिक शक्ति को विश्वसनीय प्रमाणित करने के उद्देश्य से ही मानस में इस अभिप्राय का समावेश किया गया है। इससे प्रभाव में तीव्रता आई है और कथा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

१०—**प्रतीकात्मक अथवा भविष्यसूचक स्वप्न**—प्रायः विश्व की समस्त जातियों में स्वप्न संबंधी विश्वास पाया जाता है। यह विश्वास मुख्यतः दो रूपों में दिखाई देता है—भविष्यसूचक या प्रतीकात्मक। प्रथम के अनुसार स्वप्न भविष्य की सूचना देता है। व्यक्ति स्वप्नों में जो कुछ देखता है, उसके फल के बारे में जानने को उत्सुक रहता है। फलतः स्वप्नों का अभिप्राय बताने वाले भी सदैव वर्तमान रहे हैं। मानस में भरत तथा त्रिजटा के स्वप्नों के वर्णन हैं। भरत अपने ननिहाल में अवध में घटने वाली अप्रिय घटनाओं की सूचना स्वप्नों में पाते हैं—

देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कल्पना॥[2]

ये भयानक स्वप्न किसी भयंकर घटना के घटने की सूचना देते हैं और शीघ्र ही भरत को उन सब अप्रिय घटनाओं का पता चलता है। इस प्रकार भरत के स्वप्न 'अन्यार्थ' प्रकार के अंतर्गत आते हैं।

त्रिजटा का स्वप्न भविष्य की घटनाओं तथा उनके परिणामों की सूचना देने वाला है। 'गधे पर चढ़कर रावण का दक्षिण दिशा की ओर जाना' उसकी मृत्यु की सूचना देता है—

सपने बानर लंका जारी। जातुधानसेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहु बिभीषन पाई॥[3]

त्रिजटा को स्वप्न में जैसा दिखाई दिया, ठीक उसी प्रकार की घटनाएँ घटीं। इससे लोक विश्वास का समर्थन तो हुआ ही, राक्षसियों का सीता के प्रति अप्रिय व्यवहार भी रुक गया। साथ ही कुछ देर बाद हनुमान् के आ जाने से उसकी सत्यता भी प्रमाणित हो गई। सभी को यह विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में रावण का नाश होने वाला है।

१—वही, १।२११।१-२, ९-१०। २—वही, २।१५६।६।
३—वही, ५।११।३–५।

११—**शकुन**—यह अत्यंत ही लोकप्रिय अभिप्राय है। शकुन एक मनोवैज्ञानिक विश्वास है, लेकिन लोक के अंधविश्वास या रूढ़ि के रूप में स्वीकार किया जाता है। शकुनों का सामाजिक जीवन पर इतना गहरा प्रभाव है कि लोक-जीवन का यह एक आवश्यक तत्व बन गया है। यही कारण है कि सभी लोकप्रसिद्ध कथानकों में इस अभिप्राय का एकाधिक बार प्रयोग हुआ है। यह अभिप्राय कथा-प्रवाह को मोड़ने, आगे बढ़ाने, अथवा उसके प्रभाव को तीव्र करने में अत्यंत ही सफल रहा है। भविष्य में घटने वाली घटनाओं का आभास कराने के लिए यह अभिप्राय वरदान का काम करता है। मानस जैसे लोकतत्व प्रधान काव्य में इस कथानक रूढ़ि का इतने अधिक स्थानों पर प्रयोग इस अभिप्राय की लोकप्रियता सिद्ध करता है। मानस में शकुनों का उल्लेख इस प्रकार है—

(अ) सीता द्वारा गौरी की पूजा करके उनसे बरदान माँगने पर 'माला का खसना' तथा 'मूर्ति का मुस्कराना' शुभ शकुन है—

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
सादर सिय प्रसादु सिर धरेऊ। बोली गौरि हरषु हिय भरेऊ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥[१]

और इस बरदान को सुनकर परम हर्षित सीता के बाम अंग फरकने लगे। स्त्री के बाम अंगों का फरकना आज भी शुभ माना जाता है। बिहारी की नायिका बाम बाँह के फरकने पर प्रियतम के मिलने की संभावना के कारण उसी अंग से प्रियतम को भेंटने की बात कहती है—

बाम बाँह फरकत मिलें जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोही सों भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥[२]

(आ) बरात सजाकर दशरथ के अयोध्या से निकलने पर वैसे ही शुभ शकुन होते हैं। वहाँ तुलसी ने सभी मांगलिक शकुनों को एकत्रित कर दिया है—

चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहु सकल मंगल कहि देई॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुलदरसु सब काहूँ पावा॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई॥
क्षेमकरी कह क्षेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयेउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥[३]

इसका परिणाम भी बड़ा शुभ हुआ है। चारों पुत्रों का विवाह कर दशरथजी सकुशल अयोध्या लौटे हैं।

१—वही, १।२३६।५–७। २—आ० वि० प्र० मिश्र : बिहारी, ४५३।
३—मानस, १।३०३।२–८।

(इ) राम-वनगमन के अवसर पर तुलसीदासजी लंका में रावण को होने वाले अपशकुनों का उल्लेख करना भी नहीं भूले हैं—

कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष विषाद विबस सुरलोकू ॥[1]

यहाँ कुशकुन द्वारा यह भी संकेतित है कि राम का वनगमन संपूर्ण विश्व को प्रभावित कर रहा है।

(ई) मामा के घर रहते हुए भी भरत को अशकुनों के द्वारा 'अयोध्या में कुछ अशुभ हुआ है' का संकेत मिलता है—

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें ॥[2]

नगर में प्रवेश करते समय होने वाले अपशकुन भी उस संभावना की पुष्टि करते हैं—

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला ॥[3]

(उ) निषाद वाले प्रसंग में शकुन के द्वारा करणीय और अकरणीय की परीक्षा कवि ने कराई है। वहाँ बात कहने वाले के मुँह के सामने होने वाली छींक इस बात का प्रतीक है कि भरत के विषय में जो समझा जा रहा है, वह उचित नहीं है। उस स्थल पर इस अभिप्राय के प्रयोग के बिना बहुत ही अनुचित कार्य होने की संभावना उपस्थित हो गई थी। निषादनाथ के 'जुझाऊ ढोल बजाने की आज्ञा' देते ही बाएँ छींक हुई, जिसका सगुनियों ने अर्थ बताया कि भरत राम से लड़ने नहीं, बल्कि उन्हें मनाने जा रहे हैं—

एतना कहत छींक भइ बाएँ। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाएँ ॥
बूढ़ एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी ॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं ॥[4]

(ऊ) राम के लंका की ओर प्रयाण करते समय सीता को शकुन तथा रावण को अपशकुन होते हैं। राम के प्रयाण की घटना मुख्यरूप से इन दोनो से ही संबंधित है। सीता के लिए यह मंगलकारी है और रावण के लिए अमंगलकारी—

प्रभुपयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं ॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भएउ रावनहि सोई ॥[5]

राम के लंका में उतर जाने की सूचना एक अशकुन सूचक घटना के द्वारा रावण-मंदोदरी को मिलती है। राम के बाण से रावण के मुकुट तथा मंदोदरी के कर्णफूल गिर जाने को अशकुन माना गया है—

१— वही, २।८१।४। २— वही, २।१५६।५। ३— वही, २।१५७।४–५।
४— वही, २।१९१।४-६। ५— वही, ५।३५।६-७।

सोचहिं सब निज हृदय मझारी। असगुन भएउ भयंकर भारी॥[1]

यद्यपि रावण अभिमान के कारण इसे असकुन नहीं मानता, फिर भी मंदोदरी दिन-रात शंकित रहती है।

(ए) युद्ध में मेघनाद के मारे जाने पर जब रावण युद्ध के लिए प्रस्थान करता है तो अनेकों अपशकुन होते हैं जो युद्ध के परिणाम के सूचक हैं। वानरों द्वारा यज्ञ-विध्वंस किए जाने पर जब रावण पुनः युद्ध करने जाता है तब भी अशकुन होते हैं—

चलत होहिं अति असुभ भयंकर। बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर॥[2]

लेकिन दुखी सीता को शुभ शकुन होते हैं, जिससे उन्हें रावण-वध का विश्वास होता है। विभीषण द्वारा रावण की मृत्यु का रहस्य उद्घाटित किए जाने पर जब राम ने रावण को मारने के लिए वाण खींचा वैसे ही रावण को अपशकुन होने लगे—

सुनत बिभीषनवचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला॥
असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना॥
बोलहिं खग जग आरति हेतू। प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतू॥
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबि उपरागा॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयनमग बारी॥[3]

ये अशकुन संपूर्ण विश्व को प्रभावित करने वाले हैं। सभी को यह विश्वास होने लगा कि कोई ऐसा कांड होने वाला है जिसका प्रभाव विश्वव्यापी होगा और वैसा ही हुआ भी।

(ऐ) उत्तरकांड में भरत को होने वाले शुभ शकुनों ने राम के लौटने का विश्वास उत्पन्न कराया है—

सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर॥
भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करैं बिचार॥[4]

१२—सिद्धियों द्वारा असंभव कार्यों का संपादन—यह अभिप्राय अति मानवीय शक्ति और कार्यों से संबंधित रूढ़ियों के अंतर्गत आता है। बहुत पुराने समय से ही यह विश्वास प्रचलित था कि तप आदि के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को कोई कार्य असंभव नहीं है। अनेक असंभव कार्यों की सिद्धि के लिए ही सिद्धियों की कल्पना हुई। सर्वत्रगमन, भविष्यदर्शन, चमत्कारजनक

१—वही, ६।१४।२। २—वही, ६।८६।१। ३—वही, ६।१०२।६-१०।
४—वही, ७।१।३-४, ७-८।

कार्य आदि का संपादन इन सिद्धियों द्वारा संभव समझा जाने लगा। मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग इसी रूप में हुआ है। वहाँ नारद और रावण को सर्वत्र गमन की शक्ति से युक्त बताया गया है। नारद ने अपने तप से तथा रावण ने ब्रह्मा के वरदान से यह शक्ति प्राप्त की थी। तप या शुचिता के प्रभाव से चमत्कारपूर्ण कार्य करने के उदाहरण भी मानस में मिलते हैं। सीता ने सिद्धियों के प्रभाव से जनकपुर में आई बरात तथा दशरथजी की पहुनाई कराई थी और राम के अतिरिक्त कोई भी इस भेद को नहीं जान पाया था—

हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूपपहुनई करन पठाई॥
सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।
लिये संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥
निज निज बास बिलोकि बराती। सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती॥
बिभवभेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥
सियमहिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥[1]

राम को मनाने वन जाते समय भरत की पहुनाई भी अगस्त्य ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से कराई थी—

सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं। आयेसु होइ सो करहिं गोसाईं॥
रामबिरह ब्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रमु कहा मुदित मुनिराज॥[2]

इसी अभिप्राय के अंतर्गत नल और नील नामक दो वानरों की समुद्र पर पत्थर तैराने वाली शक्ति को भी रखा जा सकता है। ऋषि के आशीर्वाद के प्रभाव से उन्हें यह शक्ति प्राप्त हुई थी—

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥
तिन्ह कें परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥[3]

इससे स्पष्ट है कि इस अभिप्राय ने रामकथा को गति देने में पर्याप्त योग दिया है।

१३——श्वेत केश——बौद्ध एवम् जैन कथाओं का यह बड़ा ही प्रचलित अभिप्राय रहा है। जैन-धर्म की कथाओं में राजा अपने सिर में एक श्वेत केश दिखाई देने पर राज्य त्यागकर वन में तपस्या करने चला जाता है। कई जातकों की कहानी का आधार अकेला यही अभिप्राय है। मानस में प्रयुक्त अभिप्रायों में यह भी एक प्रमुख अभिप्राय है। दशरथ राज्य करते जा रहे हैं। परिवर्तन या नवीनता का कोई संकेत नहीं है। लेकिन एक दिन दरबार में बैठे हुए मुकुर में

१—वही, १।३०६।८-३०७।३। २—वही, २।२१२।८-१०। ३—वही, ५।६०।१-२।

अपना मुख देखते समय उन्हें दिखाई देता है कि श्रवण के निकट केश श्वेत हो गए हैं। इसी से उन्हें राम को राज्य देकर वन जाने की प्रेरणा मिलती है—

स्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा॥
नृप जुवराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥[1]

यही अभिप्राय राम वनगमन और रामकथा की आगे की घटनाओं का कारण बनता है।

१४--मार्गावरोध--लोककथाओं का यह अत्यंत प्रचलित अभिप्राय है। प्रायः कहानी की दिशा मोड़ने या उसके प्रवाह को तीव्र करने के उद्देश्य से इसका प्रयोग किया जाता है। कथा के नायक या उसके सहयोगी के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जाने पर प्रतिपक्षी द्वारा उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया जाता है। मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग हुआ है। लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर जब हनुमान् संजीवनी लेने जाते हैं उस समय रावण कालनेमि को उनका मार्ग रोकने के लिए भेजता है। कालनेमि ने मुनि का वेश बनाकर हनुमान् को रोकना चाहा था—

अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥[2]

उस कपटमुनि ने हनुमान् को धोखे में डालकर विलंब करना चाहा, लेकिन हनुमान् को 'सर में पैठी मकरी' ने, जो अप्सरा थी और शाप के कारण 'मकरी' बन गई थी, सब भेद बता दिया। हनुमान् ने उस असुर को पूँछ में लपेटकर मार डाला। समुद्र निवासिनी राक्षसी सिंहिका द्वारा समुद्र संतरण करते समय हनुमान् को पकड़ने का प्रसंग भी इसी अभिप्राय के अंतर्गत आता है। कालनेमि वाले प्रसंग में तुलसी ने 'मार्गावरोध' अभिप्राय के साथ-साथ 'दुष्टसाधु का वर्णन और अंत में उसका पराभव', 'जल पीने जाते समय किसी अकल्पित घटना के घटने' तथा 'मुनि का शाप' इन तीन अभिप्रायों का भी समावेश किया है। तुलसी अभिप्रायों के प्रयोग में कितने कुशल थे, इसे समझने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त है।

१५—आत्महत्या की धमकी—कथा को गति या मोड़ देने के लिए इस अभिप्राय का प्रयोग प्रायः किया जाता है। अनेकों लोकप्रिय कथाओं का यह प्रिय अभिप्राय रहा है। मानस में कैकेयी के द्वारा इसी प्रयोग के माध्यम से राम को वनवास की आज्ञा दिलाई गई है। युवराज-पद पाने वाले राम को प्रातः होते ही वन जाने की आज्ञा दिलाने के लिए कैकेयी ने दशरथ जी को अपने मरने और उनके अपयश होने की धमकी दी—

होत प्रातु मुनिबेषु धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥[3]

१- वही, २।२।७-८। २—वही, ६।५७।१। ३—वही, २।३३।०।

कहना न होगा कि इस धमकी ने पूरा-पूरा काम किया।

१६—सांकेतिक भाषा—विभिन्न क्रियाओं या चेष्टाओं की सहायता से अपने मनोभावों को व्यक्त करने की परंपरा भारतीय समाज और साहित्य में अत्यंत प्राचीन है। भारतीय कहानियों में सांकेतिक भाषा का प्रयोग बहुत मिलता है। प्रेम कहानियों में प्रेम संबंधी गूढ़ संकेत उसी भाषा में व्यक्त किए जाते हैं। पृथ्वीराजरासो में युद्ध के अवसर पर इस अभिप्राय का प्रयोग हुआ है। मानस में इसका प्रयोग सूर्पणखा के प्रसंग में हुआ है, जिसका परिणाम ही सीताहरण और राम-रावण युद्ध है। सूर्पणखा के रूप से सीता को डरी हुई जानकर राम ने संकेत से ही लक्ष्मण को उसकी नाक-कान काटने की आज्ञा दी—

सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सयन बुझाई॥
लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहुँ मनहु चुनौती दीन्हि॥[1]

इस अभिप्राय की विशेषता यही है कि जिस व्यक्ति से संकेत को समझकर कार्य करने की अपेक्षा की जाती है, वही उसे समझ सकता है और तदनुसार कार्य करता है।

१७—जादू का युद्ध—लोक कथाओं का यह बहुत ही प्रिय अभिप्राय है। इसके अनेक रूप प्रचलित दिखाई देते हैं। यह अभिप्राय जहाँ भी साहित्य में आया है, लोककथाओं से ही आया है। मानस में राम और राक्षसों के युद्ध में इस अभिप्राय के प्रयोग को काफी गुंजाइश थी, फलतः कवि ने वहाँ इसका खुलकर प्रयोग किया है। खरदूषण के साथ होनेवाले युद्ध में अकेले राम चौदह हजार राक्षसों की विशाल सेना से युद्ध करते हैं। राम ने कौतुक ही में राक्षसी सेना को परस्पर लड़ा कर समाप्त कर दिया—

महि परत भट उठि भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवधधनी॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यो॥[2]

राम-रावण के युद्ध-प्रसंग में मेघनाद और रावण दोनो ही अजेय होने के लिए यज्ञ करते हैं, लेकिन उनका यज्ञ सफल नहीं होता, वानर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। तब वे माया-युद्ध करते हैं। मेघनाद आकाश में उड़कर वहीं से राम की सेना पर अंगारों की वर्षा करता है, पृथ्वी से जल की धाराएँ फूट पड़ती हैं और पिशाच पिशाचिनियाँ मारो-काटो चिल्लाती हैं। विष्ठा, पीप, खून, बाल, हड्डियों की वर्षा होती है और कभी धूल से आकाश आच्छादित हो जाता है और चारों ओर अंधकार

१—वही, ३।१७।२०-२२। २—वही, ३।२०।२६-२९।

फैल जाता है, सभी व्याकुल हो जाते हैं। राम ने एक ही वाण से उस माया को काट दिया--

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा। महि तें प्रगट होहिं जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥
बिष्ठा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरसै कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथु पसारा॥[1]

उसने लक्ष्मण पर वीरघातिनी शक्ति का प्रयोग कर उन्हें मूर्च्छित कर दिया। दूसरी बार युद्ध के लिए आने पर उसने मायारथ पर चढ़कर आकाश से राम की सेना पर अनेकों अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा की। वानर जब उसे मारने आकाश में जाते हैं तो वह अदृश्य हो जाता है। सबको घायल तथा व्याकुल करके उसने राम को नागपाश में बाँध लिया। तब वह प्रगट हुआ—

व्याकुल कटकु कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहै दुर्बादा॥[2]

लक्ष्मण के साथ युद्ध में भी उसने माया-युद्ध किया तथा विविध वेश धारण करके लड़ा। कभी वह प्रगट होता था कभी अंतर्ध्यान—

देखिसि आवत पवि सम बाना। तुरत भएउ खल अंतरधाना॥
बिबिध बेष धरि करै लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥[3]

रावण ने भी अपनी सेना के संहार को देखकर तथा अपने को अकेला जानकर माया-युद्ध करने का निश्चय किया —

रावन हृदय बिचारा भा निसिचरसंवार।
मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार॥[4]

उसकी माया से राम को छोड़कर शेष सभी ग्रसित हो गए। उन्हें राक्षसी सेना में बहुत से राम-लक्ष्मण दिखाई देने लगे—

सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी॥[5]

राम ने एक ही वाण में माया को काट दिया। बाद में फिर माया-युद्ध करते हुए रावण ने इतने रूप धारण किए कि प्रत्येक वानर-भालु को अपने निकट एक-एक रावण दिखाई देने लगा—

अंतर्धान भएउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका।
रघुपतिकटक भालु कपि जेते। जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते॥[6]

१—वही, ६।५२।१-४। २—वही, ६।७४।३। ३—वही, ६।७६।११-१२।
४—वही, ६।८८।०। ५—वही, ६।८९।७-८। ६—वही, ६।९६।१-२।

रावण की इस माया ने सब को भयभीत कर दिया। तब राम ने एक ही बाण में सब माया काट दी। मरने से पूर्व रावण ने मेघनाद जैसा ही माया-युद्ध किया। उस समय राम ने माया सहित उसे ही समाप्त कर दिया।

१८—पशु-पक्षी द्वारा रक्षा या सहायता—मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग तो है, लेकिन किंचित् बदले हुए रूप में। सीताहरण के समय जटायु सीता को बचाने की चेष्टा करता है। लेकिन रावण उसके पंख काटकर उसे व्याकुल करके सीता को ले जाता है। जटायु का भाई संपाति भी वानरों को सीता का समाचार देकर उनकी पूरी सहायता करता है। मानस के रीछ और वानर भी पशु ही हैं, जो राम की सब प्रकार से सहायता करते हैं। इस प्रकार वे रक्षा न करके कार्य-संपादन में सहायता करते हैं।

१९—प्रतीति के लिए परीक्षा—यह अभिप्राय भी भारतीय लोक कथाओं का प्रिय अभिप्राय रहा है। शत्रुओं के द्वारा छले गए नायक-नायिका इसी अभिप्राय के माध्यम से एक दूसरे के दूतों की बातों पर विश्वास करके भविष्य के लिए कार्यक्रम बना सकते हैं। इससे इस अभिप्राय की उपयोगिता निर्विवाद है। यह 'अभिज्ञान या सहिदानी' से भिन्न अभिप्राय है। सहिदानी के द्वारा तो भूले हुए को स्मरण कराया जाता है। जैसे शकुंतला की कथा में दुष्यंत की अँगूठी जो शकुंतला के पास थी, सहिदानी है। लेकिन 'प्रतीति के लिए परीक्षा' अभिप्राय का प्रयोग, विश्वास उत्पन्न कराने के लिए होता है। मानस में दो स्थानों पर इसका प्रयोग है। हनुमान् राम की अँगूठी दिखाकर भी सीता को विश्वास नहीं दिला सके हैं। उन्होंने अपने और राम (नर-वानर) के साथ होने की पूरी कथा कहकर सीताजी को आश्वस्त किया है। इसी प्रकार सीता से मिलकर लौटने पर उन्होंने राम को चूड़ामणि दिखाकर अपनी सफलता का विश्वास दिलाया है। इस अभिप्राय का सबसे सुंदर प्रयोग सुग्रीव के प्रसंग में हुआ है। सुग्रीव को राम द्वारा बालि को मारने का विश्वास तभी हो सकता है, जब वे 'दुंदुभि अस्थि तालों' को वेध दें। जैसे ही राम ने उन वृक्षों को गिराया वैसे ही सुग्रीव को विश्वास हो गया कि ये बालि को अवश्य ही मार देंगे—

दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालीबध की भै परतीती॥[1]

हनुमान् के बल और बुद्धि की सुरसा के द्वारा ली गई परीक्षा भी इसी अभिप्राय के अंतर्गत आती है। सुरसा ने हनुमान् की परीक्षा ली और उसे विश्वास हो गया कि वे राम के कार्य को अवश्य ही पूरा करेंगे—

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा॥[2]

१—वही, ४।७।१२-१३। २—वही, ५।२।१२।

२०—**बल का स्मरण**—इस अभिप्राय में किसी व्यक्ति को उसकी विस्मृत शक्ति का स्मरण दिलाया जाता है, जिससे वह निर्धारित कार्य को संपादित कर सके। मानस में जामवंत ने हनुमान् को उनके बल का स्मरण दिलाया है। समुद्र के किनारे बैठे हुए वानर-भालु पार जाने के लिए अपनी-अपनी शक्तियों को तौल रहे हैं, किसी को अपने ऊपर विश्वास नहीं है कि वह इस कठिन कार्य को कर सकेगा। हनुमान् चुप हैं। उन्हें जामवंत यह कहकर बल का स्मरण दिलाते हैं कि 'तुम्हारा जन्म ही इस कार्य के लिए हुआ है'। स्मरण दिलाते ही हनुमान् पर्वताकार होकर समुद्र लाँघने को तैयार हो गए—

कह रिछ्छेस सुनहु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥
पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥
कवन सो काजु कठिन जग माहीं। जो नहि तात होइ तुम्ह पाहीं॥
रामकाज लगि तव अवतारा। सुनतहि भएउ पर्बताकारा॥

× × ×

सहित सहाय रावनहि मारी। आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी॥[1]

इस अभिप्राय के प्रयोग से कवि ने यह स्पष्ट किया है कि वानरों में अकेले हनुमान् ही ऐसे थे, जो इस कार्य को कर सकते थे। उनका जन्म ही इसीलिए हुआ था। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि किसी कारण से वे अपने बल को भूल गए थे, जिसका स्मरण जामवंत ने उन्हें दिलाया था।

२१—**जीवन-निमित्त का उल्लेख**—यह इतना प्रचलित अभिप्राय है कि विश्व भर की लोक कथाओं में किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग हुआ है। इस अभिप्राय के अंतर्गत किसी प्राणी का प्राण किसी वाह्य वस्तु में निवास करता है। अन्य लोगों को उसका ज्ञान न होने के कारण वह अत्याचारी होने पर भी अजेय बना रहता है। उस वाह्य वस्तु के नष्ट होने पर ही उस व्यक्ति का नाश होता है। महाभारत के वनपर्व में बालधि ऋषि के पुत्र मेधावि के प्राणों का निवास-स्थान अविनाशी पर्वतों में होने का उल्लेख आया है। उन पर्वतों का नाश हो जाने पर ही उसकी मृत्यु होती है। मानस में यह अभिप्राय किंचित् बदले हुए रूप में प्रयुक्त हुआ है। रावण का जीवन-निमित्त वाह्य वस्तु में स्थित न होकर उसकी नाभि में स्थित था। नाभि का अमृतकुंड ही उसके जीवन का निमित्त था। बिना उस अमृत को सुखाए रावण को मारना असंभव था। राम ने अनेकों बार रावण के शिर और बाहुओं को काटा, लेकिन रावण की मृत्यु नहीं हुई। विभीषण द्वारा भेद प्रकट करने पर जब राम ने उस अमृतकुंड को वाण से सुखा दिया तभी रावण मारा जा सका—

१—वही, ४।३०।३-६, ६।

नाभिकुंड पियूष बस या कें। नाथ जिअत रावनु बल ता कें॥

× × ×

सायक एक नाभिसर सोखा। अपर लगे भुज सिर करि रोषा॥
लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रुंड महि नाचा॥[1]

नाभिकुंड के सूख जाने पर शिर और भुजा नवीन नहीं हो सके। फलतः रावण की मृत्यु हो गई।

२२—मृत व्यक्ति का जीवित हो उठना—संजीवनी मंत्र द्वारा अथवा मंत्राभिषिक्त अमृत जल द्वारा मृत व्यक्तियों के जीवित हो उठने का वर्णन कथाओं में बहुत मिलता है। हिंदू घरों में अनुष्ठान के अवसर पर कही जानेवाली कथाओं का यह प्रिय अभिप्राय है। कभी-कभी देवताओं द्वारा भी मृत व्यक्ति जीवित कर दिए जाते हैं। अनेक लोककथाओं में शिव-पार्वती यही कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग इंद्र द्वारा मृत वानर-भालुओं को जीवित कराने के लिए किया गया है। राम की आज्ञानुसार इंद्र ने अमृतवर्षा करके वानर-भालुओं को जीवित कर दिया। लेकिन उस अमृतवर्षा की यह विशेषता थी कि उससे राक्षस जीवित नहीं हुए—

सुधा बरषि कपि भालु जिआए। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए॥
सुधावृष्टि भै दुहुँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहि रजनीचर॥[2]

तुलसी ने 'जिए सकल रघुपति कीं ईछा'[3] कहकर अमृतवर्षा के प्रभाव को उक्त अभिप्राय की सीमाओं तक ही सीमित कर दिया है। अभिप्राय के प्रयोग की कुशलता यहाँ दर्शनीय है।

२३—जल पीने जाते समय अकल्पित घटना का घटना—कथानक को गति देने तथा उसकी दिशा को मोड़ने के लिए इस रूढ़ि का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से ही कथाओं में होता आया है। मानस में इसका प्रयोग दो स्थलों पर हुआ है। सीता का पता लगाने को निकले अंगद, हनुमान् आदि वानर उनका पता न पाकर, प्यास से व्याकुल हुए पानी की खोज में तपस्विनी के आश्रम में पहुँचे। उसने उन्हें आँख मूँदने को कहा और उनके वैसा करने पर वे सब समुद्र के किनारे पहुँच गए। वहाँ उनकी भेंट संपाती से हुई, जिसने सीता का पता बताकर हनुमान् को लंका जाने को प्रेरित किया। यदि वानर जल पीने न जाते तो उन्हें अपने कार्य में सफलता न मिलती। इस प्रकार इस प्रसंग में इस अभिप्राय के प्रयोग से कथा को गति देने में सहायता मिली है। दूसरे स्थान पर कालनेमि के आश्रम में हनुमान् के सरोवर पर जल पीने के लिए जाने पर अकल्पित घटना घटी है। वहाँ जल की मकरी ने उनके हाथ से मरकर दिव्यरूप धारण करके उन्हें

१—वही, ६।१०२।५,१०३।१-२। २—वही, ६।११४।५-६। ३—वही, ६।११४।८।

बताया कि यह मुनि नहीं है, राक्षस है और तुम्हारे कार्य में बाधा डालना चाहता है। यह सूचना पाकर ही हनुमान् उसके चंगुल से मुक्त हो सके। अन्यथा जिस कार्य के लिए वे जा रहे थे, उसे पूरा न कर पाते और कथा की गति में बाधा उत्पन्न हो जाती। इससे स्पष्ट है कि मानस में इस अभिप्राय का प्रयोग बहुत ही सार्थक रहा है।

२४—जिज्ञासा-समाधान के लिए अन्य के पास भेजना—अनेक कथाओं में इस प्रकार की रूढ़ि का उल्लेख मिलता है, जिसमें किसी भेद या कारण को जानने के लिए आतुर व्यक्ति की जिज्ञासा का समाधान कोई व्यक्ति स्वयम् न करके उसे अपने से तद्विषयक बड़े अधिकारी के पास भेजता है और यह क्रम कुछ दूर तक चलता है। अंत में सबसे बड़ा अधिकारी व्यक्ति उसका समाधान करता है। मानस में भी इस रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। राम के ईश्वरत्व पर संदेह होने पर उसके समाधान के लिए गरुड़ ब्रह्मा के पास जाते हैं, ब्रह्मा उनके संदेह को स्वयम् दूर न करके उन्हें शंकर के पास भेज देते हैं और शंकर काकभुशुंडि के पास। अंत में काकभुशुंडि रामकथा सुनाकर गरुड़ के संदेह को दूर करते हैं। तुलसी ने रामकथा के महत्त्व को स्थापित करने तथा काकभुशुंडि को रामकथा का अधिकारी मर्मी सिद्ध करने के लिए ही इस अभिप्राय का प्रयोग मानस में किया है।

निष्कर्ष—इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह यह है कि मानस में रूढ़ियों का प्रयोग कहीं-कहीं कुछ बदले हुए रूप में दिखाई देता है। एकही रूढ़ि विभिन्न स्थानों पर परिवर्तित रूप में मिलती है। उस परिवर्तन का कारण कथा का प्रस्तुत स्वरूप ही रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस में लोकाश्रित तथा कवि-कल्पित दोनो ही प्रकार की कथानक रूढ़ियों के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुए हैं। उपर्युक्त अभिप्रायों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिप्राय भी मानस में खोजे जा सकते हैं। अभिप्रायों के प्रयोग की दृष्टि से भी मानस का महत्त्व कम नहीं है। तुलसी ने जब अपने काव्य को 'कथा' कह दिया तो उसे 'कथा काव्य' बनाने का पूर्ण ध्यान भी रखा। भारतीय कथा-काव्यों में प्रयुक्त होने वाली वे सभी कथानक रूढ़ियाँ, जो मानस के कथानक में बैठ सकती थीं, उन्होंने उपयुक्त ढंग से बैठा दीं। इनसे कथा की गति, प्रवाह और प्रभाव में क्षिप्रता तो आई ही, उसका रूप भी लोकसंमत बन गया। लोक विश्वासों के इस व्यापक प्रयोग ने इस रचना को लोक की वस्तु बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। मानस के लोकप्रिय होने के लिए जहाँ अन्य कारण हैं, वहाँ यह कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

पं० श्रीगोपालचंद्र मिश्र

वैदिक मूलरामायण

['यद्यपि वेद ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, जिससे कि उसमें राम अथवा अन्य अवतारों के नाम या चरित्र क्रमबद्ध मिलें, फिर भी अनुसंधाता भक्तगण अपनी अटूट निष्ठा के कारण उसमें अपनी प्रिय वस्तु को ढूँढ़ते हैं। वेद कल्पवृक्ष है, कामधेनु है। भक्ति एवम् लगन से आश्रय लेने पर इच्छापूर्ति करना उसका स्वाभाविक धर्म है।'

जिस प्रकार 'वाल्मीकि रामायण के प्रथम सर्ग में श्रीरामचरित्र का संक्षिप्त वर्णन मूलरामायण के रूप में है, वैसे ही आचार्य नीलकंठ ने वेद के चार मंत्रों में वैदिक मूलरामायण का संकलन किया है। यहाँ उसे पाठकों की जानकारी के लिए उपस्थित किया जा रहा है।']

भगवान् घट-घट में व्याप्त हैं, पर अंतर्हित हैं। योगियों को ही योग-दृष्टि से गम्य हैं। स्थूलदृष्टि वाले उन्हें नहीं देख सकते। परंतु वे दुष्टों के शासन और भक्तों के दुःख नाश के लिए स्थूल दृष्टिगम्य लौकिक पांचभौतिक शरीर से इस जगत् में आविर्भूत होते हैं।

अवतार प्रायः सभी देवताओं का होता है। जिस समय जिस देवता का कार्य होता है, उस समय वह देवता अवतार ग्रहण करता है। अवतार मनुष्य रूप में ही होता है, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि हिरण्याक्ष-वध के लिए भगवान् विष्णु का अवतार 'शूकर' के रूप में तथा हिरण्यकशिपु-वध के लिए नृसिंहावतार मनुष्य और सिंह के मिले हुए शरीररूप में हुए थे। इसी प्रकार कूर्मावतार तथा मत्स्यावतार कछुआ और मछली के रूप में हुए थे। अवतारधारण का प्रयोजन, अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बतलाया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥—गीता, ४।७-८।

अर्थात् हे अर्जुन ! जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की प्रचंडता फैल जाती है, तब (तब) मैं स्वयम् अवतरित होता हूँ। साधुओं की संरक्षा एवम् दुष्टों के दमन के निमित्त तथा धर्म के संस्थापन हेतु मैं युग-युग में जन्म लिया करता हूँ।

वेद में भी अवतार-बोधक मंत्र मिलता है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ॥
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥[१]

अर्थात् (प्रजापतिः) विश्व की प्रजा का स्वामी जगदीश्वर, पुरुषोत्तम (अन्तः) मध्य में (चरति) विचरते हैं। इसका आशय यह है कि जगदीश्वर सकल प्राणीमात्र के मध्य में वर्तमान हैं। वे (गर्भे) गर्भ में (अजायमानः) नहीं होते हुए भी अर्थात् अजन्मा होते हुए भी (बहुधा) बहु प्रकार से राम कृष्ण आदि अनेक रूपों में (विजायते) उत्पन्न होते हैं।[२] (तस्य) अवतारों के लीलाविग्रह में उस प्रजापति की (योनिम्) मूल ब्रह्म रूपता को (धीराः) धीर तत्वदर्शी भक्त ही (परि पश्यन्ति) देखते हैं। (तस्मिन्) उस प्रजापति में (विश्वा) संपूर्ण (भुवनानि) लोक (तस्थुः) ठहरे हैं।

इस भाव के साथ गोस्वामीजी ने अवतार की लीलाओं का प्रयोजन अति ललित शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा ॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु ॥

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका ॥[२]

भगवान् के अवतारों में राम और कृष्ण का अवतार विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प्रमुख अवतारों की कथा प्रायः सभी पुराणों में उपलब्ध है। वेदधर्मानुयायियों के लिए पुराण या इतिहास की प्रामाणिकता वेदमूलक होने से मानी गई है।

१—शुक्ल यजुः संहिता, ३१।९।

२—मानस, १।१२१।६-१२२ २। गीता में इसी भाव को स्पष्ट किया गया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥—गीता, ४।६।

अर्थात् अजन्मा, अविनाशी होता हुआ सब भूतों का स्वामी भी मैं आत्ममाया से उत्पन्न होता हूँ। यही तथ्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने मानस में इन गंभीर शब्दों में कहा है—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥
नरतनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥
—२।१२६।५-७।

यद्यपि वेद ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, जिससे कि उसमें राम अथवा अन्य अवतारों के नाम या चरित्र क्रमबद्ध मिलें, फिर भी अनुसंधाता भक्तगण अपनी अटूट निष्ठा के कारण उसमें अपनी प्रिय वस्तु को ढूँढ़ते हैं। वेद कल्पवृक्ष है, कामधेनु है। भक्ति एवम् लगन से आश्रय लेने पर इच्छापूर्ति करना उसका स्वाभाविक धर्म है। इसी कारण विद्वान् श्रद्धालु भक्तजनों को वैदिक मंत्रों में भी भगवान् श्रीरामचंद्र के भी चरित्र का स्पष्ट वर्णन दिखलाई पड़ता है।

भगवान् श्रीराम के चरित्र संबंधी वैदिक मंत्रों का व्याख्या के साथ अच्छा संकलन गोविंद पंडित के पुत्र आचार्य नीलकंठ ने 'मंत्ररामायण' के नाम से संस्कृत में किया है। यह ग्रंथ श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई से संवत् १९६७ में प्रकाशित हो चुका है।

जिस प्रकार वाल्मीकि रामायण के प्रथम सर्ग में श्रीरामचरित्र का संक्षिप्त वर्णन मूलरामायण के रूप में है, वैसे ही आचार्य नीलकंठ ने वेद के चार मंत्रों में वैदिक मूलरामायण का संकलन किया है। यहाँ उसे पाठकों की जानकारी के लिए उपस्थित किया जा रहा है।

प्रसंगतः यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वेद-मंत्रों के रामचरित्र परक अर्थ होने से वेदों के गौरव या अपौरुषेयता में बाधा की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रधान रूप से किसी कार्य, परिस्थिति या भाव से प्रयोग किए हुए शब्द भी विवेचक बुद्धिमान् के पास आकर अन्य भाव को भी प्रगट करते हैं, जिसका अनुभव प्रायः सभी को समय-समय पर होता है। संत तुलसीदासजी ने मानस की रचना किसी शास्त्र के तत्व विशेष को संग्रथित करने के लिए नहीं की है। जिस प्रकार वेदांततत्व को समझाने के लिए योगवाशिष्ठ की और व्याकरण के प्रयोगों को बताने के लिए भट्टिकाव्य की रचना हुई है, उस प्रकार मानस का प्रणयन नहीं हुआ है। वस्तुतः मानस की रचना वाल्मीकि के मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचंद्र को साक्षात् भगवान् परब्रह्म प्रतिपादित करने के हेतु[१] तथा भागवत् (५।१९।३०) के किंपुरुष वर्ष में उपासनीय रामचंद्र की आराधना को सफल[२], महत्त्वपूर्ण[३]

१—जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥
—७।६१।६।

२—एहि महु रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
—१।१०।१-२।

३—रामभगति जहँ सुरसरिधारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
—१।२।८।

एवम् संतोषप्रद[1] सिद्ध करने के लिए हुई है। तुलसीदासजी का मानस मनोभाव से प्रस्फुटित है। इसके प्रत्येक अक्षर के जैसे गूढ़ भाव का प्रदर्शन आजकल के कुछ अभ्यस्त रामायणी पराक्रम एवम् कौशल पूर्वक करते हैं, उसे गोस्वामी तुलसीदास ने न कभी सोचा-समझा होगा और न ऐसा अनुमान ही किया जा सकता है। फिर भी इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यह विचारकों के मस्तिष्क की स्फूर्ति का फल है, जिससे मानस की महत्ता तथा जनसाधारण की उस पर आस्था बढ़ती है। इसी प्रकार शास्त्रज्ञ विचारकों ने वेदमंत्रों के जो विभिन्न अर्थ किए हैं, वे वेदों की महत्ता और जनसाधारण की उन पर आस्था बढ़ाने के साथ-साथ अपने विचारों को श्रुति-सम्मत प्रमाणित करने के हेतु किए गए हैं।

इन अर्थों से प्रधानतया वेदप्रतिपाद्य यज्ञतत्व का विरोध या वेद की अनित्यता या अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है और न करनी चाहिए। संक्षिप्त रामचरित्र (मूलरामायण) ऋग्वेद के चार मंत्रों में इस प्रकार उपलब्ध है—

१

स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद।
स सनीडेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः॥

— ऋग्वेद, १०।९९।२।

आचार्य नीलकंठ की टीका—स घनश्यामः पुरुषः राम इति कथा सम्बन्धवशादवसीयते। हि प्रसिद्धः प्रत्यगात्मत्वात्। द्युता स्वस्य दीप्त्या शक्त्या विद्युता तयैव विद्युद्वत्पृथग्विग्रह्या सह साम अपगतद्रोहं यथा स्यात्तथा वेति गच्छति देशान्तरमित्यर्थात् ऋभ्या सह गयम् आगात् इत्युपसंहारात् ऋभ्या देव्या सीतया गयं गृहं तत्र अस्य पृथुं पृथ्वीं योनिं जायां सीतां 'जायेदस्तं मघवत्सेदु योनिरि'ति 'महीं' देवीं विष्णुपत्नीमजूर्यामि'ति च लिङ्गात्। असुरत्वा आसुरधर्मेण चौर्यधर्मेणेत्यर्थः। आससाद अर्थादसुरः रावणाख्यः चोरयित्वा नीतवानित्यर्थः। हनुमदादिभिः सः रामः सनीडेभिस्समाननीडैः स्वलोकवासिभिः पार्षदैः 'अन्नं—मुषायन्' (ऋ० १०।९९।५) इत्युपसंहारात् अन्नं पृथिवीं सीतामित्यर्थः। सः अस्य जायाहर्तुर्मायाः नागपाशबन्धादि रूपाः प्रसहानः प्रकर्षेण सहते। तस्य सर्वाः मायास्तेन सह युद्धप्रसङ्गे नाशितवानित्यर्थः। तत्र हेतुः—यतो मायाः ऋते सत्ये श्रीरामभद्रे न संतीतिशेषः। मायावशं हि मायाः परकीया बाधन्ते न निर्मायमित्यर्थः। कथंभूतस्यास्य सप्तथस्य सप्तमस्य भ्रातुर्भागहर्तुः सोदर्यौ हि भ्रातरौ पित्रा व्यवधानादन्योन्यस्मात्तृतीयौ, तत्पुत्रौ पंचमौ, पौत्रौ सप्तमौ, तथा च विष्णोः कश्यपमरीचिब्रह्मपुलस्त्य विश्रवः क्रमेण रावणः सप्तमः तस्माच्च सः सप्तथ इति।

१—स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति॥
—१।मं० श्लो० ७।

हिंदी अर्थ—वह घनश्याम श्रीरामचंद्र भगवान् (विद्युता) बिजली की तरह देदीप्यमान (द्युता) कांतिमती श्रीसीताजी के साथ (साम) शांति से अर्थात् राज्याभिषेक न होने पर भी भरत कैकेयी आदि किसी से द्रोह न करते हुए (वेति) वन को जाते हैं। वहाँ वन में (पृथु योनिं) पृथ्वी है उत्पत्ति का स्थान 'माता' जिसकी ऐसी श्रीसीताजी को (असुरत्त्वा) असुरधर्म से अर्थात् चोरी करके रावण ने (आससाद) प्राप्त किया, ले गया। पीछे (सः) वे श्रीरामचंद्रजी (सनीडेभिः) समान लोकवासी सुग्रीव हनुमान् आदि से मुक्त होकर (अस्य) जनकनंदिनी के हरनेवाले इस रावण की (मायाः) नागपाश आदि मायाएँ (भ्रातुः) भाई लक्ष्मण के लिए (प्रसहानः) सहन करते हुए [इसकी क्रिया अग्रिम मंत्रों में है] और (अस्य) इस (सप्तथस्य) अपने से सातवें पीढ़ी के[1] रावण की (मायाः) मायायें (ऋते) सत्यस्वरूप श्रीरामचंद्र में (न) नहीं है अर्थात् श्रीरामचंद्रजी में इसकी कोई भी माया नहीं चली।

२

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ् शिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् ॥

—ऋ० ८, १०।९९।३।

आचार्य नीलकंठ की टीका—स निरस्तसमस्तमायः श्रीरामभद्रः अनर्वा अश्वयुक्तवाहनहीनः वाजं संग्रामं याता गंताऽभूत्। कीदृशः अपदुष्पदायन् अपगतं दुस्थितं पदं स्थानं कंटककर्दमसलिलाद्यनाक्रान्तं यस्मात्तेन अपदुष्पदा सेतुरूपेण पथायन् गच्छन् लंकामित्यर्थात्। स्वर्षाते इन्द्रादिलोकानां विभाजको विष्णुः शतदुरस्य शतद्वारस्य 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववांचौ नाभिर्दशमी'ति प्रतिवदनं दशद्वारत्वाच्छतद्वारो रावणः नाभ्यादिस्थानेष्वपि तत्तन्मुखद्वाराऽत्र रसागमनस्येष्टत्वात्, मुखसंख्यानि प्रच्छन्नानि द्वाराणि सन्तीति ज्ञेयम्। तस्य वेदो धनं लंकाराज्यं सनिष्यन् तद् भ्रात्रे विभीषणाय विभजिष्यन् परिषदत् स्वेष्टजनेन परिवृतो न्यषीदत् उपविष्टवान्। कीदृशः—शिश्नदेवान् कामुकान् रावणादीन् घ्नन् नाशयन् वर्पसा स्वरूपेण अभ्यभूत् अभिभावितवान्। सेतुमार्गेण लंकां गत्वा दारहर्तारं हत्वा परिजनेनावृतः शत्रुधनानि तद् भ्रात्रे समर्पितवानित्यर्थः ॥

हिंदी अर्थ—(अपदुष्पदा) नहीं है खराब स्थान जिसमें ऐसे सेतुरूप मार्ग से (अयन्) जाते हुए। (स्वर्षाते)[2] इंद्रादि देवताओं के लिए स्वर्गभूमि के विभाजक

१—(१) विष्णु (२) ब्रह्मा, (३) कश्यप, (४) मरीचि (५) पुलस्त्य (६) विश्रवा (७) रावण।

२—स्वः स्वर्गः। षत्—षणु दाने। वामनावतार आदि में असुरों से स्वर्गभूमि लेकर देवताओं को देनेवाले भगवान् विष्णु।

या देनेवाले (सः) श्रीरामचंद्रजी (अनर्वा) अश्वरहित हो (वाजं[1])संग्राम को (याता अभूत्) गए; वहाँ (शिश्नदेवान्) कामुक राक्षसों को (घ्नन्) नाश करते हुए (वर्पसः[2]) अपने स्वरूप, प्रभाव से (अभि अभूत्) रावण को हरा दिया और (शतदुरस्य) सौ द्वारवाले उस रावण के [रावण का प्रत्येक शिर एक आदमी का द्योतक है एक आदमी के दश द्वार होते हैं। रावण के दश शिर थे अतः दश शिर से दशगुणित द्वार प्रतीत होने वाले रावण की] (वेदः) धन संपत्ति को (सनिष्यन्) विभीषण को देने के लिए (परिषदत्) अपनी इष्टजन की परिषद् के साथ बैठे। अर्थात् रावण को मार कर अपनी समस्त सेना का दरबार लगाकर विभीषण को राज्य दिया।

३

स यह्व्योऽवनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्रिः।
अपादो यत्र युज्यासो ऽरथाद्रोण्यश्वास ईरते घृतं वा : ॥
—ऋग्वेद १०।९९।४।

आचार्य नीलकंठ की टीका—अपदुष्पदायन्नित्येतद्विवृणोति 'स यह्व' इति। स रामो यत्र स्थाने घृतं क्षरणस्वभावं घृतं वाः वारि द्रोण्यश्वासः द्रोणयो नाव एवाश्वा इव गतिसाधनानि येषां सन्ति ते तथाभूताः एव ईरते गच्छन्ति। यत्र च युज्यासः सखायो वानराः अपादः पादचाराभावात् पादहीना इव एवम् अर्थाः भवन्ति तत्रापि महार्णवस्थाने यह्व्यः महतीः अवनी सस्रिर्विस्तीर्णान् भूप्रदेशान्ससार "अद्रिग-महन" (पा० वा०) इति क्निप्रत्ययो लिडवद्भावश्च। जलेऽपि सेतुं कृत्वा स्थलत्वं सम्पाद्य चचारेत्यर्थः। यासु प्रधन्यासु संग्रामयोग्यासु गोषु भूमिषु अर्वा गच्छन् आजुहोति अत्यर्थं दानहोमादिकं करोति ताः अवनीः सस्रिरित्यन्वयः। दश योजनवि-स्तीर्णं शतयोजनमायतं सेतुं कृत्वा सपरिवारस्तेन गच्छतीत्यर्थः॥

हिंदी अर्थ—(सः) वह रामचंद्रजी (यत्र) जहाँ (घृतं) द्रव (क्षरण) स्वभाव (वाः) जल है, वहाँ (द्रोण्यश्वासः) नावरूपी अश्व बनाकर [सेतु-बंधन में प्रस्तर ही नावरूप थे उन्हें ही अश्व बनाकर] (ईरते) जाते हैं। (यत्र) जहाँ समुद्र में (युज्यासः) मित्र लोग वानर (अरथाः) बिना रथ के तथा (अपादः) केवल पैर से न चलने से पादहीन की तरह है। और उस (वाः) जल में = समुद्र में (यह्व्यः) बड़ी भारी (अवनीः) भूमि को (सस्रिः) चले। अर्थात् समुद्र में सेतुबंधन से पृथ्वी बनाकर उस पर चले। लंका की (प्रधन्यासु) संग्राम योग्य (गोष्ठ) भूमियों में (अर्वा) जाते हुए भगवान् श्रीरामचंद्रजी आशुतोष श्री रामेश्वर महादेव की स्थापना विधिवत् की, (आजुहोति) महत्त्वपूर्ण दानहोमादिक किए।

१—वाजम् = संग्राम, द्र०—निघण्टु एवम् निरुक्त।
२—वर्पस् = रूप, द्र०—निघण्टु एवम् निरुक्त।

४

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारे अवद्य आगात् ।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन् ॥

—ऋग्वेद १०।९९।५।

आचार्य नीलकंठ की टीका—सः रामः रुद्रेभिः हनूमदादिभिः सहायैः ऋभ्वा ऋतेन भासमानया देव्या सीतया सह गयं स्वस्थानम् आगात् आगतवान् । कीदृशः आरे अवद्यः दूर निरस्तदोषः सीता रावणहृतां सर्वदेवसंनिधौ संशोध्येत्यर्थः किं कृत्वा-गयम् आगात् । अशस्तवारो हित्वी = प्रतिकूलकाले गृहं त्यक्त्वा पुनर्देव्या सहागादित्यर्थः । एतत्सर्वं भविष्यं रामायणं वम्रस्य वाल्मीकेः संबंधिनौ शिष्यौ मिथुनौ द्वौ कुशलवौ विवव्री तस्मादधीत्य लोके विशेषेण विवृतवन्तौ, इत्यहं मन्ये जानामीति मन्त्रद्रष्टुरुक्तिः । तत्र भविष्यमाह—अन्नमिति । मुषायन् स्तेनो रावणः अन्नं पृथिवीं तद्रूपां सीताम् अन्न शब्दः पृथिव्याम् "ता अन्नमसृजन्त" इति छान्दोग्ये । अभीत्य अभ्येत्य अरोदयत् रावणस्पर्शनिमित्तापवादपरिहारार्थं रामेण त्यक्ता सीता रोदनं कृतवतीत्यर्थः ॥

अत्र 'ऋभ्वा सह गयमागादि'त्युपसंहारो 'विद्युता' सह वेतीत्युपक्रमस्य अन्नं मुषायन्नित्युपसंहारो 'योनिमाससादे' त्युपक्रमस्य 'दूरे अवद्य' इत्युपसंहारः उपक्रमोपसंहार-योरैक्यरूप्यादिदं मन्त्र चतुष्ट्यात्मकमेकं वाक्यं परमपुरुषप्रतिपादकं रामायणसंक्षेप-परमिति वाक्यार्थमर्यादाविदो विदाकुर्वन्तु ॥

हिंदी अर्थ—(आरे अवद्य) पाप निंदा को दूरकर अर्थात् सीता की अग्निपरीक्षा द्वारा उसे निष्पाप घोषित करके (सः) वे श्रीराम (रुद्रेभिः) रुद्रादि देवताओं के अवतार हनुमान् आदि सहयोगियों के साथ (अशस्तवारः) निंद्य, मंगलवारादिकों को (हित्वी) छोड़कर अर्थात् यात्रोक्त शुभ मुहूर्त में (ऋभ्वा) सीता देवी के साथ (गय[१]) घर को (आगात्) आये ।[२]

मंत्रद्रष्टा ऋषि कहता है—

(१) मन्ये—मैं इस बात को जानता हूँ कि इस भावी रामचरित्र को (वम्रस्य) दीमकों के विल से निकले हुए महर्षि वाल्मीकि के कृतक पुत्र (मिथुनौ) जोड़े दो वालक कुश एवम् लव ने रामचंद्रजी की सभा में (विवव्री) विवृत किया ।

१—गयः = घर, द्र०—निरुक्त, निघण्टु ।
२—प्रतिकूल समय में घर छोड़कर फिर देवी सीताजी के साथ घर आए—टीका इस मंत्र में हिंदी अर्थ में रामचरित्र का भाव टीका की अपेक्षा विशेष स्पष्ट किया गया है ।

(२) और मैं यह भी मानता हूँ कि—(मुषायन्) चोर रावण (अन्नम्) सीताजी (जैसे अन्न पृथ्वी का पुत्र है उस प्रकार पृथ्वी की पुत्री) को (अभील) ले जाकर (आरोदयत्) सीताजी के रुलाने के फलस्वरूप सब को तथा अपने को रुलाया, अर्थात् जो रावण की तरह अधर्म कार्य में प्रवृत्त होकर दूसरों को कष्ट देता है अंत में वह स्वयम् सपरिवार कष्ट पाता है। अतः सर्वदा धर्माचरण करके अपने को तथा दूसरों को सुखी बनाना चाहिए।

यह इस रामचरित्र का उपदेश है।

वेद के उक्त चार मंत्रों में रामचरित्र का संक्षिप्त निर्देश एक 'वैदिक मूलरामायण' है। इसका विस्तार अन्य वेदमंत्रों में हुआ है। जिसका संकेत वाल्मीकिरामायण के—

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
—सर्ग १, श्लोक ९८।

इन शब्दों से मिलता है, ऐसा भक्तजन मानते हैं। भगवान् श्रीरामचंद्र सर्वथा वेदवेद्य परम पुरुष हैं। इनकी अधिकारानुरूप आराधना प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितावह है। अतः अवश्य करनी चाहिए।

डा० मोहनराम यादव

मानस की रामलीला में पात्र-योजना

[प्रस्तुत निबंध में रामलीला की पात्रयोजना पर शास्त्रीय और धार्मिक दृष्टिकोण से विमर्श करते हुए कहा गया है कि धीरोदात्त नायक राम तथा उनसे संबद्ध पात्र साधु की और धीरोद्धत प्रतिनायक रावण तथा उससे संबद्ध पात्र असाधु की श्रेणी में आते हैं। वे मनोविकार के विविध प्रकारों के प्रतीक हैं।

'रामलीला को शरीर पर घटाकर गोस्वामीजी ने प्रत्येक मानव के दैनिक जीवन के लिए रामलीला की उपयोगिता सिद्ध की है। अतः लौकिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से गोस्वामीजी की पात्र-योजना उच्चकोटि की है।']

पात्र-योजना—रामलीला में पात्र-योजना मूलतः सद् तथा असद् भावना पर आधृत है। रामचरितमानस में दो पक्ष हैं—एक साधु पक्ष है, जिसमें राम तथा उनसे संबद्ध अधिकतर पात्र हैं तथा दूसरा असाधु पक्ष है, जिसमें रावण तथा तत्संबद्ध पात्र आते हैं। व्यक्तिगत जीवन तथा लोक जीवन चाहे जिसको लें सब में दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। कुछ वृत्तियाँ कल्याणप्रद होती हैं। उनसे हृदय की कलुषित भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं, हृदय का परिष्कार हो जाता है। हृदय के परिष्कार के कारण सद्गुणों की ओर आकर्षण स्वाभाविक है। आकर्षण के पश्चात् दूसरी अवस्था उनके ग्रहण की आती है। सद्गुणों के कारण मनुष्य ऊँचे उठता है। यह स्थिति भी आ सकती है कि वह देव-कोटि में गिना जाने लगे। सद्वृत्ति के द्वारा परिष्कार के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। उसके विभिन्न साधन युग-युग से चले आ रहे हैं। साहित्य, संगीत तथा कला उसके प्रधान एवम् आकर्षक साधन हैं। उपदेश भी एक साधन है, पर वह रूक्ष है। उसमें रमणीय तत्व नहीं है। इसी से साहित्य, संगीत तथा कला का माध्यम रमणीय स्वीकार किया गया। रामलीला में उक्त तीनों के समन्वय के साथ भक्ति की रमणीयता भी रहती है। अतः रामलीला के माध्यम से हृदय का परिष्कार शीघ्र एवम् स्थायी होता है।

अब उन वृत्तियों पर विचार कर लेना चाहिए, जो भक्ति के लिए हानिप्रद होती हैं और समाज के लिए घातक। इन दुर्वृत्तियों का अस्तित्व अंतःकरण में ही होता है। जिस प्रकार रस के स्थायी भाव मन में अव्यक्तावस्था में रहते हैं और अनुकूल आलंबन पाकर उद्दीप्त हो उठते हैं, उसी प्रकार वृत्तियाँ भी अनुकूल वातावरण पाकर सक्रिय हो उठती हैं। दुर्वृत्तियों को जहाँ अवकाश मिला वे उद्दीप्त हो जाती हैं। वे उद्दीप्त न हों इसके दो उपाय हो सकते हैं—एक तो उन्हें अनुकूल वातावरण न मिले, दूसरे लोक के द्वारा उनकी उपेक्षा हो।

अनुकूल वातावरण का तात्पर्य प्रोत्साहन है। यदि व्यक्तिगत रूप से अथवा समष्टि रूप से कुप्रवृत्तियों का दमन किया जाय तो प्रोत्साहन का प्रश्न ही न उठे। दूसरा उपाय है कि वे मानव को पराभूत न कर सकें। एक तीसरा उपाय भी हो

सकता है। लोक के समक्ष उनका ऐसा रूप उपस्थित किया जाय कि वे घृणास्पद मानी जाने लगें। उनके प्रति हृदय की विरोधी प्रतिक्रिया हो।

रामलीला की पात्र-योजना इसी ढर्रे की है। इसमें राम-पक्ष का दिग्दर्शन इसलिए है कि सद्वृत्तियों की ओर आकर्षण हो। उनके प्रति निष्ठा तथा आस्था बढ़े। सद्वृत्तियों की विजय से जन सफलता की प्रेरणा ग्रहण करें। रावण-पक्ष के दिग्दर्शन की दृष्टि भिन्न है। उसके द्वारा कुवृत्तियों का ह्रास तथा पराभव उपस्थित किया जाता है। इससे रावणादि कुवृत्ति के प्रतीकों के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से उनकी उपेक्षा होती है।

रामलीला की पात्र-योजना पर दो दृष्टियों से विचार हो सकता है—पहली दृष्टि शास्त्रीय तथा दूसरी धार्मिक या भक्ति संबंधी है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने के पूर्व स्मरण रखना चाहिए कि नायक राम ईश्वर के अवतार हैं। अतः वे किस कोटि के नायक हो सकते हैं? शास्त्र के अनुसार नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, तथा धीरप्रशांत। मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में अवतरित होने के कारण राम में श्रृंगारिक भाव नहीं आ सकते। अतएव वे धीर-ललित नहीं हो सकते। अवतार का उद्देश्य 'विनाशाय च दुष्कृताम्' है। अतः प्रशांत होने पर उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं। धीरोद्धत नायक स्वभाव से ही उच्छृंखल होता है। मोह, मद, आत्म-प्रशंसा तथा दुराचरण उसके गुण माने जाते हैं। ये गुण या यों कहें कि दुर्गुण अवतार में होना असंभव है। अतएव उनके धीरोद्धत होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राम सद्वृत्तियों के प्रतीक हैं। उन्हें परिष्कृत तथा उदात्त गुणों से युक्त होना ही चाहिए। अतः वे धीरोदात्त के अतिरिक्त अन्य कोटि में नहीं आ सकते।

भारतीय समाज का विकास चिरसंचित अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर हुआ है। समाज के ढाँचे में विभिन्न व्यक्तियों के प्रति पृथक्-पृथक् भावनाएँ हैं। माता, भगिनी, स्त्री, पुत्री आदि के प्रति भावों में अंतर होता जाता है। इसी प्रकार पिता, भ्राता, बंधु, पुत्र सबके प्रति प्रकाशित प्रेम के प्रकार में एकता नहीं है। इन सामाजिक नियमों का पालन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आधार-शिला है। इसमें विच्छृंखलता का तात्पर्य समाज का विनाश तथा पशुत्व का आगमन है। राम भारतीय परंपराओं तथा संस्कृति का स्वयम् पूर्ण रूप से पालन करते हैं। उनके विरुद्ध आचरण करने वाले बालि का विनाश करके वे सामाजिक मर्यादा की रक्षा करते हैं। बालि के संहार के मूल में सुग्रीव की मित्रता तो निमित्त मात्र है, वास्तविकता कुछ और ही है। उसका उद्घाटन बालि के उत्तर में राम ने कर दिया है। राम की युक्ति-युक्त बातों से बालि को भी संतोष हो जाता है। वह अपनी भूल का अनुभव करता है। रावण की दशा इससे भी निकृष्ट है। नारि-अपहरण उसकी दिनचर्या का प्रमुख अंग बन गया है। अतः उसका विनाश अनिवार्य

हो गया है। राम केवल सीता के लिए नहीं अपितु सीता के समान अनेक सती-साध्वियों के सतीत्व की रक्षा के लिए (परित्राणाय साधूनां) राक्षसों का विनाश करते हैं (विनाशाय च दुष्कृताम्)।

शासक ही दुराचारी हो तो प्रजा का पतन कितना होगा कहा नहीं जा सकता। राम को बालि या रावण की चिंता नहीं है। वे तो सारे समाज के लिए तथा लोक-कल्याण के लिए व्यग्र हैं। समाज का उत्थान सज्जनों पर आश्रित है। जिस समाज में सज्जनों की जितनी ही अधिक संख्या होगी वह उतना ही उन्नतिशील होगा। रावण के कारण साधु, ऋषि, मुनि अर्थात् समाज का सज्जनवर्ग त्रस्त एवम् विपन्न है। उसने दुराचारियों तथा अत्याचारियों को आश्रय दे रखा है। इससे भारतीय समाज का स्वरूप विकृत हो रहा है। अतः समाजोत्थान तथा लोक-कल्याण के लिए रावणादि खलों का विनाश ही एक मात्र मार्ग है। राम उसका अवलंबन करते हैं। इसी महत्कार्य में वे अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हैं। बाल्य-काल में ही ताड़का-वध तथा धनुष-भंग से उनकी शक्ति की अलौकिकता स्थापित हो चुकी थी। उनकी शक्ति का सौंदर्य निखर उठता है। राक्षसों के सर्वनाश से राम के सौंदर्य की कल्पना वन-मार्ग में जाते समय जन-प्रभाव के आधार पर की जाती है। उस सौंदर्य में लौकिक दृष्टि से उनका कोई हाथ नहीं है। उनका सौंदर्य तो उनके आचरण तथा शक्ति के उपयुक्त एवम् रमणीय प्रयोग के कारण है। उनकी शक्ति पर विवेक तथा आचार का अंकुश है। अतएव वे शक्ति प्रयोग वहीं करते हैं, जहाँ उसकी आवश्यकता पड़ती है। शील राम के जीवन का विशेष गुण है। राम-परिवार के भव्य प्रासाद की आधार-शिला है—राम का शील। उनकी दृष्टि में मनुष्य को कौन कहे पशु-पक्षी भी समान आदर के पात्र हैं। वे उसका पालन युग-धर्म या अवसरवादिता के कारण नहीं निसर्गतः करते हैं।

आधुनिक साम्यवाद के सिद्धांत और व्यवहार पक्ष में भले ही एकरूपता न हो पर उनका जो सिद्धांत था वही व्यवहार भी। कहने से पुण्य का क्षय होता है। पाप भी कहने से क्षीण होते हैं। पुण्य की चर्चा करने से मनुष्य में गर्व की उद्भावना होती है। गर्व के कारण विवेक मंद पड़ जाता है। अतः उसके हृदय में उच्चता की भावना उत्पन्न नहीं होती। उसकी गति विपरीत हो जाती है। इसी से पुण्य का कथन वर्जित है। राम अपनी प्रशंसा कभी नहीं करते। वे रावण को आत्म-प्रशंसा से विरत होने और कर्मठता का मार्ग ग्रहण करने का उपदेश है।[१] इसके द्वारा राम के स्वभाव का परिचय मिलता है। वे पाटल (गुलाब),

---

१—जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि क्षमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा।
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं।—६।९०।११—१४।

रसाल (आम) की भाँति नहीं अपितु पनस (कटहल) के समान हैं। वाग्विलास की अपेक्षा कर्मण्य होना वे श्रेयस्कर समझते हैं। पाप कह देने से क्षीण कैसे होते हैं? पाप को छिपाने से आत्मा कलुषित होती है। पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न होती है। अपराध की स्वीकारोक्ति दंड से क्रमशः दूर, अति दूर हो जाती है। मनुष्य को शांति मिलती है। वह भविष्य के लिए सचेत हो जाता है। राम के द्वारा रावण को दिए गए उपदेश की ध्वनि है कि उसे पाप नहीं छिपाना चाहिए। पाप को प्रकट कहकर वह शांति पा सकता है।

राम संसार में सद्वृत्तियों का संवर्धन करना चाहते हैं। अतः वे भक्तों को मोक्ष नहीं देते। वे उन्हें बारंबार विश्व में आकर भजन, कीर्तन तथा लीलावलोकन का अवसर प्रदान करते हैं। उन्हें पापी से नहीं पाप से घृणा है। अतः राक्षसों को भी मोक्ष प्रदान करते हैं पर कैसा मोक्ष? वे जीवन-मरण के बंधन से मुक्त हो जायँ। संसार में उत्पन्न होकर उसे प्रताड़ित न करें। इसमें जहाँ राम की उदारता है, वहीं संसार के कल्याण की भावना भी।

धार्मिक दृष्टि से राम परात्पर ब्रह्म हैं। वे सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक हैं। वे परमेश्वर के साक्षात् अवतार हैं। जीव उनकी शरण में जाकर त्राण पाता है। संसार के माया-मोह आदि प्रपंचों का नाश राम की कृपा से होता है। उसके लिए भगवान् की आराधना अंतःकरण द्वारा निःस्वार्थ भाव से करनी चाहिए। गोस्वामीजी ने अंतःकरण में रामलीला के विभिन्न पात्रों की कल्पना तक की है।[1] रामलीला में राम ब्रह्म हैं। सारा कार्य-व्यापार उनकी भक्ति का पल्लवन है। अध्यात्म रामायण में भी राम कथा का यही रूप पाया जाता है। धार्मिक दृष्टि से राम सारे ब्रह्मांड के स्वामी हैं। उनका चरित्र पवित्र तथा भक्तों को आनंद देनेवाला है। इसी भावना से रामलीला का प्रदर्शन होता है। इससे हृदय के परिष्कार के साथ-साथ आनंद का उपभोग भी होता है।

रावण—शास्त्रीय दृष्टि से रावण प्रतिनायक है। उसमें कुप्रवृत्तियों का समावेश है। पर राम का प्रतिनायक भी उच्च कोटि का होना चाहिए। भारतीय सामाजिक परंपराओं का विकास इतनी उच्च सीमा पर पहुँच गया है कि रावण में आपाद-मस्तक दुर्गुण नहीं है। उसका आचरण जैसा भी रहा हो पर वह अनेक सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं करता। उदाहरण के लिए सीता को हर लेने के पश्चात् वह उनके साथ बल-प्रयोग करने को स्वतंत्र था। पर उसने वाचा (मनसा भी सही) ही बल-प्रयोग किया। साधारण जन शारीरिक कार्य-कलापों को अधिक महत्त्व देते हैं। संस्कृत व्यक्ति का ध्यान अभ्यंतर पर अधिक रहता है। रावण में भारतीय संस्कार विद्यमान् थे। अतएव वह सीता की अंतर्वृत्ति पर अधिकार करने का प्रयास करता रहा। सीता की इच्छा के विरुद्ध उसने किसी प्रकार का अतिचार नहीं किया।

१—विनयपत्रिका, पद ५८।

प्रतिनायक के लक्षण के अनुसार वह उद्धत है, कामी, मायावी तथा आत्म-प्रशंसक है। उसमें उदात्तता तो मिलती है, पर वह धीरोदात्त नहीं था। उसकी शृंगारिक प्रवृत्तियाँ कामुकता में परिणत हो गईं थीं, अतः धीरललित भी नहीं हो सकता। राक्षसी प्रवृत्तियों के कारण धीरप्रशांत हो नहीं सकता। अपने स्वरूप के निर्वाह के लिए उसे धीरोद्धत बनना चाहिए था। उसका वही रूप समक्ष आता है। यदि केवल उद्धत होता तो इच्छानुकूल कार्य करता, परिणाम चाहे जो हो। वह राजदूत समझकर हनुमान् की पूँछ ही नष्ट करने का प्रयत्न करता है, प्राण-दंड का विचार छोड़ देता है। भारतीय साहित्य शास्त्र में नायक के भेदों के साथ धीर शब्द जुटा है। यह शब्द साभिप्राय है। भारतीय दृष्टि सर्वदा से व्यापक रही है। यहाँ व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का महत्त्व अधिक था। अधीर नायक में स्वभावगत अथवा विचारगत व्यक्ति-वैचित्र्य तो हो सकता है, पर उसमें रमणीयता का अभाव रहेगा। काव्य सार्वजनीन होता है। उसमें सबका हृदय रमता है। धीर शब्द लगाने का तात्पर्य सामाजिकता या लौकिकता है। भारतीय शास्त्र में ललित, प्रशांत, उद्धत तथा उदात्त सभी नायकों का धीर होना आवश्यक है।

रावण चारों वेदों का ज्ञाता था। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, उसमें कोई कमी नहीं थी। पर कोरा ज्ञान मनुष्य का परिष्कार नहीं कर सकता। ज्ञान मस्तिष्क या बुद्धि का विकास है। हृदय का उससे सरोकार नहीं रहता। मानव-जीवन सर्वांग है। वह एकांगी होकर नहीं रह सकता। हृदय-तत्व की उपेक्षा से जीवन एकांगी हो जाता है। रावण की यही स्थिति थी। उसकी विद्वत्ता में राम को संदेह नहीं था। पर हृदय-पक्ष की शून्यता के कारण वह कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान नहीं रख पाता था। अतः उसका पतन हुआ।

भक्ति का संबंध हृदय से है। हृदय के परिष्कार तथा उन्नयन के लिए भक्ति अनिवार्य मानी गई है। रावण में निःस्वार्थ भक्ति की भावना नहीं थी। अतएव उसके हृदय का न तो उचित परिष्कार हो सका और न उन्नयन। पात्र-योजना में रावण को रखकर यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य को ज्ञान तथा भक्ति का समन्वयात्मक स्वरूप ग्रहण करना चाहिए। रावण शक्तिशाली था। सारे विश्व में उसकी तूती बोलती थी। पर उस शक्ति का सदुपयोग उसने नहीं किया। यदि चाहता तो उसका आश्रय लेकर वह स्वयम् आनंद उपभोग करता और विश्व के कल्याण-संवर्धन में सहायक होता। पर उसने दीन, अशक्त तथा सज्जनों को सताया।

आत्मा का संबंध परमात्मा से है। परमात्मा उसे कष्ट में नहीं देख सकता। आत्मा की पुकार सुन वह व्याकुल हो उठता है। शास्त्रों में इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर है। प्रह्लाद, गज, द्रौपदी आदि की पुकार ऐसी ही थी। रावण के अत्याचारों तथा अनाचारों से पीड़ित आत्माएँ कराह उठीं। उसका सर्वनाश हो गया।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की स्थापना के लिए रावणवध आवश्यक था। अतः रावण का चित्रण अनौचित्य के प्रतीक के रूप में हुआ है।

धर्म की दृष्टि से रावण मोक्षाकांक्षी था। उसने स्वयम् इस प्रकार की योजना बनाई, जिससे उसका वध हो। इस प्रकार वह भी एक प्रकार का राम-भक्त था।[1] पर उसकी भक्ति सर्वनाशिनी सिद्ध हुई। इसमें रावण की स्वार्थपरक भावना प्रधान है। रावण के माध्यम से स्वार्थमय भक्ति का दुष्परिणाम दिखाकर निःस्वार्थ भक्ति करने का उपदेश दिया गया है। गोस्वामीजी ने रावण को मोह कहा है। मोह चित्त का वैकल्य कहलाता है।[2] उस अवस्था में चित्तवृत्ति वस्तु-तत्व को ग्रहण नहीं करती। कल्याण-बुद्धि नष्ट हो जाती है या अकल्याण बुद्धि आ जाती है। ममता की भावना उत्पन्न होती है।[3] रावण का चित्त सर्वदा व्याकुल रहता है। एक वांछित वस्तु प्राप्य होने पर वह दूसरी की ओर लपकता है। अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति में वह इस प्रकार विवेक खो बैठता है कि वास्तविक तथ्य की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। राम के अवतारीरूप की सूचना उसे बराबर मिलती है। कहीं राम के अलौकिक कार्यों के द्वारा और कहीं स्वजनों या मंत्रियों द्वारा, पर वस्तुस्थिति की ओर वह ध्यान नहीं देता। अंगद का उपदेश, विभीषण का परामर्श तथा मंदोदरी की संमति उसके कल्याण के मार्ग हैं, पर उसकी बुद्धि की पहुँच वहाँ तक नहीं होती। इसके विपरीत वह राम से युद्ध करने की ही ठानता है। उसकी बुद्धि सर्वदा अहित मार्ग पर चलना चाहती है। लंका के पतन की घटनाओं का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। वह विवेकहीनता का आश्रय लेता है। रावण के कारण जिस प्रकार लंका का सर्वनाश हुआ उसी प्रकार मोह के कारण प्रवृत्ति की लंका भी ढह जाती है।

विभीषण को विनयपत्रिका के शरीर-लंका वाले रूपक में जीव माना गया है। वह त्रस्त है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अविद्या से।[4] वह भगवान् की शरण में जाता है। उसकी अविद्या का नाश होता है। अपने सत्स्वरूप को पहचानता है। एक बार भगवद्-शरण में आ जाने पर उसे जीवन का वास्तविक स्वरूप मिल जाता है। वह अचल हो जाता है। गोस्वामीजी ने जीव को ईश्वर का अंश माना है। वह अविद्या माया से आच्छन्न रहने के कारण दुःखी रहता है। माया का पाश राम की कृपा से ही छूट सकता है। अतः जीव के लिए आवश्यक है कि वह भगवान् की शरण में जाय। विभीषण माया या अविद्या से आच्छन्न लंका में दुःखी है। वह उसके बंधन से छूटना चाहता है। अतः वह राम की शरण में जाता है। इसी प्रकार मानव भी यदि शांति चाहता है तो उसे

१—'बयरभाव सुमिरत मोहि निसिचर'—रामचरितमानस, ६।४५।४। वह शत्रुभाव की उपासना करता था। यह भक्तों की मान्यता है।

२—मोहः चित्तवैकल्यम्। ३—मोहः ममत्व बुद्धित्वम्।

४—जीवः अविद्यापहितं चैतन्यं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि से पृथक् होकर भगवान् की शरण में जाना चाहिए। वहीं उसे सच्ची शांति मिल सकती है।

सुग्रीव ध्यान के प्रतीक हैं। ध्यान का महत्त्व उपासना के सभी मार्गों में स्वीकार किया गया है। निर्गुणोपासना में ध्यान के लिए आधार प्राप्त नहीं होता। अतः उसकी साधना अव्यावहारिक नहीं तो कठिन अवश्य है। पर सगुण-भक्ति में भगवान् के रूप का प्रत्यक्ष आधार मिल जाता है। पहले मार्ग में मन को हठात् ध्यान में लगाना पड़ता है। मन की चंचल गति के कारण सफलता में सदैव संदेह रहता है। पर दूसरे मार्ग में मन अपने आप भगवान् के ध्यान में मग्न होता है। अपितु यह भी कह सकते हैं कि ध्यान मग्न होने के लिए उत्सुक रहता है। ध्यान जिस प्रकार भगवान् से दूर चला जाता है, उसी प्रकार राजपुर, कोष तथा नारी के चक्कर में पड़कर सुग्रीव भी भगवान् की उपेक्षा कर बैठता है। लक्ष्मण के क्रोध के द्वारा राम-काज के प्रति उपेक्षा का ज्ञान सुग्रीव को होता है। फिर वह उसमें निरंतर लगा रहता है और रावण के विनाश का कार्य पूर्ण होता है। इसी प्रकार ध्यान के निरंतर सहयोग से मोह रूपी रावण का उन्मूलन संभव है।

दशरथ तथा कौशल्या को क्रमशः ज्ञान तथा भक्ति का प्रतीक रखा गया है। ज्ञान तत्व के सम्यक् परिचय को कहते हैं। भक्ति आराध्य विषयक राग है। गोस्वामीजी ने ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया है। ज्ञान के साथ विज्ञान का निरूपण भी उनकी रचनाओं में मिलता है। राजा दशरथ को उन्होंने ज्ञान का प्रतीक मानकर ज्ञान का महत्त्व तो स्थापित किया है, पर प्रधानता भक्ति को दी है। भक्ति की प्रतीक माता कौशल्या हैं। भक्ति से ही भगवान् का उद्भव मानकर उन्होंने भक्तों के समक्ष भगवद्प्राप्ति का स्पष्ट स्वरूप रखा है। ज्ञान के अभाव में भक्ति अंधी मानी जाती है। जब तक भगवान् के स्वरूप और गुणों का ज्ञान नहीं होगा तब तक भक्ति-भावना का उद्भव संभव नहीं है। पर केवल ज्ञान से ही सफलता की आशा दुराशा मात्र है। कहा जा चुका है कि ज्ञान मात्र का अवलंबन करने के कारण रावण की दुर्दशा हुई। यदि उसमें हृदयपक्ष भी प्रबल होता तो वह भक्ति की पवित्र भूमि में प्रविष्ट होकर जीवन के प्रकाम्य की प्राप्ति कर पाता। भले ही वह शक्ति एवम् धन संपन्न था, पर लोक-दृष्टि से वह पतित था। गोस्वामीजी ने दशरथ तथा कौशल्या को ज्ञान तथा भक्ति के प्रतीक स्वरूप रखकर उनके समन्वयात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

हनुमान्जी का स्वरूप प्रबल वैराग्य[१] का प्रतीक है। वैराग्य के अभाव में विषय-वासना का दहन संभव नहीं है। वैराग्य का अर्थ निवृत्ति मार्ग से न लेना चाहिए। हनुमान् ने सर्वदा प्रवृत्ति का अनुसरण किया, पर कैसी प्रवृत्ति ? भगवान्

१—वैराग्य-दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधिचित्तपरिणामविशेषत्वम्। वैराग्यं—विषयवैतृष्ण्यम्।

की अनन्य सेवा हेतु कार्य में तल्लीन रहने की प्रवृत्ति। मन की चंचल गति तभी रुक सकती है, जब हम कुछ उत्तम कार्यों में सर्वदा तल्लीन रहें। हनुमान् ने राम सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य ही बना लिया था। अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वे राम-काज के संपादन में लगे रहे। अतः उन पर विषय-वासनाओं का जादू नहीं चला। प्रबल वैराग्य के प्रतीक हनुमान् द्वारा गोस्वामीजी ने मनुष्य के लिए विषय से विरक्त होने का उत्तम उदाहरण उपस्थित किया है। इनकी साधना सरल नहीं है। उसके लिए हनुमान् जैसा अटल अनुराग, सेवा-भावना तथा पराक्रम की आवश्यकता पड़ती है। साधना सफल होने पर संजीवनी बूटी जैसा कार्य भी सरल हो जाता है। संजीवनी बूटी से तात्पर्य है—जीवन-रस प्रदायिनी बूटी। वैराग्य साधन से वह बूटी सर्वदा सुलभ रहती है।

कुंभकर्ण तथा मेघनाद को अहंकार[1] तथा काम के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। अहंकार अंतःकरण की अभिमान वृत्ति को कहते हैं। मोहरूपी रावण का यह प्रबल सहायक है। अहंता की भावना स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। शनैः शनैः ऐसी स्थिति आ जाती है कि व्यक्ति स्वार्थांध हो जाता है। उसे अपने तथा अपने स्वार्थों के प्रति आग्रह बढ़ जाता है। इससे मोह की प्रबलता होती है, फिर उसे रावण की भाँति उचित अनुचित का ध्यान नहीं रहता। विवेक नष्ट होने से विनाश होता है। यही दशा रावण की हुई।

मेघनाद 'काम' का प्रतीक है। काम[2] की शक्ति प्रबल मानी जाती है। मेघनाद की भयंकरता तथा शक्ति का चित्रण कर काम के स्वरूप का आभास दिया गया है। यही शक्ति जीव को विषय-वासनाओं में लिप्त रहने को बाध्य करती है। फिर तो वह भगवान् से विमुख हो जाता है। भगवान् की ओर प्रवृत्ति मोड़ने के लिए आवश्यक है कि काम का समूलोच्छेद हो। काम के कारण भी मोह की प्रबलता होती है। अतएव मोह के विनाश के लिए काम को नष्ट करना अनिवार्य हो जाता है। रामलीला में इसी क्रम से पहले कुंभकर्ण तथा मेघनाद का वध होता है, तब रावण की बारी आती है। मोक्ष के साधन रूपी वानरों की सेना के अभाव में यह कार्य संभव नहीं है।

इस प्रकार रामलीला को शरीर पर घटाकर गोस्वामीजी ने प्रत्येक मानव के दैनिक जीवन के लिए रामलीला की उपयोगिता सिद्ध की है। अतः लौकिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से गोस्वामीजी की पात्र-योजना उच्चकोटि की है।

१—अहंकारः अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। २—कामः इष्टविषयाभिलाषः।

निवेदन

ग्राहकों से--

'मानस-मयूख' के प्रति वर्ष, ३० जून से ३१ मार्च तक, चार प्रकाश प्रकाशित होते हैं; चौथा प्रकाश विशेषांक होता है।

'मानस-मयूख' का वार्षिक शुल्क ८ रुपए हैं। प्रति साधारण अंक का मूल्य २ रु० तथा विशेषांक का ६ रु० है। स्थायी वार्षिक ग्राहकों को विशेषांक का अतिरिक्त मूल्य न देना होगा। 'मानस-मयूख' का आजीवन ग्राहक शुल्क २५१ रु० है। आजीवन ग्राहकों को पत्रिका उनके जीवनपर्यन्त मिलती रहेगी। किसी प्रकार की संस्था अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी आजीवन ग्राहक हो सकते हैं। पत्रिका के संबंध में पत्राचार करते समय अपना पूरा नाम एवम् स्थायी पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

लेखकों से--

पत्रिका के उद्देश्यों के अन्तर्गत आनेवाले सभी विषयों पर ससाक्ष्य, सुविचारित और मौलिक लेख ही प्रकाशित किए जायँगे। अर्वाचीन अन्यत्र पूर्व प्रकाशित रचनाओं के पुनः प्रकाशन का नियम नहीं है।

लेख को पांडुलिपि कागद के एक ओर लिखी हुई, सुस्पष्ट और पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रन्थादि से उद्धरण उद्धृत किए गए हों, संस्करण तथा पृष्ठांक सहित उनके नाम आदि का निर्देश अपेक्षित है।

लेखों में प्रकट विचारों के लिए लेखक उत्तरदायी हैं, संपादक नहीं।

प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें। अस्वीकृत एवम् अप्रकाशित रचना वापस भेजने के लिए संपादक उत्तरदायी नहीं हैं।

लेख प्राप्ति की सूचना यथासाध्य शीघ्र दी जाती है तथा प्रकाशन की स्वीकृति भेजने में एक मास लग सकता है।

लेख, संपादक, 'मानस-मयूख', श्री सत्यनारायण तुलसी मानसमंदिर, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५ के पते पर भेजना चाहिए।

'मानस-मयूख' में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिएँ। उनकी समीक्षा अथवा प्राप्ति-स्वीकृति यथावसर प्रकाशित की जायगी। संभव है प्राप्त सभी पुस्तकों की समीक्षा का प्रकाशन न भी हो।

मानस-मयूख

वर्ष २] सितम्बर, १९६५ [द्वितीय प्रकाश

पत्रिका के उद्देश्य

१. तुलसी-साहित्य का अध्ययन, अन्वेषण और उसके विविध अंगों का विवेचन।
२. सन्त-साहित्य का मनन और विश्लेषण ।
३. निगम, आगम और पुराण में कथित मानव-धर्म का उद्घाटन ।
४. विश्व-वाङ्मय के सर्वनिष्ठ तत्वों का संकलन और मूल्यांकन ।

परामर्शदातृ मण्डल

मानस-मयूख

[त्रैमासिक शोध-पत्रिका]

संरक्षक

श्रीरतनलालजी सुरेका

संपादक

रामदास शास्त्री, एम० ए०

मुद्रक एवम् प्रकाशक
सत्यनारायण झुनझुनवाला,
मंत्री, ठाकुरदास सुरेका चैरिटी फंड,
१७२, जोगेंद्रनाथ मुखर्जी रोड,
सलकिया, हवड़ा।

वर्ष २
द्वितीय प्रकाश]

३० सितंबर, सन् १९६५ ई०

[मूल्य दो रु०

मानस-मयूख

द्वितीय वर्ष,
द्वितीय प्रकाश।

अनुक्रम

मानस-मयूख
द्वितीय वर्ष,
द्वितीय प्रकाश

श्रीकरुणापति त्रिपाठी

स्वामी रामानंद : संत कबीर और गोस्वामी तुलसीदास

[उपासना-पद्धति की दृष्टि से कबीर निर्गुण-धारा के और तुलसी सगुण-धारा के विशिष्ट संत हुए हैं। प्रथम धारा निवृत्ति तथा द्वितीय प्रवृत्ति मुखी है। प्रवृत्तिमार्गी होने के कारण तुलसी ने कट्टर एकेश्वरवाद को नीरस एवम् अग्राह्य प्रमाणित करते हुए भारतीय संस्कृति और उसके चिरसंचित संस्कारों की पुष्टि की। उनकी नीति संवलित मर्यादित वाग्धारा पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी एक क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं रही, वरन् मानव-जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को प्रभावित कर लोकव्यापी हुई।

'विचित्र बात यह है कि एक ही गुरु की परंपराओं के दो शिष्यों की साधना में बहुत बड़ा अंतर हो नहीं, विरोध तक लक्षित होता है। यद्यपि यह बात नहीं कि दोनो में साम्य न हो। कुछ बातें एवम् कुछ बिंदु ऐसे भी हैं, जहाँ दोनो की दृष्टि-चेतना तुल्यबोध प्रकट करती है।'

'निश्चय ही स्वामी रामानंद की चेतना का यह आश्चर्यजनक विकास दो धाराओं में प्रवाहित होकर भारत को सही मार्ग दिखाने की चेष्टा करता रहा है।']

हिंदी-साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यंत आश्चर्य का विषय है कि स्वामी रामानंद से प्रभावित दो महात्माओं—कबीर और तुलसी—ने दो भिन्न विचारधाराओं का प्रचार किया। संत कबीर ने ज्ञानमार्गी निर्गुणी दृष्टि के अनुसार ऐसे मत का प्रवर्तन किया जो आज के हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों द्वारा निर्गुणधारा की संज्ञा से व्यवहृत हुआ। इनके ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी करुणा, उदारता, भक्तवत्सलता आदि गुणों से विशिष्ट हैं। यद्यपि इनके ब्रह्म का स्वरूप आचार्य शंकर के अद्वैतवादी ज्ञानबोध से बहुत भिन्न है, तथापि उनका स्थान ज्ञानाश्रयी शाखा की सीमा में ही रखा जाता है। दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास भी स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में माने जाते हैं, जो कट्टर सगुणोपासक हैं। संत रैदास और पीपाजी को भी उन्हीं का शिष्य कहा गया है। स्वामी रामानंद की

शिष्य-परंपरा में यद्यपि तुलसीदास का नामोल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं है, तथापि परंपरा और जनश्रुति इसका समर्थन करती है।

रामानंद की शिष्य-परंपरा—परंपरा से स्वामी रामानंद के बारह शिष्य प्रसिद्ध हैं। उनमें से पाँच 'भगत' कहे गए हैं, जिनके नाम हैं—कबीर, पीपाजी, रमादास (रैदास), सेन नाई और धन्ना। इन्हीं के साथ पद्मावती का नाम भी लिया जाता है। ये सभी निर्गुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवि हैं। इनके अतिरिक्त 'आनंद' से अंत होनेवाले नामधारी उनके शेष सात शिष्य सगुण वैष्णवोपासक हैं। इन नामों और भक्तों की रामानंद की शिष्यता के विषय में बड़ा मतभेद है। उनके १२ शिष्यों के होने का संकेत तो मिलता है, पर वे कौन-कौन थे—अबतक विवादमुक्त नहीं हो सका। स्वामी नरहर्यानंद का भी एक नाम श्रीरूपकलाजी ने अपने ग्रंथ भक्तिसुधाविंदुस्वाद में गिनाया है। परंपरागत अनुश्रुति के अनुसार और 'कृपासिंधु नररूप हरि'[१] पाठ को उचित मानकर स्वामी नरहर्यानंद को तुलसीदास का गुरु बतलाया गया है। नाभादासजी के 'भक्तमाल' में भी नरहर्यानंद का नामोल्लेख है।

यहाँ यह सब कहने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि ऐतिहासिक प्रमाणों से असंदिग्धरूप में चाहे कबीर और तुलसी दोनो रामानंद की शिष्य-परंम्परा में आते हों, परंतु जानश्रुतिक परंपरा में दोनो ही उनके शिष्य कहे जाते हैं।

मध्यकालीन दर्शनों की इतिहासशृंखला में स्वामी रामानंद को 'रामावत संप्रदाय' का प्रवर्तक कहा गया है। उनका दार्शनिक सिद्धांत विशिष्टाद्वैतवादी सगुण-भक्ति शाखा की एक उपधारा मानी गई है। संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर दर्शन के विद्वान् उन्हें असंदिग्ध रूप से 'रामावत संप्रदाय' के आदि प्रवर्तक मानते हैं।

स्वामी रामानंद के नाम से अनेक ग्रंथों का उल्लेख भी हुआ है। इनमें कुछ ग्रंथ हिंदी-ग्रंथों की खोज के सिलसिले में मिले हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी ग्रंथ उन्हीं की कृति हैं अथवा किसी अन्य रामानंद की। परंतु यह निर्विवाद है कि 'राममंत्र' और 'रामअष्टक' नामक दोनो ग्रंथ सगुणभक्ति-परक हैं, रामोपासना के हैं और भक्तिमार्गीय हैं। 'ज्ञानलीला' नामतः ज्ञानमार्गीय ग्रंथ जान पड़ता है। पर उसकी विषयवस्तु भगवान् के गुणगान और भक्तिमय उपदेश से संयुक्त है। 'ज्ञानतिलक' संभवतः ज्ञानमार्गीय ग्रंथ रहा है। तीसरा लघु ग्रंथ 'रामरक्षा'—जो गद्य-पद्य मिश्रित शैली में और पंजाबी-राजस्थानी से मिली हुई सधुक्कड़ी भाषा में लिखित है—निश्चय ही संत-परंपरा की कबीर-पूर्ववर्ती एक कड़ी जान पड़ती है। उसमें हठयोग और अनाहतनाद की पर्याप्त चर्चा हुई है। इस ग्रंथ को देखने पर किंवदंतिमूलक कबीर और रैदास आदि के स्वामी रामानंद के शिष्य होने की बात

१—मानस, १।मं० सो० ५।

असंभव नहीं जान पड़ती। साथ ही स्वामी नरहर्यानंद के संपर्क-परिधि द्वारा तुलसीदास की परंपरा में भी पूर्व गुरु के रूप में उनका नाम लिया जा सकता है। इतना ही नहीं, वैरागी संप्रदाय में कृष्णदास पयहारी का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। स्वामी अनंतानंद भी स्वामी रामानंद के सात शिष्यों में अन्यतम थे। वे जयपुर की 'गल्ता' गद्दी के प्रतिष्ठापक भी थे। रामानंदी संप्रदाय में इस गद्दी का नामोल्लेख बड़े आदर के साथ किया जाता है। इनके दो प्रमुख शिष्यों में अग्रदास वैरागी भक्त-संप्रदाय में आते हैं तथा उन्हें मधुरोपासकों की अग्र पंक्ति में स्थान दिया जाता है। दूसरे शिष्य कील्हदास यौगिक साधना के उत्कृष्ट साधक थे। उन्हें ब्रह्मरंध्रभेदी कहा गया है। इन जैसे शिष्यों द्वारा रामानंदी संप्रदाय में योग-साधना की प्रमुखता को लेकर एक अन्य शाखा भी चली, जो 'तपसी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। वैरागी समाज का योगसाधनानुरागी भक्त-समुदाय 'रामरक्षा' को स्वामी रामानंद का प्रामाणिक और मौलिक ग्रंथ मानता है और अपने को स्वामीजी का अनुयायी भी कहता है।

स्वामी रामानंद का व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य—मध्ययुगीन धर्मसाधना के इतिहास में स्वामी रामानंद का अनेक कारणों से युगांतकारी महत्त्व माना जा सकता है। रामानुज-परंपरा की दृष्टि से उनके दो संस्कृत ग्रंथ 'वैष्णव-मताब्जभास्कर' और 'रहस्यत्रय' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। साथ ही हिंदी-साहित्य के निर्गुण-सगुण-भक्ति की भक्तिमार्गीय विविध साहित्य-शाखाओं के विचार से रामानंद की ऐतिहासिक भक्ति-चेतना ने युगांतकारी रूप में अपना प्रभाव डाला। इस क्षेत्र में उन्हें शीर्षस्थ युगपुरुष और अप्रतिम व्यक्तित्वशाली कहा जा सकता है।

इसका मुख्य कारण यह है कि इस युग की भक्ति-संपृक्त नाना शाखाओं में जहाँ एक ओर पौराणिक समन्वयदृष्टि, स्मार्त संस्कार बोध और परंपरागत युगचेतना का प्रभाव लक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर वज्रयान और मंत्रयान की मान्यताओं की ध्वनि और नाथों, सिद्धों, रहस्यसाधकों और हठयोग के समर्थकों का प्रभाव भी—अलौकिक आश्चर्य को उद्‌बुद्ध करनेवाले तत्व के रूप में गुंफित दिखाई देता है।

समन्वय चेतना—वस्तुतः देखा जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस समन्वय भावना के कारण अनेक पुराणों में भी स्मार्तों, सिद्धों और योगियों की साधना-पद्धति का मिश्रण दिखाई देता है। अग्निपुराण, नारदपुराण आदि इस मिश्रणात्मक समन्वय के उदाहरण हो सकते हैं। देवीशक्ति के उपासनापरक पुराणों और संहिताओं में तो इनका मिश्रण मिलता ही है, वैष्णवभक्ति की सगुणोपासना को लेकर चलनेवाले पुराणों और नाना वैष्णव-संहिताओं में भी यह प्रभाव लक्षित होता है। समन्वयवृत्ति के परिणाम स्वरूप वैष्णवों में भी तांत्रिकतामूलक एक विलक्षण, पर मिश्रित, उपासना मार्ग का विकास हुआ।

निगम और आगम, आर्य और तांत्रिक (आर्येतर), वैदिक और अवैदिक तथा साधना और उपासना की द्विविध धाराओं का समन्वय निरंतर होता रहा। शैव-शाक्त उपनिषदों में ही नहीं, वैष्णव उपनिषदों और वैष्णव तांत्रिक वाङ्मय में भी उपर्युक्त द्विविध साधनापद्धति का विचित्र संगम दिखाई देता है। संगममूलक मिश्रण से संवलित समन्वय-दृष्टि का प्रयास पौराणिक युग से ही आरब्ध हो गया था। साहित्य और साधना के वाङ्मय में ही नहीं, मध्यकालीन विभिन्न मूर्तिकला के प्रतिमानों में भी इसकी उपलब्धि मिलती है। सप्तशती की सहस्रों वर्षों से प्रचलित उपासना-पद्धति में इसका प्रत्यक्ष रूप स्पष्टतः देखा जा सकता है। मार्कण्डेय पुराण के देवी-माहात्म्यपरक इस सप्तशत मंत्राख्य भाग में बलि और उसके तांत्रिक उपादानों का परोक्ष संकेत मिलता है। साथ ही प्रचलित पाठ-पद्धति में तांत्रिक विधि के अंगन्यासादि अविभाज्य अंग के रूप में प्रचलित चले आ रहे हैं।

तांत्रिक पूजाओं में भी वैदिक प्रक्रिया का पूर्णतः अपाकरण नहीं रहता। वस्तुतः व्यापक क्षेत्र में प्रवहमान भारतीय संस्कृति के सामान्य और जन-स्वीकृत स्वरूप में नैगमिक और आगमिक या वैदिक और अवैदिक अथवा स्मार्त और तांत्रिक किंवा सिद्धसंमत और भक्तिसंमत पद्धतियों के मिश्रित और समन्वित पद्धति का जो उदार रूप मूर्तिमान हुआ था, वह समन्वयवादी विचारधारा का अनुरणन ही था।

नाथों, सिद्धों और संतों के वाङ्मय में भी कुछ हठयोग, कुछ ज्ञान वैराग्य और कुछ भक्ति के तत्व का मिश्रण प्रायः प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सर्वत्र अवश्य मिल जाता है। गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति और विश्वास में भी भक्ति की मूल चेतना का भूमिकांतरित अवतरण लक्षित किया जा सकता है। इसी प्रकार भक्तों की साधना में भी परोक्ष या गौण रूप में ही सही—थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रामानंद की साधना-पद्धति भी उपर्युक्त सर्वसंग्रहमयी नाना मुखी थी। इनसे बहुत पूर्व आचार्य शंकर के व्यक्तित्व और सिद्धांत तथा दर्शन और उपासना में भी वह भाव था। एक ओर तो ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद के वे मूर्धन्य महाचार्य थे, दूसरी ओर 'सौंदर्य-लहरी' के निर्माता, तंत्र में सर्वोच्च श्रीचक्र नामक यंत्र के कुशल एवम् सिद्धिप्राप्त तांत्रिक और नरनारायण तथा शालिग्राम के पूजक भी थे। साथ ही वे परम शैव भी कहे जाते हैं। उनका जीवन और व्यक्तित्व, साधना और कृतित्व समन्वित व्यक्तित्व का पूर्णरूप प्रस्तुत करता है। इसी कारण वे ज्ञानमार्ग के परम प्रस्थापक होकर भी व्यावहारिक जीवन में विहित कर्म के परम समर्थक थे। स्वामी रामानंद वैसी ही शृंखला के लोकसंग्रही भक्त महापुरुष थे, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व में सिद्धों और योगियों की रहस्यात्मक साधना की प्रतिध्वनि के साथ-साथ वैष्णव भक्ति और 'रामावत' संप्रदाय की उपासना का प्रवर्तक-तत्व एकत्र होकर पुंजीभूत था।

ऐसे ही व्यक्तित्व से संपन्न स्वामी रामानंद की शिष्य-शृंखला में संत कबीर का भी नाम लिया जाता है और गोस्वामी तुलसीदास का भी। जनश्रुति द्वारा ये

मान्यताएँ सैकड़ों वर्षों से स्वीकृत रही हैं। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में भी इनकी अस्वीकृति के लिए कोई दृढ़ कारण नहीं बताया जा सकता।

आरंभ में ही संकेत किया गया है कि स्वामी रामानंद की परंपरा में कहे जानेवाले इन दो निर्गुण-सगुण-भक्तों की चर्चा बहुत दिनों से चली आ रही है। परंतु विचित्र बात यह है कि एक ही गुरु की परंपराओं के दो शिष्यों की साधना में बहुत बड़ा अंतर ही नहीं, विरोध तक लक्षित होता है। यद्यपि यह बात नहीं कि दोनो में साम्य न हो। कुछ बातें एवम् कुछ बिंदु ऐसे भी हैं, जहाँ दोनो की दृष्टि-चेतना तुल्यबोध प्रकट करती है। निर्गुण-सगुण का आलंबन भेद होने पर भी दोनो ही कवियों के उपासना-मार्ग में भक्ति-तत्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनो के ही सिद्धांत गुरु में दृढ़ भक्ति का उद्घोष करते हैं। संतों की महिमा और उनके सत्संग का दोनो ही बड़े उल्लास के साथ गान करते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त संत-साहित्य में जिस सरल और निश्छल, आयासहीन और स्वाभाविक, सीधी-सादी जीवन-पद्धति को अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण बताया गया है, उस सीधे, अकुटिल और ऋजु जीवन को गोस्वामीजी भी दास्यभक्ति का अविभाज्य अंग और भक्त की प्रकृति का प्राण बताते हैं। संतों का 'सहज मार्ग'—बहुत कुछ उसी चेतना से प्रभावित है और तुलसी का 'सूधो मन सूधो बचन' उसी दृष्टि का प्रतिध्वनन करता है। कबीर भी बारंबार राम का नाम लेते हैं। इतना ही नहीं—अपने को 'रमैया की दूल्हन' भी कहते हैं तथा अनेक बार राम की महिमा और उनके निर्गुण रूप का वर्णन करते हैं। संभवतः स्वामी रामानंद के प्रभाववश ही कबीर बारबार अपने ब्रह्म के लिए 'राम' का नाम जपते रहते हैं।

प्रस्थानभेद=दृष्टिभेद—उपर्युक्त साम्यबिंदुओं के रहने पर भी राम-नाम के इस प्रसंग में ही दोनो के सपरिकर दृष्टि भेद का अंतर स्पष्ट हो जाता है। कबीर यह नहीं मानते कि ब्रह्म दशरथ के पुत्र राम के रूप में अवतरित हुए। वे अवतारवाद में ही विश्वास नहीं रखते तथा वेद (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) में उन्हें आस्था नहीं है। वे शास्त्रपुराण आदि को पाखंड का अंग मानते हैं; मानव को सहज मार्ग से भटकाकर, उसके अंतःकरण में बुद्धिभेद उत्पन्न करके ब्राह्मणों-पंडितों द्वारा फैलाए हुए प्रपंच रूप में इन्हें देखते हैं। वे विश्वास करते हैं कि 'सहज मार्ग' और 'सहज साधना' से चलकर चरित्रशील, मानव-सेवापरायण और दयावान् व्यक्ति ब्रह्म तक पहुँच सकता है। उसे संत-समागम और गुरु-कृपा से सहायता मिल सकती है और माया को ज्ञान और पहचान (अभिज्ञान) से जीतकर वह 'राम भरतार' को पा सकता है। पर उनका यह 'राम' और 'कान्हा' न तो वह राम है, जो 'दशरथ घर औतरि आवा' और न वह कृष्ण है जिसे 'जसुमति ले गोद खिलावा'।

कबीर के राम—राम, हरि, गोविंद, मुरारि, मधुसूदन, अच्युत, माधव आदि नाना नामों का कबीर उच्चारण करते हैं। परंतु उनके 'राम' और 'हरि' आदि सभी का अभिधेय वही निर्गुण निरंजन ब्रह्म है, जो अलख और अरूप है। वे कहते हैं—'गोव्यंदे तूँ निरंजन तूँ निरंजन तूँ निरंजन राया।'[१] 'रांम निरंजन न्यारा रे।'[२] इत्यादि।

वे राम को 'राजा राम सनेही' बताकर भी उसे निरंजन और अलक्ष्य मानते हैं। 'मैं बौरी मेरे रांम भरतार, ता कारंनि रचि करौं स्यंगार।'[३] कहकर या यह घोषणा करते हुए भी कि 'हम घरि आये हो राजा रांम भरतार।'[४] तथा अपना दृढ़ निश्चय—'अब तोहि जांन न दैहूँ रांम पियारे।'[५] प्रकट करके भी उनकी वाणी अपनी संधा बोली में रहस्यात्मक रीति और प्रतीकपरक शैली में अपने रहस्यमय और विलक्षण निर्गुण ब्रह्म की ही चर्चा करती है। इसीलिए वे कहते हैं—'सो मेरा रांम कबै घरि आवै, ता देखें मेरा जिय सुख पावै।'[६] और इसी कारण वे स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं—'रांम नांम सब कोई बखांनैं, रांम नांम का मरम न जांनै।'[७] तथा 'राम कै नांइ नींसांन बागा, ताका मरम न जानैं कोई।'[८]

कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि कबीर यद्यपि (संभवतः) स्वामी रामानंद की प्रभावचेतना के कारण 'राम' का नाम बराबर लेते हैं, उस नाम की महिमा का गान करते हैं, उसके भजन और जप का उपदेश देते हैं तथापि उनके राम अवतारी नहीं हैं, रूपधारी नहीं हैं, दशरथतनय नहीं हैं। वे 'अलख' हैं, 'निरंजन' हैं, 'निर्गुण' हैं। कबीर ज्ञानमार्गी हैं, यद्यपि शंकराचार्य से उनका पंथ भिन्न है।

गोस्वामीजी का मत—कबीर से तुलसी का मत तत्वतः भिन्न है। तुलसी निर्गुण ब्रह्म को भी मानते हैं और सगुण को भी। पर दोनो में वे अभेद देखते हैं—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥[९]

१—कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, प० सं० २१९। २—वही, ३३६।
३—वही, ३४२। ४ वही, १। ५ - वही, ३। ६—वही, २२५।
७—वही, २१८। ८—वही, २२०।
९—मानस, १।११६। १-३। तुलना कीजिए—
(क) एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
गई बहोर गरीबनिवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥
—वही, १।१३।२-५, ७।

अरूप निर्गुण होकर भी ब्रह्म—भक्तिवश, भक्तों के प्रेमवश सगुण रूप धारण करता है, अवतार लेता है। भगवान् शंकर सदा उसका ध्यान करते हैं, ध्यानस्थ होकर सच्चिदानंद परमधाम का हृदय में दर्शन कर-करके पुलकित और मगन रहते हैं—

श्रीरघुनाथरूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥[1]

शिवजी के माध्यम से गोस्वामीजी ने बालकांड में और काकभुशुंडि के द्वारा उत्तरकांड में स्पष्टरूप शब्दों द्वारा दशरथतनय बालरूप श्रीराम को अपना इष्टदेव, उपास्य और सर्वस्व बताया है—

बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥[2]
जब जब राम मनुजतनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जन्म महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा॥[3]

इस प्रकार गोस्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में अगुण-सगुण का अभेद और स्वरूप ही नहीं बताया है, वरन् सगुण की भूमिका में अगुण के अंतरण और अवतरण का कारण भी स्पष्ट कर दिया है। अपनी भक्तवत्सलता के कारण भक्तों के प्रेमवश तो वे अवतार लेते ही हैं। धर्मह्रास और अधर्मवृद्धि होने पर आसुरी शक्तियों और

(ख) निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥ —वही, ७।७३।१२-१३।

(ग) मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मम पद करेसु अचल अनुराग॥—वही, ७।८५।९-१२।

(घ) सोई सुखलवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥—वही, ७।८८।११-१२।

(ङ) जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही।—वही, ३।३२।३।

(च) निर्गुणसगुणविषमसमरूपं। ज्ञानगिरागोतीतमनूपं॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजनमहिभारं॥ वही, ३।११।११-१२।

(छ) रामु ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥—वही, २।९३।७।

(ज) अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥—वही, १।२३।१।

(झ) नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥—वही, १।२१।२।

१—वही, १।१११।८। २—वही, १।११२।३-४। ३—वही, ७।७५।२-५।

वृत्तियों की बाढ़ आने लगती है, अनीति और अनाचार फैल जाते हैं, देव-ब्राह्मण और धरती दु:ख से भर जाते हैं, तब परम कृपालु, धर्मसंस्थापक, मर्यादा और न्याय के प्रतिष्ठापक एवम् रक्षक का धरती पर यथावश्यक रूप में अवतरण होता है। उनके अवतार रूप द्वारा युग-युग में धर्म की संरक्षा होती है और उसकी संस्थिति बनी रहती है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु॥[1]

भगवान् के अवतार रूप का अलौकिक चरित बुद्धिगम्य और तर्क्य नहीं होता। उसकी महत्ता और प्रभविष्णुता का अनुभव और बोध होता है—श्रद्धा और विश्वास द्वारा। इसी कारण आरंभ में ही गोस्वामीजी ने श्रद्धाविश्वासमय भवानीशंकररूप रामचरितगायक की वंदना की है। श्रद्धाविश्वास के बिना लीलामय और अलौकिक-चरित प्रभु राम की लीलाओं का आस्वादन नहीं होता।

मोहमयी प्रमादमदिरा पीकर मत्तमानव जब संशयग्रस्त होकर सगुण, सरूप और दशरथतनय राम को संशयग्रस्त दृष्टि से देखकर कुतर्क करता है, तब शिव से, परम कल्याणमय तत्व से सती का भी वियोग हो जाता है, अपनी ज्वाला में उसे भस्म होना पड़ता है। वियोगज्वाला योगाग्नि बनकर सती के सुकोमल कलेवर को जलाकर राख कर देती है, छार बना देती है। ऐसी ही शंका करने पर काकभुशुंडि को जाने कितने चिंताचक्रों और तापज्वालाओं में चक्कर लगाना पड़ा।

इसी कारण जब श्रद्धामयी पार्वती के मुख से यह निकला—

रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥
जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥[2]

तब शैलराजतनया के भोले शब्दों में निश्छल भाव से और अज्ञानसूचक दीन शब्दों को सुनकर भोले बाबा ने संशय और संदेह का जड़मूल सहित उच्छेदन करने के निमित्त रामचरित ही नहीं सुनाया, उपदेश ही नहीं दिया वरन् अत्यंत दृढ़ और कठोर शब्दों में इस तर्ककुतर्क से उत्थित संशय करनेवाले व्यक्ति की घोर भर्त्सना भी की है। 'राम' को दाशरथि न माननेवालों के विश्वास की उन्होंने कठोर निंदा की है—

१—वही, १।१२१।६-१०। २—वही, १।१०८।८-१०।

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच ॥
अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संतसभा नहि देखी ॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभु नहि हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहि बोलहिं बचन बिचारे ॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥
अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम ॥[1]

तुलसी का आक्रोश—तुलसी के ये कटुवाक्य कबीर की ओर संकेत करनेवाले हो सकते हैं। कम से कम निर्गुनिया संतों और अलख का प्रचार करनेवालों के प्रति उनका कटाक्ष अवश्य ही था। अलख का नाम लेकर जनसामान्य को जीवन की आस्था और मर्यादा से विभ्रांत करनेवाले निर्गुनियों को फटकारते हुए वे कह उठते हैं—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि? रामनाम जपु नीच ॥[2]

तुलसी में जिस उच्च कोटि की नम्रता है, अपनी लघुता को सूचित करते हुए जैसी दीनता उन्होंने 'मानस' के आरंभ में अथवा विनयपत्रिका के पदों में प्रकट की

१—वही, १।११४।८–११५–१०। गोस्वामीजी वेदविरोधी और वाममार्गियों आदि के प्रबल आक्रोशक थे—

(क) तजि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं ॥–२।१६७।७।
(ख) निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी ॥–७।९८।७।
(ग) परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥–७।१००।१।२।
(घ) बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ॥–७।९९।११-१२।
(ङ) ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।–७।९९।९।

२—दोहावली, ना० प्र० सभा, दो० सं० १९।

है[1], उनको देखते हुए गोस्वामीजी द्वारा प्रयुक्त 'नीच' संबोधन—उनके हृदय की पीड़ा, विकलता और आक्रोश को ही व्यक्त करता है।

तत्कालीन समाज में बढ़े हुए पाखंड, आडंबर, अनास्था और मर्यादाविरोधी तत्वों को भी गोस्वामीजी की दृष्टि नापसंद करती थी। परंपरागत वर्णाश्रमधर्म को, उसकी सामाजिक मर्यादा को लोकजीवन की रक्षा और सुव्यवस्था के लिए वे आवश्यक मानते हैं। भारत की सांस्कृतिक धारा के सहजरूप में गोस्वामीजी की आस्था थी। इसी कारण श्रुतिसेतु की रक्षा, वैदिक पथ का अनुगमन, विहित आचार का आचरण, ब्राह्मण, गौ और देवों का समादर आदि के पालन की उन्होंने बारंबार चर्चा की है। यद्यपि भक्ति के क्षेत्र में तथा ऐकांतिक दास्योपासना में वे भी छोटे-बड़े, ऊँच-नीच की भेद बुद्धि का तिरस्कार करते हैं और सबके लिए भक्ति का राजमार्ग खुला रखते हैं, तथापि लोकजीवन में समाज की मर्यादा के वे प्रबल पोषक और समर्थक हैं। वेदशास्त्र की प्रामाणिकता का वे प्रत्याख्यान नहीं करते। पर भक्त के लिए, भक्ति के लिए—वैधी उपासना में आस्थावान् रहकर भी—भक्त को, भक्तिमय आचरणवाले को वे समादर का, पूजा का, श्रद्धा का आस्पद मानते हैं। शबरी और निषाद ही नहीं पक्षी योनि का काक (कागभुशुंडि) भी उनकी उपासना में परम आदरणीय है। शिव भी उसकी प्रशंसा करते हैं और गरुड़जी के पास उसे भेजते हैं। भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था में ज्ञान-मार्ग और मुक्ति को भी गोस्वामीजी नगण्य बताते हैं।

१— जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब ॥

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी ॥
सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥
जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू।
निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं ॥
करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥

—१।७।१७-८।६।

तुलना कीजिए— (क) मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी।—१।८।७।
(ख) छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।—१।८।८। (ग) भाग छोट अभिलाषु बड़।—१।८।१५
(घ) हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी।—१।९।४। (ङ सकल कला सब बिद्या हीनू।-१।९।८।
(च) कबितबिबेक एक नहि मोरें।—१।९।११। छ) भनिति मोरि सब गुन रहित।—१।९।१२।
(ज) जे जनमे कलिकाल कराला।—१।१२।१। (झ) किंकर कंचन कोह काम के।—१।१२।३।

कहने का सारांश इतना ही है कि जहाँ स्वामी रामानंद के तथाकथित शिष्य कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की बात के साथ-साथ समाज-व्यवस्था के खोखलेपन की कटु आलोचना करते हैं और बड़े आत्मविश्वास और दर्प के साथ अपने मत और अपने मार्गाचार[१] को सर्वोच्च बताते हैं तथा पूजा-पाठ, घड़ी-घंटा, नमाज-अजान और मंदिर-मस्जिद को पाखंड कहते हैं, वहीं गोस्वामी तुलसीदास सगुण के परम उपासक, शास्त्रविहित कर्म के समर्थक, वर्णाश्रम व्यवस्था एवम् शास्त्रीय पूजा-पाठ के प्रचारक हैं। ढोंग पाखंड के प्रति उनके मन में जितना आक्रोश है उतना ही वामपंथियों, ढोंगी सिद्ध संतों और कुतर्ककर्त्ताओं के प्रति भी विरोध भाव है। निश्चय ही स्वामी रामानंद की चेतना का यह आश्चर्यजनक विकास—दो धाराओं में प्रवाहित होकर भारत को सही मार्ग दिखाने की चेष्टा करता रहा है।

हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥—दोहा, ७।
सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन तें दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन-मूरि ॥—वही, ८।
ज्ञान-गिरा-गोतीत, अज, माया-गुन-गोपार।
सोइ सच्चिदानंदघन करत चरित्र उदार ॥—वही, ११४।
सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानु-कुलकेतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति-सागर सेतु ॥—वही, ११६।
ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु, तुलसीदास ॥—वही, २५१।
अंक अगुन, आखर सगुन सामुझि उभय प्रकार।
खोए राखे आपु भल, तुलसी चारु बिचार ॥—वही, २५२।

(ञ) तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी ॥—१।१२।४।
(ट) ऐसी मूढ़ता या मन की।—विं०, ९०।
१—'दास कबीर जतन ते ओढ़ी जस की तस धर दीन्ह चदरिया।'

श्रीरघुनाथदास कृत मानसदीपिका

[तुलसी वाङ्मय के अनुसंधान, विवेचन-विश्लेषण तथा तत्संबंधी ज्ञातव्य सामग्री से सर्वसाधारण को अवगत कराने के उद्देश्य से श्रीरतनलालजी सुरेका ने तुलसी शोध संस्थान की स्थापना तथा इस त्रैमासिक शोध-पत्रिका का प्रकाशन कर महनीय कार्य किया है। पत्रिका में तुलसी-साहित्य विषयक ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्रियों के प्रकाशन की भी योजना है, जो सर्व-सुलभ नहीं हैं। इसी योजना के अंतर्गत मुंशी नवलकिशोर के छापेखाने से लीथो में मुद्रित 'मानस दीपिका टीका' यहाँ यथावत् उद्धृत की जा रही है।

अतीत में मानसानुसंधान संबंधी जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्य काशीराज्य द्वारा हुए उनमें 'रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश' और 'मानस दीपिका टीका' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। काष्ठजिह्वा स्वामी ने, जो देवतीर्थ स्वामी या देवस्वामी नाम से भी अभिहित हैं, मानस के यथापेक्षित स्थलों पर टीका-टिप्पणी की, जो 'रामायणपरिचर्या' नाम से ख्यात हुई; काशिराज श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजी ने उसका उपबृंहण 'परिशिष्ट' नाम से किया और परमहंस श्रीहरिहरप्रसादजी ने 'रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश' नाम से उसे ही विस्तृत टीका का रूप दिया। श्रीरघुनाथदासजी लिखित 'मानस दीपिका' के उपोद्घात के पढ़ने से प्रतीत होता है कि उसका प्रणयन 'रामायणपरिचर्या' के बाद और 'परिशिष्टप्रकाश' के पूर्व हुआ होगा। 'मानसदीपिका' की भूमिका तत्कालीन काशिराज महाराज श्रीईश्वरीप्रसाद-नारायणसिंहजी की आज्ञानुसार उनके दरबारी कवि ईश्वर कविराय ने लिखी है। 'मानसदीपिका' का प्रणयन संवत् १९३० वै० की कार्तिक शुक्ल एकादशी, शनिवार को संपूर्ण हुआ। इसके उपोद्घात के पढ़ने से इसकी विशेषता एवम् उपादेयता स्वतः प्रकट हो जायगी। अतः विस्तारभय से उनका पुनः उल्लेख अनपेक्षित समझा गया।]

टीका मानसदीपिका रामायण के साथ ॥
संपूरणता ग्रंथ की गौरीसुत के हाथ ॥१॥

रामायण सटीक

[रिद्धि सिद्धि सहित श्रीगणपति का चित्र, जिनके बाम पार्श्व में श्रीवीणापाणि स्थित हैं तथा नीचे बाएँ मूष और दाहिने हंस के चित्र हैं।]

श्रीगणेशाय नमः

अथ श्रीसीतारामपरमभक्तगोस्वामीतुलसीदासकृतस्य श्रीमत्भाषारामायणस्य मानस-दीपिका समाख्याया टीकाया भूमिका लिख्यते।

तत्रादौ मंगलाचरणं

दोहा परशुधरन संपतिभरन अघटरटरन गनेश
बिघनहरन मंगलकरन राखहु शरन हमेश १

एकरदन करिवरवदन सिद्धिसदन मुददानि
मदनकदन नंदन जपहु जगवंदन जिय जानि २
सिंदुर सह सिंधुर वदन रदन विशद दुति भाति
ईश्वर कवि फविवो निरखि रवि पवि छवि दवि जाति ३

अथ संक्षेपतो राजवंशवर्णनं।

हरिपद छंद परम तपस्वी तेजस्वी वरखिड़ू मिश्र उजागर
हुते वेदविद वंदनीय शुभ सत्य सुयश के सागर ४
गौतम गोत्र सुपात्र पेखि पदपंकज पै शिर धरकै
दये ग्राम वसु बिंशति जिनको नृप वनार छल करिकै ५
क्यौं छल कियो कौन थल कैसे कौन लह्यौ फल भारी
बहुरि मिश्रजू को प्रभाव अरु वंशावली सुखारी ६
यह सब कथा कहां लगि कहिये सुनहु सुजन सुखदानी
काशिराजचंद्रिका ग्रंथ में सह विस्तरि बखानी ७
यह प्रसंग बस कहां कहौं ते बंशावली अदूषित
जाहिर ह्वै जग में विशेष जेहि कियो वंश निज भूषित ८
विड़ू मिश्र मुनीश्वरजू के बंश मांहि प्रगटे हैं
महाराज वरवंडसिंह जिन्ह प्रबल प्रतीप ठटे हैं ९
बने ठने परगने छानवे गने घने मन भाये
तिन्हैं राखि निज शरन शत्रु हति काशीराज कहाये १०
कहौं सत्य सुनवे कों सत जन सावधान मन हूजो
नृप वरिवंड समान जगत में नृप वरिवंड न दूजो ११
तासु धर्म अरु राज दूहूं को अधिकारी सुत सुंदर
नृप महीपनारायण प्रगटे प्रोद्धत पुहुमि पुरंदर १२
तिनके सुत भे तीन तीनहूं सब प्रकार सब लायक
जिन्हको यश जहांन में जाहिर गान करत गुनगायक १३
तिन्ह में जेष्ट श्रेष्ट काशीपति नृपति उदितनारायन
तदनु दीपनारायण बाबू परम पुन्य पारायन
तदनु प्रसिद्ध जगत में बाबू श्रीप्रसिद्धनारायण
दान देत हरि ध्यान धरति गुन गान करति रामायण १५

अथातिसंक्षेप

क्रमेण राजश्री राजधानी राजसभा वर्णनं

दोहा श्रीकाशीपति नृपति की अति राजश्री भाति
रचित राजधानी रुचिर सुखदानी सरसाति १६
सभा भूरि शोभा भरी भूषित प्रभा विभाति
निज कर रची विरंचि जनु रंच न बरनी जाति १७

अथ मुख्य प्रसंग वर्णन।

हरिगीतिका छंद तिहि सभा वर विच राजगादी सत्यवादी भ्राजते
नृप उदितनारायण रहे मन मुदित नित्य विराजते
अति सुमति प्रबल प्रताप सुयश कलाप गुनगन धाम से
जग में उजागर शीलसागर रूप आगर काम से १८
सह बंधु शोभासिंधु बैठे एक दिन दिन में रहे
जनु धर्मराज स भीम अर्जुन पेखि छबि सबही कहे
तहां दास तुलसी रचित रामायन कथा के अर्थ को
चलि भो प्रसंग सुढंग भाषै सर्ब अंग समर्थ को १९
इहि हेत अंग समेत टीको निपट नीकोई बनै
जिहि जगत सनमानै सुधीश कबीश वृंद भलो भनै
सुनि सभासद भे कंठ गदगद गिरा सुखप्रद मुदमई
कहि जयति काशीराज आज अनूप यह अज्ञा भई २०

चौपाई बाबू श्रीप्रसिद्धनारायन भूसुरभक्त पुन्यपारायन
कवि कोविदहि महद मुददायक भूप बंधु सब बिधि सब लायक २१
भूपति की आज्ञा अति भारी अदभुत अमित जगतहितकारी
सुनत श्रवन निज शिर पर धारी समुझि सुखद सुरतरु की डारी २२
क्यौंकि तिलक द्वै नृप विरचाये जे अति अद्भुत जगत कहाये
पहलो तिलक रामलीला बर जिहि लखि परत न तिमिरकूप नर २३
सोरठादि दोहा समुदाई छंद अमंद चारु चौपाई
जाको जहां अर्थ है जैसो लीला ललित लखावति तैसो २४
दूजो तिलक सकल मन भायो रामायन सहचित्र लिखायो
मूर्तिमंत जनु अर्थ विराजै जिहिं लखि अर्थ कथन लजि भाजै २५
यद्यपि तिलक दिव्य ये दोऊ अति प्रसन्न इन तें सब कोऊ
तदपि सकल पुर नगर निवासी जे हैं रामायन अभ्यासी २६
तिन्हैं न सुलभ सुलभ हू जिनको सोउ न सदा न सब थल तिनकों
तातें सुलभ सदा अरु सब थल तीजो तिलक वरनमय अति भल २७
वनै भूप यह आज्ञा कीन्हीं वांछित अति संपति जनु दीन्हीं
इहि ते समुझि कामतरु डारी नृपति अनुज निज शिर पर धारी २८
तब निज भक्ति समेत अनुज कहँ पेखि भये नृप प्रमुदित मन महँ

षट्पदी प्रमुदित ह्वै नृप नीति रीति सत प्रीति अमित हित
दान सबुधि सनमान ज्ञान भगवान ध्यान नित
राग रंग सतसंग अंग जुत अति अभंग तहँ
परम धर्म लगि जज्ञं करत सर्बज्ञ नृपति कहँ
बहु वर्ष अमल उत्कर्ष अति हर्ष सहित वीतत भये
लखि नेम क्षेमप्रद प्रेम निज पूर्न तूर्न रघुपति दये २९

दो० काशिराज नृपराज तब मन में कियो विचार
सब प्रकार सामर्थ्ययुत अब यह भयो कुमार ३०
वय लघु अलघु प्रताप अति सुयशवंत गंभीर
सीलसिंधु शोभाउदधि धर्मधुरंधर धीर ३१
दयावंत दानी बड़ो सत गुनवंत सुजान
अस्त्र शास्त्र में विज्ञतर वर कृतज्ञ बलवान ३२
बहुविधि विद्यानिधि विविधि बुधि समृद्धि निधान
सत संगति रति समुझि अति नरपति मुदित महान ३३
नेहहि करि हरिचरन तें देहहि परिखि अनित्य
सुतहि तुरत युवराज कै भूप भये कृतकृत्य ३४
पटपदी तदनंतर शुभकरन सुमरि गुरुचरन चारुतर
सुनत दीह दुखदरन ग्रंथ गीतादि मुक्ति कर
सकल सुबुध सनमान साधु गुन गान ज्ञान रत
करत दान हरि ध्यान धरत नहिं आन आचरत
कीते सुवर्ष वीते जबहिं तब प्रकर्ष हर्षहिं लह्यौ
है प्राप्त काम निज नाम करि परम धाम जैबो चह्यौ ३५

चौपाई

अष्टादशशत द्विनवति १८९२ संवत् अति पुनीत रवि सौम्य गोल गति
चैत्र शुक्ल षष्टी शनिवासर मध्य दिवस लहि समय शुद्धतर ३६
कवित्व लक्षन मगाय करि परम सुलछन की
गाय वर वच्छन की पूरन पनन सौं
के सकैं बखानि अलकेश की सी संपतहू
काशिकेश उदित दै बेद की भननि सौं
काशी माहि वैठ कमलासन कुशासन पै
श्वासन समेटि कै समाधि की वननि सों
सत्यसंध जसके प्रवंध सुनि ह्वै कै मग
ब्रह्मरंध्र तन छोड़ि छूटै बंधननि सों ३७

चौपाई

तब जुबराज समय लखि शुभतर राजतिलक लहि सुख सुखमाकर
साज सकाय सत्यवादी वर वैठे राज राजगादी पर ३८
कवित्व बैठे राज ईश्वरीप्रसादनारायनसिंह
दीपतिदराज शुभ साज सजे तन हैं
वैरीगन ओजन सों हीन बिन फौजन ह्वै
भोजन विहाय वेगि भाजे वनवन हैं
राजे कवि कोविद समूह जस साजे तिन
बाजे बजे छाजे प्रजावृंद छनछन हैं

आये जे यगन शीश जिनके नगन पाय
मागे धनगन ह्वैगे मंगन मगन हैं।
दोहा तव मंगनगन मगन ह्वै मौजें पाय विशेष
कियो गौन जिन भौन प्रति दै आशिषा अशेष ४०

आशिषा यथा कवित्व

राजू भूप ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह
रावरे प्रतापन की पंगति भगी रहै
तंत करि दशहू दिगंतर परिजंत सची
कंत सी सुकीरति अनंत उमगी रहै
ईश्वर विरजि राजकाज में परम क्षेम
नेम सों निवाहें नीति प्रेम सों पगी रहै
काशिराज संजुत समाज जीवौ जुग जुग
जासो जगजीवन की जीवका जगी रहै ४१
दोहा विद्यमान मनुजेंद्र कहं जव समेत नृपनीति
राज करति अति हर्ष सों किते वर्ष गे वीति ४२
हरिगीतिका छंद तव परमधाम निवासकारी काशिराज नरेश की
जु विशेष आज्ञा शीश धारी ध्याय मूर्ति महेश की
गुनि भूप बंधु सुजान शोभासिंधु सोई कहत भे
वर विद्यमान नरेश काशीराज सुनि सुख लहत भे ४३
अवधेशभक्त सुव्यक्त बिद्याजुक्त सतगुन संचयी
रघुनाथदास बुधेंद्र पै मनुजेंद्र की आज्ञा भई
तिन दास तुलसी रचित रामायन सुटीका निर्मई
धरि नाम मानसदीपिका सब दीप जो दीपित भई ४४
दोहा मुद्रित मुद्रा अक्षरनि लच्छन स्वच्छ समेत
दक्षन हेत समक्ष जनु अक्षय गिरा निकेत
सोरठा ईश्वर कवि कविराय भूरि भव्य हय भूमिका
विरची आज्ञा पाय विद्यमान मनुजेंद्र की ४६

स्वस्तिश्रीकाशिराजमहाराजाधिराज श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहस्याज्ञानुगामिना काशिवासि मिश्रोपनामकेन ईश्वराख्येन कविना विरचिता गोस्वामी तुलसीदासकृत श्रीमद्रामा-रामायणस्य मानसदीपिका समाख्याया टीकाया भूमिका सम्पूर्ण ॥ शुभमस्तु ॥

मानस दीपिका

श्रीगणेशायनमः

दोहा गणपति सियपति गौरिपति गौरि प्रभापति पाय
वंदौ वंदन जगत के चंदन लौं सुखदाय १

दुरित दोष दूषन दलन जासु नाम भवसेतु
ताहि सुमिरि टीका रचित काशिराज मुद हेतु २

या सभा में विचार भयो पंडित अरु कविन सों श्री गोसाईंजी दास कृत रामायण ग्रंथ बहुत विख्यात है अरु याको तिलक बहुत महात्मों ने कियो है बाबा रामचरणदासजी अयोध्या संतसिंहजी लहौर राजा गोपालसरणसिंह वकार अरु स्वामीजी महाराज वर्तमान काशी जे निज गुरू श्री विद्यारण्यतीर्थ स्वामीजी के नाम ते रामायण परिचर्या बनायो सो अति संक्षेप ते सब को ज्ञान नहीं होत ताको आशय ख्यात कियो जाय अरु प्रथम उपोदघात में रामायण को द्वै प्रकार को संदेह वर्णन कियो चाहिए एक सत्यत्व में दूसरो प्रसंग के भेद मों एकवाक्यता-पूर्वक बूझे मों आवै अरु स्मृति श्रुति ग्रंथांतर को प्रमानन लिख्यो जाय हेतु कि या ग्रंथ को सब कोऊ देखेगो यातें श्रीगोसांईजू के ग्रंथन को प्रमान दियो जाय अरु श्रीगोसाईजी अरु औरहू महात्मों को सम्मत एही हो कि ज्ञान भक्ति संपुट में नामरत्न या रामायन में सिद्धांत है औरहू रामायण विविध भांति प्रसिद्ध हैं रामायण सतकोटि अपारा अरु अर्थ विषै जो सरल रीति अक्षर पदन ते प्राप्त सोई मुख्य सो छड् आग्रही जो अर्थ नहीं है सो करि आपन अर्थ निकारत हैं ताही ते मतन मों अब ऐसो विरोध है कि जैसे एकबाक्यता सब देवतन के परत्व में होत है सोऊ व्याक्ति अव्याक्ति करकै भी मतन में ख्यात है कष्ट ते अरु यहि ग्रंथ में अति आग्रह नाहीं राखत ता हेतु ते याको सदग्रंथ मानत हैं अरु मत ग्रंथ के आचार्य बड़े बड़े भए हैं वामें जो विचार कियो जाय तौ जा स्थान पर सिद्धांत करत हैं कि एही अर्थ सत्य है आग्रह से जो सिद्धांत है सो रहि जात है सो पुरानादिक सों विरुद्ध भासत है परत्व सब पुरान में भिन्न है परंतु एकवाक्यता होइ सकै है यथा मतवारन सो अरज यही कि अपने अपने इष्टन को तुम व्यापक मानत हो कि नही उ० व्यापक मानौ तो इष्टन में कतहूँ न वैर विरोध चही नहि व्यापक वह तो वाहू में जीवदसा आय रही

का निर्गुन का सगुण मत में रहिहै एकै बात सही
सार भाग सबही को लीजै रस से तजिये छाछ मही ३
बूसी बाद सार निज करनी बोल गये अस सार गही
बेद मंत्र दमड़ी के कारण जिन वेचो करि दही ४
रे चित चेतन करै विचार
मत पर विचार सार नहिं सोचो पर उपकार
सो नवनीति विद्यादधि मथि तजि वारि विकार
मति मदिरा अति पान किये ते होत सुमत मतवार ५
सत विद्यासागर सम सीतल करनी करै सम्हार ३
सुहृद निकट हृदयस्थ त्यागि कत बाहर करत पुकार ४

ऐसोई जो बात न कही जाय वाको कहत हैं अरु न देखो जाय ताको देखतु है तातें प्रथम पुरानन शास्त्रन के लक्षण सिद्धांत कछु दृष्टांत अरु द्वितीय व्रतमान

काल में रामगुलामजू पंडित रहे सर्व शास्त्र अरु पुरान याही रामायन के दृष्टांत हेतु श्रम कियो रह्यौ सो सर्व अर्थ विस्तर भय तें न लिखो जाय है परंतु अर्थ जो शब्दव ते अरु जावत काव्यंग लक्षणा विंजना पूर्वक सहजनि करै सोई सद अर्थ है या हेतु तें कछु काव्यंगहू अरु त्रतीय सर्व श्रेय भक्ति जो नाम मूल है श्रीरामायन के तिलक को सरनी प्रसंग रीति करकै अरु याही में श्लोकन के अर्थ अरु नाम निरूपन मानस इत्यादि जहाँ जहाँ कलिष्ट होय तहां तहां स्पष्ट अर्थ प्रसंग के अंतरगत अरु चतुर्थ बहुते जन यामें कहूं कहूं संका करत हैं तातें कछु मुख्य मुख्य संका को समाधान हूं अरु पंचम जावत यामें विषम विषम शब्द हैं ताको अर्थ मुख्य एक कोश करिकै ए पांचों अंग युक्त श्रीरामायण को तिलक लिख्यो ॥

इति श्री मानसदीपिकायां उपोद्घात वर्णने प्रथमः प्रकाशः

श्रीगोसांईंजी कह्यौ है नानापुराणनिगमागम इत्यादि तातें कछु पुराणादि अंग लिखत हैं।

अथ प्रथम अंग दश लक्षण पुरानन के भागवत में कह्यौ है सर्ग १ विसर्ग २ स्थान ३ पोषण ४ ऊति ५ मन्वंतर ६ ईशान कथा ७ निरोध ८ मुक्ति ९ आश्रय १०।

प्रथम सर्ग लक्षण महाभूत आकाशादि तन् मात्रा पंच शब्दादि इंद्री दश महत्तत्व अहंकार ए सब को ब्रह्म से गुण वैषम्य करिकै जो परिनाम वातें विराट स्वरूप अरु स्वरूप करिकै जो जन्म वाको नाम सर्ग १ विराट से जो भयो चराचर को जन्म सो विसर्ग २ भगवान के विजयपूर्वक सृष्टि को मर्यादापालन करने से जो उत्कर्ष सो स्थान ३ अपने भक्त ऊपर अनुग्रह सो पोषण ४ कर्मन की बासना अरु वर्णाश्रम कृपा सों ऊति ५ अपने काल पर्यंत एक एक मनु सत धर्म को पालन करत हैं सो मन्वंतर ६ ईश भगवान को जो अनुचरित सोई ईशान कथा अथवा ईश जो सूर्य चंद्र वंश के राजा उन्हकी जो कथा सोई ईशान कथा कहिये ७ दुष्टन को मारनो वाहिर की जोग निद्रा के शक्ति सहित जीवन का लय सो निरोध ८ आरोपित कर्तृत्वादि त्यागि कै शुद्ध ब्रह्म स्वरूप जो स्थिति सो मुक्ति ९ जगत की उत्पत्ति अरु विनाश जातें ज्ञात होत हैं सो आत्मा परब्रह्म सबही को आश्रय १० अरु अपर पुराण के जो पंच लक्षण कहे हैं सो याही दश लक्षण के अंतरगत हैं अरु ये दश पांचौं के अंतर्गत हैं सो पांचौं सर्ग १ विसर्ग २ वंश ३ मन्वंतर ४ वंशानुचरित ५

॥ इति पुराण ॥

अथ शास्त्र षट्शास्त्र जो हैं वेद जनिवे को अंग ताको सिद्धांत बात कछू कछू पृथक् पृथक् लिखतु हैं प्रथम तो मीमांसा शास्त्र याको आचार्य जैमिनि मुनि यामें यज्ञादि धर्म विषय है अरु धर्म ज्ञान ही प्रयोजन है फल उद्देश करि वेद प्रतिपाद्य जो अर्थ सो धर्म कहिये स्वर्ग रूप फल के हेतु यज्ञ करिके अपूर्व को भावना करनो अरु भावना में तीन अंश की अपेक्षा है कारण १ कार्य २ इति कर्त्तव्यता ३ कौन

कार के करनो या कर्ण अंश की अपेक्षा है क्या करनो या कार्य अंश की अपेक्षा है कौन प्रकार तें करनो या इति कर्तव्यता अंश की अपेक्षा है अरु भावना द्वै हैं एक आर्थी दूसरी शाब्दी अरु अपौरुषेय जो वाक्य सो वेद है वेद पांच प्रकार का है विधि १ मंत्र २ नामधेय ३ अर्थवाद ४ निषेध ५

भेद तें संपूर्ण वेद जो हैं सो कोऊ साक्षात तें कोऊ परंपरा तें धर्म प्रतिपादक हैं विधि चार प्रकार की है उत्पति १ विनियोग २ अधिकार ३ प्रयोग ४

भेद तें अग्निहोत्र करनो उत्पति १ अंग की बोधक जो विधि सो विनियोग दधि करिकै होम करनो इहां विनियोग हैं अंग दो हैं एक सिद्ध दूसरो साध्य दधि आदि सिद्धि प्रयाजादि साध्य २ कर्मजन्य फलबोधक जो विधि सो अधिकार ३ स्वर्ग फल के हेतु यज्ञ करनो यहां अंग को क्रम बोधक जो विधि सो प्रयोग ४ वेद संपादन करिकै वेदी करत हैं याके सहकारी भूत छः प्रमाण हैं श्रुति १ लिंग २ वाक्य ३ प्रकरण ४ स्थान ५ समाख्या ६ भेद तें निरपेक्ष जो शब्द सो श्रुति है १ साम ते जो अर्थ का बोधक होय सो लिंग २ एक अर्थ को बोधक होय विभाग तें परस्पर आकांक्षा होय सो वाक्य ३ जहां दोऊ को आकांक्षा है सो प्रकरण ४ जहां दोऊ में एक की आकांक्षा होय सो स्थान ५ समाख्या कही संकेत ६ पुनः विधि तीन प्रकार की है अपूर्व १ नियम २ परिसंख्या ३

भेद ॥ अत्यंत अप्राप्त अर्थ की जो विधि सो अपूर्व १ अग्निहोत्र कर्नो इहां ॥ पक्ष मों प्राप्त जो विधि नियम २ दधि करिकै होम करनो इहां । स्वभाव तें प्राप्त संता पुनः जो विधान सो परिसंख्या ३ पंच पंचनखा भक्ष इति ।

प्रसंसा वाक्य जो है सो अर्थवाद है १ सो तीन भांति गुणबाद १ अनुबाद २ भूतार्थवाद ३ भेद तें ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाण तें विरुद्ध सगुणवाद १ सूर्य खभा है सो प्रत्यक्षादि प्रमाण तें ज्ञान जो अर्थ वाको बोधक जो सो अनुवाद २ वेत की जल ते उत्पति भूतकालिक अर्थ को प्रतिपादक जो सो भूतार्थवाद ३ इंद्र देवतन में श्रेष्ठतर है इति

यज्ञकर्ता को जो संकेत तद्विसिष्ट सो मंत्र ३ यज्ञन को जो नाम सो नामधेय ४ इच्छा तें अनिष्ट मों प्रवृत्त पुरुष को निवृत्त करनो सो निषेध ५ कलंज को न खानो और उदय होते सूर्य को न देखनो इहां या रीति तें मीमांसा परिसोधित तर्क ते वेद के पाचों प्रकार कों जानि के यथोक्त कर्म के अनुष्ठान कर्कें पुरुष कों परम पुरुषार्थ को लाभ होत है १

अथ द्वितीय वैशेषिक शास्त्र याको आचार्य कणाद मुनि यामें पदार्थ विषय है औ पदार्थ तत्वज्ञान प्रयोजन है पदार्थ दोय एक भाव दूसरो अभाव छः हैं द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ समबाय ६ ए छः पदार्थ के सामान धर्म अरु विरुद्ध धर्म जानिवे तें अनेक पदार्थों के अनेक धर्म को ज्ञान होत है अनेक धर्मों

में एक निवृति धर्म है निवृति धर्म तें उत्पन्न जो आत्मा साक्षातकारता तें मोक्ष होत है अभाव चार हैं प्रागभाव १ प्रध्वंसाभाव २ अत्यंताभाव ३ अन्योन्याभाव ४ अरु

द्रव्यत्व १ गुणत्व २ कर्मत्व ३ ई तीन जाति रूप धर्म हैं

सामान्यत्व १ विशेषत्व २ समवायत्व ३ अभावत्व ४ ई चार उपाधि रूप धर्म हैं

पृथिवी १ जल २ तेज ३ वाय ४ आकाश ५ काल ६ दिशा ७ आत्मा ८ मन ९ ई नव द्रव्य हैं अरु

पृथिवीत्व १ जलत्व २ तेजत्व ३ वायत्व ४ आत्मत्व ५ मनस्त्व ६ ई छः जाति रूप धर्म हैं

आकाशत्व १ कालत्व २ दिशात्व ३ ई तीन उपाधि रूप धर्म हैं

रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमान ६ पृथक्त ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपर्त्व ११ गुरुत्व १२ द्रव्यत्व १३ स्नेह १४ शब्द १५ बुद्धि १६ सुख १७ दुख १८ इच्छा १९ द्वेष २० प्रयत्न २१ धर्म २२ अधर्म २३ संस्कार २४ ई चौबीस गुण हैं ओर रूपत्वादिक चौवीसौं जाति रूप धर्म हैं

पृथवी में रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमाण ६ पृथक्त ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ पुरुत्व १२ द्रवत्व १३ संस्कार १४ ई चौदह गुण हैं।

जल में रूप १ रस २ स्नेह ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिमाण ६ पृथक्त्व ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ गुरुत्व १२ द्रवत्व १३ संस्कार १४ ई चौदह गुण हैं।

तेज में रूप १ स्पर्श २ संख्या ३ परिमाण ४ पृथक्त ५ संयोग ६ विभाग ७ परत्व ८ अपरत्व ९ द्रवत्व १० संस्कार ११ ई ग्यारह गुण हैं।

वायु में स्पर्श १ संख्या २ परिमाण ३ पृथक्त ४ संयोग ५ विभाग ६ परत्व ७ अपरत्व ८ संस्कार ९ इ नव गुण हैं।

आकाश में शब्द १ संख्या २ परिमाण ३ पृथक्त्व ४ संयोग ५ विभाग ६ ई छ गुण हैं।

काल में अरु दिशा में संख्या १ परिमाण २ पृथक्त्व ३ संयोग ४ विभाग ५ ई पांच गुण हैं

जीवात्मा में संख्या १ परिमाण २ पृथक्त्व ३ संयोग ४ विभाग ५ बुद्धि ६ सुख ७ दुख ८ इच्छा ९ द्वेष १० प्रयत्न ११ धर्म १२ अधर्म १३ संस्कार १४ ई चौदह गुण हैं।

मन में संख्या १ परिमाण २ पृथक्त्व ३ संयोग ४ विभाग ५ परत्व ६ अपरत्व ७ संस्कार ८ ई आठ गुण हैं।

ईश्वर में ज्ञान १ इच्छा २ प्रयत्न ३ संख्या ४ परिमाण ५ पृथक्त ६ संयोग ७ विभाग ८ ई आठ गुण हैं

पृथ्वी १ जल २ वायु ३ तेज ४ ई चारौं द्वै प्रकार के हैं एक परिमाण रूप दूसरो सावयव घ्राणकादि रूप अरु आकाश १ काल २ दिशा ३ आत्मा ४ ई चारौं व्यापक रूप हैं मन अणु रूप सावयव अनित्य है बाकी सब नित्य हैं सावयव के तीन भेद हैं शरीर १ इंद्रिय २ विषय ३ मृत्युलोक मों मिट्टी को शरीर है वरुण-लोक मो जल को सूर्यलोक मो तेज को वायुलोक मो वायु को अरु प्राण इंद्री पृथवी को रसना इंद्रिय जल को चक्षु इंद्रय तेज को कर्ण इंद्रिय आकाश को पृथ्वी मों सातौं रूप रहत हैं जल मों स्वच्छ रूप तेज मों प्रकाशरूप अरु पृथ्वी मों छवों रस रहत हैं जल मों मधु रस रहत है अरु पृथ्वी में दूनो गंध रहतु हैं।

कर्म पांच हैं उर्द्ध क्रिया १ अधो क्रिया २ संकोच ३ विस्तार ४ गमन ५ ई पांचों कर्म द्रव्य मों रहत हैं अरु सामान्य कहै जाति जाति तीन हैं व्याप्य १ व्यापक २ व्याप्य व्यापक ३ सत्ता जाति व्यापक है द्रव्य गुण कर्म तीनों मों रहत हैं घटत्व जाति व्याप्य है द्रव्यत्व जाति व्याप्य व्यापक है नित्य होय एक होय अरु अनेक मों रहै सो जाति अरु नित्य द्रव्य मों रहै नित्य द्रव्य परस्पर भेद है जाति सो विशेष है समवाय कहिये नित्य संबंध अरु कार्य के पूर्व जो अभाव प्रागभाव १ कार्य को जो नाश सो प्रध्वंसाभाव २ तीनों काल मों जो अभाव सोऽत्यंताभाव ३ परस्पर जो अभाव सो अन्योन्याभाव अरु प्रमाण द्वै हैं प्रत्यज्ञ १ अनुमान २ अरु शब्द औ उपमान ई दोऊ अनुमान मों गतार्थ हैं इति

तृतीय न्याय तर्क शास्त्र। याके आचार्य मुनि गौतम यामें सोरह पदार्थ विषय हैं सोरह पदार्थ का ज्ञान प्रयोजन है वे प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टांत ५ सिद्धांत ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितंडा १२ हेत्वाभास १३ छल १४ जाति १५ निग्रह स्थान १६ ए सोरह पदार्थ हैं या के तत्वज्ञान में मोक्ष होतु है मिथ्या ज्ञान के नाश तें दोष को नाश दोष कें नाश तें प्रवृति को प्रवृति के नाश तें जन्म को जन्म के नाश तें दुख को दुख नाशे मोक्ष है अरु प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ शब्द ४ ए चार प्रमाण हैं इंद्रिय अरु अर्थ के संबंध तें उत्पन्न जो ज्ञान सो प्रत्यक्ष है १ जाके प्रत्यक्ष ज्ञान के अनंतर अनुमिति होय सो अनुमान २ जाके सादृश्य ज्ञान के अनंतर उपमिति होय सो उपमान ३ यथार्थ ज्ञान को जो उपदेश सो शब्द ४ ॥

आत्मा १ शरीर २ इंद्रिय ३ अर्थ ४ बुद्धि ५ मन ६ प्रवृति ७ दोष ८ प्रेत्यभाव ९ फल १० दुख ११ मोक्ष १२ ए बारह प्रमेय हैं

इच्छा १ प्रयत्न २ ज्ञान ३ द्वेष ४ सुख ५ दुख ६ ए छः आत्मा के लक्षण हैं १ चेष्टा १ इंद्रिय २ सुख ३ दुख ४ ए चारों नामों रहैं सो शरीर १ अरु

घ्राण २ रसना २ चक्षु ३ त्वक ४ कर्ण ५ ए पांच इंद्रिय हैं सो भूतन तें उत्पन्न हैं प्रथ्वी १ जल २ तेज ३ वायु ४ अकाश ५ ए पांच भूत हैं

गंध प्रथ्वी को गुण रस जल को गुण स्पर्श वायु को गुण शब्द आकाश को गुण गंध घ्राण को विषयरस रसना को रूप चक्षु को स्पर्श त्वचा को शब्द कान को विषय विषय जो है सो अर्थ है ४ बुद्धि कहिये ज्ञान ५ एक काल मों ए आत्मा में अनेक ज्ञान की उत्पति नहीं है एही हेतु तें अणत्व मन को लक्षण है ६ अरु बाणी १ बुद्धि २ शरीर ३ ए तीन का जो प्रयत्न सो प्रवृति ७ प्रवृति होय जातें सो दोष ८ सो दोष प्रीति द्वेष मोह रूप है अरु मरि कै जन्म लेनो प्रेत्यभाव है ९ प्रीति द्वेष मोह तें सुख दुख का जो साक्षात्कार सो फल है १० दुख कहिये पीड़ा ११ दुःख नाश मोक्ष है १२

एक में अनेक विरोद्ध धर्म को जो ज्ञान सो संशय ३ जाके हेतु प्रवृत्ति होय सो प्रयोजन ४ बादी अरु प्रतिबादी का जो अर्थ में विरोध न होय सो दृष्टांत ५। सिद्धांत चार हैं सब शास्त्र १ एक शास्त्र २ नवीन ३ अधिकरण ४ जाके सिद्धि के अनंतर और अर्थ की सिद्ध होय सो अधिकरण सिद्धांत है ६

अवयव पांच हैं प्रतिज्ञा १ हेतु २ उदाहरण ३ उपनय ४ निगमन ५
पर्वत मों बह्नि है ई ज्ञान प्रतिज्ञान है १ धूमतें ई ज्ञान हेतु २
जहां धूम तहां बह्नि जैसे रसोई धर्म्मों ई उदाहरण ३
रसोई के घर सादृश्य पर्वत है ई ज्ञान उपनय ३ धूम ज्ञान तें पर्वत मों बह्नि है ई ज्ञान निगमन है ७ अरु

कार्य अरु कारण का विचार सो तर्क ८ निर्णय कहियै निश्चय ९
सिद्धांत तें अविरुद्ध जो बादी प्रतिबादी का दूषण भूषण सो बाद १०
छलादिक तें जो साधन में दूषण सो जल्प ११
अपने पक्ष के स्थापनों मों हीन जो दूषण सो वितंडा १२
हेत्वाभास पांच हैं व्यभिचारी हेतु १ विरोधी २ सत्प्रतिपक्ष ३ असिद्ध ४ बाधित हेतु ५ १३
छल तीन है बाक १ सामान्य २ उपचार ३
बक्ता के अभिप्राय तें अन्य अर्थ की जो कल्पना सो वाकछल १
जाति विषयक जो छल सो सामान्य २
मुख्यार्थ में लक्षण तें जो छल उपचार १४
सामान धर्म तें अविरुद्ध धर्म तें जो दूषण कथन सो जाति १५
बादी का बिरुद्धार्थ के चुप रहना सो निग्रह स्थान १६ ३

—क्रमशः

डा० किशोरीलाल गुप्त

'जय श्री हित हरिवंश' के 'जय श्री' पर विचार

[एक ही पद्य में भिन्न-भिन्न कवि-छाप लगी हिंदी की बहुतेरी मुक्तक रचनाएँ मिलती हैं। दृढ़ साक्ष्य के अभाव में आज भी उनके वास्तविक कृती के नाम संदिग्ध ही हैं।

प्रस्तुत निबंध में कवि-छाप में हुए परिवर्द्धन की ओर संकेत करते हुए उसका प्रयोजन भी बतलाया गया है—

" 'जै श्री', 'विंदु' और 'नाद' की विभाजक रेखा है। जिन पदों में कवि-छाप के पूर्व 'जै श्री' पद जुड़ा है, वे गोस्वामी हित हरिवंश के वंशज गोस्वामीगणों की रचनाएँ हैं, जिनमें केवल 'हित' लगा हुआ है, वे उनकी शिष्य परंपरा के लोगों की रचनाएँ हैं। इस विभेद की सूचना देने के लिए यह 'जै श्री' अत्यंत उपयोगी है।"]

मई सन् १९५२ ई० में मैंने 'श्रीहित सुधासागर' नामक ग्रंथ का अध्ययन किया था। यह ग्रंथ १९९३ वि० (१९३६ ई०) में प्रभुदयाल मित्तल के 'अग्रवाल इलेक्ट्रिक प्रेस, मथुरा' से मुद्रित हुआ था और राधावल्लभ मंदिर वृंदावन के अधिकारी गोस्वामी हित रूपलालजी की आज्ञा से अलीगढ़ के अवकाश प्राप्त तहसीलदार स्वामी श्रीनारायणदासजी द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ में गो० हित हरवंशजी एवम् सेवकजी की समस्त रचनाएँ संकलित हैं। हरिवंशजी के दो हिंदी ग्रंथ हैं— 'हित चौरासी' और 'स्फुटवाणी'। अधिकांश पदों में 'हित हरिवंश' के छाप के पहले 'जयश्री' लगा हुआ है। उस समय मैंने इस 'जय श्री' पर विचार करते हुए लिखा था—

"हित चौरासी के पदों में कवि की छाप के पहले 'जय श्री' लगा हुआ है। निश्चय ही श्रद्धासूचक यह पदावली संप्रदाय के भक्तों की कृपा है। स्वयम् हरिवंशजी ने अपने नाम के पहले 'श्री' अथवा 'जय श्री' न लगाया होगा। इस पदावली से युक्त चरण मात्र की दृष्टि से और चरणों के मेल में नहीं बैठते। अतः गति नहीं मिलती। इन शब्दों के हटा देने से गति ठीक हो जाती है। उदाहरणार्थ—

बरसत कुसुम मुदित सुर-मोषा। सुनियत दिवि दुंदुभि कल घोषा ॥
जय श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा। राधारमण सकल सुख धामा ॥१९॥

इस पद के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हैं और यह चौपाई छंद में लिखा गया है। परंतु छाप वाला चरण 'जय श्री' से युक्त हो जाने के कारण २० मात्राओं का हो गया है और गति भी बिगड़ गई है। यदि 'जय श्री' को निकाल दिया जाय तो मात्रा और गति सभी ठीक हो जाते हैं। इस प्रकार 'हित चौरासी' के ६६ पदों में 'हित हरिवंश' छाप के पहले 'जय श्री',[1] चार पदों में 'श्री'[2], दो पदों में अंतिम चरणों के आदि में[3] और दो पदों में अंतिम चरणों के अंतर्गत[4] आए हुए 'उभय' (राधाकृष्ण के लिए प्रयुक्त शब्द) के पहले 'जय श्री' शब्द श्रद्धावश

जोड़ दिया गया है। शेष आठ पदों[४] में तथा नरवाहन छापवाले दोनो पदों[५] में 'जय श्री' अथवा 'श्री' का प्रयोग नहीं हुआ है।

'श्रीहित स्फुट वाणीजी' में २७ पद हैं। इस ग्रंथ में भी १५ छंदों में कवि-छाप के पहले 'जय श्री' लगा हुआ है।[७] २४, २६ संख्यक दोहे में 'राधावल्लभ' के पहले 'श्री' लगा हुआ है। १० छंदों में श्रद्धासूचक 'श्री' या 'जय श्री' नहीं लगा है।"

उस समय मेरी योजना थी कि हित हरिवंशजी की समस्त हिंदी रचनाओं का एक सुसंपादित साहित्यिक संस्करण प्रस्तुत किया जाय। मैंने इस दृष्टि से कुछ कार्य भी किया था और 'जयश्री' तथा 'श्री को स्वयम् कवि कृत न मान कर इन्हें कवि-छाप से अलग कर दिया था।

तेरह वर्ष बाद अप्रैल ६५ में पुनः पद-साहित्य पर कुछ कार्य-रत हुआ। वृंदावन के बाबा तुलसीदास ने वृंदावनजी से 'श्रृंगार रस सागर' नामक विशाल पद-संग्रह चार खंडों में संकलित करके प्रकाशित किया है। बाबा तुलसीदास राधावल्लभ संप्रदाय के हैं। इस 'श्रृंगार रस सागर' में बाबाजी ने राधावल्लभ संप्रदाय के कवियों की रचनाओं के साथ साथ अन्य सभी राधाकृष्णोपासक संप्रदाय के कवियों की रचनाएँ भी संकलित की हैं। जिन कवियों की छाप के साथ 'हित' लगा हुआ है, वे हित हरिवंश के राधावल्लभ संप्रदाय के हैं। 'हित' सहित छाप होने से कवियों के इस विभेदीकरण में सहायता मिलती है। एक ही नाम के दो कवि हों और एक कवि की छाप के साथ 'हित' भी संयुक्त हो, तो इस 'हित' के सहारे दोनो कवियों की रचनाओं को अलग किया जा सकता है, उदाहरणार्थ कृष्णदास छाप से युक्त दो पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१) खेलत पासे प्रिया विहारी।

लँगरत झगरत जुगल परस्पर कृष्ण पक्ष तिथि उदित दिवारी।
तौ लौं कछू लगावहु प्रीतम जौ लौं आवै सखी तिहारी।
प्रथमहि पैत पर्‌यो प्यारी कौ मुरलीधर मुरली तब हारी।

१—पद १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १३, १४, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५१, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७७, ७८, ७९, ८२, ८४।

२—पद २५, ३५, ५०, ६७। ३—पद १०, ८०। ४—पद २६, ६८।

५—पद १५, १७, ३४, ४३, ५३, ७६, ८१, ८३। ६—पद ११, १२।

७—४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२, १५, १६, १७, २०, २१, २२, २३।

अब पुनि हम खेलहिं तुम लावहु कहा भयौ बाजी इक हारी।
अब कैं दाव परै काहू को इत कुंडल उत खुभी तिहारी।
मधुमय मुख अवलोकत मोहन इक टकटकी पलक नहिं टारी।
भामिनि भौंह जनाइ जितावत तहाँ देखि उलटी तब सारी।
बाढ़्यौ खेल, बढ़्यौ रजनी सुख, रह्यौ रंग, आई सहचारी।
जै श्री कृष्णदास हित रसिक कुँवर हारे जीती सखिन सहित (पिय) प्यारी ॥[1]

(२) नवल किसोर नवल नागरियाँ।
अपनी भुजा स्यामभुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरियाँ।
करत बिनोद तरनितनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरियाँ।
यों लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मणि कंचन जैसे जरियाँ।
उपमा को रवि ससि दोउ नाही करिये कोटि वारनें करियाँ।
कृष्णदास वलि वलि जोरी पर नंद-नँदन वृजभान-दुलरियाँ ॥[2]

स्पष्ट ही प्रथम पद 'हित' सहित छाप होने के कारण राधावल्लभ संप्रदाय के किसी कृष्णदास की रचना है और दूसरा पद हित संप्रदाय से इतर किसी दूसरे संप्रदाय के कृष्णदास की रचना है। दोनो पद किसी एक ही कृष्णदास की रचना नहीं हैं। दूसरा पद वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी, गोवर्द्धन-स्थित श्रीनाथजी के मंदिर के अधिकारी, अष्टछाप में परिगणित प्रसिद्ध कृष्णदास अधिकारी की रचना है और पहला पद गोस्वामी हित हरिवंशजी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी कृष्णचंद्रजी का है।

इसी प्रकार दामोदर छाप से युक्त अनेक पद 'शृंगार-रस सागर' में हैं। सभी पदों में दामोदर के साथ 'हित' भी लगा हुआ है। स्पष्ट है कि ये सभी पद राधा-वल्लभ संप्रदाय के दामोदर के हैं। पर कुछ पदों में 'दामोदर हित' छाप और कुछ में 'जै श्री दामोदर हित' छाप है। उदाहरणार्थ दोनो छापों से युक्त एक एक पद नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) नागरी वृषभानु कुँवरि मंद गामिनी।
चलत ग्रीव नैन सैन, बोलत मृदु मधुर बैन, तत्तथेई तत्तथेई बदति भामिनी।
चंचलगति वर सिरोध, भृकुटि कुटिल अलक सोभि, वदन चंद पिय चकोर, मुदित कामिनी।
अंसति पर बाहु धरें, सनमुख रुख नैन करें, ताल चाल गति मराल, चमकत घन दामिनी।
प्रियना भरि हरि समूह, आनँद बहु लखि कुतूह, निर्तति वर मधुर स्वरति, सरदजामिनी।
जैश्रीदामोदर हित सुवेस, नवलजुगलसुख सुदेस, अद्भुतअति गौरस्यामरसिकस्वामिनी॥[3]

(२) वृंदावन सुंदर घन, फूल बन्यौं बरन बरन, रास रच्यौ सुभग तीर भानु-नंदनी।
नव मृदंग नवल ताल, नवल बसन नवल माल, नवल लाल नवल बाल, आनंद-कंदनी।
नवल तान, नव बँधान, नवल स्वर सों गान जान, नवल उरय तिरय मान, नवल चंदिनी।
दामोदर हित सुचारु, देखि री यह नव बिहार, जोरी पिय गोरी, रति-राज वंदिनी ॥[4]

१—शृङ्गार रस सागर, चतुर्थ खंड, पृ० २०५–६, पद ४। २—वहीं, पृ० २५०, पद ३९।
३—वही, पृष्ठ १६, पद २५। ४—वहीं, पृष्ठ ४९ पद १००।

यह विभेद क्यों ? यह विभेद स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि ये दोनो पद दो विभिन्न कवियों के हैं। 'जै श्री' का यह साहित्य स्पष्ट ही किसी विभेदक रेखा को खींचने वाला है। राधावल्लभ संप्रदाय में दामोदर नामक वस्तुतः दो कवि हुए हैं और दोनो प्रायः समकालीन हैं। एक तो गो० दामोदर वर हैं, जो गो० हित हरिवंश के ज्येष्ठ पुत्र गो० वनचंद्रजी के ज्येष्ठ पुत्र सुंदरवरजी के पुत्र थे। दूसरे हित हरिवंशजी के तृतीय पुत्र गोपीनाथजी के शिष्य लाल स्वामी के शिष्य थे। 'जै श्री' विशेषण से युक्त 'दामोदर हित' छाप वाले पद गो० दामोदरवर के हैं और केवल 'दामोदर हित' छाप वाले पद दामोदर स्वामी के हैं। 'जै श्री', 'विंदु' और 'नाद' की विभाजक रेखा है। जिन पदों में कवि-छाप के पूर्व 'जै श्री' पद जुड़ा है, वे गोस्वामी हित हरिवंश के वंशज गोस्वामीगणों की रचनाएँ हैं; जिनमें केवल 'हित' लगा हुआ है, वे उनकी शिष्य परंपरा के लोगों की रचनाएँ हैं। इस विभेद की सूचना देने के लिए यह 'जै श्री' अत्यंत उपयोगी है। तेरह वर्ष पूर्व जिस 'जै श्री' को मैंने अनावश्यक एवम् अनुपयोगी समझ कर हित हरिवंश के पदों से उड़ा देने की आवश्यकता समझी थी, उसकी आवश्यकता, उपयोगिता और सार्थकता आज सिद्ध हो गई है। हाँ, अपनी जगह पर ये बातें अब भी ठीक हैं—

(१) 'जै श्री' या 'श्री' द्वारा अपना श्रीवर्द्धन स्वयम् हित हरिवंश या उनके वंशजों ने नहीं किया। पहले हित हरवंश के अनुयायियों ने उनके पदों में कवि छाप के उपसर्ग रूप में इनकी वृद्धि की, बाद में अन्य गोस्वामीगणों की रचनाओं में भी कवि-छाप के पूर्व यह उपसर्ग लगाने की परंपरा सी बन गई। 'जै श्री' या 'श्री' का नाम-पूर्व यह योग राधावल्लभ संप्रदाय के प्रायः प्रत्येक गोस्वामी की रचनाओं में देखा जाता है; अन्य संप्रदायों के आचार्यों की रचनाओं में बहुत कम। निंबार्क संप्रदाय के श्रीभट्ट एवम् हरिव्यास देवाचार्य 'हरि प्रिया' तथा सखी संप्रदाय के स्वामी हरिदास, विट्ठल विपुल एवम् विहारिनिदेव की अधिकांश रचनाओं में भी 'जै श्री' या 'श्री' का यह योग मिलता है।

(२) इनके योग से छंद दूषित और गति-भंग हो जाता है। इनके हटा देने से छंद निर्दोष हो जाता है और गति-भंग भी दूर हो जाता है।

प्रश्न उठता है इस 'जै श्री' की रक्षा करते हुए इन पदों को निर्दोष कैसे बनाया जाय ? इसका सहज समाधान यह है कि 'जै श्री' को हटाया न जाय, कोष्टबद्ध कर दिया जाय।

डा० प्रतिभा अग्रवाल

हिंदी मुहावरे : एक अध्ययन

[२]

मुहावरों का गठन एवम् वर्गीकरण

मुहावरों को आकार की दृष्टि से, विभिन्न वर्गों या पेशे वालों में प्रचलन की दृष्टि से तथा शब्दों के रूपों की दृष्टि से वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का विभाजन विशेष महत्त्व नहीं रखता एवम् द्वितीय प्रकार के अंतर्गत मुहावरों के स्वल्प अंश को ही लिया जा सकता है, क्योंकि अधिकता ऐसे मुहावरों की है जो सर्व-प्रचलित हैं, किसी वर्ग या जाति तक ही सीमित नहीं। संज्ञायुक्त मुहावरों, संज्ञा-विशेषण एवम् विशेषणयुक्त मुहावरों, संज्ञा-विशेषण-क्रिया युक्त मुहावरों, विशेषण-क्रिया युक्त मुहावरों, क्रिया वाले मुहावरों, अव्यययुक्त मुहावरों, ध्वन्यात्मक एवम् देशज शब्दों से युक्त मुहावरों को अलग-अलग कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समसित पद युक्त मुहावरों को भी अलग स्थान देना चाहिए, क्योंकि इनके समसित रूप, मूल शब्दगठन की दृष्टि से भिन्न अर्थ की व्यंजना करते हैं। साथ ही पूरे वाक्य के रूप में प्रयुक्त मुहावरों को अलग एक साथ संकलित करना चाहिए ताकि उनकी विशेष प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित हो जाय।

हिंदी में—और हिंदी में ही क्यों, संभवतः सभी भाषाओं में सबसे अधिक संख्या संज्ञा एवम् क्रिया पद युक्त मुहावरों की है। यों मुहावरों का संबंध अधिकतर किसी क्रिया की व्यंजना से होता है तथा क्रिया का कर्ता कोई नामधारी जीव ही होगा, अतः संज्ञा एवम् क्रिया के योग से बने मुहावरे ही अधिक हैं। इनमें भी एक संज्ञा एवम् एक क्रिया पद युक्त मुहावरे सर्वाधिक हैं—जैसे आँख खुलना, आँख लगना, गला बैठना, घर करना, जूड़ी आना, झंडा उठाना, हाथ लगना आदि। किंतु एक से अधिक संज्ञा एवम् क्रिया के योग वाले मुहावरे भी पर्याप्त हैं। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग भी मुहावरों में यथास्थान किया गया है—जैसे चिड़िया हाथ से निकल जाना, पुट्ठे पर हाथ न रखने देना, भूख प्यास चली जाना, मकान बैठ जाना, हिसाब कर देना आदि। इतना ही नहीं पूर्वकालिक क्रियाओं का क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयोग मुहावरों को विशेष चमत्कार एवम् बाँकपन प्रदान करता है और उनका भी प्रचुर उपयोग जन-समाज ने मुहावरों में किया है, यथा—आँख भर कर देखना, आँख की पुतली बनाकर रखना, कान खोलकर सुनना, चबा-चबा कर बातें करनी, चादर तान कर सोना, दिल उड़ा-उड़ा फिरना, पिघल कर पानी होना, बाँह उठाकर पुकारना, भुजा ठोंक कर लड़ना, मैदान छोड़ कर भागना आदि।

बहुत बार पूर्वकालिक क्रिया का यह रूप स्वतंत्र रूप से भी मुहावरे में प्रयुक्त होता है, यद्यपि वाक्य में उसके पूरक का होना निश्चित होता है, यथा—कंठ मिलाकर, गला फाड़कर, झख मारकर, ठठाकर, ताककर, तानकर, मुँह ऐसा मुँह लेकर आदि। चूँकि पूर्वकालिक क्रिया के दोनो ही प्रकार के प्रयोग मूलतः क्रिया-रूप हैं, अतः उन्हें क्रिया के अंतर्गत ही मानना उचित है।

वर्गीकरण के प्रसंग में ही एक और प्रवृत्ति लक्षित होती है और वह है शब्द-रूपों का अपने मूल शब्द-रूपों से भिन्न प्रकार-रूप का बाना पहन लेना। अनेक संज्ञा शब्द क्रिया से युक्त होकर क्रिया का रूप ले लेते हैं या यों कहा जा सकता है कि वहाँ पर क्रिया शब्द अपने आप में अपूर्ण होता है और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति संज्ञा-क्रिया के संमिलित रूप से ही होती है। उदाहरण स्वरूप उसास लेना, कंठ करना, कब्जा करना, चटपटी पड़ना, चबेना करना, खेद करना, जी होना, टक्कर खाना, नमकहरामी करना, पक्ष करना, पानी-पानी करना या होना, ब्योंत करना, भतार करना, भस्म होना, मेला लगना, हवा कर देना, होम करना आदि मुहावरे लिए जा सकते हैं। इन सभी में प्रयुक्त करना, खाना, पड़ना, लगना, होना आदि क्रियाएँ संलग्न संज्ञा शब्दों के बिना कोई अर्थ नहीं रखतीं, मुहावरे की दृष्टि से, किंतु चूँकि मूलतः भस्म, मेला, हवा, होम आदि संज्ञा शब्द हैं, अतः इन्हें संज्ञा-क्रिया ही मानना चाहिए, केवल क्रिया नहीं। इसी प्रकार अनेक विशेषण शब्द भी क्रिया के साथ युक्त होकर क्रिया का काम करते हैं, संयुक्त-क्रिया बनाते हैं, जैसे—आँख ऊँची करना,-टेढ़ी करना,-नीची करना,-बंद करना,-सीधी करना, चेहरा ढीला पड़ना,-पीला पड़ना,-स्याह पड़ना, छाती ठंडी करना,-ठंढी पड़ना,-दूनी होना,-शीतल होना, नस-नस ढीली करना, निगाह चार होना, बात ऊपर हो जाना, रास्ता साफ करना या होना, लहू-पसीना एक करना, हाथ साफ करना आदि। स्पष्ट है कि ऊँची, टेढ़ी, नीची, दूनी, ढीली, चार, ऊपर, साफ आदि विशेषण करना, पड़ना, होना आदि क्रियाओं से संबद्ध होकर क्रिया के समान ही प्रयुक्त हुए हैं। परंतु अपने विशेषता बतलाने वाले तत्व को छोड़ कर वे क्रिया से एक रूप नहीं हुए हैं, वरन् अपनी विशेषता लिए हुए हैं। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि 'करना' क्रिया के योग से ऐसे क्रिया-रूप अधिकतर बने हैं, उसके बाद स्थान 'होना' क्रिया के योग से बने शब्दों का है। पड़ना, लगना आदि के योग से संज्ञा एवम् विशेषण शब्दों को क्रिया का रूप कम ही मिल पाया है।

मुहावरों में चूँकि विशेषता बतलाने की प्रवृत्ति रहती है, अतः अन्यान्य शब्द रूप भी विशेषण की तरह प्रयुक्त होते हैं। बहुत से क्रिया शब्द विशेषण की तरह प्रयुक्त हुए हैं, यथा—उगती तारिका, चढ़ती जवानी, चलता सिक्का, चलती भाषा, जला हृदय, जली-भुनी बात, डूबती किश्ती, ढलती उम्र, बोलती चिड़िया (उड़ जाना),

भूनी भाँग (न होना), मँजी भाषा, रंगे हाथ आदि। क्रिया शब्दों की तरह संज्ञा शब्द भी विशेषण का काम करते हैं या यों भी कहा जा सकता है कि बहुत बार संज्ञा वाले मुहावरों में अकेला संज्ञा शब्द या संज्ञा-संज्ञा के योग से बना मुहावरा समस्त रूप में किसी वैशिष्ट्य का द्योतक होता है, जैसे—कपट की खान (कपटी), काँटों की सेज (दुखदायी या कठिन), किताब का कीड़ा (पढ़ाकू), गीदड़ (डरपोक), द्रौपदी का चीर (लंबा, न समाप्त होने वाला), दिनों का फेर (बुरे दिन) आदि।

'वाला' प्रत्यय युक्त शब्दों को संज्ञा के अंतर्गत ही रखा जाना चाहिए, जब तक कि वे निश्चित रूप से विशेष्य के साथ आकर अपने विशेषणत्व की स्पष्ट घोषणा न करते हों। आँखवाला, ऊपरवाला, (गला) घोंटनेवाला, (तलवार) उठानेवाला, नचानेवाला निश्चित रूप से व्यक्ति विशेष की व्यंजना करते है, हाँ इनके साथ लड़का या आदमी लग जाने से ये विशेषण बन जाते हैं। इसी प्रकार अंधा, काना, गरीब, गूँगा, बहरा, धनी एवम् रंक शब्द भी हैं।

विभक्ति चिन्हों को तो स्वतंत्र स्थान नहीं दिया जाता है, किंतु ऊपर, नीचे, ऊँचे, तक, आगे, पीछे, भीतर, बाहर आदि अव्ययों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इनका विशेष महत्त्व होता है, अतः ऐसे मुहावरों को अलग स्थान देना चाहिए— यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है।

हर भाषा में कुछ ऐसे भी मुहावरे होते हैं, जो ध्वनि-साम्य पर आधारित होते हैं और कुछ यों ही निरर्थक शब्दों को लेकर बना लिए जाते हैं। संभव है, पहले ये शब्द कुछ अर्थ रखते रहे हों, या किसी दूसरे अर्थ के साम्य पर बना लिए गए हों। इन्हें हम देशज प्रयोग कह सकते हैं। काँव-काँव करना, टाँय-टाँय करना, टाँय-टाँय फिस होना, ततोथंभो करना, नकनकी बजवा देना, बूम मारना, मिनमिन करना, रेड मारना, लबड़ धोंधों करना, लल्लो-चप्पो करना, सीसी सटकना, हट्टा-कट्टा, हुर्र होना आदि ऐसे ही ध्वन्यात्मक या देशज शब्द युक्त मुहावरे हैं, जिन्हें 'विविध' मुहावरों के अंतर्गत रखा जा सकता है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनका अपने मूल अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयोग मुहावरों में हुआ है, यथा— आकाश पाताल के कुलाबे मिलाना, कल आना, काफिया तंग करना, खाती करना, लट्टू होना आदि में कुलाबे, कल, काफिया, खाती, लट्टू आदि शब्द अपने मूल अर्थ से भिन्न अर्थ रखते हैं। वैसे तो मुहावरा में प्रयुक्त शब्दों का यह अनिवार्य गुण है कि वे अपने अभिधेयार्थ से भिन्न विशेष अर्थ की व्यंजना करें तथापि कुछ न कुछ भाव-साम्य आम तौर पर पाया जाता है। यों इस संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता।

मुहावरों की अर्थ-व्यंजना

अर्थ-व्यंजना ही मुहावरों का प्राण है। थोड़े में बहुत कुछ कह देना, यह मुहावरों के माध्यम से ही संभव है। हाँ, इसके लिए आवश्यक है कि प्रयोगकर्ता

को मुहावरों के अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान हो तथा श्रोता भी उसे ठीक-ठीक ग्रहण कर सकें, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। चूँकि मुहावरों में शब्दों का स्थान निश्चित होता है तथा अर्थ भी सर्वथा रूढ़ होते हैं, अतः उनमें तनिक भी हेर फेर संभव नहीं। एक शब्द का इधर-उधर करना या घटाना-बढ़ाना अर्थ ही बदल देता है। 'लाल होना' मुहावरा जहाँ प्रसन्नता या अनुरक्त होने के भाव को व्यक्त करता है, वहीं 'लाल-पीला होना' क्रोधित होने के भाव को तथा 'पीला होना' भयभीत होने के भाव को। 'ऊँची बात' से जहाँ श्रेष्ठ, अच्छी बातों का बोध होता है, वहीं 'ऊँची-नीची बात' में 'ऊँची' का अर्थ ही लुप्त सा हो गया है, केवल 'नीची बात' की व्यंजना ही होती है। 'खट्टी-मीठी कहना' में भी इसी प्रकार की ध्वनि आती है।

मुहावरा में किसी क्रिया का होना अर्थात् किसी भाव की व्यंजना मुख्य होती है एवम् इसी कारण क्रिया के योग से बने मुहावरों की संख्या बहुत अधिक है। बहुत बार ये भाव स्थूल क्रियाओं पर आधारित होते हैं एवम् दैनंदिन जीवन में जिस प्रकार की स्थूल क्रियाओं का आश्रय हम प्रसंग-विशेष में भावाभिव्यक्ति के लिए लेते हैं, ठीक उसी प्रकार वे मुहावरे भी चल पड़े हैं—आँख ऊँची करना,-नीची करना,-फेरना, पैर पीछे रखना, पैर पकड़ना, लंबी साँस भरना, हाथ फैलाना आदि। हम गर्व से आँख ऊपर करके देखते हैं, लज्जा से सामने देख नहीं पाते, विमुख होकर चेहरा घुमा लेते हैं, दुःख में लंबी साँस लेते हैं तथा कहीं माँगने जाकर हाथ फैलाते हैं। इन्हीं स्थूल क्रियाओं पर आधारित ये मुहावरे इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गए हैं और बहुत बार तदनुरूप शारीरिक क्रियाओं के अभाव में भी वे उक्त भाव की व्यंजना करते हैं। 'राम सबके आगे हाथ फैलाता फिरता है' वाक्य यद्यपि राम के हाथ फैलाने की बात कहता है, तथापि संभव है वह जबान से ही माँगने की बात करता हो, हाथ न फैलाता हो, फिर भी 'हाथ फैलाना' मुहावरा अपने मूल अर्थ की व्यंजना करता है।

इसी प्रकार कुछ मुहावरे सूक्ष्म व्यंजना पर आधारित होते हैं—'डोंगा डुबाना' मुहावरा वैसे ही अनिष्ट का बोध कराता है जैसे कोई सवारी से भरी हुई नाव को डुबा कर करे। डूबती किश्ती पार लगाना, दाई से पेट छिपाना, दाना-पानी उठ जाना, धूप में बाल सफेद करना, पाँचों उँगली घी में होना, पुल बाँधना, भींगता स्वर, मिजाज गरम होना, रुई में लपेटी आग आदि मुहावरे ऐसी ही सूक्ष्म व्यंजना करते हैं। हलका, भारी, साफ, मजबूत, ऊँचा, नीचा आदि विशेषण ऐसी सूक्ष्म व्यंजना में सहायक होते हैं। हलकी वस्तु का बोझ वहन करना सहज है, भारी का कष्टप्रद। इसीलिए जी हलका होना और भारी होना मन की दुश्चिंता या खटके के दूर होने या बढ़ जाने की व्यंजना करता है। मजबूत वस्तु को सहज ही तोड़ा नहीं जा सकता। अतः 'दिल मजबूत होना' ऐसे व्यक्ति की ओर इंगित करता है जो दृढ़ एवम् स्थिर प्रकृति वाला है। ऊपर वाला व्यक्ति नीचे वाले व्यक्ति के ऊपर हावी रहता है,

कई दृष्टियों से उससे श्रेष्ठ स्थिति में रहता है, नीचे वाले को दबाए रहता है। इसी कारण ऊँचे उठना, ऊँचे चढ़ना आदि उन्नति के द्योतक और नीचे गिरना, नीचे उतरना आदि पतन के द्योतक हैं। हमारे यहाँ विभिन्न रंग विभिन्न भावों के प्रतीक माने गए हैं। लाल अनुराग का, हरा प्रसन्नता का, काला दुःख या कलुष का, नीला शृंगार का, श्वेत पवित्रता एवम् निर्मलता का। मुहावरों में इनका सुंदर प्रयोग किया गया है—व्यक्ति लाल होता है, जी हरा होता है, चेहरा स्याह पड़ता है या चेहरे पर कालिमा पुतती है, श्वेत-यश चारों ओर छा जाता है। दिल भी सफेद या काला होता है, कागज काला ही होता है, अक्षर भी काले हो सकते हैं। अक्षर काले ही नहीं स्वर्णाक्षर भी होते हैं, जो स्वर्ण की चमक-दमक एवम् मूल्य, दोनो गुणों की ध्वनि देते हैं। (यों अक्षरों से भी तात्पर्य स्थूल अक्षरों से नहीं वरन् उन अक्षरों द्वारा निर्मित सार्थक शब्द एवम् वाक्य से ध्वनित अर्थ से ही है)।

अर्थ-विस्तार एवम् अर्थ-संकोच मुहावरों की एक और विशेषता है। कहीं तो हम ऐसे मुहावरों को पाते हैं, जिनमें अर्थ-विस्तार हुआ है अर्थात् एक संकुचित अर्थवाले शब्द के द्वारा बहुत विस्तृत बात कही गई हो, यथा—आँख खुलना या खोलना स्थूल आँख खुलने-खोलने को नहीं वरन् जीवन-जगत् को जानने-समझाने के व्यापक अर्थ की व्यंजना करता है, खून उबलना, अत्यधिक क्रुद्ध होने, चबेना करना—नाश्ता करने, चाय पर आना—चाय एवम् नाश्ते के लिए निमंत्रित होकर आने, चूल्हा फूँकना—भोजन बनाने, डोली से उतरते ही—विवाह के थोड़े दिनों के भीतर ही, नोन-तेल-लकड़ी—दैनंदिन आवश्यकताओं, धूप में बाल सफेद करना—अनुभव एवम् ज्ञान द्वारा परिपक्व होने, पलड़ा भारी होना—स्थिति दृढ़ एवम् अनुकूल होने, बेंत कँपाना—भय दिखाने, भर मुँह बोलना—हार्दिकता से बातचीत करने, हवा भरना—किसी को जबरदस्ती उत्साहित करने की व्यंजना करते हैं। इसके विपरीत बहुत बार अर्थ-संकोच की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है—आकाश से ऊँचा होना—बहुत ऊँचा होना, किताब का कीड़ा—बहुत पढ़नेवाला, भीमकाय—लंबा-चौड़ा, सैकड़ों तरह से—बहुत तरह से के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

हिंदी मुहावरों का ऐतिहासिक विकास

साहित्य में प्रयुक्त मुहावरों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि हर कोटि एवम् हर प्रवृत्ति वाले साहित्यकार ने प्रसंगानुसार मुहावरों का प्रयोग किया है। कबीर एवम् जायसी जैसे साधक, तुलसी एवम् सूर जैसे भक्त, बिहारी-मतिराम-देव जैसे शृंगारी कवि, घनानंद जैसे प्रेमी, भारतेंदु जैसे सचेतन राष्ट्र एवम् समाज के साहित्यकार तथा प्रेमचंद-कौशिक-सुदर्शन जैसे जन-जीवन को चित्रित करने वाले कुशल कलाकार, सभी ने समान रूप से मुहावरों का प्रयोग किया है। हाँ, विषय की विभिन्नता के परिणाम-स्वरूप उक्त साहित्यकारों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों का स्वरूप भिन्न दृष्टिगत होता है। कबीर जीवन-मरण की चिंता से ग्रस्त थे, ब्रह्म के

साक्षात्कार के लिए व्याकुल थे, ब्रह्ममय होकर आवागमन के जंजाल से मुक्त होने का रास्ता ढूँढ़ रहे थे, उसे पाया भी था। अतः उनके काव्य में कर्म काटने, काल के पाश, चौरासी लाख योनि में भटकने, बंधन तोड़ने, मृग-तृष्णा, यम के डंडे, हृदय की गाँठ खोलने आदि की चर्चा की गई है, इस प्रकार के मुहावरे पर्याप्त मात्रा में हैं। जायसी का पथ भी साधनात्मक था, पर जीवन-मरण आदि के चक्कर में वे नहीं पड़े। उनका प्रेम का मार्ग कंथा पहनने, गुड़ खाकर गूँगे होने, नैनों में स्थान देने, प्रेम से दग्ध होने, शर चढ़ने, सिर पर आरा लेने आदि की चर्चा करता है। तुलसी और सूर का मार्ग इनसे भिन्न था यद्यपि लक्ष्य एक ही था। वैसे तुलसी और सूर की प्रवृत्ति भी भिन्न थी। तुलसी की भक्ति दास्य-भाव की थी, उन्होंने अपनी आत्मा को भगवत् चरणों में अत्यंत दीन भाव से अर्पित किया था। उनकी अभिव्यक्ति में सर्वत्र यह भाव व्याप्त है, मुहावरों के क्षेत्र में भी। वे अंग शिथिल होने (भगवत् प्रेम से) आँख की पुतली बनाकर रखने, कलेजा दरकने, कुपथ पर पैर रखने, कोटि वदन से बखान करने (भगवत्-गुण), तृण को वज्र, वज्र को तृण बनाने (भगवत् सामर्थ्य), धर्म का टीका होने, पदरज सिर पर चढ़ाने, पृथ्वी के रसातल में जाने आदि की बात करते हैं। सूर की भक्ति सख्य-भाव की थी—भगवान् को समकक्ष मान गोपियाँ तर्क-वितर्क करती हैं, उद्धव को खूब खरी-खोटी सुनाती हैं, कृष्ण के विरह में व्याकुल होती हैं। अतः सूर अंतर-कपट खोलने, एक अंग भी कच्ची न होने, एक पट होने, तन करने, तन कसने, दाँव पड़ने-लेने व हारने, नैन आकाश पर चढ़ाने, नैन-वाण मारने, सिर पर चढ़कर नाचने, सुख के सपने होने, हिय की तपन मिटाने की चर्चा में लीन दिखलाई पड़ते हैं। रीतिकालीन कवियों का क्षेत्र इन सबसे भिन्न हो गया—'शृंगारिकता' उक्ति वैचित्र्य एवम् चुटीलेपन के आग्रह ने पैने-तीखे मुहावरों के प्रयोग की ओर इन्हें प्रेरित किया—आँख न आना, उघड़ कर नाचना, ऐंड़ निकल जाना, ऐंड़दार, कनखी देना, खरीदे गुलाम होना, घाटा बैठना, छिया-छिया होना, ढीले वचन, नाक के बल नचाना, नारदी-विद्या, पाँच की सात सुनाना, पानी मथना, बात बढ़ाना, भृकुटि चढ़ाना,-तानना, मूंड़ चढ़ना, सिर रगड़ना, सौ सौ चूहा खाकर बिल्ली का हज्ज करने जाना, हृदय में होली लगना जैसे मुहावरे केवल रीतिकाल में ही दिखलाई पड़ते हैं।

आधुनिक युग में विषय की विविधता एवम् गद्य के प्रयोग ने मुहावरों के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खोल दिया है। उर्दू (जो मुहावरों के क्षेत्र में बहुत समृद्ध हैं) के निकट संपर्क ने भी इस ओर प्रगति में सहायता दी। नाना विषयों, नाना क्षेत्रों एवम् नाना वर्गों संबंधी मुहावरे आज विभिन्न पुस्तकों में दिखलाई पड़ते हैं। किंतु जिस प्रकार शहरी शिष्ट-समुदाय में आम बोल-चाल में मुहावरों का प्रयोग कम होता जा रहा है, यह चिंता का विषय है। यदि यही प्रवृत्ति अधिक समय तक बनी रही तो संभव है, भविष्य में साहित्य में मुहावरे अपेक्षाकृत बहुत कम दिखलाई

पड़ें। ऐसे प्रचुर मुहावरे हैं, जिनका प्रयोग आधुनिक काल में नहीं हुआ है, केवल भक्ति या रीतिकाल तक ही सीमित रहा है। आधुनिक के साथ ही भक्ति या रीति या आधुनिक, भक्ति और रीति तीनो ही कालों में प्रयुक्त मुहावरों की प्राप्ति भी होती है, यद्यपि बहुत अधिक नहीं। इनमें भी अधिकता भक्ति और आधुनिक काल में एक साथ प्रयुक्त मुहावरों की है, रीति और आधुनिक काल में प्रयुक्त मुहावरे अपेक्षाकृत कम हैं। तीनो ही कालों में प्रयुक्त मुहावरों में से कुछ यों हैं—जैसे अंक देना,-भरना,-लगाना, अंधा होना, आँख चुराना,-ठंढी करना,-फेरना,-बरसना,-लगना, आग लगना, कड़वी लगना, कान करना, कान देकर सुनना, गाँठ का, गिनती गिनना, घर बसना, चरण लेना,-छूना,-लगना, चार दिन, चित देना, छाती जलना,-जुड़ाना,-जलना,-टूट जाना, नजर लगना, नाच नचाना, नाम धराना, पथ जोहना, पढ़ना, पीठ देना, पेट के लिए, पैर गहना,-पकड़ना,-देना,-पड़ना, फीका लगना, बाँह पकड़ना, बाट जोहना,-देखना,-निरखना, बातें बनाना, बाल बाँका न कर सकना, भौंह चढ़ाना,-तानना, मन चुराना,-देना,-फटना,-मार कर रह जाना, माथा झुकाना, मुँह में धूल डालना,-मोड़ना,-लगाना, राई-नोन उतारना, रात-दिन, रास्ता देखना, लट्टू होना, सिर चढ़ाना,-झुकाना,-धुनना,-पर खड़ा होना, पर हाथ होना, सोने में सुहागा, हाथ चढ़ना,-पसारना,-मलना,-में होना, हाथों बिक जाना आदि।

शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से कई जगह उनका आधुनिक युग में स्वाभाविक परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। दृष्टि और दीठ का स्थान निगाह और नजर ने ले लिया है, कंठ का गले ने, हृदय और उर का जी और दिल ने, यद्यपि सर्वत्र नहीं। ऐसे प्रयोगों की संख्या अधिक है, जो आज छः सौ वर्षों से बराबर किए जा रहे हैं। विषय परिवर्तन हो जाने के कारण विशिष्ट पदावली का प्रयोग छूट गया हो, यह और बात है, किंतु आम तौर पर शब्दों के प्रयोग में बहुत अंतर नहीं हुआ है। नई अभिव्यक्ति ने नए शब्दों के प्रयोग को प्रेरित किया है।

अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग जिस प्रकार धड़ल्ले के साथ आज आम बोल-चाल के क्षेत्र में हो रहा है, उसी रूप में वह मुहावरों में गृहीत नहीं हुआ है। चूँकि मुहावरे भाषा की अपनी संपत्ति हैं और उनका अनुवाद सहज संभव नहीं, अतः वे जल्दी दूसरी भाषा से ग्रहण नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि अंग्रेजी के इतने प्रयोग के बावजूद भी वह मुहावरों के क्षेत्र को प्रभावित नहीं कर पाई है। मेरे कोश में संभवतः केवल तीन प्रयोग अंग्रेजी शब्द के हैं टार्च लेकर ढूँढ़ना, पोप-लीला होना एवम् हुलिया टाइट करना। टार्च लेकर ढूँढ़ना मुहावरा दिया लेकर ढूढ़ने का आधुनिक रूप है। आज के बिजली एवम् टार्च के युग में यह रूपांतर स्वाभाविक एवम् सार्थक है, किंतु ऐसे प्रयोग अपवाद स्वरूप ही हैं। 'चार सौ बीस' या 'चार सौ बीसी' जैसे मुहावरे भी आधुनिक युग की देन हैं, जिनका संबंध भारतीय-दंड संविधान की धारा ४२० से है।

जलियान वाला बाग होना, झाँसी की रानी होना, मीरजाफर होना, बापू होना, सन् सत्तावन मचना (महाभारत मचना की तरह) आदि मुहावरे भारतीय इतिहास की गत डेढ़ शताब्दियों की घटनाओं पर आधारित हैं एवम् नए प्रयोग हैं। इसी ढंग पर जयचंद होना भी कहा जाता है, यद्यपि उसका संबंध कई शताब्दियों पूर्व के इतिहास से है। ये प्रयोग सामाजिक एवम् राजनीतिक परिस्थितियों का जन-जीवन से कितना गहरा संबंध होता है, इसके प्रमाण हैं। (यद्यपि साहित्य में मुझे उक्त मुहावरों का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ है) सुदूर अतीत की घटनाएँ अपनी मार्मिकता एवम् तीव्रता के कारण जनता के ऊपर ऐसा प्रभाव छोड़ जाती हैं कि यद्यपि उनको समाप्त हुए सदियों हो जाता है तथापि उनकी स्मृति बनी रहती है और मुहावरों में गूँथ कर जन-मानस युगों-युगों तक उन घटनाओं या व्यक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धा या घृणा प्रगट करता रहता है। मुहावरों के माध्यम से हम तत्कालीन समाज एवम् जन-मानस को बहुत दूर तक जान समझ सकते हैं।

हिंदी में पर्याप्त संख्या अंग संबंधी मुहावरों की है—जैसे आँख, उँगली, एड़ी, ओठ, कान, छाती, दाँत, नाक, पैर, सिर, हाथ आदि। अंग संबंधी मुहावरों की अधिकता हमारा ध्यान मनुष्य की आदिम अवस्था की ओर ले जाती है, जब कि मनुष्य शारीरिक भाव-भंगिमा द्वारा नाना भावों की अभिव्यक्ति करता था। कालांतर में यद्यपि मनुष्य अधिक सभ्य होता गया तथा वाणी के वरदान-स्वरूप अभिव्यक्ति का अधिक पूर्ण तथा सशक्त माध्यम 'शब्द-भाषा' उसे मिल गया, तथापि अपनी उस मूल प्रवृत्ति से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया और बहुत से भावों की अभिव्यक्ति में वह वैसा ही आचरण करता रहा जैसा उसके आदिम पूर्वज करते थे। एड़ियाँ घिसना, नाक रगड़ना, नाक सिकोड़ना, पैर चूमना, पैर पकड़ना, मुँह फैलाना, सिर पकड़ कर बैठ जाना आदि मुहावरे संभवतः बहुत प्राचीन हों तथा किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति का माध्यम रहे हों। इस प्रसंग में एक बात विशेष रूप से लक्षित होती है कि आधुनिक काल से पूर्व के साहित्य में अंग संबंधी मुहावरों का कम प्रयोग हुआ है। उँगली, ओठ, नाक, कान आदि से संबंधित मुहावरे साहित्य में बहुत ही कम आए हैं। भक्ति और रीति काल में आँख संबंधी मुहावरे तो पर्याप्त संख्या में हैं, किंतु पैर, सिर, हाथ संबंधी कम हैं, जब कि आधुनिक युग में ऐसे मुहावरों की संख्या पर्याप्त है। संभवतः इसका कारण सूक्ष्म अभिव्यक्ति की अधिकता हो। आँख हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक पूर्ण साधन है। भक्ति-रीति युग में ऐसे भावों की अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया गया है, अतः आँख संबंधी मुहावरों की अधिकता है—अन्यान्य स्थूल अंग संबंधी मुहावरे कम हैं।

कुछ विशेषताएँ

कहा जा चुका है थोड़े में बहुत कहना तथा प्रभावपूर्ण ढंग से कहना मुहावरा का अभीष्ट होता है। कई बार यह प्रवृत्ति बड़ी सूक्ष्म अभिव्यक्ति में सहायक होती

है—जी हरा होना, द्रवित होना, भारी कदमों से, भींगता स्वर, लाल-पीले होना, हाथ होना आदि ऐसे ही गूढ़ व्यंजक मुहावरे हैं। इसी प्रकार कान के कच्चे, पतले और हलके होने में भी सूक्ष्म अंतर है, अपरिपक्वता, अक्षमता एवम् गुरुत्व के अभाव का, यों आम तौर पर प्रयोग में संभवतः इस सूक्ष्मता की ओर ध्यान भी नहीं जाता। गाढ़े का संगी, जलना, टूट जाना, नाता टूटना, पानी में नमक सा होना, भँवर की नाव होना, रंग बरसना, व्यथा भरना, स्नेह-भीना, सँकरा समय, स्नेह जुड़ना, हृदय में हूक उठना आदि ऐसे अनेक मुहावरे हैं, जो मन को बरबस बाँध लेते हैं। ऐसे रसभीने प्रयोगों के साथ कुछ अटपटे से प्रयोग भी सामने आते हैं। परस्पर विरोधी अर्थों में कुछ मुहावरों का प्रयोग परिलक्षित होता है—जैसे तिरछे होना (अनुकूल होना, प्रतिकूल होना), फूलकर बैठना, (आनंदित होना, रूठना), दिल बासों या बल्लियों उछलना (बहुत आनंदित होना, बहुत घबराना), सिर धुनना (दुःख प्रगट करना या पछताना, प्रशंसा करनी), हाथ उठाना (मारना, प्रणाम करना) हृदय में गड़ना या चुभना (अत्यंत प्रिय होना, अत्यंत अप्रिय होना) आदि। परस्पर विरोधी अर्थों में मुहावरों का प्रयोग इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि मुहावरों का स्वरूप अपने आप जितना स्पष्ट होता है उससे अधिक अपने प्रसंग पर निर्भर करता है—हाथ नमस्कार करने के लिए उठाया गया है या मारने के लिए यह उस प्रसंग के पूरे ज्ञान से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार चूने की डिबिया से बाहर निकलना (अनुभव प्राप्त करना, बाहर आना), चोटी खड़ी होना (साहस और जोश से भर जाना), देने के नाम मुरली मनोहर होना (भाव बताना पर देना नहीं), पट पड़ना (अनुकूल होना), पेट के पतले होना (धन अपने तई न रख सकना) मन ऊँचा होना (मन में दुश्चिंता होनी), मन टूटना (इच्छा होनी), मन मिट्टी होना (निरुत्साह होना), साईं के सौ खेत होना (बहुत उपाय होना) आदि मुहावरों के प्रस्तुत अर्थ विचित्र से से लगते हैं, यद्यपि इन सब के प्रयोग इन्हीं अर्थों में भी उपलब्ध हैं। इसी प्रसंग में अरबी-फारसी बूकना, अंग्रेजी झाड़ना की भी चर्चा कर ली जाय, जिनमें अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी किसी काल-विशेष की राजभाषा होने के कारण विशेष गौरव एवम् महत्त्व पाकर मुहावरे में इस रूप में सुरक्षित हो गई है।

हिंदी में जिन साहित्यकारों ने मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है उनमें सूर, घनानंद, हरिऔध, प्रेमचंद, देवेंद्र सत्यार्थी, अमृतलाल नागर, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा एवम् फणीश्वर नाथ रेणु ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। इन सभी लेखकों ने मुहावरों का बड़ा ही सुंदर, सटीक, प्रसंगानुकूल प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। सूर का व्यंग्य एवम् तीखापन, साथ ही मार्मिक वेदना, घनानंद की वक्रता प्रेमचंद का निर्बाध स्वाभाविक प्रयोग, सत्यार्थी, नागर एवम् रेणु के क्षेत्रीय प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भगवतीचरण वर्मा एवम् यशपाल ने प्रचुर प्रयोग किए हैं, अच्छे प्रयोग। इन सभी में हरिऔधजी का स्थान सबसे भिन्न एवम्

विशिष्ट है। संभवतः अपने लेखन के माध्यम से इन्होंने हिंदी-साहित्य को सर्वाधिक मुहावरे दिए हैं। किंतु चूँकि अपने चोखे-चौपदे, चुभते-चौपदे, बोल-चाल आदि ग्रंथों में हरिऔधजी ने साहित्य में मुहावरों का प्रयोग न करके, मुहावरों में साहित्य रचना की है, अतः साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी मुहावरों की दृष्टि से वे विशेष सम्मान की अधिकारिणी हैं। मुहावरों का प्रयोग बतलाने के लिए ही इन पुस्तकों की रचना की गई है। अतः इनके चौपदों में हर पंक्ति में एक या उससे अधिक मुहावरे गूँथे गए हैं। इसके बहुत से प्रयोग बड़े ही सुंदर एवम् भाव-व्यंजक बन पड़े हैं।

हिंदी भाषा के सुदीर्घ इतिहास के होते हुए भी अभी तक उसके अंग-उपांगों के विवेचन का प्रयत्न उतना नहीं किया गया है जितना अपेक्षित है। भाषाविज्ञान, व्याकरण एवम् शब्दों के स्वरूप आदि को लेकर बहुत ही कम काम हुआ है। अन्यान्य विषयों की तरह मुहावरों के विवेचन का प्रयत्न भी बहुत संतोषप्रद नहीं। सर्वश्री अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध', रामदहिन मिश्र, रामचंद्र वर्मा, ब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा आदि ने अपने ग्रंथों की भूमिका के रूप में या अन्यान्य प्रसंग में इस विषय पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। इस संबंध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डा० ओमप्रकाश गुप्त का है, जिन्होंने अपने शोध-प्रबंध 'मुहावरा मीमांसा' में अति विस्तार से मुहावरा शब्द के अर्थ, व्युत्पत्ति, प्रयोग महत्त्व आदि का विवेचन तथा विभिन्न जाति, पेशे, रीति रिवाज आदि से संबंधित मुहावरों का वर्गीकरण भी किया है।

मुहावरा कोशों के संबंध में भी कुछ ऐसी ही स्थिति दृष्टिगत होती है। मुहावरा-कोश नाम्नी जिन १२-१५ पुस्तकों का परिचय प्राप्त होता है उनमें से अधिकांश नगण्य हैं। मुहावरा कोशों में सर्वश्री भोलानाथ तिवारी, पं० छविनाथ पांडेय एवम् प्रो० आर० जे० सरहिंदी द्वारा संपादित कोश ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें क्रमशः बारह हजार, दस हजार एवम् नौ हजार से कुछ ऊपर मुहावरे संग्रहीत हैं। पं० रामदहिन मिश्र द्वारा संकलित एवम् पं० छविनाथ पांडेय द्वारा संपादित कोश का प्रथम खंड ही अभी प्रकाशित हुआ है और संपादक का कहना है कि पूरे कोश में २५००० मुहावरे होंगे। इनके अतिरिक्त सभी शब्द-कोशों में शब्दों के प्रसंग में मुहावरों का उल्लेख एवम् अर्थ भी दिया गया है। मुहावरा कोशों में संग्रहकर्ताओं ने स्वनिर्मित वाक्यों में मुहावरों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इन सभी कोशों में अपने से पूर्व प्रकाशित कोषों से मुहावरे ले लिए गए हैं तथा कुछ थोड़े से अपने-अपने क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रचलित मुहावरे भी संकलित किए गए हैं। हिंदी साहित्य में प्रयुक्त मुहावरों के विपुल भांडार की अच्छी तरह छानबीन का प्रयत्न आज तक नहीं किया गया था। इसी अछूते कार्य को करने का प्रयत्न मैं कर रही हूँ।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य

पुराणोक्त तपस्याएँ

[अध्यात्मपरक होने से तप भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। प्रत्यक्ष रूप से इसका घनिष्ट संबंध 'शरीर शोषण' से है, किंतु गौण रूप से इसके लिए मन या चित्त के संयम की अपेक्षा भी है। 'जप आदि को वाङ्मय तप ब्रह्मचर्यादि को शारीर तप एवम् शम, सत्यचिंता आदि को मानस तप कहा जाता है।'

इस निबंध में पुराणोक्त तप विषयक समस्त बातों का सांगोपांग उद्घाटन किया गया है। पुराणों में जहाँ जहाँ तप विषयक जो जो बातें उल्लिखित हैं उनका स्थल-निर्देश तथा विशद् सूची प्रस्तुत कर देने से यह निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवम् उपयोगी हो गया है।]

तप की महत्ता—पुराणकारों ने तपश्चरण की अकुंठ प्रशंसा की है, यथा—तप से महान् अर्थ की प्राप्ति होती है; तपस्या से ही जगत्-सृष्टि संभव होती है; ऋषियों ने तप से ही वेदार्थ का अधिगम किया है; सब साधन के मूल में तप है इत्यादि[1]। वस्तुतः तपस्या की जितनी प्रशंसा पुराणों में की गई है, वह कदाचित् ही अन्य किसी प्रसंग में प्रत्यक्ष होती है।

कूर्म पुराण १।२०।३४-४६ में एक घटना उल्लिखित है, जिसमें यज्ञ, संन्यास और तप में कौन श्रेयस्कर हैं, इस पर प्रश्नपूर्वक निर्णय करने की चेष्टा की गई है—

> किं हि श्रेयस्करतरं लोकेऽस्मिन् ब्राह्मणर्षभाः।
> यज्ञस्तपो वा संन्यासो ब्रूत मे सर्ववेदिनः॥

इस विवाद में तप को श्रेयस्करतर मानने के पक्ष में भी ऋषि-संमति उपस्थित की गई है। दानादि स्थूल सत्कर्मों से तप को श्रेष्ठ माना ही जाता है—

१—तपसा महदाप्नोति (शांति०, १९।२६); तपसा विन्दते महत् (वन०, ३१३।४८); प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः। तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे (शांति०, १६१।२); तपोमूलं हि साधनम् (शांति०, १६१।४); यद् दुरापं भवेत् किञ्चित् तत् सर्वं तपसो भवेत्। ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः (शांति, १६१।५); तपो विना शुद्ध देहो न कथंचन जायते। महत् कार्याणि यानीह तेषां मूलं सदा तपः। नातप्ततपसां सिद्धिर्महत् कर्माणि यान्ति वै (कुमारिका०, २५। ५-६); यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः (विष्णुधर्मो०, २।२६६।१३-१४); ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः (शांति०, १६१।५)।

दानात् श्रेयस्तथा यज्ञो यज्ञाच्छ्रेयस्तथा तपः ।[1]

तप = नियम विशेष—अष्टांग योग का जहाँ भी कोई विवरण पुराणकारों ने दिया है, वहाँ सर्वत्र तप को 'नियम' (जो संख्या में पाँच हैं) के अंतर्गत माना गया है।[2]

तप का लक्षण—एकाग्रता; संयम, त्याग, द्वंदसहन आदि विभिन्न अर्थों को तप के लक्षण के रूप में कहा गया है।[3] यथा—

मनसश्चेन्द्रियाणां हि ऐकाग्र्यं परमं तपः।[4]
मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं तप उच्यते।[5]
संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः।[6]
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा।[7]
तपः स्वधर्मवृत्तित्वमिति भारत दर्शनात् आश्रमविहितं कर्म।[8]
प्रकाशस्तपसा ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः।[9]
तपश्चेन्द्रियनिग्रहः।[10]

तप का असाधारण स्वरूप—सामान्यतया सभी प्रकार के सदाचारों में कुछ न कुछ 'द्वंदसहन' है। अतः 'तपोद्वंदसहनम्'[11] वाक्य के अनुसार सभी सदाचार तप के ही प्रकार विशेष हैं, ऐसा कहा जा सकता है। पर तप वस्तुतः 'शारीर-कष्ट-सहन' है। मन या चित्तवृत्ति से तप का अवश्य ही संबंध है, पर वह गौण है। यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम के विवरण में 'तपश्चरण' का मुख्यतः विधान पुराणों में दिखाई पड़ता है। यथा—

तपस्तप्यति योऽरण्ये·····तपसाकर्शितोऽत्यर्थं·····वानप्रस्थाश्रमे स्थितः।[12] वानप्रस्थाः···तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति।[13] बृहन्नारदीय २५।४६-६७ गत वानप्रस्थ संन्यास में तपश्चरण।

---

१ - वायु०, ६१।१४। कर्म या कर्मयोगी की अपेक्षा तप या तपस्वी योगी अधिक अभ्यर्हित हैं. यह मत पुराणों में बहुशः कथित है—कर्मयज्ञसहस्रेभ्यस्तपोयज्ञो विशिष्यते (लिंग०, १।७५।१३); तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः। यह शांतिपर्वस्थ वचन (७९।१७) भी द्रष्टव्य है।

२—अग्नि०, १६१।२०; ३८२।३१; विष्णु०, ६।७।३७-३८; लिंग०, १।८।२९-३०; गरुड०, १।२१८।१२-१३, भाग० ११।१९।३४।

३—तप 'कर्मात्मक' है। कहा भी है—'रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् (शांति०, २१७।१६)।

४—ब्रह्म०, १३०।१८। ५—अग्नि०, २७२।१९। ६—अश्वमेध०, ४७।१।

७—वन पर्व, २११।१८। ८—मनु०, १२।१७४ की कुल्लूक टीका।

९—शांति०, २१७।१६। १०—गरुड०, १।४९।३०। ११—व्यास भाष्य, २।३२।

१२—कूर्म०, १।४९।१२-१३। १३—शांति०, १९२ अ०।

तप के साथ 'शरीरशोषण' का निकटतम संबंध माना जाता था। मानस-संयम की आवश्यकता होने पर भी उसकी अप्रधानता तप में रहती है। यह शांति पर्व के इस सावधानकारक श्लोक से भी ज्ञात होता है—

अहिंसा सत्य वचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥[1]

यहां 'न शरीरस्य शोषणम्' ऐसा निषेध करने से यह ध्वनित होता है कि तप का बाह्य रूप 'शरीरशोषण' ही है। यही कारण है कि तपकारी वानप्रस्थ को लक्ष्य कर 'स्वशरीरोपजीवी' यह विशेषण अनुशासन० १४२।३ में दिया गया है।

तप की शरीर प्रधानता को लक्ष्य कर निम्नोक्त पुराण-वचन प्रवृत्त हुए हैं—

मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः।
शरीरशोषणं चापि कृच्छ्र चान्द्रायणादिभिः॥[2]
उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसा तप उत्तमम्॥[3]

पूर्वाचार्य भी तप संबंधी विशेष विवरण देने के समय तप की शरीर प्रधानता का उल्लेख अवश्य करते हैं। महाभारत के टीकाकार देवबोध कहते हैं—'तपः कायेन्द्रिय सन्तापनो धर्मः'।[4] शंकराचार्य कहते हैं—'तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादिः'।[5] तप के विवरण में 'शरीरशोषण' शब्द उपनिषद् में भी प्रयुक्त हुआ है—

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत् तत् तप इत्युच्यते बुधैः॥[6]

शांडिल्योपनिषद् भी कहता है—

तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्।

तप शरीरप्रधान द्वंदसहनरूप है। अतः तपः प्रधान वानप्रस्थाश्रम को मनः प्रधान शमदमादिबहुल संन्यास आश्रम से पृथक् गिना गया है, अन्यथा गार्हस्थ्य आश्रम के बाद आध्यात्मिक जीवन के लिए एक ही आश्रम होना चाहिए था। गृहस्थाश्रम में कुछ शरीरगत अशुद्धि उत्पन्न होती है, जिसका नाश शारीरतप से वानप्रस्थाश्रम में करने का उपदेश है। शरीरदोष के नाश होने पर मानस-शांति के लिए मनःप्रधान संन्यास आश्रम है।[7]

१—शांति पर्व, ७९।१८। २ गरुड०,१।२२९।२०। ३—कूर्म०, २।११।२१।
४ उद्योग पर्व, ४३।१२। ५—छांदोग्य०, २।२३।१ भाष्य।
६—दर्शनोपनिषद्, २।२।
७—तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात् तपः शब्दस्य तत्र रूढेः। भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपः शब्देन अभिलप्यते।
(शारीरक भाष्य, ३।४।२०।)

तप के भेद—कई दृष्टियों से तप के वर्गीकरण किए गए हैं; इनमें वाङ्मय, शारीर और मानस रूप वर्गीकरण अत्यंत उपादेय हैं।[१] स्मृतियों में भी यह वर्गीकरण उपलब्ध होता है। साधन (योगाभ्यास) के साथ इस त्रिविध भेद का संबंध है। वाग्दंड-कायदंड-मनोदंड-रूप त्रिविध दंड के धारण से ही यति को त्रिदंडी कहा जाता था। जप आदि को वाङ्मय तप, ब्रह्मचर्यादि को शारीर तप एवम् शम, सत्यचिंता आदि को मानस तप कहा जाता है। नरहरि कृत बोधसार में एक अन्य दृष्टि के अनुसार तप के चार भेद किए गए हैं—अधम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम।

तपकारी साधु—अरण्य में तप करने के कारण किसी साधक (साधु) को 'वैखानस' कहा जाता है—

साधनात् तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः।[२]

वस्तुतः वानप्रस्थी, वैखानस आदि के विवरण में तपपरक विवरण मुख्यतया मिलते हैं। मुनि आदि के प्रसंग में विशेषण के रूप में जितने शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें भी तपश्चरण का भाव स्फुटतया परिलक्षित होता है, यथा—

तपोदमाचारसमाधियुक्तास्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः।[३]
...तपसा भावितात्मनामात्मदर्शनतृप्तानाम् ऋषीणाम्॥[४]

कभी-कभी आश्रमादि के विवरण देने के समय तपकारी साधुओं का प्रसंग भी कह दिया गया है। ऐसे स्थल पुराणों में बहुत्र मिलते हैं। यहां एक विशेष स्थल उदाहृत हो रहा है—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा हृष्टपुष्टास्तपोधनाः।
केचिद् वैखानसास्तत्र केचिदासन् निरासनाः॥
यायावरास्तथा चान्ये वानप्रस्थास्तथापरे।
शालीनाश्च तथा केचित् कापोतीं वृत्तिमास्थिताः॥

१—ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते। वाङ्मनोनियमः सम्यङ्मानसं तप उच्यते। (शांति०, २१७।१७); गीता १७।१४–१६ में त्रिविध तप अभिहित हुए हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

२—लिंग०, १।१०।६०। ३—वनपर्व, १७७।२२। ४—वही, १२।५६।

तथा चान्ये जगुर्वृत्तिं सर्वभूतदयां शुभाम्।
शिलोञ्छाश्च तथैवान्ये काष्टान्ताश्च सहौजसः॥
अपाकपाकिनः केचित् पाकिनश्च क्वचित् पुनः।
नानाविधिधराः केचिज् जितात्मानस्तु केचन॥
स्थानमौनव्रताः केचित् तथान्ये जलशायिनः।
तथोदवंशायिकाश्चान्ये तथान्ये मृगचारिणः।
पञ्चाग्नयस्तथा केचित् केचित् पर्णफलाशिनः॥
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च तथान्ये शाकभक्षिणः।[1]

ऐसा ही एक विवरण कूर्मपुराण में भी आया है।[2] अनुशासन में भी तपस्वियों का रुचिर विवरण मिलता है।[3]

तपों की विशद सूची—काशीखंड २२।१३–२१ में सभी प्रसिद्ध तपों की एक विशद सूची दी गई है। ऐसी बृहत् सूची किसी भी पुराण में नहीं है। उक्त सूची में ये तप निर्दिष्ट हुए हैं—शिलोञ्छवृत्ति, दन्तोलूखल, अश्मकुट्टन, शीर्णपर्णाशन, पञ्चाग्नि तप, स्थण्डिलशयन, जलवास, कुशाग्रजलपान, वायुपान, पादाङ्गागुष्ठभूमिस्पर्शन, ऊर्ध्वहस्त, सूर्यदर्शनपरायणता, एकपदस्थिति, दिवा उच्छ्वासहीनता, मासान्त में प्रश्वास त्याग, मासोपवास, वर्ष के अंत में निमेषपात, वर्षण जल का पान, स्थाणुतुल्यता, वल्मीकवत् शरीर धारण, मांसहीनशरीर धारण इत्यादि।

वानप्रस्थ के प्रसंग में तपों का निर्देश प्रायेण किया गया है। भागवत ११।१८।१–९ का संदर्भ इस प्रसंग में अवलोकनीय है।[4] यहां 'तपश्चरेत्' (चतुर्थ श्लोक) एवम् 'एवं चीर्णेन तपसा (नवम श्लोक) कहा गया है, जिनसे अत्रोक्त आचरणों की तपोरूपता ज्ञात होती है।

तपस्वियों के कठोर तप के विवरण—पुराणों में तपकारी के अनेक कठोर और सूक्ष्म तपस्याओं के विवरण दिए गए हैं। इन विवरणों से तत्कालीन अनेक लुप्त तपों का ज्ञान भी हो जाता है। इस विषय में पुराणों के निम्नोक्त स्थल द्रष्टव्य हैं—

पृथु वैन्य का तप — भाग० ४।२७।३–९।
च्यवन का तप — रामा०, १।७०।३१–३२।
अर्जुन का तप — शांति०, ३८।२२–२७, वन०, ३५अ०।
कृष्ण का तप — वन०, १२।११–१६।

१—वराह०, २१२।६–१५। २—कूर्म०, २।३७–१२। ३—अनुशासन, १४।५५–५६।
४—वानप्रस्थ आश्रम में विशेषकर तपों की चर्चा की गई है। अतः वानप्रस्थाश्रमविवरणपरक निम्नोक्त पुराण के स्थल द्रष्टव्य हैं—पद्म०, ५।१५।३३१–३४६; विष्णु०, ३।६।१८–२३; कूर्म०, २।२७।१–३६; विष्णुधर्मोत्तर०, ३।३३६ अ०; बृहन्नारदीय०, २५।४६-५२; बृहद्धर्म०, ३।७। नरसिंह०, ५६ अ०, अग्नि०, १६० अ० इत्यादि।

पांडु का तप	—	आदिपर्व, ११८।७–२१, ११८।३२–३७।
जाजलि का तप	—	शांति०, २६१।१३–३७।
जामदग्न्य राम का तप	—	ब्रह्मांड०, २।२२।६९–७८।
तारक दैत्य का तप	—	मत्स्य०, १४८।१०–१२।
ययाति का तप	—	मत्स्य०, ३५।१२–१७।
अर्जुन का तप	—	वन०, ३५ अ०।
युधिष्ठिर का तप	—	शांति०, ९ अ०।
ध्रुव का तप	—	भाग०, ४।८ अ०।

तप संबंधी विभिन्न मान्यताएँ—'तप' के विषय में अनेक विशिष्ट सूचनाएँ मिलती हैं, यथा—

१. ब्रह्मप्रोक्त शास्त्र का एक विषय—पैतामह शास्त्र के अनेक विचार्य विषयों में 'तप' भी एक विषय था, यह शांति० (५९।१४१) में कथित है।

२. तप धर्म का एक पद है—भागवत का कथन है—

'विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।'[1]

३. तप धर्मों का एक अंग है—भागवत के ग्यारहवें अध्याय में भागवत धर्म के विवरण में 'शौचं तपः' कहा गया है[2]; श्रीधर तप का अर्थ स्वधर्माचरण कहते हैं। तप को पंचविध शिवधर्म का एक अंग माना गया है—'तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेति समासतः।'[3]

४. तप और आत्मज्ञान—आत्मज्ञान तप के बिना साध्य नहीं; यह श्रौत मत चिरकाल से प्रसिद्ध रहा है—

ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् पदम्।[4]
तपसा भावितात्मनामात्मदर्शनतृप्तानामृषीणाम्।[5]

५. दोष त्याग एवम् गुणाधान—तपकारी के लिए दोष का त्याग एवम् गुणों का आधान करना चाहिए। इस गुण-दोष के विवरण के लिए उद्योग पर्व का वाक्य द्रष्टव्य है—

दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्॥[6]

यहाँ दोष शब्द से मद एवम् प्रमाद का दोष तथा अप्रमाद के आठ गुण अभिहित हुए हैं।

६. तपस्या से वैराजपद की प्राप्ति—कई पुराणों में 'पंचविध विशिष्ट गतियों' का उल्लेख है, जो गतियाँ यज्ञ, तप, संन्यास, वैराग्य और ज्ञान से प्राप्त

१—भागवत, ३।१३।२५। २—वही, ११।३।२४। ३—शिव०, ७।२।७।३७।
४—अश्वमेध, ४७।३। ५—वन०, १२।५६। ६—उद्योग०, ४३।३६।

होती हैं। इन स्थलों में 'वैराजं तपसा पदम्' ऐसा ही कहा गया है।[१] अनुशासन पर्व में इन गतियों का अनुस्मरण है—

वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः।[२]

७. तप का फल—किस तप से कौन-सा फल प्राप्त होता है, इसका विस्तृत विवरण अनुशासन पर्व के ५७ अध्याय में मिलता है।

८. तपोवृद्ध—वृद्ध त्रिविध हैं—ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्ध।[३]

९. तपश्चरण हेतुक स्थान-नाम—जिसने जहाँ तप किया, उनके नाम के अनुसार उस स्थान का नाम पड़ गया है, ऐसा एक मूल्यवान् कथन देवीभागवत में मिलता है। इस मत की पुष्टि के लिए वामनाश्रम एवम् शतयूपाश्रम रूप दो स्थलों के नाम भी गिनाए गए हैं—

वामनाश्रम आख्यातः शतयूपाश्रमस्तथा।
येन यत्र तपस्तप्तं तस्य नाम्नातिविश्रुतः॥[४]

१०. तपोमल—महाभारत के भीष्म पर्व में १२ तपोमल का उल्लेख आया है—क्रोध, काम, लोभ, मोह, विधित्सा (चिकीर्षा), अकृपा, असूया (गुण में दोष दर्शन), मान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और जुगुप्सा।[५]

११. तपस्या के अंतराय—सनत्सुजात के २।१८–१९ में १३ तपस्या-बाधक तत्वों के निर्देश हैं।

१२. तपोजात शक्तियाँ—योग शास्त्र में कहा गया है कि तप से कई प्रकार की सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। तपस्वी के प्रभाव से हिंसक प्राणी हिंसा छोड़कर एक दूसरे के साथ निःशंक होकर रहता है। इस विभूति का एक सजीव चित्रण ब्रह्मांड०, २।५१।५–१३ में मिलता है। काशीखंड में भी एक ऐसा ही चित्रण है।

१३. तपो हेतुक शरीरादि-परिणाम—तपस्या से शरीर की कांति में कितनी वृद्धि होती है, मुखादि से शांति-भाव कैसा विकीर्ण होता है इत्यादि का एक रोचक चित्रण सिद्धेश्वर कपिल के प्रसंग में ब्रह्मांड पुराण में दिया गया है।[६] इसी प्रकार का मारीच कश्यप ऋषि का एक वर्णन वामन पुराण में मिलता है।[७]

तपोवन और तपस्थान—पुराणों में तपस्या की दृष्टि से वन और अरण्य की प्रशस्तता मानी गई है। कहा गया है—

वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनवासिभिः।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः॥[८]

१—अग्नि०, ३७६।१। २—अनुशासन०, १६।६५। ३—बृहन्नारदीय, २३।३४।
४—देवीभागवत, ६।१२।१३। ५—भीष्म पर्व, तथा सनत्सुजात, २।१५–१६।
६—ब्रह्मांड०, २।५३।१७–२१। ७—वामन०, २४।७–११। ८—अनुशासन, १४२।१३।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तपस्या से वन का निकटतम संबंध है।[१]

स्थल विशेषों को तपः क्षेत्र के रूप में मानने की प्रवृत्ति यत्रतत्र दृष्ट होती है, यथा--कुरुक्षेत्र,[२] हिमवत् गिरिगत गङ्गातीरस्थ नादेश्वर तीर्थ[३], भृगुतुङ्ग तथा वदरिकाश्रम इत्यादि।

ऐसा जान पड़ता है कि वनवासियों के लिए तपश्चरण विशेषतः विहित हुआ था। गरुड़पुराण में कहा गया है कि तप करना वनवासियों का धर्म है; वन में रहकर तपस्यापूर्वक ध्यानादि का अनुशीलन करनेवाले संन्यासी कहलाते हैं।[४]

अब पुराणोक्त प्रसिद्ध तपों की सूची प्रस्तुत की जा रही है—

अकृष्टपच्यवृत्ति—यह वैखानस-तपस्वी का धर्म है।[५] कर्षण के बिना जो शस्य उत्पन्न होता है, उससे जीवन धारण करना इसका स्वरूप है।

अग्निप्रवेश—अग्निप्रवेश कर मरण का वरण करना एक तप है—'हुत्वाग्नौ देहमुत्सृज्य तपः।'[६] इतिहास पुराण के अतिरिक्त स्मृतियों में भी यह तप उल्लिखित है।[७]

अग्नियोग—अनुशासनपर्वस्थ तप-विवरण में यह शब्द है—'अग्नियोगवहो ग्रीष्मे'[८]। नीलकंठ के अनुसार इसका अर्थ 'पञ्चाग्निसेवन' है।[९]

अग्निहोत्र—अनुशासन०, १४२ अ० (दाक्षिणात्य पाठ) में वानप्रस्थतप के विवरण में इसका उल्लेख है।

अग्राम्यपचन—अनुशासन०,१४२ अ० (दाक्षिणात्य पाठ) में यह तप उक्त है।

अङ्गुष्ठाग्रस्थिति (पैर के अँगूठे पर खड़ा रहना)—अनुशासन०, १४।१६८ तथा लिंग०, १।६९।७६ में यह उक्त है।

१—तप के अनुकूल स्थलों का परिचय इस श्लोक में मिल जाता है—

स्थण्डिलेषु विचित्रेषु पर्वतानां गुहासु च।
नदीनां च विविक्तेषु पुलिनेषु शुभेषु च॥—कूर्म०, २।३६।६।

२—भीष्मपर्व, १।२। ३—बृहन्नारदीय, १४।४८।

४—भूमौ मूल फलाशित्वं स्वाध्यायस्तप एव च।
संविभागो यथान्यायं धर्मोऽयं वनवासिनाम्॥ ११॥
तपस्तप्यति योऽरण्ये यजेद्देवान् जुहोति च।
स्वाध्याये चैव निरतो वनस्थस्तापसोत्तमः॥ १२॥
तपसा कर्शितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
संन्यासी स हि विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः॥ १३॥—गरुड०, १४९ अ०।

५—भाग० (श्रीधरी), ३।१२।२७। ६—अनुशासन०, १४२।५२।

७—याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।५५। ८—अनुशासन०, १४२।४३। ९—द्र०—'पञ्चाग्नि' शब्द।

अजिनवास (मृगचर्मधारण)—वानप्रस्थ तप में यह उल्लिखित है।[1]

अनशन-उपवास—शांति०, १६१।७ में कहा गया है कि अनशन से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है—'तपो नानशनात् परम्' तथा अनुशासन०, १४२।४६ का वाक्य है—'देहं चानशने त्यक्त्वा...'।

अनिकेत—गृह में न रहने का उल्लेख ब्रह्मांड०, २।२२।७१ में हुआ है।

अनिमेष—वनपर्व, १८७।५ एवम् हरिवंश, १।२५।६ में 'निमेष रहित' उक्त है। नीलकंठ का कथन है—'अनिमेषस्य निमेषरहितस्येत्यनेन सूर्यादिबाह्य-ज्योतीरश्मिषु धारणाः तस्याः बलसाम्यत्वं सोमवत् शुक्रभास्वररूपत्वं कीटभृङ्गन्यायेन ध्येयसारूप्यं प्राप्त इत्यर्थः।'—हरिवंश०, १।२५।५।

अनुच्छ्वास—काशी०, २२।१६ में उक्त है।

अनुत्तर—हरिवंश०, १।२५।४ में उक्त है; नीलकंठ इसका अर्थ 'मौन' करते हैं।

अपभक्षण—जल मात्र का ही पान करके रहने का वचन वायु०, ६०।८, रामायण, १।५१।२६, महाभा०, ३।१५९।१६ आदि में उक्त है।

अप्रक्षाल—अश्वमेध, ९२।७ में उल्लिखित है। नीलकंठ के कथनानुसार जो अन्न का शेष दूसरे दिन के लिए नहीं रखते, वे अप्रक्षाल तपस्वी कहे जाते हैं।

अभ्यङ्ग—वन्यस्नेह अर्थात् तेल से गात्र का अभ्यङ्ग (मालिश) करना विष्णु पु०, ३।९।२२ में वानप्रस्थचर्या प्रसंग में उक्त है।

अभ्यागतपूजन—विष्णु०, ३।९।२१ में वानप्रस्थ तप के प्रसंग में उक्त है।

अभ्रावकाश—अभ्र अर्थात् मेघ ही जिसका अवकाश है वह, जो तपस्वी किसी वृक्ष के नीचे या किसी घर में नहीं रहता अभ्रावकाश कहलाता है। शिवाराधन के प्रसंगमें यह तप लिंग०, १।३१।२३-२६ में उक्त है।

अरण्यवास—इसका उल्लेख गरुड०, १।४९।१२ तथा लिंग०, १।१०।९ में है।

अवाक् शिरः (नीचे शिर कर तप करना)—वन पर्व, १८७।५ में तपस्वी विशेष का यह विशेषण है।

अश्मकुट्टन—अश्मा (पत्थर) से ही कूट कर खानेवाले तपस्वी अश्मकुट्ट कहलाते हैं। इनका उल्लेख लिंग०, १।३१।२३-२६, मत्स्य०, १७५।३५ आदि में आया है। कोई-कोई इसका अर्थ 'पत्थर से अपने को कूटनेवाला' कहते हैं—'अश्मभिरात्मशरीराणि कुट्टन्तीति अश्मकुट्टाः'।[2]

अस्थिभक्षण—प्रभासखण्ड, ३१७।१११ गत तपस्विवर्णन प्रसंग के अंतर्गत 'शिलाचूर्णास्थिभक्षकाः' विशेषण आया है।

१—द्र०—अग्नि०, १६०।१। २—रामा०, गोविंदराजीय टीका, ३।६।२।

अहिंसा—लिंग०, १।१०।१९ में इसकी गणना तपरूप में हुई है। इस प्रसंग में शांति०, ७९।१८ भी द्रष्टव्य है। अहिंसा प्रतिष्ठा से तपस्वी योगी के समक्ष पश्वादि में वैरभाव नहीं रहता। इसका एक विवरण ब्रह्मांड०, २।५१ अ० में द्रष्टव्य है।

आतपसहन (सूर्यलोक में ही रहना)—भागवत, १०।३।३४ के तपोवर्णन के प्रसंग में इसका उल्लेख आया है।

आत्मस्थता—आत्मस्थतापरक अनेक शब्द तपकारी के विशेषण में यत्र तत्र मिल जाते हैं, यथा—'भावितात्मा'[१], 'आत्मवान्' आदि।

आनृशंस्य (नृशंसता का अभाव)—शांति०, ७९।१८ के तपनाम में उक्त है।

आयतनशौच—वाणप्रस्थतप के विवरण में 'सदायतनशौच' पद अनुशासन पर्व, १४२ अ० (दाक्षिणात्य पाठ) में आया है।

आर्जव—यह शारीरतप विशेष है। इसके लिए गीता, १७।१४ द्रष्टव्य है।

आर्द्रवास—हेमंत में आर्द्रवास रहकर तप करना कूर्म०, २।२७।२९ में उल्लिखित है।

आहार-नियम—अनुशा०, १४२।४४ में तप के प्रसंग में यह उल्लिखित है—'आहारनियमं कृत्वा मुनिर्द्वादशवार्षिकीम्'।

इन्द्रियजय—रामायण, १।४२।१२ में तपकारी के विशेषण में 'जितेन्द्रिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

उच्छ्वासशून्यता—'ये वै दिवा निरुच्छ्वासाः'। काशी०, २२।१७।

उत्तरीयधारण—विष्णु०, ३।९।२० में वानप्रस्थ तप में 'चर्मकाशकुशैः कुर्यात् परिधानोत्तरीयके' उक्त है। इस प्रसंग में कूर्म०, २।२७।३४ भी द्रष्टव्य है।

उपवास—अनेक प्रकार के उपवास तप में यह उक्त है, यथा—मासोपवास (नागर, १६९।४२) आदि।

ऊर्ध्वबाहु—शांति०, ३४०।४७ के तपोविवरण में 'ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च' कहा गया है। यह तप वनपर्व, १८७।४-५, लिंग, १।६९।७६ तथा रामायण, १।४२।१२ में भी उक्त हुआ है।

ऊर्ध्वमंथन—भाग०, ११।६।४७ में 'श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः' कहा गया है।

ऊर्ध्वशयन—वराह०, २१२।१४ में 'ऊर्ध्वशायिक' पद है।

ऋतुचर्या—एक-एक ऋतु के अंत में ही जल का पान करने के तप का कथन काशी०, २२।१७ में आया है।

एकपादस्थितता—यह मत्स्य०, ३५।१७, शान्ति०, ३४०।४७ तथा वन०, १८७।४ में उक्त है।

१—हरिवंश, १।२५।१-६।

एकस्थानस्थिति—एक ही स्थान में रहने के तप का विवरण वन०, १२२।२ में उक्त है।

एकाहार—शांति, ३००।४४ में कहा गया है—'एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात्'। नागर०, १९८।५९ में 'एकान्तरोपवास' तथा वही, २०६।३ में 'एकान्तरितभोजन' भी द्रष्टव्य है।

कण-आदि भक्षण—शांति०, ३००।४३ में कथित है 'कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत ··· योगी बलमवाप्नुयात्'।

कषायधारण—अनुशा०, १४२।२२ में दारत्यागी वानप्रस्थचर्या में उक्त है।

कापोतीवृत्ति (कपोत की तरह चुँगकर खाना)—अनुशा०, १४२ अ० दा० पा० में वैखानसतपस्वी के प्रसंग में इसका उल्लेख है। इसके लिए वराह, २१२।११ भी द्रष्टव्य है।

काष्ठवत्स्थिति—तपकारी मुनियों के विवरण में 'काष्ठ-लोष्ठसम' विशेषण बहुधा आया है। इसके लिए वामन, ४३ अ० द्रष्टव्य है।

केशादिमोचन—तपस्याकारी के विशेषण में 'प्रलुप्तश्मश्रुकेश' शब्द लिंग, १।६९।७५ में है।

क्षुधासहन—काशी०, २२।१५ में इसका निर्देश है, 'अतिक्षुधित' विशेषण है।

गोचारण (हाथ पैर के बिना मुख से ही चलना-फिरना)—अनुशासन०, १३।५७ में यह उक्त है। नीलकंठ कहते हैं—'गोचारिणः गोवन्मुखनैव चरन्तः हस्तव्यापारशून्या इत्यर्थः'।

गोमयालेपन—अनुशासन, १४२ अ० (दा० पाठ) में वानप्रस्थतप के प्रसंग में प्रोक्त है।

घृणा (अनुकंपा)—शांति, ७९।१८ में तप विशेष के रूप में उक्त है।

घृतलेपन—लिंग, १।६९।७५ में तपकारी के विशेषण में 'घृताक्त' कहा उक्त है।

चक्रचर—यह वानप्रस्थ का भेद विशेष है तथा अनुशासन०, १४२ अ० (दा० पाठ) में उक्त है। इसका अर्थ है—चक्र के समान विचरण करनेवाले।

चरणभेदन (पत्थर से पैर को तोड़ना)—अनुशासन० १४२।५० में यह तप उक्त है—'अश्मना चरणौ भित्त्वा'।

चीरधारण—तपकारी का 'चीरी' विशेषण हरिवंश०, ३।८४।१५ में है।

जटाधारण—अग्नि०, १६०।१ में 'जटित्व' [illegible]प्रस्थचर्या में उक्त है; हरिवंश०, ३।८४।१५ में तपस्वी का 'जटी' विशेषण है।

जप—वायु०, ५९।४१ में इसको तप का 'मूल' माना गया है।

जलपान—कुशाग्र जल का पान काशी०, २२।१५ में एवम् ऋत्वन्त में जलपान २२।१७ में उक्त है।

जलशयन—शिवाराधनपरक तप के विवरण में 'अन्तर्जलेशय' शब्द लिंग०, १।३१।२३-२६ में आया है।

तीर्थयात्रा—अनुशासन०, १४२।१२ में तपस्वी वानप्रस्थचर्या में यात्रा (तीर्थयात्रा) उक्त हुआ है।

तैलसेवन—तपस्वी वानप्रस्थ के लिए विशिष्ट तैलों का ग्रहण अनुशिष्ट हुआ है, यथा—'इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थे च निषेवणम्' (अनुशा०, १४२।७)।

त्रिदंडधारण—इसका उल्लेख नागर०, १।८ के तापसविवरण में आया है।

त्रिरात्रभोजन—नागर०, १९८।५९ में 'त्रिरात्रभोजी' एवम् वही, १६९।४१ में 'त्रिरात्रोपोषित' विशेषण तपस्वियों के लिए आए हैं।

दंतोलूखल (दाँत से काट-पीस कर ही खाना)—मत्स्य०, १७५।३५, लिंग०, १।३१।२३-२६ इत्यादि में इसका उल्लेख है। वीरमित्रोदय में इसकी व्याख्या है—'दन्ता एव उलूखलं निस्तुषीकरणसाधनं यस्य सः' (याज्ञ० स्मृति, ३।४९)।

दम—शांति ७९।१८ में तपोविशेष के रूप में उक्त है।

दुग्धाहार—यह अग्नि०, १६०।२ में उक्त है।

दूराध्वगमन—महाप्रस्थान में जाकर शरीर छोड़ना वानप्रस्थ तपस्वी के लिए विशेषतः विहित है। विष्णुपुराण में इसका उल्लेख है।

देवयजन—तापस वानप्रस्थ के लिए 'यजेद् देवान् जुहोति च' गरुड०, १।४९।१२ में कहा गया है। अग्नि०, ३७२।२१ में 'शारीरं देवपूजादि' तपोभेद में गणित हुआ है।

ध्यान—यह एक तप विशेष है। इस विषय में गौतमधर्मसूत्र के मस्करि-भाष्य में एक पुराणवचन उद्धृत हुआ है।

निरालंबन भाव (किसी पर अवलंबित न रहकर दृढ़रूप से खड़ा रहकर तप करना)—लिंग०, १।६९।७६ में तपकारी के विशेषण में 'निरालंब' पद आया है।

निरासन (आसन छोड़ना)—वराह०, २१२।९ में यह तप उक्त है। गौ० ध० सू० मस्करिभाष्य १९।१६ से ज्ञात होता है कि किसी पुराण में 'निरासन' को तपरूप में गिना गया था।

निराहार—वायु०, ५९।४१ में इसको 'तपसो मूलम्' कहा गया है।

निर्लक्ष्यता (किसी पर अपनी दृष्टि न रखना)—किसी तपकारिणी महिला के विशेषण में 'निर्लक्ष्या' पद ब्रह्मवैवर्त०, २।१५।२० में प्रयुक्त हुआ है।

पंचयज्ञानुष्ठान—अनुशा०, १४२।१४ में तपस्वी वानप्रस्थचर्या में उक्त है।

पंचाग्नितप—चारों ओर आग जलाकर बैठना तथा मस्तक पर सूर्य की स्थिति इस प्रकार के तपश्चरण का उल्लेख मत्स्य०, १७५।३५ तथा कुमारिका खंड, २३।८९ में है।

पत्राहार—तापस विशेषण में पत्राहार शब्द रामायण, ३।६।२ में है—'पत्रमात्राहारनिरताः' (रामायणशिरोमणि टीका)।

पद्मासन—इस आसन का बहुधा उल्लेख ब्रह्मांड, २।२२।७४ के अंतर्गत तपोविवरण में मिलता है।

पयोवृत्ति (दूध पीकर रहना)—यह लिंग०, १।२९।७८-७९ में यतिव्रतरूप में उक्त है।

परिधान—तपस्वी वानप्रस्थ के परिधान के विषय में उल्लेख मिलते हैं, यथा—'चर्म काश कुशैः कुर्यात् परिधानोत्तरीयके' (विष्णु०, ३।९।२०)।

परिपृष्टिक—वह तपस्वी है जो पूछने पर ही कुछ ग्रहण करता है, स्वयम् जाकर किसी से कुछ नहीं माँगता। इसका विवरण अश्वमेध ९२।७ की नीलकंठी टीका में द्रष्टव्य है।

पर्णाशन (वृक्ष के पत्र खाकर रहना)—भाग०, ४।२३।५ में शुष्क पर्णाशन, वायु०, ७३।९ में 'एक पर्णभक्षण', रामायण, १।५१।२६ में 'शीर्णपर्णासन' तथा स्कंद, १।१।२१।१५५ में 'आर्द्रपर्णभक्षण' शब्द मिलते हैं।

प्रत्याहार—विष्णुधर्मोत्तर, ३।२८१।१ में इसे 'परमं तपः' कहा गया है।

प्रपदस्थिति—यह कूर्म०, २।२०।२८ में उक्त है।

प्रसंख्यान—इसका उल्लेख अश्वमेध ९२।७ में हुआ है। इसका अर्थ है—'तत्काल मात्र संग्रह' (नीलकंठ)।

प्राणायाम—धर्मारण्य, ५।७३ में 'प्राणायामः परं तपः', भाग०, १०।३।३४ में 'श्वासरोध' तथा विष्णुधर्मो०, ३।२८०।४ में 'प्राणायामात् परं नास्ति द्विजातीनां तथा तपः' कथित है।

फलभोजन—इसका उल्लेख लिंग, १।६९।७६, १।२९।७८-७९ आदि में हुआ है।

फेनपवृत्ति—भाग०, ३।१२।२७ में वनस्थ तपस्वी की 'फेनप' वृत्ति अन्यतम मानी गई है। श्रीधरानुसार फेनप तपस्वी पतितफल से ही जीवनयापन करते हैं।

बलिप्रदान—विष्णु०, ३।९।२१ में वानप्रस्थचर्या में इसका उल्लेख है।

बालखिल्यवृत्ति—भागवत, ३।१२।२७ में तपस्वी-भेद में 'बालखिल्यों' का उल्लेख है। श्रीधर के कथनानुसार बालखिल्य वे हैं, जो नूतन अन्न की प्राप्ति होने पर संचित अन्न को छोड़ देते हैं।

ब्रह्मचर्य--वायु०, ५९।४१ में यह तप का मूल माना गया है। गीता में इसे शरीरतप माना गया है। अग्नि०, १६०।२ में कहा गया है कि तपस्वी वानप्रस्थ का गुण 'ब्रह्मचारिता' है।

भस्मशयन—तपकारिणी अहिल्या का भस्मशायिनी विशेषण रामायण, १।४८। ३१ में दिया गया है।

भावसंशुद्धि--गीता, अ० १७ में इसे मानसतप का एक भेद कहा गया है।

भूमिशयन--अग्नि०, १६०।१, विष्णु०, ३।९।१९ तथा हरिवंश, ३।८४। १६ में यह उल्लिखित है।

मण्डूकयोग--अनुशासन, १४२।९ में यह उक्त है। इसका अर्थ है—हठयोग शास्त्रोक्त रुद्धप्राण होकर रहना, जैसे मेढक रहते हैं।

मंत्रजप—यह अग्नि०, ३७२।२० में वाचक तप में परिगणित है।

मरीचिपान (चंद्र-रश्मि पान कर रहना)--अनुशा०, १४।५७ में प्रयुक्त मरीचिप की व्याख्या करते हुए नीलकंठ ने कहा है--'मरीचिपाः चन्द्ररश्मिपाने नैव जीवन्तः'।

मरुसाधन (जल का त्याग करना)—अनु०, १४२।४४ में इस तप का नाम आया है।

महानियम—कुछ कठोर तपों का सामूहिक नाम 'महानियम' है। इसके लिए शांति०, ३४०।४६-४७ द्रष्टव्य है।

महापराक—यह नागर०, १६९।४२ में उक्त है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।२५।७ की हरदत्त टीका में इसे एक तीक्ष्ण तपोविशेष कहा गया है।

मासाहार (मास में एक बार भोजन करना)--तपकारी के विशेषण रूप में यह रामायण, १।४२।१३ में उक्त है।

मांसहोम (स्वदेह मांस का होम)—इसका उल्लेख मत्स्य०, १४८।१२ तथा नागर० १५७।२७ में आया है।

मुञ्जमेखलाधारण—तपकारी का मुञ्जमेखली विशेषण लिंग०, १।६९।७५ में है।

मूलाहार—यह वायु०, ६०।८ में उक्त है। अनुशा०, १४२ अ० (दाक्षिणात्य पाठ) में यह वानप्रस्थचर्या के रूप में उक्त है।

मृगचर्मधारण--इसका उल्लेख अनुशा०, १४२।१२ में आया है। उसी के १४२।४० में 'मृगमुखोच्छिष्ट शष्प' का भोजन भी तप माना गया है।

मुंडन--(शिर का) यह अनुशा०, १४२।२२ में उक्त है। आदि पर्व, ७४ अ० दा० पा० में तपकारी मुनियों के विशेषण में 'मुण्ड' शब्द मिलता है।

मौन—इसको अनुत्तरतप माना गया है। इस संबंध में हरिवंश०, १।२५।४ की नीलकंठी टीका द्रष्टव्य है।

यज्ञ—भाग०, ११।१८।७-८ में तप में यज्ञों (कतिपय विशिष्ट यज्ञों) का उल्लेख है। इसके लिए अनुशा०, १४२।१५ भी द्रष्टव्य है।

यत्र सायंगृह—तपकारी मुनि का यह विशेषण वनपर्व, १२।११ में है। सायंकाल ही जहाँ जाय वहीं रह जाने वाले को 'यत्र सायंगृह' कहते हैं।

रागत्याग—अग्नि०, ३७२।२० में तपोभेद में उक्त है।

वनवास—तपस्वी का वनवास अति प्रसिद्ध है। इसके लिए अग्नि०, १६०।२, अनुशा०, १४२।५ और १४२।१३ द्रष्टव्य है।

वर्षा—वृष्टि जल का ही पान कर तप करने का उल्लेख काशी०, २२।१८ में है।

वातसहन—यह भाग०, १०।३।३४ में उक्त है।

वायुजय—ब्रह्मांड०, २।२२।७४ में यह तपस्वी का विशेषण है।

वायुभक्षण—वनपर्व, ३।१५९।१६ तथा रामायण, १।५१।२६ में उक्त है।

वीटधारण—(मुख में वीट = लकड़ी का छोटा टुकड़ा रखना) इसका उल्लेख वामन०, ६०।८-९ में आया है।

वीरासन—इस आसन में बैठकर तप करने का उल्लेख बहुत्र मिलता है (अनुशा०, १४।५५)। कहीं कहीं वीरस्थान शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (वन०, १२२।२)। अनुशासन, १४२।१० में 'वीरासनरत' शब्द आया है। वीरासन का लक्षण हठयोगीय ग्रंथ में है। अग्नि० में इसका एक विचित्र लक्षण दिया गया है—

उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेद् उपविष्टस्तथा निशि।
एतद् वीरासनं प्रोक्तं कृच्छ्रकृत् तेन पापहा ॥ १७१।३-४।

व्रत—व्रत को तप और नियम कहा गया है। अग्नि० में कथित है—

व्रतं हि कर्तृसन्तापात् तप इत्यभिधीयते।
इन्द्रियग्रामनियमात् नियमश्चाभिधीयते ॥—१०५।३।

सौर पुराण, १४।११ में यह प्रश्न है—'केन व्रतेन चीर्णेन तपोवृत्तिः प्रजायते', यह भी व्रत की तपोरूपता का ज्ञापक है।

शाकभक्षण—यह वराह०, २१२।१५ में उक्त है। हरिवंश, ३।८४।१८ में यह तपस्वी के विशेषण-रूप में प्रयुक्त है। प्रभास खंड, १२।९ में 'शाकाहार' शब्द है।

शारीरतपः—अग्नि०, ३७२।२१ में देवीपूजादि को शारीरतप माना गया है।

शिलवृत्ति (क्षेत्र में पतित शस्यांश का ग्रहण)—उद्योग०, ३४।३३ में शिलाहारी तपस्वी का उल्लेख आया है।

शीतोष्णसहन—यह विष्णु०, ३।९।२२ में उक्त है।

शैवालशोभन—शैव तपस्वी का यह विशेषण लिंग०, १।३१।२३ में

प्रयुक्त है। 'शैवालोत्तर भोजन' पद अनुशासन, १४२।११ में आया है।

श्मशानवास--तपस्विनी किसी महिला का 'श्मशानस्था' विशेषण ब्रह्मवैवर्त, २।१५।१७ में है।

श्मश्रुछेदन--तपकारी का 'प्रलुप्तश्मश्रुकेश' विशेषण लिंग, १।६९।७५ में है।

षष्ठकालाशन--नागरखंड, २०६।३ में 'षष्ठकालाशिनश्चान्ये' वाक्य है तथा उसी के १९९।६४ में 'षष्ठकालकृताशनः' पद भी है। 'षष्ठादकालभोजी' शब्द नागर० १९८।५९ में मिलता है।

सत्यवचन--शांति०, ७९।१८ में उक्त है।

संन्यास--'संन्यासः परमं तपः' वचन इस विषय में प्रसिद्ध है (शांति०, १६१।९)। अश्वमेध०, ४७।१ में भी 'संन्यासं तप इत्याहुः वृद्धाः निश्चितवादिनः' कहकर इस मत की पुष्टि की गई है।

समाधि—अनुशासन०, १४२।२३ में उक्त है।

संप्रक्षाल—अनुशासन, १४।५६ की नीलकंठी टीका के अनुसार 'संप्रक्षाल' उन तपस्वियों को कहते हैं, जो मैत्र्यादि से चित्त निरोध करते हैं। रामायण, ३।६।२ में तापस-विशेषण में 'संप्रक्षाल' शब्द आया है, जिसकी एकाधिक व्याख्याएँ ये हैं—'भगवतः पादप्रक्षालनजाः महर्षयः' (तिलक टीका), 'सदा शरीरं संप्रक्षालयन्तीति संप्रक्षालाः (रामायणशिरोमणि), 'अश्वस्तनिका संप्रक्षाला इत्यन्ये (तिलक टीका)।

सूर्यगति के साथ विद्यमान—काशी खंडोक्त तपस्वि-विवरण में 'सूर्यगत्या वर्तमानः' वाक्य है। 'सूर्यगत्या स्थितेन मुनिना' वाक्य वराह०, १८०।९ में है।

सूर्यदर्शन—वनपर्व, १६१।५७ में तपस्वियों की सूर्याभिमुख स्थिति उक्त है।

सौम्य भाव—गीता, १७ अ० में मानसतप विशेष के रूप में कथित है।

स्थण्डिलशयन—कुमारिका खंड, २३।८-९ में उक्त है। अनुशासन, १४२।१० में भी यह उक्त हुआ है।

स्थान वीरासन—लिंग०, १।३१।२३-२६ में उक्त है। याज्ञवल्क्य०, ३।५१ में 'स्थानासनविहारैर्वा' वाक्य आया है। वीरमित्रोदय टीका में कहा गया है—'स्थानेन ऊर्ध्वावस्थानेन'।

स्नान—नागर०, १।८ में तापस के विशेषण में 'स्नानहोमपर' शब्द प्रयुक्त है। वानप्रस्थ का 'त्रिसवनस्नायी' विशेषण अग्नि०, १६०।२ में है। विष्णु०, ३।९।२० में भी 'त्रिसवनस्नान' उक्त हुआ है।

स्वाध्याय—गरुड०, १।४९।१२ में 'स्वाध्याये चैव निरतो वनस्थस्तापसोत्तमः' वाक्य है। गीता में 'स्वाध्याय' को 'वाङ्मय तप' माना गया है।

हिमसहन—तपकारी के विवरण में 'हिमसहमान' पद भाग०, १०।३।३४ में आया है।

'श्रीमुग्ध'

श्रीरामचरितमानस और योग

गतांक में देववंदना के प्रथम प्रकरण की इति करते हुए उसमें अंतर्निहित ब्रह्मविद्या की याचना के भाव का उद्बोधन किया गया था। वह याचना गोस्वामीजी की ही नहीं, मानव मात्र की है। पुराकाल से आज पर्यंत इसके यथेष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस भूमंडल पर अवतरित महापुरुष यावज्जीवन इन प्रश्नों के समाधान-संधान में संलग्न रहे कि वस्तुतः मानव-जीवन क्या है?, उसका लक्ष्य क्या है?, जन्म और मृत्यु क्या हैं?, आत्मा और परमात्मा में क्या भेद या अभेद है?, प्रकृति क्या है?, पुरुष क्या है? आदि आदि। उन महान् विभूतियों ने उग्र तपस्या एवम् त्याग से अर्जित जो ज्ञानराशि आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ी है, वह समस्त मानव की अमूल्य निधि है। उनके स्वानुभव से उपलब्ध यह ज्ञान सर्वथा सत्य है कि यदि स्व भरण-पोषण एवम् सांसारिक भोग-विलास में आसक्ति मात्र को मानव-जीवन का उद्देश्य मान लिया जाय तो मानव और मानवेतर प्राणियों में कोई अंतर ही न रह जायगा। हितोपदेश में भी कहा है——

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

अन्य जीवधारियों से मनुष्य में एक ही बात विशेष है——'आत्मज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान'। इस ज्ञान को न प्राप्त करनेवाले को 'कुलार्णवतंत्र' में 'महापापी' कहा गया है—

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः॥

अर्थात् मोक्ष के सोपानभूत इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर भी जो उसके मध्यस्थ जीव के परित्राण की चेष्टा नहीं करता उससे बढ़कर महापापी कौन होगा? मानस में भी भगवान् श्रीराम-मुखेन कथित है——

बड़ें भाग मानुषतनु पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥[1]

इन अर्द्धालियों का शब्दार्थ तो सरल है, परंतु प्रस्तुत लेख का विषय योग होने से यहाँ सरलता अभिप्रेत नहीं है। यहाँ योग की दृष्टि से उक्त कथन की संगति बैठाना ही प्रयोजन है। गोस्वामीजी ने इस स्थल पर मनुष्य-शरीर को 'सुरदुर्लभ' कहा है। वस्तुतः इसमें कौन-सी ऐसी विशेषता है, जिसके कारण सभी ग्रंथों में यह

१— रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), ७।४३।७-८।

देवताओं को भी दुर्लभ कहा गया है ? दूसरी पंक्ति में कारण स्पष्ट कर दिया गया है। यह 'मानुषतनु' 'साधनधाम' है, अर्थात् मनुष्य को वह साधना का प्रकाश, जिससे मोक्ष का द्वार खुलता है और परलोक सँवारता है, सुलभ है। यहाँ 'साधन' से तात्पर्य अष्टांगयोग की साधना से है। यों तो अष्टांग में प्रत्येक अंग विशेषता से युक्त हैं, किंतु प्राणायाम की विशेष महत्ता मानी गई है। योगी याज्ञवल्क्य प्राणायाम की प्रशंसा करते हुए कहते हैं--

प्राणायामपराः सर्वे प्राणायामपरायणाः।
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम्॥

अर्थात् प्राणायाम परायण सभी साधक प्राणायाम द्वारा विशुद्ध होकर परम गति प्राप्त करते हैं।

योग के विशेषज्ञों का मत है कि जबतक इड़ा-पिंगला के द्वारा श्वास का आवागमन होता है, तबतक यथार्थ ज्ञान का बोध होना अन्यथा है। साधना के द्वारा जब श्वास सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है, तभी शुद्ध सत्वभाव का उदय तथा आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। योग-दर्शनकार ने भी 'चित्तवृत्तिनिरोध' कहकर इसी साधना का समर्थन किया है। प्राणायाम के अभ्यास से ही चित्तवृत्ति की निरोधावस्था प्राप्त होती है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।[1]

अर्थात् प्रच्छर्दन-विधारण (रेचकपूरकादि अभ्यास) से चित्त एकाग्र होता है। यह एकाग्रता प्राप्तकर जीव तत्त्वातीत होता है। तत्त्वातीत साधक ही ब्रह्मज्ञ होता है। ब्रह्मज्ञता की प्राप्ति ही यथार्थ मोक्ष की प्राप्ति है और इसीसे परलोक अर्थात् देवपुर-ब्रह्मपुर सँवरता है।

भारतीय शास्त्र अध्यात्मज्ञान से ओतप्रोत हैं, किंतु वे अपरिमेय हैं और मनुष्य आजीवन प्रयत्नशील रहने पर भी उसका पूर्ण अध्ययन कर सकेगा यह संदेहास्पद ही है। फिर गुरु के आश्रय के अभाव में आत्मज्ञान की उपलब्धि केवल अध्ययन के आधार पर असंभव है। इसी भावना से प्रेरित होकर गोस्वामीजी वंदना विषयक द्वितीय प्रकरण का प्रारंभ गुरु-वंदना से करते हैं—

बंदौं गुरपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥[2]

अर्थात् मैं श्रीगुरु के चरणकमलों की वंदना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र हैं, नररूप में हरि हैं और जिनके बचन महामोह रूपी अंधकार-समूह का नाश करने के लिए सूर्य-किरणों की राशि हैं।

१—योगदर्शन, १।३४। २—मानस, १। मं० सो० ५।

मानस-पीयूष[1] में महामोह की व्याख्या यों उल्लिखित है—"निज स्वरूप की विस्मृति, परस्वरूप की विस्मृति, देह में आत्मबुद्धि, निज-पर-बुद्धि, मायिक विषयों, सांसारिक पदार्थों, देहसम्बन्धियों में ममत्व और उनमें ही सुख मान लेना इत्यादि 'मोह' है। यह मोह जब दृढ़ हो जाता है, अपनी बुद्धि से दूर नहीं हो पाता तब उसी को 'विमोह' 'सम्मोह' 'महामोह' कहते हैं।" इस महामोहरूपी भ्रमजाल से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है योग। योग-क्रिया की सिद्धि श्रीगुरु के उपदेशानुसार कार्य करने पर ही प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा असंभव है। गुरु से आत्मज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार की जाय, इसके लिए गीता का उत्तम उपदेश द्रष्टव्य है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥[2]

अर्थात् प्रणिपात से, प्रश्न करने से और सेवा से ज्ञानीपुरुष द्वारा ज्ञानोपदेश की उपलब्धि हो सकती है। 'प्रणिपात' का अर्थ है—चरणों पर गिरना, विनयपूर्वक समर्पण या प्रणाम। 'वंदौं गुरपद कंज' में यही भाव निहित है। 'महामोह' की व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है। उसी के निवारणार्थ गुरु से प्रश्न करना चाहिए। गुरु को प्रसन्न करने के लिए उनकी सेवा करना भी अत्यावश्यक है। सेवा से प्रसन्न होने पर ही शास्त्रज्ञ तथा अपरोक्ष अनुभव संपन्न गुरु ज्ञानोपदेश करते हैं, जिससे महामोह रूपी अंधकार दूर होता है। श्रुति का वचन है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।[3]

परंतु जहाँ इष्टरूप में स्वयम् ब्रह्म विद्यमान हैं, वहाँ ब्रह्मनिष्ठ की चाह क्यों? अतः गोस्वामीजी ने 'नररूप हरि' कहकर भगवान् श्रीराम की गुरुरूप में वंदना की है।

'हरि' शब्द 'विष्णु' का पर्याय है। कथा-प्रसंग में भगवान् श्रीराम को विष्णु का अवतार कहा गया है। 'विश्' प्रवेशने धातु का अर्थ होता है—

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥[4]

वेवेष्टि = व्याप्नोति इति विष्णुः[5] तथा विशति = प्रविशति जगति इति विष्णुः।[6] जगत् में व्याप्त कौन है? सब में प्रवेश किसका है? ब्रह्म का! ब्रह्म ही विष्णु हैं। वही विष्णु नररूप में भगवान् श्रीराम हैं।

१—मानस-पीयूष, बालकांड [खण्ड १], पंचम संस्करण (गीता प्रेस), पृ० ६९ की अंतिम तीन पंक्तियाँ। २—गीता, ४।३४। ३—मुण्ड०, १।२।१२। ४—वि० पु०, ३।१।४५। ५—'विष्लृ व्याप्तौ जुहोत्यादि', सिद्धांत० तत्त्व०, पृ० ४६५। ६—'तुदादि' (सूत्र सं० ३३७१), वही पृ० ४७७।

भगवान् श्रीराम की गुरुरूप में वंदना करने का गोस्वामीजी का एक और भी गूढ़ अभिप्राय है। ऊपर कहा जा चुका है कि महामोह की निष्पत्ति योग द्वारा ही संभव है और योग-क्रिया का ज्ञान गुरु के अधीन है। भगवान् श्रीराम से श्रेष्ठ गुरु अन्य हो नहीं सकता, क्योंकि उनके कुल में योग विद्या परंपरा से चली आ रही है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥[1]

अर्थात् अव्यय (कभी भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य) यह योग मैंने विवस्वान् (सूर्य) को बतलाया था, विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। इक्ष्वाकु सूर्यवंश के आदि राजा थे। श्रीरामचंद्रजी इसी कुल में अवतरित हुए थे। 'एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'[2] के अनुसार श्रीराम योग के पूर्ण ज्ञाता थे। अध्यात्म रामायण में मुनि वशिष्ठ श्रीराम को स्पष्ट रूप से 'गुरुर्गुरूणां त्वं देव' कहकर आत्मनिवेदन करते हैं। मानस में भी गोस्वामीजी ने मुनि अत्रि मुखेन यही भाव व्यक्त किया है—

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं निरीहमीश्वरं विभुं।
जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीयमेव केवलं॥[3]

न्याय की दृष्टि से भी यह वंदना श्रीराम के निमित्त ही सिद्ध होती है। वस्तु की यथार्थ ज्ञानोपलब्धि के लिए समुचित योजना का निरूपण ही न्याय है। गोस्वामी-जी ने मानस में इस सिद्धांत का पूरा निर्वाह किया है, जिसे 'मानस-न्याय' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। 'जासु बचन रबिकर निकर।' वचन न्याय-सिद्धांत के अंतर्गत आ जाता है। इसी यथार्थ ज्ञान-निरूपण के हेतु गोस्वामीजी ने श्रीराम के द्वारा लक्ष्मण, हनुमान्, जटायु, पुरवासियों प्रभृति जनों को उपदेश दिलाकर न्याय-सिद्धांत का सांगोपांग निर्वाह किया है।

यद्यपि मानस अध्यात्म-भाषा से परिपूर्ण है, फिर भी उसमें चर्चित श्रीराम के द्वारा कथित वचनों का यथार्थ अभिप्राय ज्ञात हो जाने पर गोस्वामीजी का योग विषयक चिंतन सुस्पष्ट हो जाता है। मुनि अगस्त्य से श्रीराम कहते हैं—

तुम्ह जानहु जेहि कारन आएउँ। तातें तात न कहि समुझाएउँ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥[4]

अर्थात् आप मेरे आने (अवतरित होने) के कारण से विज्ञ हैं, इसलिए हे तात ! मैंने उसका सविस्तर कथन नहीं किया। हे प्रभु ! अब मुझे वह उपदेश दीजिए जिस ढंग से मैं मुनिद्रोहियों का संहार करूँ। यहाँ कथित 'जेहि कारन आएउँ' में श्रीराम-जन्म का हेतु संकेतित है, जिसका उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता तथा मानस दोनों में स्पष्ट रूप से हुआ है—

१—गीता, ४।१। २—वही, ४।२। ३ - मानस, ४।१७-१८। ४—वही, ३।१३।२-३।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥[1]

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु॥[2]

मुनि अगस्त्य सर्वज्ञ थे। अतः उनके समक्ष रहस्योद्घाटन की अपेक्षा ही न थी। मुनिवर ने श्रीरामजी को जो स्पष्ट उत्तर दिया वह भी इसी ढंग का है—

मुनि मुसुकाने सुनि प्रभुबानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥
तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥
ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥
ते फलभक्षक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं॥[3]

अर्थात् स्वयम् काल भी जिनसे सदा डरता है, ऐसे लोकपति होते हुए भी आप मुझसे मनुष्य की भाँति राक्षस-वध का मंत्र पूछ रहे हैं। श्रुति में भी यही भाव प्रदर्शित है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥[4]

अर्थात् इसी के भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं तथा इंद्र, वायु और मृत्यु दौड़ते हैं।

उपर्युक्त मुनि अगस्त्य के वचन में वृक्ष की उपमा देने का अभिप्राय माया से है। जैसे वृक्ष से फल उत्पन्न होता है, वैसे ही माया से ब्रह्मांड निर्मित होता है। वृक्ष में फल अनेक हैं और 'ब्रह्मांड निकाया' है। इसी प्रसंग में मुनि ने आगे कहा है—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥[5]

यहाँ 'अनुभव' से तात्पर्य योग की निरंतर की जानेवाली क्रिया से है। प्रसंगवश विषयांतर हो गया। अब मुख्य विषय विचारणीय है।

१—गीता, ४।७, ८। २—मानस, १।१२१।६-१०।

इस प्रसंग में दोहावली का १२४ संख्यक दोहा भी द्रष्टव्य है—

निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर, महि, गो, द्विज लागि।
सगुन-उपासक संग तहँ रहे मोक्ष सब लागि॥

३—वही, ३।१३।४-६। ४—कठोपनिषद्, २।३।३। ५—मानस, ३।१३।१२।

गुरु से आत्मज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार करनी चाहिए, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसका निरूपण गोस्वामीजी श्रीलक्ष्मणजी के माध्यम से करते हैं। लक्ष्मणजी भगवान् राम से कहते हैं—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा। सब तजि करौं चरनरज सेवा॥[1]

प्रणिपात की दृष्टि से 'प्रभु की नाईं' विशेष महत्त्वपूर्ण है। आगे 'चरनरज सेवा' कहकर दैन्य भाव पूर्ण रूप से प्रकट कर दिया गया है। आगे प्रश्न भी अति विनीत शब्दों में किया गया है—

ईश्वर जीवहि भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ॥[2]

प्रश्न के अनुरूप श्रीराम का उत्तर भी है—

थोरेहि महु सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चितु लाई॥[3]

इससे वक्ता का पांडित्य और श्रोता की निष्ठता स्पष्ट है। 'थोरेहि महु' कहने का तात्पर्य यह है कि जिस विषय को जानने की जिज्ञासा की गई है उसका विस्तार अति वृहद् है, अतः संक्षेप में ही उसे समझाया जायगा। ब्रह्म और जीव के भेद का निरूपण अति कठिन और गूढ़ है। इसे संक्षेप में प्रश्नकर्ता को समझा देना प्रगाढ़ पांडित्यपूर्ण कार्य है। श्रीराम इस तथ्य से अवगत हैं कि लक्ष्मण का प्राणों पर अधिकार है। प्राणों पर अधिकार होने से मन, बुद्धि और चित्त स्वयमेव अधीन हो जाते हैं। फिर भी विषय अति गूढ़ होने के कारण एकाग्र रहने के लिए सजग करने की अपेक्षा हुई। साथ ही इन शब्दों के द्वारा यह जानना अभिप्रेत है कि लक्ष्मण जैसा एकनिष्ठ होने पर ही 'आत्मज्ञान' का उपदेश श्रवण और ग्रहण कर सकना संभव है। यह श्रवण, मनन एवम् निदिध्यासन से ही बोधगम्य है। भगवान् श्रीराम ने उसका संक्षेप में निरूपण यों किया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥[4]

अर्थात् मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है, जिसने संपूर्ण जीवों को वश में कर लिया है। इंद्रियों और इंद्रियों का विषय एवम् मन जहाँ तक गमन करे, हे भाई! उन सभों को माया जानो। उनके विद्या और अविद्या दो भेद हैं।

इस कथन के आध्यात्मिक अर्थ बोध के निमित्त जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी से किया गया प्रश्नोत्तर द्रष्टव्य है। उनसे प्रश्न हुआ कि 'ज्ञाते तु कस्मिन् विदितं जगत्

१—वही, ३।१४।६-७। २—वही, ३।१४।९-१०। ३—वही, ३।१५।१।
४—वही, ३।२।४।

स्यात् ?' अर्थात् किसे जान लेने पर इस जगत् का समस्त रहस्य विदित हो जाता है। उन्होंने उत्तर दिया कि 'सर्वात्मके मयि ब्रह्मणि पूर्णरूपे।' सर्वात्मक पूर्ण ब्रह्मस्वरूप अहं आत्मा का पदवाच्य है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि 'अहं' [मैं] आत्मा का बोधक है, तो गोस्वामीजी ने 'माया' क्यों कहा ? इसके लिए विद्या और अविद्या का भेद ही उत्तर है। देहाभिमानयुक्त जिस 'मैं' का बोध हम करते हैं वह अविद्या है, अपर है, माया है। अध्यात्मरामायण में कहा है—

अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते ॥[1]

विषयासक्ति ही जीवात्मा का अविद्या भाव है। यह जीव का बंधन रज्जु है। जिस अविवेक और अज्ञान के कारण जीव की भोगों में आसक्ति है, वही अविद्या जीव को 'अज्ञान अहंकार' में लिप्तकर पंच तन्मात्राओं के आश्रित इस देह को 'मैं' और 'मेरा' का बोध कराती है। फलतः जीव को बारबार 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं' का सामना करना पड़ता है। यद्यपि जीव कभी-कभी क्लेश से मुक्ति पाने के लिए आतुर होता है, किंतु भोग के मोह-पाश को छिन्न न कर सकने के कारण निरंतर जन्म-मृत्यु के खेल में उलझा रहता है। इसी को लक्ष्य कर श्रीराम कहते हैं—

एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ॥[2]

यह अविद्या या अपरा का संक्षिप्त निरूपण है। आगे कहते हैं—

एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥[3]

अर्थात् एक, जिसके अधीन गुण है, वह जगत् की रचना करती है; पर प्रभु की प्रेरणा से, उसमें स्वयम् का कुछ बल नहीं है।

यहाँ यह शंका उठती है कि 'प्रभु प्रेरित' कहकर भेद क्यों उत्पन्न किया गया ? विद्या और अविद्या दोनो में ही प्रभु की प्रेरणा निहित है। उनमें से किसी को भी लिया जाय वे प्रभु से तो संबंधित ही हैं। भेद करने से तो महान् दोष आ जाता है।[4]

यथार्थ अर्थ से भिन्न अर्थ करने पर ही भेदभाव दिखाई देता है। गोस्वामीजी के कथनानुसार सृष्टि की निर्माणकर्त्री माया है, जिसके अधीन सत्व-रज-तम तीनो गुण हैं। माया हेतु है, निमित्त कारण मात्रा निमित्त कारण हुए बिना जगत् रूपी परिणाम हो नहीं सकता। माया स्वयम् सत्य नहीं है, अतः परिणाम-स्वरूप जगदादि भाव भी सत्य नहीं है। जिसके आश्रय से मायिक कार्य का संपादन होता है वह मूल

१—अध्यात्मरामायण, ३।४।२१। २—वही, ३।१५।५। ३—वही, ३।१५।६।

४—दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथाऽस्य नाधिक्यमपैति किञ्चिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ सनत्सुजातीयम्, १।२०।

कारण ही सत्य है। वह मूल है—ईश्वर या ब्रह्म । तदर्थ गोस्वामीजी ने 'प्रभुप्रेरित' कहकर सत्य का ज्ञान कराया है, जिसके लिए श्रीराम कहते हैं—

ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥[१]

यहाँ 'ज्ञान' से तात्पर्य पराविद्या से है, जिससे अक्षर ब्रह्म का बोध होता है। मान का अर्थ होता है 'माप'। मान अनेक प्रकार के होते हैं, परंतु उसका (ब्रह्म का) माप करने में सभी शून्य हैं, क्योंकि वह 'अणो अणीयान् महतो महीयान्' है। सर्वत्र सब में सर्वदा व्याप्त है। गोस्वामीजी ने कहा भी है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥[२]

'परम विरागी' से उनका अभिप्राय दिव्य पदार्थों के त्याग से है। सांसारिक पदार्थों के त्याग को वैराग्य और दिव्य पदार्थों के त्याग को परम वैराग्य कहा जाता है। दिव्य पदार्थों के अंतर्गत सिद्धियों का त्याग भी आता है। 'तीनि गुन' का अभिप्राय गुणातीत आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार से है। यही विषय आगे और अधिक स्पष्ट किया गया है—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोक्ष प्रद सबपर माया प्रेरक सीव ॥[३]

अर्थात् माया, ईश्वर तथा अपना (आत्मा) का जिसे ज्ञान नहीं है, वह जीव कहलाता है। अज्ञानता ही बंधन का कारण है। माया और उसके प्रेरक ईश्वर का ज्ञान ही मोक्षप्रद है।

देहात्म बोध अहंकार 'मैं' ही माया है, अज्ञान है। अज्ञान का स्वभाव वस्तु की यथार्थता पर आवरण डालना तथा उसको अन्य रूप में बोध कराना है। अध्यात्म-रामायण में माया के दो रूप बताए गए हैं—विक्षेप तथा आवरण। आवरण का कार्य हम अहर्निश देखते हैं, परंतु विक्षेप का रूप गुरु-कृपा से ही उपलब्ध होता है। आवरण रूपी महामोह को दूर करने के लिए ही गोस्वामीजी ने गुरुरूप भगवान् श्रीराम की वंदना की है, जिनके वचन 'रबिकर निकर' हैं।

क्रमशः—

१—वही, ३।१५।७-८। २—वही, १।७।१७-१८। ३—वही, ३।१५।१०।

श्रीरघुनाथ गिरि

भक्ति बनाम उपयोगितावाद

[संशय एवम् अविश्वास के इस स्वच्छंदतावादी युग में 'भक्ति' का नाम सुनते ही नाक-भौं चढ़ानेवालों के आँख का ही नहीं अंतस् का भी पट इस निबंध के पढ़ने से उघड़ जायगा। उन्हें भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि त्याग, तपस्या एवम् स्वानुभूति द्वारा संचित ज्ञानराशि का जो रिक्थ मनीषियों से हमें मिला है उसकी उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण है। वह इतनी थोथी नहीं है कि उसे हँसी-ठट्ठे की फूँक से उड़ाया जा सके।

यहाँ 'भक्ति' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ, रूढ्यर्थ और पारिभाषिक अर्थ संबंधी विमर्श करते हुए पूर्वाचार्यों के तद्-विषयक मतमतांतरों का मंथन कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि—

'यही (भक्ति की) भावना उसको (मानव को) वर्ग-संघर्ष से अलग विश्वबंधुत्व और विश्वशांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकती है, अन्य सभी संधियाँ, शर्तें, बैठकें और अनेक राष्ट्रों के बीच निर्धारित अंतर्राष्ट्रीय परंपराएँ केवल दुर्बलों के लिए ही अनुष्ठेय हो सकती है, सबल राष्ट्र उनका स्वेच्छया उल्लंघन कर सकते हैं और करते हैं तथा निर्भय रहते हैं कि उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता है। अतः इस काल में यह नितांत आवश्यक है कि इस भावना को प्रोत्साहन मिले।']

विज्ञान के इस दिव्य आलोक के युग में मानव-बुद्धि अपनी पराकाष्ठा का दर्शन करना चाहती है। नवीन सुख साधनों तथा अज्ञात तथ्यों की उपलब्धियाँ वैज्ञानिक साधनों पर सार्वभौम मान्यता की मुहर लगा चुकी हैं। किसी भी तथ्य, धारणा, प्रत्यय या मान्यता को वैज्ञानिक प्रक्रिया में सत्य सिद्ध किए बिना सत्य स्वीकार करना बुद्धिहीनता एवम् जड़ता का प्रमाणपत्र है। मानव-मस्तिष्क स्वभावतः अपनी बुद्धि के ऊपर आए आक्षेप को सहन नहीं करता। यदि बुद्धिमत्ता की कसौटी विज्ञान-प्रणाली है तो वह उसको ही लेकर चलेगा चाहे उसके लिए उसे जो भी त्याग करना पड़े। आज का मानव वैज्ञानिक युग में रहता है। विज्ञान उसकी सत्यता की कसौटी है, विज्ञान का दिव्य आलोक उसका पथ-प्रदर्शक है। इस दिव्य आलोक के समक्ष प्राचीन मान्यताओं के टिमटिमाते दीप निष्प्रभ हो चले हैं। इनमें पथ-प्रदर्शन की कौन कहे आत्म-प्रदर्शन की भी क्षमता नहीं रही। अब धर्म ईश्वर, कर्मवाद, स्वर्ग, नरक, आत्मा एवम् पुनर्जन्म आदि पर अविश्वास ही नहीं अपितु दोषारोपण भी हो रहे हैं। इन मान्यताओं के विघटन के फलस्वरूप एक

ओर समाज में अत्याचार, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, चोरी, घूसखोरी, उत्पीड़न, शोषण, उद्दंडता, उच्छृंखलता एवम् अनैतिकता इतने वेग से बढ़ रही हैं कि इनको रोकने में विज्ञान अपनी असमर्थता प्रदर्शित कर रहा है और दूसरी ओर विज्ञान अपने नवीन आविष्कारों के दौरान में उन तत्वों का भी समावेश करता जा रहा है जो मानव जाति के संहार के लिए पर्याप्त हैं। ऐसे विषम समय में पुरानी मान्यताओं को स्वीकार करना अनुचित और अनावश्यक भले हो, परंतु उन पर विचार करना तथा उनका परीक्षण करना अनुचित और अनावश्यक नहीं हो सकता। किसी भी मान्यता को पर्याप्त प्रमाण के बिना अंध रूप से स्वीकार कर लेना यदि अवैज्ञानिक है तो किसी भी मान्यता को पर्याप्त प्रमाण के बिना अंध रूप से अस्वीकार करना भी उतना ही अवैज्ञानिक कहा जाएगा। अतः इन सामयिक समस्याओं के संदर्भ में भक्ति के योगदान पर विवेचन करना असमीचीन नहीं होगा। यों तो यह शब्द इतना बदनाम हो चला है कि इसको सुनते ही 'जप, माला, छापा, तिलक' की साक्षात् मूर्ति लोगों के समक्ष उपस्थित हो जाती है और वे इसे धूर्तता, पाखंड, एवम् कायरता का पर्याय मानकर इससे कान बंद कर लेना चाहते हैं। पर इसके स्वरूप के विवेचन के बिना इस शब्द के साथ इस प्रकार का व्यवहार वैज्ञानिक नहीं कहा जाएगा। अतः यहाँ इस शब्द के अर्थ पर कुछ विचार कर लेना अनुचित न होगा।

किसी भी शब्द के अर्थ-विवेचन में व्युत्पत्यर्थ, रूढ्यर्थ और पारिभाषिक अर्थ पर विचार किया जाता है। हम 'भक्ति' शब्द के इन अर्थों पर कुछ विमर्श कर हर बात का परीक्षण करें कि क्या इन अर्थों में भक्ति आधुनिक युग में या किसी अन्य अधिक सभ्य कहे जाने वाले युग में अनावश्यक है अथवा नहीं?

व्युत्पत्यर्थ :—'भक्ति' शब्द की निष्पत्ति 'भज्' धातु से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय करने से हुई है। धातु का अर्थ है सेवा करना और प्रत्यायार्थ क्रियार्थ में ही अनुगत हो जाता है। यों भजन या भक्ति शब्द की निष्पत्ति 'भज् विश्राणने' से भी हो सकती है, पर प्रस्तुत संदर्भ में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस व्युत्पत्यर्थ के अनुसार 'सेवा' (भक्ति) एक शाश्वत सत्य है। वह समाज में प्रत्येक काल में आवश्यक है। हाँ सेवा के विषय तथा सेवक की भावना एवम् उद्देश्य पर उसके भले बुरे की परीक्षा हो सकती है। 'भजन' शब्द के पर्याय के रूप में 'यजन' शब्द का भी प्रयोग होता है (गीता १७।४ 'यजन्ते सात्विका देवान्' इत्यादि में)। पाणिनीय धातु पाठ के अनुसार 'यज्' धातु का अर्थ देव पूजा, संगतिकरण, एवम् दान है। इन तीन अर्थों में अंत के दो अर्थों में 'यजन' शब्द सदा ही मान्य रहेगा। समाज व्यक्तियों से बनता है। बिना भली संगति की व्यवस्था हुए भले समाज का निर्माण संभव नहीं। दान भी समाज के लिए सदा उपादेय रहा है और रहेगा इसमें दो राय संभव नहीं। इसके अनेक रूप भलीभाँति सबको

विदित है, उनका विवेचन यहाँ अनपेक्षित है। हाँ, देव पूजा के विषय में प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब विज्ञान के युग में देव और देवलोक में आस्था न रही तो उनके पूजा की आवश्यकता ही क्या है? किंतु जो लोग भारतीय संस्कृति से भलीभाँति परिचित हैं, उनके लिए देववाद किसी अन्य विश्वासी परंपरा का नाम नहीं है। यहाँ देववाद का दूसरा नाम भावनावाद दिया जा सकता है। पुराण तथा स्मृति ग्रंथों में अनेक स्थलों पर यह बतलाया गया है

न काष्ठे विद्यते देवः न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवः तस्मात् भावो हि कारणम्॥

अर्थात् देवता पाषाण, काष्ठ या मिट्टी की मूर्तियों में नहीं रहते, अपितु मानव की भावना में रहते हैं; अतः देव-पूजा भावना की ही पूजा है, किसी दिव्य लोक में रहने वाले देवता की नहीं। इसी प्रकार भक्ति के पर्याय अन्य शब्द शरणागति, प्रपत्ति, उपासना आदि के व्युत्पत्यर्थ को ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो 'समर्थ का आश्रय', 'सज्जन के पास स्थिति' आदि रूप में भक्ति किसी काल में भी अनावश्यक नहीं हो सकेगी'।

रूढ़यर्थ :—अपने रूढ़यर्थ में भक्ति, श्रद्धा और विश्वास रूप है। श्रद्धा और विश्वास से युक्त व्यक्ति भक्त कहा जाता है और श्रद्धा और विश्वास से प्रेरित काय, वचन एवम् मन से होने वाले समस्त कर्म भक्ति हैं। श्रद्धा या विश्वास भक्ति का मूल है। यह एक अविश्लेष्य सरल, जन्मजात भाव है। यह मानव हृदय का एक विशिष्ट गुण है। पशु आदि जीवों के जीवन में इसका कोई विशेष स्थान नहीं, क्योंकि वे प्रायः मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर ही कार्य करते हैं। किंतु मानव, जो बुद्धि या प्रज्ञा से प्रवृत्त होता है, श्रद्धा के बिना रह नहीं सकता। प्रज्ञा या विचार की अपेक्षा श्रद्धा मानव-जीवन में अधिक संतुलन और सामंजस्य लाती है। जो कार्य विचार से बहुत दिनों में होता है वह श्रद्धा तुरंत कर देती है। यही कारण है कि भारतीय परंपरा में ज्ञान और भक्ति को एक मानकर भी भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है। हम विचार की दृष्टि से एक साधारण कपड़े के टुकड़े और राष्ट्रीय झंडे में कोई भेद भले न मानें, पर श्रद्धात्मक भेद इतना अधिक है कि वह हमारे व्यवहार को नियमित करता है। श्रद्धा मौलिक होती है और ज्ञान अर्जित, इसीलिए गीता में कहा गया है कि 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'[१] अर्थात् श्रद्धावान् को ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धा मानव मात्र में है और रहेगी। श्रद्धा का महत्त्व भारतीय धर्म परंपरा में ऋग्वेद काल से अब तक अक्षुण्ण रहा है। ऋग्वेद के ऋषियों ने 'श्रद्धया अग्निः समिध्यते, 'श्रद्धया हूयते हविः' आदि मंत्रों में श्रद्धा के महत्त्व का स्पष्ट रूप से निर्देश किया है। इन मंत्रों की व्याख्या करते

१ – गीत, १४।३९।

हुए आचार्य सायण श्रद्धा शब्द की व्याख्या 'पुरुष गतो अभिलाषः' कर्ता में विद्यमान प्रेम या अभिलाष करते हैं। वेदान्त सार में गुरु द्वारा उपदिष्ट वेदांत वाक्यों में विश्वास को श्रद्धा माना गया है। इन व्याख्याओं से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रद्धा एक ऐसी प्रारंभिक मानसिक स्थिति है, जिसके कारण प्रेम, विश्वास, ज्ञान आदि का उदय तथा इनकी प्रतिष्ठा होती है। श्रद्धा शब्द की निष्पत्ति 'श्रत्+धा' हुई है। 'धा' धातु का अर्थ है धारण और पोषण करना। अतः श्रद्धा का व्युत्पत्यर्थ है 'श्रत्' का धारण तथा पोषण करना। गीता के १७ वें अध्याय के देखने से 'श्रत्' शब्द 'सत्' शब्द का पर्यायवाची प्रतीत होता है। गीता के अनुसार 'सत्' शब्द का अर्थ स्थिति भाव, साधु भाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ, तप, दान में स्थिर भावना इनके लिए किए गए कर्म हैं। यही 'सत्' कहे जानेवाले कर्म ही 'श्रत्' शब्द से व्यक्त किए जा सकते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यह अर्थ और भी अधिक स्पष्ट तब होता है जब गीता में अश्रद्धा से किए गए तप, यज्ञ, दान को असत् कहा जाता है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव के मस्तिष्क से विश्वास या श्रद्धा को हटाया नहीं जा सकता। यह भले हो सकता है कि उसका विषय बदल जाय। भूत काल में श्रद्धा और विश्वास का विषय अन्य हो, वर्तमान में दूसरा और भविष्यत् में तीसरा, किंतु श्रद्धा और विश्वास के बिना मानव जीवन संभव ही नहीं है। अतः श्रद्धा-विश्वास के रूप में 'भक्ति' को अनावश्यक कभी भी नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि मंगलाचरण में ही गोस्वामी तुलसीदासजी, शिव और पार्वती की श्रद्धा और विश्वास के रूप में, वंदना करते हैं, जिससे उनके विषय में किसी को कोई संदेह न रहे—

'भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।'[2]

पारिभाषिक अर्थ—शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर में अनुरक्ति भक्ति है—'सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे'[3] और नारद के मत में वह परम प्रेम रूप है—सा तु परम प्रेमरूपा'[4]। भागवत् पुराण ने ईश्वर में स्वाभाविक अहैतुकी अव्यवहित मानसिक स्थिति को 'भक्ति' की संज्ञा दी है—

१—वही, १७।२८। २—मानस, १। मं० श्लो० २। ३—शाण्डिल्य सूत्र, २। ४—नारद सूत्र।

पक्ष में है—'स सर्वविद्भजति मां [illegible] निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
भावों से मेरा भजन करता [illegible]व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥[1]
आचार्य शंकर सर्वात्म[illegible]नुसार वह सत्प्रेमांकुर रूप है। पराशर ईश्वर की पूजा के
का तात्पर्य सर्वभ[illegible] ईश्वर की कथा और ख्याति के अनुराग को 'भक्ति' कहते हैं।
समझ कर के अनुसार मानसिक वृत्तियों को परिवर्त्तित करने का साधन भक्ति है।
सर्वभावरूप स्थायीभाव है, जो मन को विशुद्ध रति में परिणत करता है तथा आगे
भजन्र शांत रस में विकसित हो जाता है।

इन विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई भक्ति की परिभाषा का विश्लेषण करने से पता चलता है कि सभी आचार्य भक्ति को एक मानसिक वृत्ति मानते हैं, जिसके लिए प्रसंगानुसार रति, अनुरक्ति प्रेम, परम प्रेम, आसक्ति, प्रीति, हर्ष, उल्लास, अभिलाष एवम् रस आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है तथा इस मानव-वृत्ति का आलंबन ईश्वर को ही स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ इन दो सर्वमान्य पहलुओं का कुछ विवेचन आवश्यक है। पहले हम इसके मानसिक वृत्तिरूपता पर विचार करें। इस संबंध में दो प्रश्न उठते हैं—पहला क्या 'भक्ति' ज्ञान या क्रिया रूप है अथवा इनसे भिन्न ? तथा दूसरा मनोभाव रूप 'भक्ति' में समस्त मनोभावों का समावेश होता है या कुछ भाव विशेष का ? शाण्डिल्य इसके भावरूपता पर अधिक बल देते हैं और इसके ज्ञानरूपता और क्रियारूपता के निवारण के लिए तर्क का आश्रय लेते हैं। उनका कहना है कि भक्ति यज्ञादि के समान क्रियारूप नहीं हो सकती, क्योंकि इसको क्रिया रूप मान लेने पर एक ओर इसे कर्ता की स्वतंत्रेच्छा के आधीन होना पड़ेगा और दूसरी ओर इसके फल को भी कर्मफल के समान क्षय, अविशुद्धि तथा अतिशय युक्त मानना पड़ेगा। विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि आसक्ति रूप भक्ति कभी कर्ता की स्वतंत्रेच्छा पर आधारित नहीं हो सकती। हमारा प्रतिदिन का अनुभव ही साक्षी है कि पुत्र, कलत्र आदि में आसक्ति कोई ऐच्छिक क्रिया नहीं है, वह कर्ता की इच्छा के प्रतिकूल भी होती है। भक्ति के फल के संबंध में शाण्डिल्य का कहना है कि इसका फल नित्य और अनंत होता है। अतः क्षय, अतिशय और अविशुद्धि का लेश भी इसमें मानना अन्याय होगा। इसी प्रकार भक्ति को ज्ञानरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसको ज्ञानरूप मान लेने पर शत्रुविषयक ज्ञान को शत्रुविषयक भक्ति या आसक्ति मानना पड़ेगा जो किसी को अभीष्ट न होगा। जहाँ तक भक्ति के ज्ञान और क्रिया से भिन्नता का प्रश्न है नारद और शाण्डिल्य दोनो एकमत हैं, परंतु नारद भक्ति को अंध मानसिक प्रवृत्ति न मानकर ज्ञानमूलक प्रवृत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि भक्ति अंधप्रवृत्ति मूलक पाशविक प्रेम से भिन्न है, क्योंकि इसके पूर्व में ईश्वर का माहात्म्य ज्ञान रहता

१—भागवत, ३।२६।१२।

है। भक्ति कोई खरीद बिक्री नहीं है, यह अ॒ गतो अभिलाषः' कर्ता में विद्यमान नहीं, यह तो निःस्वार्थ प्रेम, तत्सुख सुखित्व रूप हेग। उपदिष्ट वेदांत वाक्यों में 'जार प्रेम' होता है, जहाँ स्वार्थ लिप्सा और वासना तृप्ति हऐसा प्रतीत होता है कि विशुद्ध प्रेम का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता है। नारद के इस निश्वास, ज्ञान आदि सहमत नहीं हैं। वे भक्ति को स्वतंत्र मनोभाव मानने के पक्ष में हैं हुई है। पूर्वांग के रूप में ज्ञान अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं। प्रायः भक्ति के पूयर्थ है रहता है, किंतु ज्ञान के अभाव में भक्ति का अभाव नहीं हो जाता है। ने से कहना है कि जैसे किसी सुंदर नवयुवक के दर्शन मात्र से किसी नवयुवती र' आसक्ति या प्रेम का उदय हो जाता है और वह उसके गुण माहात्म्य ज्ञान की प्रतीक्षा नहीं करती। हाँ, ये गुण माहात्म्य ज्ञान उसकी आसक्ति की वृद्धि में सहायक होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का मत नारद के मत के अनुकूल है। वे भी भक्ति के पूर्व में ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।[1]

आदि में स्पष्ट है। गीता में भक्तों की चार श्रेणियाँ बतलाकर ज्ञानी को भी भक्त की कोटि में रखकर ज्ञान और भक्ति में अभेद बतलाया गया है। शिवपुराण तो पूर्ण रूप से ज्ञान और भक्ति में तादात्म्य स्वीकार करता है और ज्ञान के लिए भक्ति और भक्ति के लिए ज्ञान को आवश्यक मानता है। शाण्डिल्य भक्ति के भावनात्मक रूप के कट्टर प्रतिपादक हैं। वे किसी तरह ज्ञान और क्रिया को भक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। किंतु नारद और आनंदगिरि यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाओं को भक्ति मानते हैं, यदि ये क्रियायें ईश्वरार्पण बुद्धि से की जाती हों। गीता भी नारद और आनंदगिरि के मत को दृढ़ करती है, क्योंकि यहाँ पर भी समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से किए जाने का विधान है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ यज्ञ, दान या तप करते हो वह सब मुझे ही अर्पण कर दो। इस कर्मार्पण रूप भक्ति के लिए गीता और भी स्पष्ट रूप से निर्देश करती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥[2]

अर्थात् प्राणियों के मूल परमात्मा की अपने कर्मों से पूजा करके भी मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

इस भावात्मक भक्ति के संबंध में दूसरा प्रश्न यह है कि भक्ति कोई भाव विशेष है या समस्त मनोभाव ही भक्ति है? गीता सर्वभाव को भक्ति मानने के

१—मानस, ७।८९।७-८। २—गीता, १८।४६।

पक्ष में है—'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'[1] अर्थात् वही सर्वज्ञ है जो सभी भावों से मेरा भजन करता है। इस 'सर्वभाव' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर सर्वात्मभाव रूपी अर्थ स्वीकार करते हैं। इनके मत में सर्वभाव का तात्पर्य सर्वभूतात्मभाव है, अर्थात् समस्त भूतों को अपनी आत्मा या ईश्वर रूप समझ कर उनका भजन करना सर्वभाव से भजन करना है। किंतु आनंदगिरि इस सर्वभाव का अर्थ समस्त मनोभाव, वाणी और कर्म करते हैं। इनके मत में सर्वभाव भजन का तात्पर्य ईश्वर में समस्त मनोभाव, वाणी और कर्म का समर्पण करना है। दोनो ही आचार्य अपने अपने मत के समर्थन में गीता का ही प्रमाण उपस्थित करते हैं। आचार्य शंकर—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'[1], 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'[2] ईश्वर समस्त भूतों के हृदय में विद्यमान है, अतः उसी को सर्वभाव से अर्थात् सर्वभूतात्मभाव से स्वीकार कर उसकी ही शरण में जाना श्रेयस्कर है, को प्रमाण मानते हैं। आनंदगिरि अपने मत की पुष्टि के लिए मेरे में मन लगाओ, मेरे लिए यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो, 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'[3] आदि गीता वाक्य को उद्धृत करते हैं। 'सर्वभाव' शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए श्रीमद्भागवतपुराण ने उन समस्त भावों के नाम-निर्देश तथा उनके द्वारा उपासना करने वाले साधकों के उदाहरण भी उपस्थित किए हैं, जैसे काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि किसी भाव से भगवान् में मन लगाकर अनेक लोग उस परम गति को प्राप्त करते हैं—

> कामाद् द्वेषाद् भयाद् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
> आवेश्य तदधं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥[5]

इन समस्त भावों के उदाहरण में भागवत का कहना है कि गोपियों ने काम से ईश्वर की उपासना की, कंस ने भय से, शिशुपाल आदि राजाओं ने द्वेष से, युधिष्ठिर ने स्नेह से, यादवों ने कुल-संबंध से और नारद ने भक्ति से भगवान् की उपासना की। इस प्रकार भागवत पुराण भक्ति के भावरूपता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन भावों के ऊँच नीच भाव के प्रभाव से भक्ति को प्रभावित नहीं होने देता है। भावों का स्वयम् कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व उनके आलंबन विषय का है। कोई भी भाव हो यदि उसका आलंबन ईश्वर है तो उसे भक्ति पद प्राप्त है, अन्यथा वह भक्ति के आसन पर आसीन नहीं हो सकता। किंतु मधुसूदन को भागवत का यह मत मान्य नहीं है। वे समस्त मनोभावों को भक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि हर्ष या उल्लास ही ऐसा मनोभाव है, जो चित्त की वृत्तियों को परिवर्तित कर उसमें विशुद्ध रति उत्पन्न करता है तथा आगे चलकर शांत रस में विकसित हो जाता है, जिस विकास क्रम में ईश्वर का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

१—वही, १५।१९। २—वही, १८।६१। ३—वही, १८।६२।
४—वही, १९।३४। ५—भागवत, ७।१।२६।

इसलिए उल्लास या हर्ष रूप स्थायीभाव को ही भक्ति कहना चाहिए। अन्य मनोभावों में भक्ति की सन्निकटता का विचार करते हुए मधुसूदन स्नेह का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि स्नेहभाव भक्तिभाव के अत्यंत सन्निकट है, जो वात्सल्य रस (बड़ों से छोटों की ओर) और प्रेयोरस (छोटों से बड़ों की ओर) में परिणत हुआ करता है। मधुसूदन के मत में काम, भय और द्वेष कभी भी भक्ति का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। काम शरीर मात्र से विशेष संबंध रखने के कारण भक्ति बनने का अधिकारी नहीं तथा भय और द्वेष रस या अभिलाष के प्रतिकूल होने के कारण भक्तिभाव में परिणत होने योग्य नहीं।

अब हम भक्ति के आलंबन ईश्वर के संबंध में कुछ विवेचन प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि भक्ति के स्वरूप के विषय में आचार्यों में मतभेद होने पर भी भक्ति के आलंबन ईश्वर को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। ईश्वर के संबंध में दो प्रश्न उठते हैं—पहले का संबंध ईश्वर के स्वरूप से है और दूसरे का ईश्वर के अस्तित्व से। ईश्वर के स्वरूप के संबंध में दो मान्यताएँ हैं—धार्मिक मान्यता और दार्शनिक मान्यता। धार्मिक मान्यता के अनुसार ईश्वर किसी लोक विशेष में रहता है और वहाँ रहकर वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता से विश्व का संचालन करता है। वह भक्तों को सद्गति देता है तथा दुष्टों को दंड। वह इस जगत् के किसी न्यायप्रिय शक्तिशाली राजा का ही विशिष्टरूप है। किंतु दार्शनिक मान्यता इसके बिलकुल विपरीत है। इसके अनुसार ईश्वर समस्त प्राणियों में अनुभूत है, वह अंतर्यामी रूप से सर्वत्र विद्यमान है। उसके अभाव की कल्पना भी संभव नहीं। दूसरे प्रश्न का संबंध ईश्वर के अस्तित्व से है। इस प्रश्न को भी दो प्रकार से रखा जा सकता है। प्रथम क्या ईश्वर का अस्तित्व है? और दूसरा क्या क्या ईश्वर का अस्तित्व माना जा सकता है? इस प्रकार यदि हम उक्त चार प्रश्नों पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि ईश्वर के धार्मिक स्वरूप तथा ईश्वर के अस्तित्व के विषय में विज्ञान किसी प्रकार का संदेह या शंका उठा सकता है। किंतु इसके दार्शनिक स्वरूप और उसकी मान्यता पर किसी प्रकार का संदेह संभव नहीं। विज्ञान भी इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि समस्त जड़ चेतन वस्तुओं में कोई एक शक्ति निहित है, जिसका सत्य ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है और ईश्वर के न रहने पर भी उसके अस्तित्व की मान्यता का विश्व में स्थान है। भक्ति-भावना के लिए ईश्वर के अस्तित्व की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी उसके अस्तित्व की मान्यता की। हमें केवल यही चाहिए कि हमारी मान्यता में ईश्वर का अस्तित्व है और उसी के आधार पर हम अपने मनोभावों को उसमें केंद्रित कर सकते हैं।

भारतीय परंपरा में ईश्वर को आलंबन बनाने का मुख्य कारण उसके दार्शनिक स्वरूप से है। भारतीय ईश्वरवादी परंपरा संसार से पलायनवादी परंपरा नहीं, अपितु स्वार्थहीनता पूर्वक संसार के प्राणिमात्र में सद्भाव स्थापन की परंपरा है। भागवत

पुराण ने ईश्वर की पूजा का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हम पेड़ के धड़, तनों, शाखाओं, डालों और पत्तों को सींचने के लिए वृक्ष की जड़ का ही सिंचन करते हैं और उसी से उन सब का सिंचन स्वयम् हो जाता है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणियों के मूल स्वरूप ईश्वर की पूजा स्वयम् ही समस्त प्राणियों की पूजा बन जाती है—

यथा तरोर्मूलनिसेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।।

कारण यह कि ईश्वर तो समस्त विश्व की आत्मा है। वही मूल है, वही सब की चरमावधि है––'सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः प्रियः'। गीता में भी यही बात बतलायी गई है कि भगवान् समस्त प्राणियों की आत्मा हैं और सबके भीतर अंतर्यामी रूप से विद्यमान हैं––'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः'। इसीलिए जो समस्त प्राणियों को ईश्वर में देखता है वह समस्त प्राणियों में ईश्वर का भी दर्शन करता है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'। शिवपुराण तो स्पष्ट शब्दों में यह बतलाता है कि यह विश्व शिव का शरीर है और शिव की पूजा से इस वपुरूप विश्व का पोषण एवम् संवर्धन होता है। उसी तरह विश्व के समस्त प्राणियों की प्रसन्नता ही शिव की प्रसन्नता है। यदि कोई व्यक्ति विश्व के किसी भी प्राणी को अकारण कष्ट पहुँचाता है तो निःसंदेह वह अष्टमूर्ति शिव के किसी न किसी रूप का कुछ अनिष्ट अवश्य करता है—

तद्वदस्य वपुर्विश्वं पुष्यते च शिवार्चनात् ।
तथा विश्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शंकरः ।।
देहिनो यस्य कस्यापि क्रियते यदि निग्रहः ।
अनिष्टमष्टमूर्तेः वै कृतमेव न संशयः ।।—शिवपुराण ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी ईश्वर-भक्ति के संबंध में इस तथ्य को स्वीकार कर ही कहा है—'ईस्वर सर्बभूतमय अहई'।[1] 'सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी'।।[2] इत्यादि।

इस प्रकार भारतीय परंपरा में ईश्वर की पूजा पलायनवाद नहीं, निःस्वार्थ रूप से विश्व में सद्भावना, प्राणीमात्र के प्रति उपकार की प्रेरणा तथा समस्त प्राणियों की रक्षा एवम् सेवा की भावना रही है, जिसकी आवश्यकता के विषय में काल का प्रश्न ही नहीं। अर्थात् वह भूत में जिस प्रकार अभीप्सित थी, वर्तमान में उसी प्रकार अपेक्षित है तथा भविष्य में भी उसकी अपेक्षा रहेगी।

उक्त समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति भावना अनावश्यक नहीं हो सकती। यह मानव-जीवन में अनिवार्य तथा अपेक्षित है। इससे रहित

१—मानस, ७।११०।१५। २—वही, १।८।२।

मानव-जीवन एवम् मानव-समाज की कल्पना भी संभव नहीं। क्योंकि भाव विहीन मानव पशु से भी हीनतर होगा। हम मानव विशेष भावों के कारण ही अपने को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठतर समझते हैं। यह भले हो कि भक्ति का आलंबन ईश्वर को न मानकर हम माता, पिता, गुरु, राष्ट्र या समाज आदि में से किसी एक या अधिक को मानें। किंतु भावना विरहित मानव की कल्पना संभव नहीं। अब हम इसकी उपयोगिता पर कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे। आज का युग उपयोगितावादी युग कहा जा सकता है, क्योंकि किसी वस्तु या मान्यता को स्वीकार करने के पूर्व यह प्रश्न सरलतया उठता है कि इसका इस युग में उपयोग क्या है ?

उपयोगिता के विषय में विचार करने के पूर्व उपयोग या उपयोगिता शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना आवश्यक होगा। क्योंकि एक परिस्थिति में जिसे उपयोगी कहा जाता है अन्य परिस्थिति में उसे ही अनुपयोगी कह दिया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में हम उपयोग शब्द का एक आंशिक अर्थ लेते हैं और उसी के आधार पर निर्णय दे दिया करते हैं। उपयोग शब्द का सामान्य अर्थ उपेय के लिए योग या प्राप्ति किया जा सकता है, अर्थात् प्राप्तव्य का प्राप्त करने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति का साधन ही उपयोग और जो इस प्राप्ति में सहायक बनता है वह उपयोगी कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि मानव-जीवन में उपेय या प्राप्तव्य वस्तु क्या है ? नैयायिकों ने इष्ट या उपेय या प्राप्तव्य के लिए विचार करते हुए केवल सुख और दुःख निवृत्ति को अंतिम उपेय-प्राप्तव्य वस्तु माना है और इन उपेयों के साधनभूत सुखसाधन और दुःख-निवृत्ति के साधन भी उपेय मान लिए जाते हैं। अतः यहाँ विचारणीय यह है कि भक्ति मानव जीवन में सुख या दुःख की निवृत्ति अथवा इनके साधनों में कुछ सहायक हो सकती हैं अथवा नहीं।

पहले हम सुख को लेते हैं। सुख को साधारणतया भौतिक या विषयजन्य सुख और आध्यात्मिक या विचारजन्य सुख दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इसमें भौतिक सुख विषय इंद्रिय संपर्क से उत्पन्न होने के कारण क्षणिक तथा अत्यधिक तृष्णा उत्पन्न करने के कारण दुखांत हुआ करता है। इसी तृष्णा तृप्ति सुख की आशा में चक्कर लगाते जीवन बीत जाता है और उसकी प्राप्ति नहीं होती है। इसी अनुभूति पर ययाति ने कहा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात् विषय भोग से कभी इच्छाओं की तृप्ति नहीं हो सकती, वे तो उसी प्रकार निरंतर बढ़ती जाती हैं जैसे हवि के डालने से अग्नि। अतः यदि इस सुख में भक्ति सहायक न बने तो कोई क्षति नहीं। दूसरा सुख, जिसे हमने आध्यात्मिक की संज्ञा दी है, विचारजन्य सुख है। कविता, कला, परोपकार आदि में जो सुख

की अनुभूति होती है वह विचार प्रधान है, विषय प्रधान नहीं। इसी क्रम में आगे चलकर आत्मतोष, आत्मबोध आदि चरम कोटि के सुख होते हैं, जिनमें व्यक्ति अपनी भौतिक सत्ता को भूलकर मानसिक एवम् आध्यात्मिक जगत् का आनंद लेता है। इस विचारजन्य आध्यात्मिक सुख या आत्मतोष सुख में भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। एक भक्त का उद्गार है—

> चाह गई चिंता गई मनवाँ बेपरवाह।
> जाको कछु नहिं चाहिए सो है शाहनशाह॥

इसी प्रकार सांख्यविदों ने दुःख को तीन वर्गों में विभक्त किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, जिनमें आध्यात्मिक को शारीरिक और मानसिक दो उपवर्गों में रखा गया है। विचार से देखने पर सभी दुःखों को इन्हीं दो शारीरिक और मानसिक वर्गों में ही रखा जा सकता है, क्योंकि कारण भौतिक हो या दैविक दुःख की उत्पत्ति शरीर और मन में ही होती है। शारीरिक दुःखों की निवृत्ति वैद्य, डाक्टर, हकीम के निर्देश एवम् औषधि सेवन से होती है, जिसके लिए भी वैद्य और औषधि पर विश्वास परमावश्यक हैं। मानसिक दुःखों की निवृत्ति में ईश्वर पर विश्वास, कर्मफल पर विश्वास, सत्कर्म और ईश्वर कृपा आदि पर विश्वास नितांत आवश्यक होता है। अतः दुःख की निवृत्ति में भी विश्वास रूप भक्ति का विशेष महत्त्व है। इसी आधार पर हम भक्ति की कतिपय उपयोगिताओं की चर्चा करेंगे।

(१) आध्यात्मिक प्रवृत्ति में सहयोग—भक्ति की सर्वप्रथम उपयोगिता आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उदय करना है, जिसकी आज परम आवश्यकता है। वही प्रवृत्ति इस विज्ञान की भौतिकता की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकती है, अन्यथा मानव काम, क्रोध, लोभ वश विज्ञान साधनों से मानव मात्र के संहार के लिए किस क्षण उद्यत हो जाएगा यह बतलाना बहुत कठिन है। आज विज्ञान ने अपने साधनों के द्वारा संसार को चकाचौंध में डाल दिया है। फिर भी विश्व में गरीबी, भुखमरी, अत्याचार, उत्पीड़न, शोषण, युद्ध, घृणा, द्वेष, आक्रमण, अपहरण, घूस, चोरी आदि कुकृत्यों की मात्रा बढ़ती ही जा रही है, जिनका निवारण केवल आध्यात्मिक प्रवृत्ति से ही संभव है।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति के सामान्यतया तीन साधन हो सकते हैं—(क) विज्ञान या इंद्रियजन्य ज्ञान (ख) तर्कजन्य ज्ञान या विचारजन्य ज्ञान (ग) विश्वास एवम् श्रद्धाजन्य ज्ञान। इनमें विज्ञान का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। वह इस जन्म तथा अपनी भौतिकता के आगे बढ़ नहीं सकता। अतः उसके आधार पर अन्य जन्म, कर्म, फल, ईश्वर आदि अदृश्य तत्वों की परीक्षा और आकलन के द्वारा आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उदय संभव ही नहीं। दूसरा साधन तर्क भी 'अप्रतिष्ठ' कहा जाता है, क्योंकि तर्क का आधार एक और इंद्रियजन्य ज्ञान होता है और

दूसरी ओर मानव-बुद्धि । अतः एक बुद्धिमान् के तर्कों का निराकरण दूसरा बुद्धिमान् अन्य तर्कों से कर डालता है और तर्क स्वयम् अपने खंडन का मार्ग ढूँढ़ निकालता है। इसीलिए व्यास ने 'तर्कोऽप्रतिष्ठानात्' अर्थात् तर्क के द्वारा किसी चीज को स्थिर रूप नहीं दिया जा सकता कहा है। अतः अदृश्य एवम् अतर्क्य वस्तुओं की ओर प्रवृत्ति श्रद्धा द्वारा ही संभव है। इसीलिए उपनिषदों ने अध्यात्म प्रवृत्ति में प्रथम स्थान श्रवण को दिया है—'श्रोतव्यः मन्तव्यः' इत्यादि।

(२) मानसिक रोगों के निवारण में सहयोग—आज का युग मानसिक रोगों का युग है। विज्ञान की वृद्धि ने मानव-जीवन के उत्थान का आधार प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्द्धा एवम् संघर्ष को बना दिया है, जिसमें अन्याय, पक्षपात, असफलता आदि की बहुलता दीख पड़ती है और जिनके फलस्वरूप विक्षिप्तता, पागलपन, हताशा, मानस ग्रंथि, हिस्ट्रिया आदि अनेक असाध्य मानसिक रोग बढ़ते जा रहे हैं। यही कारण है कि समुन्नत कहे जानेवाले देशों में भी आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। भक्ति भावना, ईश्वर प्रेम, कर्मफल पर विश्वास आदि ऐसे तथ्य हैं, जो मानव-मन को संतोष एवम् विषमता में संयम की क्षमता प्रदान करते हैं और मानव इन रोगों से छुटकारा पा लेता है तथा आत्मघात की ओर प्रवृत्त नहीं हो पाता। हम पहले यह बतला आए हैं कि ईश्वर प्रेम के लिए ईश्वर का रहना आवश्यक नहीं, केवल ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास मात्र होना चाहिए। यह विश्वास परंपरागत संस्कार से चल सकता है, जैसे भूत का भय संस्कारवश अनेक सुशिक्षित व्यक्तियों को भी रहता है, भले ही उनके जीवन में भूत का कभी दर्शन न हुआ हो।

(३) नैतिकता की व्यवस्था में सहयोग—आज के युग में प्राचीन मानव-मान्यता के मूल्यों का विघटन हो चला है, नए मूल्यों का व्यवस्थापन न हुआ है और न होने की कोई संभावना दीख रही है, जिनके परिणामस्वरूप समाज में अनैतिकता का अधिराज्य हो गया है। असत्य, चोरी, मिलावट, हत्या, डकैती, घूसखोरी, मिथ्या प्रचार, आत्मप्रशंसा, प्रवंचन, धूर्तता, कपट व्यवहार आदि मानव-जीवन के अंग बनते जा रहे हैं। इनके निवारण के लिए बने कानून, न्यायालय और पुलिस इनकी वृद्धि रोकने में असमर्थ हैं। आज का न्यायालय इसका ज्वलंत उदाहरण है, जहाँ सत्य की प्रतिज्ञा के पश्चात् सभी असत्य बातें कही जाती हैं और न्याय एवम् कानून के नाम पर अपराधी को मुक्ति और निरपराधी को दंड मिलना साधारण बात है। इन अपराधों का निवारण हम नियम और क़ानून तथा शासन के बल पर करना चाहते हैं, जिनसे इनकी और वृद्धि होती है। रोग को छिपा कर या दबा कर दूर नहीं किया जा सकता है, उसके लिए उसका निदान और उसके मौलिक कारण का निवारण आवश्यक है। इन समस्त अपराधों का निवारण आवश्यक है। ये समस्त अपराध जिन्हें हम अनैतिक कहते हैं, सद्भावना, परसत्ता में विश्वास, तथा निःस्वार्थ प्रेम के अभाव के कारण हैं। इनको जागृत किए बिना

कभी भी मानव समाज से अनैतिकता जड़ से नहीं हटायी जा सकती। मानव के हृदय में कम से कम यदि मानव मात्र के प्रति भी सद्भावना और सत्प्रेम का अंकुर उग जाय तो विश्व को सुख शांति और अमन चैन मिल सकता है। आज प्रेम या सहायता के नाम पर छल और धोखा का व्यवहार निःसंदेह अंतर्भावना की कमी की ओर संकेत करता है। विश्व में विज्ञानजन्य साधनों के उपयोग से वस्तुओं की कमी पूरी की जा सकती है, किंतु सद्भावना की कमी को हटाए बिना वह निरर्थक रहेगी और मानव दुःखाग्नि में जलता ही रहेगा। अतः सद्भावना का उदय परतत्व में विश्वास आदि को उदय कर मानव की नैतिकता में सहयोग करना भक्तिभावना की दूसरी उपयोगिता है।

(४) धार्मिक तथा सामाजिक विरोधों और भेदों का विलयन—विश्व में रंगभेद, वर्गभेद, स्थानभेद, संप्रदायभेद के आधार पर जो समस्याएँ आए दिन उत्पन्न हो रही हैं, वे किसी से छिपी नहीं हैं। इन समस्त समस्याओं से आज विश्व का कोना कोना व्याप्त हो रहा है। हमारा देश तो इन समस्याओं का आगार ही बना हुआ है। इन समस्त समस्याओं का समाधान भावना में परिवर्तन लाए बिना नहीं हो सकता। भक्ति-भावना से युक्त व्यक्ति के लिए 'निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध'[1] की सूक्ति अक्षरशः सत्य होती है। उसके लिए यही उपदेश होता है कि 'जात पात पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।' जिसको 'सबै भूमि गोपाल की' दीख पड़े उसे भला देश भेद की भावना कैसे विचलित कर सकेगी। अतः इन समस्त समस्याओं का समाधान भक्ति-भावना को जागृत करने से सरलतया हो सकता है।

(५) अन्याय के प्रति विरोध और क्रांति—आज विश्व में बुराइयों का दृढ़ स्थान इसलिए भी बनता जा रहा है कि बुराइयों को भलीभाँति जाननेवाले इसका खुला विरोध नहीं करते। वे समझते हैं कि इन बुराइयों के आचरण करने वाले तो मेरे आत्मीयजन हैं। पर भक्ति-भावना वाले व्यक्तियों में यह विलक्षणता होती है कि वे अन्यायप्रिय आत्मीयजन के विरोध में व्यक्त क्रांति करने लगते हैं—'तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी। बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितनि'[2] आदि उसी क्रांति के ज्वलंत उदाहरण हैं। आज यदि अत्याचार, घूस, मिलावट, आदि के प्रति घर में विरोध होने लगे तो इनके अस्तित्व को मिटने में कुछ घंटे ही लगेंगे। परंतु यह कार्य भक्ति-भावना से युक्त व्यक्ति द्वारा ही संभव है।

(६) विज्ञान की उपलब्धियों से मानव-हित की प्रेरणा—आज विज्ञान हमें प्रत्येक कार्य के लिए सुव्यवस्थित और व्यापक साधन प्रस्तुत कर रहा है। किंतु हमारे भीतर मानव-प्रेम की भावना नहीं है। अतः इन समस्त साधनों का उपयोग किसी वर्ग विशेष के हित के लिए होता है और दुर्बल वर्ग का दमन हो रहा है।

१—मानस, ७।११२।२०। २—विनय०, १७४।

यदि ईश्वर प्रेम का व्यावहारिक रूप कम से कम मानव मात्र के प्रति प्रेम भी हो जाय तो संसार में इन समस्त साधनों का सदुपयोग होगा। विश्व-कल्याण की प्रेरणा कहने मात्र से नहीं आ सकती। उसका जनक तो स्वाभाविक प्रेम होगा। अतः भक्तिभावना मानव-प्रेम को जागृत कर इन साधनों से मानवहित की प्रेरणा दे सकती है।

(७) **विश्वशांति का प्रमुख संदेश**—इस प्रकार आज का विश्व, जिसे शांति की कामना है, पर मार्ग न मिलने के कारण आकुल है, शांति का संदेश प्राप्त कर सकता है। यही मानव मात्र के प्रति परम प्रेम की भावना ही उसको विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से रोक सकती है। यही भावना उसको वर्ग-संघर्ष से अलग विश्वबंधुत्व और विश्वशांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकती है। अन्य सभी संधियाँ, शर्तें, बैठकें, और अनेक राष्ट्रों के बीच निर्धारित अंतर्राष्ट्रीय परंपराएँ केवल दुर्बलों के लिए ही अनुष्ठेय हो सकती हैं सबल राष्ट्र उनका स्वेच्छया उल्लंघन कर सकते हैं और करते हैं तथा निर्भय रहते हैं कि उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता है। अतः इस काल में यह नितांत आवश्यक है कि इस भावना को प्रोत्साहन मिले। मानव मानव में प्रेम बढ़े। एक दूसरे के हित को ईश्वर की पूजा समझें। इस प्रकार विश्व के समक्ष शांति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥
देसु कोसु पुरजन परिवारू। गुरपद रजहिं लाग छरुभारू॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥
मुखिआ मुखु सो चाहिअइ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
—मानस, २।३१४।९-१०।

मातुः पितुर्गुरो र्गोप्तुः राजा पालनतो नृणाम्।
गच्छतामपथेऽप्येवं न पातो भवति कचित्॥
विचार्य्येति शुचं त्यक्त्वा गत्वा त्वं कोशलापुरे।
प्रजाः पालय धर्मेण यावदागमनं मम॥
देश कोश जन ग्राम कीर्त्तीनां गुरुरेव ते।
पालको वालकोऽसीति शिक्षां भ्रातरिमां शृणु॥
भोक्तुं पातुं भवेन्मुख्यो मुखवत् सर्वदेहिनां।
पालयेत्स विवेकं च गात्राणीव तथा प्रजाः॥
—प्रेमरामायण, अयोध्या०, स० २१, श्लो० २७-३०।

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

'साकेत' और तुलसी के राम

['रामचरितमानस' सत्रहवीं शती की तथा 'साकेत' बीसवीं शती की रचना है। गोस्वामी तुलसीदासजी तथा श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त दोनो ही विश्रुत युग-महाकवि हुए हैं। प्रथम गृहस्थाश्रम से विरक्त संत थे और द्वितीय उसका पालन करनेवाले भक्त। युग-प्रभाव तथा कर्म-भेद की दृष्टि से दोनो के रामचरित्र-चित्रण में भेद होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत निबंध में उसी भिन्नता को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।]

गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त अपने-अपने युग के श्रेष्ठ रामकाव्य गायक हैं। यद्यपि तुलसी ने अपने अन्य ग्रंथ 'कवितावली', 'गीतावली' आदि में भी रामकथा को स्थान दिया है तथापि राम का सर्वाधिक प्रोज्वल रूप 'रामचरितमानस' में ही अभिव्यंजित हुआ है। राम-काव्य परंपरा में 'मानस' और 'साकेत' दोनो ने ही नूतन युगांतर उपस्थित किया है। एक ने रामचरित्र को जन-जन की मानस-लहरी पर चिरकाल के लिए तरंगित कर दिया है और दूसरे ने रामकथा के अभिनव एवम् सांस्कृतिक पक्षों को अनूठी वाणी प्रदान की है। दोनो कृतियों के प्रभविष्णु पात्र राम में साम्य भी है और अंतर भी।

'साकेत' के आधार-ग्रंथों में 'मानस' का सर्वोपरि स्थान है। गुप्तजी ने स्वयम् अनेक विधियों से इस तथ्य की अवतारणा की है। उनके वैष्णव संस्कारों के सृजन में 'मानस' का बहुत बड़ा हाथ है। 'साकेत' में उन्होंने लिखा भी है—

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी—मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि कथा कहे।[1]

इन तथ्यों के आधार पर तुलसी के राम का प्रभाव 'साकेत' के राम पर भलीभाँति आँका जा सकता है।

'मानस' का मूल प्रश्न ही राम-जिज्ञासा है—

रामु कवन प्रभु पूछौं तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही॥[2]

तुलसी का भक्ति-दर्शन इसी समस्या के समाधान से परिप्लुत है—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥[3]

तुलसी के राम परब्रह्म, विष्णु के अवतार और मर्यादापुरुषोत्तम हैं। गुप्तजी ने कहा है कि वस्तुतः 'रामचरितमानस' के सीताराम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सब के शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

१—साकेत, ६।१। २—मानस, १।४६।६। ३—वही, ७।६१।६।

आदि कवि वाल्मीकि के राम देवता न होकर महापुरुष हैं। 'वायुपुराण' ने उन्हें ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया और 'विष्णुपुराण' ने भगवान् पद्मनाभ का अवतार घोषित किया। 'राम पूर्वतापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तरतापनीय उपनिषद्' ने उन्हें ब्रह्म का अवतार निरूपित किया। 'भागवत पुराण' ने उनकी भक्ति का शिलान्यास किया और 'अध्यात्म रामायण' में राम को देवत्व के सर्वोच्च शिखर पर स्थापित किया गया। तुलसी ने, भगवान् का महिमा मंडित रूप प्रदान कर, राम को सदा-सर्वदा के लिए हमारे जीवन और साहित्य का अटूट अंग बना दिया है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥[1]

गुप्तजी ने भी गोस्वामीजी का अनुगमन करते हुए, स्पष्ट घोषणा की—

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।[2]

दोनो ही महाकवियों के राम निर्गुण नहीं सगुण हैं। मानसकार कहते हैं—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥[3]

साकेतकार का भी कथन समानता रखता है—

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।[4]

'गीता' के 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत'[5] और मानस के 'जब जब होइ धरम कै हानी'[6] के समान 'साकेत' में भी 'पथ दिखाने के लिये संसार को, दूर करने के लिये भू-भार को' प्रभु ने मनुज का रूप धारण किया है। तुलसी की मर्यादा का 'साकेत' के राम में भी पर्याप्त पुट है—

जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।[7]

जहाँ एक ओर तुलसी कहते हैं—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥[8]

वहाँ 'द्वापर' में गुप्तजी की भी स्पष्टोक्ति है—

मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग।

१—वही, १।१३।३-४। २—साकेत। ३—मानस, १।११६।२।
४—साकेत, १। पं० ११, १२। ५—गीता, ४।७। ६—मानस, १।१२१।६।
७—साकेत, ८। पृ० २३१, पं० ३-४। ८—मानस, ७।५३।१।

कैकेयी के मुख से अपने वनवास का समाचार सुनकर, तुलसी के राम कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥[1]

'साकेत' के राम की भी यही मनोवृत्ति है—

अरे यह बात है, तो खेद क्या है ?
भरत में और मुझमें भेद क्या है ?
करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन,
करूँगा मैं विपिन में धर्म-पालन।[2]

कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि राम के मुख का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था, ठीक वैसा ही वन जाने के लिए पेड़ की छाल के वस्त्र धारण करते समय भी था। राम की यही निर्विकारता मानस में यों कथित है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखांबुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥[3]

यही बात 'साकेत' में इस प्रकार कही गई है—

राम-भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा॥[4]

गुप्तजी ने महात्मा गांधी को लिखा था कि 'तुलसीदास के उद्देश्य से मेरे उद्देश्य में कुछ भिन्नता तो है ही।' तुलसी ने स्वयम् राम के ईश्वरत्व की अनेक-बार पुनरावृत्ति की है और साक्षी स्वरूप प्रायः समस्त पात्रों से उनके ब्रह्मत्व की पुष्टि कराया है। 'साकेत' में राम का अधिनायकत्व होते हुए भी, यह स्थिति नहीं आई है। कवि के रूप में गुप्तजी न तो राम के भक्त हैं और न सीता या एकमात्र उर्मिला के ही। 'मानस' का जहाँ मुख्य कार्य रावण-वध है, वहाँ 'साकेत' का उर्मिला-मिलन। साकेतकार ने अपने राम की लोकजीवन में प्रतिष्ठा की है।

तुलसी के राम 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह'[5] के लिए कृत-संकल्प हैं, परंतु 'साकेत' के राम को इस कार्य के अतिरिक्त एक नूतन उत्तरदायित्व को भी वहन करना पड़ता है—दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का प्रचार और असभ्य, अशिक्षित एवम् जंगली जातियों के जीवन में आलोक की नवीन किरणों का सूत्रपात। इसीलिए 'साकेत' में वनवासी भी 'हमें नागर बनाओ तुम' का आह्वान करते हैं। राम पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं।

१—वही, २।४१।७-८। २—साकेत, ३। पृ० ७४, ९-१२। ३—मानस, २। मं० श्लो० २। ४—साकेत, ५। पृ० १२७, १५-१६। ५—मानस, ३।९।९।

साकेतकार ने अनावश्यक प्रसंगों और विस्तार से अपने को विमुक्त ही रखा है। राम के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता तथा आधुनिकता के वितान ताने गए हैं। उनमें अलौकिकता के अंश अपेक्षाकृत कम हैं। अनेक संदर्भों और घटनाओं को तर्कसंगत, सार्थक और युग के अनुरूप बनाने का सफल प्रयास किया गया है। 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्मरामायण' और 'मानस' में कैकेयी के वरदान माँगने और राम की वनयात्रा के उपाख्यान के प्रारंभ में, कैकेयी तथा दशरथ की आज्ञा पाकर, सुमंत्र राम को उनके पास बुला लाते हैं। परंतु इसके विपरीत, 'साकेत' के राम बुलाने पर नहीं, नैतिक कर्त्तव्य के रूप में प्रातःकाल स्वयम् पितृ-वंदना के लिए जाते हैं। इससे एक ओर अनावश्यक प्रसंग से काव्य की रक्षा हुई है तो दूसरी ओर राम की पितृभक्ति को अधिक भास्वर बना दिया गया है। गुप्तजी के राम, केवल राजकुमार ही नहीं अपितु कलाकुशल, कृती और स्वावलंबी भी हैं और वाल्मीकि के राम के सदृश अपनी नौका का स्वयम् निर्माण करते हैं।

कैकेयी की कोप की स्थिति में, 'साकेत' के राम उन्हें 'देवी' और तुलसी के राम 'माता' कहकर संबोधित करते हैं। गुप्तजी के राम के संबोधन में कुछ दूरी का-सा भाव है। गुप्तजी ने राम के स्वरूप में कोई क्रांतिकारी अथवा अधिक परिवर्तन नहीं किया है, केवल नूतन रंग चढ़ाया है। 'मानस' की अपेक्षा 'साकेत' में राम को अधिक मानवीय भूमिका पर संस्थित किया गया है और पारिवारिक भूमि पर उनका व्यक्तित्व उद्‌घाटित हुआ है। 'मानस' के राम, सीता या लक्ष्मण से हास्य-विनोद नहीं करते, परंतु 'साकेत' में इस दिशा में मानवीय पक्षों और संवेदनशीलता को अधिक प्रश्रय मिला है।

'साकेत' में लक्ष्मण को शक्ति लगने के पश्चात् राम एकाएक क्रोधांध होकर भीषण मारकाट मचाते हैं और 'भाई का बदला भाई ही' कहकर कुंभकर्ण का वध कर डालते हैं। रावण को मूर्च्छित देखकर उन्हें लक्ष्मण की मूर्च्छा का स्मरण हो हो आता है और वे रावण की सहृदयता की आशंसा करते हैं। ऐसे पार्श्व 'मानस' में अनुपलब्ध हैं।

तुलसी और गुप्तजी के राम में प्रधान और मूलवर्ती अंतर यह है कि जहाँ 'मानस' में ईश्वर की मानवता का प्रदर्शन है, वहाँ 'साकेत' में मानव के ईश्वरत्व का। 'मानस' जैसा राम का भव्य और उदात्त रूप 'साकेत' में नहीं मिलता। आचार्य नंददुलारेजी वाजपेयी का अभिमत है कि 'साकेत' महाकाव्य ही नहीं आधुनिक हिंदी का युग-प्रवर्त्तक महाकाव्य है। समस्त हिंदी जगत् को इसका गर्व और गौरव है। वस्तुतः भगवान् राम का चरित्र ही कविता है—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई क़वि बन जाय, सहज संभाव्य है।

श्रीनागेश्वरसिंह 'शशीन्द्र'

मानस का मानवीय विजय-स्यंदन

[काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने अलंकारों में रूपक को शीर्ष स्थान दिया है। रूपक के सांगोपांग चित्रण में गो० तुलसीदासजी सिद्धहस्त थे। उनके महाकाव्य रामचरितमानस में प्रयुक्त रूपक दर्शनीय ही नहीं मननीय भी हैं। मानस के षष्ठ सोपान में श्रीराम ने विभीषण से जय-प्राप्ति के साधन जिस स्यंदन की चर्चा की है, उसी रूपक की उपयोगिता का उद्घाटन प्रस्तुत निबंध में किया गया है।]

मानव-जीवन में विपत्तियाँ हैं, बाधाएँ हैं और यंत्रणाएँ हैं। क्या उन सभी से पार पाने के लिए मानस में किसी ऐसे स्यंदन का निर्देश है, जिस पर चढ़कर मनुष्य मुक्ति-पथ पर अग्रसर हो सकता है? इसका बहुत अच्छा समाधान मानस में श्रीराम एवम् विभीषण के वार्ता-प्रसंग में है। रावण मोह तथा भौतिक ऐश्वर्य का मूर्तमान् प्रतीक है। उसका चित्र प्रस्तुत करते हुए तुलसीदासजी ने लिखा है—

मोह दसमौलि, तद्भ्रांत अहंकार, पाकारिजित्-काम विश्रामहारी।[1]

रावण श्रीराम से युद्ध करने के लिए स्वर्णरथ पर सवार होकर आरहा है। नाना प्रकार के आयुधों से उसकी भुजाएँ भरी हैं। उसका कवच भी अनोखा बना है। वज्र-निरोधक यंत्र से उसका शरीर युक्त है। उसके प्रतिपक्षी श्रीराम रथहीन हाथ में केवल धनुष-बाण लिए युद्धस्थल में खड़े हैं। ऐसी विषम प्रतिद्वंदिता की स्थिति में सहृदय विभीषण का मन विचलित हो गया है। वह प्रेमवश श्रीराम के इस वीररूप को भूल गया—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदाश्रितः॥
पंच वीराः समाख्याताः राम एव स पंचधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्व वीरोपलक्षणः॥

प्रीति मोह का कारण होता है। गोस्वामीजी ने उपर्युक्त युद्ध-प्रसंग में लिखा है—

अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥[2]

ऐसी स्थिति में विभीषण का मौन भंग हुआ। वह अधीर होकर विनीत वचन बोला—

१—विनयपत्रिका, ५८। २—मानस, ६।८०।२।

नाथ न रथु नहि तन पद त्राना । केहि बिधि जितब बीरु बलवाना ॥[1]

इसके उत्तर में—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदनु आना ॥[2]

कह कर श्रीराम ने यह स्पष्ट कर दिया कि मैं उसी स्यंदन पर यहाँ आया हूँ, जिससे हमारी विजय होगी ।

सदा से यह परंपरा चली आरही है कि जब-जब भक्त मोह-पाश में बँधे तब-तब स्वयम् प्रभु ने उससे उन्हें उबारा । अर्जुन के मोह का निवारण भी भगवान् ने युद्धस्थल में किया और विभीषण के मोह-निवारण का अवसर भी उन्हें रणस्थल में ही मिला । अपने दिव्यरथ के स्वरूप को प्रकट करते हुए श्रीराम ने विभीषण से कहा—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥[3]

मानव-जीवन रथाकार हैं । शौर्य और धैर्य श्रीराम के रथ के दोनो पहिए हैं । वे रावण के रथ में नहीं हैं । शौर्य तथा धैर्य के अभाव में कितना भी सुदृढ़ रथ क्यों न हो उस पर आसीन व्यक्ति शत्रु के समक्ष नहीं टिक सकता, विजय की बात तो दूर है । साथ ही श्रीराम के रथ पर सत्य एवम् शील रूपी ध्वजा-पताका फहरा रही है । दृढ़ सत्य के अभाव में मनुष्य का स्वयम् एवम् अन्य पर से विश्वास उठ जाता है और उसके समस्त सहयोगी उसका साथ छोड़ देते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि सत्य का पालन करना मनुष्य के लिए आवश्यक है और सत्य के साथ-साथ शील का भी होना सोने में सुगंध है । शील के अभाव में सत्य शिथिल पड़ जाता है, उसकी क्रिया-शक्ति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । इस शील का संबंध 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' से है ।

रथ के लिए घोड़े चाहिएँ । श्रीराम के रथ में—

बल बिबेक दम परहित घोरे । क्षमा कृपा समता रजु जोरे ॥[4]

सभी को बल, विवेक, दम एवम् परहित रूपी घोड़ों की आवश्यकता है, जो क्षमा, कृपा एवम् समता रूपी डोर से बँधे हों ; क्योंकि रथ के पहिए भी तो घोड़े के ही पीछे चलते हैं और घोड़ों की तीव्र या मंद गति के अनुसार उसी के बल पर घूमते हैं । बल, विवेक, दम एवम् परहित रूपी घोड़ों की शक्ति के आधार पर मानव का जीवन-रथ गतिमान् है । चंचल मन मनुष्य को लक्ष्य की ओर से आगे पीछे करता रहता है । बल एवम् विवेक के अहम् के कारण यत्र-तत्र गिरने का भय है । अतः बल एवम् विवेक रूपी घोड़ों को पीछे तथा दम एवम् परहित

१—वही, ६।८०।३ । २—वही, ६।८०।४ । ३—वही, ६।८०।५ ।
४—वही, ६।८०।६ ।

रूपी घोड़े को आगे रखना ही हितकर है। गोस्वामीजी ने मानस में स्वयम् श्रीराम के मुख से कहलाया है——

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥[1]
परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥[2]

मनुष्य को चाहिए कि परहित के लिए वह अपने बल का प्रयोग उस पर विवेक का अंकुश रखकर करे। इन घोड़ों को क्षमा, कृपा एवम् समता रूपी रज्जुओं से बाँध कर सदा नियंत्रण में रखना चाहिए। यह तो रथ का स्वरूप हुआ। आगे उसके सारथी के संबंध में कहा गया है—

ईसभजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥[3]

घोड़ों पर पूर्णरूपेण नियंत्रण करते हुए सावधानीपूर्वक रथ को संचालित कर लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते जाना सारथी का कार्य है। यह सारथी ईश्वर का भजन है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'[4]। इससे स्पष्ट है कि भजन स्वयम् भगवान् का स्वरूप है। भजन करते हुए कभी भी गर्व-तरु मन में न उत्पन्न होने देना चाहिए। प्रायः गुण एवम् शक्ति की उपलब्धि होने पर 'अहम्' का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी 'अहम्' के कारण देवर्षि नारद शीलनिधि राजा की विश्वमोहिनी राजकुमारी के मोह में फँस कर हास्य के पात्र हुए। इसलिए अहर्निश भगवद्भजन करना ही सर्वोपरि है और उसके साथ ही स्वपुरुषार्थ को भगवान् में ही तिरोहित मानना चाहिए। जो विजय के अभिलाषी हैं, उन्हें निजी तैयारी भी करना आवश्यक है। वही तैयारी रथ की आत्मा है। शत्रु से अपनी रक्षा तथा उस पर प्रत्याक्रमण करने के हेतु युद्धास्त्र अपेक्षित होता है। अस्तु विजयाकांक्षी के पास रक्षा-हेतु वैराग्य रूपी ढाल तथा प्रत्याक्रमण हेतु संतोष रूपी कृपाण का होना अनिवार्य बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त भी अपेक्षित हैं—

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥[5]

ममता रूपी शत्रु के आने पर संतोष रूपी कृपाण रखा ही रह जायगा। दान रूपी परशु से भी उसका शिरश्छेद नहीं किया जा सकेगा। उसके लिए श्रेष्ठ विज्ञान और कठिन दंड चाहिए। श्रेष्ठ विज्ञान के कठिन धनुष से शत्रु-सेना को नष्ट किया जा सकेगा। शत्रु को पराजित करने के लिए सम (मन का वश में होना), यम (अहिंसा आदि) और शौचादि नियम रूपी वाण चाहिए, जो निर्मल और अचल मन रूपी तरकस में भरे हों। मनु ने कहा भी है—

१—वही, ३।३१।६। २—वही, ७।४१।१। ३—वही, ६।८०।७।
४—गीता, १०।२५। ५—मानस, ६।८०।८-१०।

धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

शत्रुओं के अस्त्र-शस्त्र शरीर को क्षत-विक्षत न कर सकें इसके लिए श्रेष्ठ अनुभवी लोगों का साहचर्य आवश्यक है। इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों आदि से सुसज्जित होकर एवम् उपर्युक्त निर्दिष्ट स्यंदन पर आरूढ़ होकर जीवन और जगत् में विजय प्राप्त करना संभव है—

महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ।।[1]

१—मानस, लंका० ।८०-१३।

निवेदन

ग्राहकों से--

'मानस-मयूख' के प्रति वर्ष, ३० जून से ३१ मार्च तक, चार प्रकाश प्रकाशित होते हैं ; चौथा प्रकाश विशेषांक होता है।
'मानस-मयूख' का वार्षिक शुल्क ८ रुपए हैं। प्रति साधारण अंक का मूल्य २ रु० तथा विशेषांक का ६ रु० है। स्थायी वार्षिक ग्राहकों को विशेषांक का अतिरिक्त मूल्य न देना होगा। 'मानस-मयूख' का आजीवन ग्राहक शुल्क २५१ रु० है। आजीवन ग्राहकों को पत्रिका उनके जीवनपर्यन्त मिलती रहेगी। किसी प्रकार की संस्था अथवा व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी आजीवन ग्राहक हो सकते हैं। पत्रिका के संबंध में पत्राचार करते समय अपना पूरा नाम एवम् स्थायी पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

लेखकों से--

पत्रिका के उद्देश्यों के अन्तर्गत आनेवाले सभी विषयों पर ससाक्ष्य, सुविचारित और मौलिक लेख ही प्रकाशित किए जायँगे। अर्वाचीन अन्यत्र पूर्व प्रकाशित रचनाओं के पुन: प्रकाशन का नियम नहीं है।
लेख को पांडुलिपि कागद के एक ओर लिखी हुई, सुस्पष्ट और पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रन्थादि से उद्धरण उद्धृत किए गए हों, संस्करण तथा पृष्ठांक सहित उनके नाम आदि का निर्देश अपेक्षित है।
लेखों में प्रकट विचारों के लिए लेखक उत्तरदायी हैं, संपादक नहीं।
प्रेषित लेख की प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित रखें। अस्वीकृत एवम् अप्रकाशित रचना वापस भेजने के लिए संपादक उत्तरदायी नहीं हैं।
लेख-प्राप्ति की सूचना यथासाध्य शीघ्र दी जाती है तथा प्रकाशन की स्वीकृति भेजने में एक मास लग सकता है।
लेख, संपादक, 'मानस-मयूख', श्री सत्यनारायण तुलसी मानस-मंदिर दुर्गा-कुण्ड रोड, वाराणसी--५ के पते पर भेजना चाहिए।
'मानस-मयूख' में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिएँ। उनकी समीक्षा अथवा प्राप्ति-स्वीकृति यथावसर प्रकाशित की जायगी। संभव है प्राप्त सभी पुस्तकों की समीक्षा का प्रकाशन न भी हो।